



ANTIQUE

a Samaj F...

GRV



गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय

पुस्तकालय

119444
119444
079581



विषय संख्या

पुस्तक संख्या

आगत पंजिका संख्या

पुस्तक पर किसी प्रकार का निशान लगाना
वर्जित है। कृपया १५ दिन से अधिक समय
तक पुस्तक अपने पास न रखें।

R

२४

दि ३० अ

अं-३५

४-४४४४

COMPILED

सन्दर्भ ग्रन्थ
REFERENCE BOOK

यह पुस्तक बिलगित न की जाय
NOT TO BE IS-USE

४-६ ४४-८
४-६ ४४-८

Stock Verification-2024

संक्र. नमासी क्रमांक १२८४-१२८५

Stock Verification-2024

विशेषांक

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

COMPILED

भाग :

सम्पादक शिवदानसिंह चौहान

आर्य समाज



079581

079581

क
ट
2624
सं-39

संस्थान

हिन्दी साहित्य

राजकमल प्रकाशन

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय च ना

नवांक ९

जनवरी, १९६६

अंश १२)

का ४)

प्रत्येक अंक रजिस्ट्री
से पाने के लिए १४)

आदकीय

क और युद्ध

१

आतंत्र्योत्तर सिद्धान्त चर्चा

विषय और कविता

रामधारीसिंह 'दिनकर' ६

पुस्तक

आतंत्र्योत्तर नाटक-एकांकी-

आरंभ

स्वातन्त्रता के पश्चात् हिन्दी

नाटक : विकास की भूमिका

लंगान डॉ० सुरेश भवस्थी १५

समय स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी एकांकी

तथा रेडियो नाटक

चिरंजीव २४

—हिन्दी रंगमंच : राष्ट्रीय

रंगमंच का सूत्रपात

वोरेन्द्र नारायण ३५

● स्वातन्त्र्योत्तर निबन्ध-साहित्य

—हिन्दी निबन्ध : प्रेरणा,

प्रयास और उपलब्धि

डॉ० रामखेलावन पाण्डेय ४६

● स्वातन्त्र्योत्तर बाल-साहित्य

—स्वातन्त्रता के बाद का हिन्दी

बाल-साहित्य

मन्मथनाथ गुप्त ५६

● स्वातन्त्र्योत्तर कथा-साहित्य

हिन्दी में आंचलिक उपन्यास

मधुकर गंगाधर ७३

—स्वातन्त्र्योत्तर कथा-साहित्य

और चरित्र-विकास

डॉ० बेचन ८७

● विश्व-साहित्य में हिन्दी

—विदेशों में हिन्दी-साहित्य

डॉ० प्रभाकर माचवे ६५

● हिन्दी-क्षेत्र की प्रमुख भाषाओं

का नया साहित्य

—भोजपुरी लोक-साहित्य

डॉ० कृष्णदेव उपाध्याय ११६

—मगही का स्वातन्त्र्योत्तर-साहित्य

प्रो० कृष्णनारायणप्रसाद १२०

—सन् सैतालीस के बाद का

छत्तीसगढ़ी साहित्य

डॉ० सावित्री शुक्ल १२६

● हिन्दी में भारतीय साहित्य

—हिन्दी में असमिया साहित्य

नवारण १३२

● परिचर्चा

—भाषा का प्रश्न और भारत की

एकता : कुछ प्रश्न एवं दिशाबोध

डॉ० महावीरसरन जैन १३६

—“शतरंज के मोहरे” : “बूंद

और समुद्र”

डॉ० विश्वनाथ उपाध्याय १४२

—‘सागर, लहरें और मनुष्य’ :

एक पुनर्मूल्यांकन

लक्ष्मीकान्त शर्मा १५०

—शहर में धूमता आईना

डॉ० मखनलाल शर्मा १५६

—‘कब तक पुकारूँ’

गोविन्द रजनीश १६४

—यह पथ बन्धु था

डॉ० लक्ष्मीधर मालवीय १७०

—आषाढ़ का एक दिन

महेन्द्र भटनागर १७६

भारत

ॐ कर्ते मानव मुक्ति

पुस्तक सं. R

मास दि 319

अं. 34

५०५० x १००

सम्पादनीय

लेखक और युद्ध

युद्ध के प्रति लेखक का दृष्टिकोण क्या हो, यह प्रश्न नया नहीं है, लेकिन उतना पुराना भी नहीं है, जितना कुछ लोग कल्पना करते हैं। वाल्मीकि, व्यास, होमर या शेक्सपियर को भी इस प्रश्न पर उन व्यापक सन्दर्भों में विचार करने की जरूरत नहीं महसूस हुई थी, जिन व्यापक सन्दर्भों में विचार करने के लिए बीसवीं सदी के लेखकों को बाध्य होना पड़ा है। दरअसल, बीसवीं सदी से पहले जब युद्ध छिड़ते थे तो उनका दुष्प्रभाव केवल उन देशों को ही भोगना पड़ता था, जिनकी धरती पर दोनों पक्षों की सेनाएँ लड़ती थीं। लेकिन बीसवीं सदी में विश्व-साम्राज्यवाद के उदय होने के साथ ही ऐसे महायुद्धों का सूत्रपात हुआ जिनकी लपेट में सारा विश्व खिंच आता है। इस सदी के पूर्वार्ध में जो युद्ध और महायुद्ध लड़े गए, वे साम्राज्य-विस्तार की खातिर ही। पहल महायुद्ध में अगर एक करोड़ व्यक्तियों के करीब हताहत हुए तो दूसरे महायुद्ध में लगभग पाँच करोड़ सैनिक और नागरिक मौत के घाट उतरे और इससे कहीं अधिक वेधरवार और बेरोजगार होकर असह्य यातनाएँ झेलने के लिए विवश हुए।

युद्ध के इन दुष्परिणामों से सभी परिचित हैं। लेखक भी। इसी कारण सदी

के आरम्भ से ही जागरूक और मानव-प्रेमी लेखकों ने सामान्य रूप से युद्ध के प्रति अपने दृष्टिकोण का स्पष्टीकरण करने की कोशिश की है। तॉलस्टॉय ने युद्ध और युद्ध का आयोजन करने वाले सभी साम्राज्यवादी राजनीतिज्ञों, पूंजीपतियों और फौजी जनरलों की कठोर शब्दों में भत्सना की और अपनी मृत्यु से पहले सन् १८१० में अपने एक निबन्ध में घोषणा की कि युद्ध एक बुराई है, इसलिए हर लेखक का कर्तव्य है कि वह विश्व-शान्ति के लिए संघर्ष करे। तॉलस्टॉय ने अपने समय के नीत्शे, माल्थुस और वीजमान-जैसे दार्शनिकों और विचारकों के सिद्धान्तों का भी खण्डन किया जो बढ़ती हुई जनसंख्या को कम करने के लिए दुर्बल और पुरुषार्थहीन, बीमार और असमर्थ व्यक्तियों की तादाद घटाने के लिए और समर्थ और पौरुषवान की विजय के लिए युद्ध को समाज के विकास का एक मंगलकारी प्राकृतिक नियम मानते थे या सिद्ध करते थे कि युद्ध अनिवार्य है क्योंकि मनुष्य स्वभाव से ही हिंस्र, स्वार्थी और पाशविक है। इन विचारकों और दार्शनिकों की मानवद्रोही मान्यताओं पर प्रहार करते हुए तॉलस्टॉय ने सिद्ध किया कि युद्ध अनिवार्यता नहीं है, मनुष्य सहिष्णुता, सहयोग और शान्ति के वाता-

वरण में रह सकता है और रहना चाहता है और युद्धों का आयोजन केवल वे ही करते हैं, जो उनकी भट्टी में गरीब सैनिकों और जनता को झोंककर स्वयं मुनाफ़ा कमाना चाहते हैं या अपने साम्राज्य का विस्तार करना चाहते हैं ।

ताँलस्तॉय से पहले किसी महान् लेखक ने आधुनिक युद्ध के विरुद्ध लेखक के दृष्टिकोण का इतने खुले शब्दों में स्पष्टीकरण नहीं किया था । तब से विश्व-साम्राज्यवाद ने जितनी बार युद्धों और महायुद्धों का आयोजन किया है, उनको उचित और अनिवार्य सिद्ध करने के लिए उसके वकील दार्शनिकों ने जितने भी तर्क दिए हैं (और मूलतः उनके तर्कों में कोई नवीनता नहीं रही, केवल भयों और आशंकाओं का सन्दर्भ बदलता रहा है । पहले राष्ट्रीय गौरव की रक्षा के लिए प्रतिस्पर्धी साम्राज्यवाद के विरुद्ध अभियान होता था, अब साम्यवाद या गुलाम देशों के स्वातन्त्र्य आन्दोलनों से 'फ्री-वर्ल्ड' और 'डिमाँक्रेसी' की रक्षा की खातिर युद्ध छेड़े जाते हैं ।) उनके प्रति विश्व के सभी मानववादी लेखकों की सामान्यतः वही प्रतिक्रिया रही है जो ताँलस्तॉय की थी । यानी युद्ध एक बुराई है और लेखक का कर्तव्य है कि वह युद्ध का विरोध करे और शान्ति का समर्थन करे, क्योंकि स्थायी शान्ति ही आज के युग में मानवीय प्रगति की रक्षा कर सकती है और मानवता को सम्पूर्ण विनाश से बचा सकती है । यह बात पहले भी सही थी, लेकिन बीसवीं सदी का कोई भी लेखक जो जीवन से प्रेम करता है और मानवद्रोही नहीं है, अपने लेखन में रक्त और नरसंहार की मध्यकालीन पिपासा को अभिव्यक्ति नहीं

दे सकता । संस्कृति से असंस्कृति, मानववाद से मानवद्रोह और हिंसा वर्चस्वता की ओर मुड़कर जाना लेखक के स्वभाव और रचनात्मक कार्य के विरुद्ध है ।

अणु-बम तथा अन्य ताप-नाभिकीय अस्त्रों की ईजाद के बाद से युद्ध अब एक आत्म-विनाशकारी हकीकत बन गया है । यह सभी जानते हैं कि अगला महा-युद्ध ताप-नाभिकीय अस्त्रों से लड़ा जायगा और उसमें न कोई जीतेगा न हारेगा क्योंकि शायद सारी मानव-जाति ही नष्ट हो जायगी, मानवीय सभ्यता और संस्कृति के सभी उपादान बर्बाद हो जायेंगे और जली-झुलसी वीरान घरती पर जो कुछ बचेगा, उसे लेकर फिर कभी सभ्यता का उदय हो सकेगा, यह सन्दिग्ध है । इसी-लिए आज हर विचारशील व्यक्ति (जिनमें लेखक भी है) सोचता है कि आखिर किस उपलब्धि की खातिर यह इतना विराट् संहार-आयोजन हो रहा है, किस लिए आणुविक और ताप-नाभिकीय अस्त्रों के गोदाम भरे जा रहे हैं ? अन्य मनुष्यों की तरह लेखक भी शान्ति चाहते हैं, लेकिन सारी कोशिशों के बावजूद युद्ध का खतरा बढ़ता जा रहा है, क्योंकि विश्व-साम्राज्यवाद की रक्षा के आकांक्षी मानव-सभ्यता और संस्कृति के प्रेमी नहीं हैं और अपने स्वार्थों की पूर्ति के लिए मानवता को तीसरे महायुद्ध की आग में घकेल रहे हैं जिसमें सब के साथ वे स्वयं भी नष्ट हो जायेंगे ।

एक भयंकर अन्तर्विरोध की स्थिति है यह । परिणामतः कुछ संवेदनशील व्यक्तियों और लेखकों में नितांत सिनिसिज्म (अनास्था) का मूड पैदा हो गया है । उनको लगता है कि युद्ध को रोक

सकना सम्भव नहीं है, इसलिए कौन सही है, कौन गलत है, क्या सच है, क्या झूठ है, क्या शुभ है, क्या अशुभ है—ये सारे सवाल जिनमें मूल्य-निर्णय निहित रहते हैं, आसन्न खतरे के सन्दर्भ में वेमानी और अप्रासंगिक हो गए हैं। वे महसूस करते हैं—और साम्राज्यवादी विचारक इस अहसास को और गहरा करने के लिए इसके पक्ष में लगातार दार्शनिक तर्क पेश करते रहते हैं—कि अन्तिम विनाश से अस्थायी तौर पर ही बचा जा सकता है, परन्तु उसे हमेशा के लिए रोका नहीं जा सकता। इसलिए साम्राज्यवाद और साम्यवाद, उपनिवेशवादी हस्तक्षेप और राष्ट्रीय आज़ादी के संघर्ष या हमलावर और ग़ैर-हमलावर में भेद करना अनावश्यक है। यह दृष्टिकोण युद्धों का आयोजन करने वाले उस साम्राज्यवाद को मुआफ़ कर देता है, जिसे रोकना ज़रूरी है और रोका जा सकता है, ताकि वह सारी दुनिया को ताप-नाभिकीय हत्याकाण्ड में न डुबो दे।

यह सिनिसिज़्म, यह अनास्था दर-असल यथार्थ ढंग से सोच पाने की सामर्थ्य की कमी के कारण पैदा होती है। युद्ध चाहे छोटे हों या बड़े, उनमें रक्तपात और हिंसा तो होती ही है। और यह सच है कि 'युद्ध में सबसे पहले अगर किसी की हत्या होती है तो सत्य की।' पर साथ ही यह भी सच है कि सिनिसिज़्म और अनास्था से तो युद्ध के बिना ही सत्य की हत्या हो जाती है और सत्य की रक्षा की सभी सम्भावनाएँ भी मिट जाती हैं। सबसे पहले तो इस सत्य की हत्या हो जाती है कि युद्ध अनिवार्य नहीं है। इसलिए राष्ट्रों के जीवन से जब तक युद्ध का पूर्ण निष्कासन नहीं हो जाता, तब तक अन्य

लोगों के साथ मिलकर लेखक को भी युद्धों का बहिष्कार करने के लिए अपने शब्दों से या आवश्यकता पड़ने पर उनमें स्वयं भाग लेकर अपना योग देना पड़ेगा—युद्ध को गौरवान्वित करने के लिए नहीं, बल्कि व्यर्थता, कुरूपता, अमानवीयता का चित्रण करने के लिए ही, ताकि परस्पर सहयोग, भ्रातृत्व और शान्ति के मानवीय मूल्यों की घोषणा की जा सके जिस तरह रामायण, महाभारत, ओडिसी और तॉलस्टॉय के 'युद्ध और शान्ति'—जैसे महाकाव्यों में युद्ध की भर्त्सना की गई है और सहयोग और भाईचारे के मूल्यों को सर्वोच्च मानव-मूल्य घोषित किया गया है—जीवन के व्यापक सत्यों को उद्घाटित किया गया है।

सिनिसिज़्म और अनास्था के मूड में यह सब करना निश्चय ही सम्भव नहीं है। मृत्यु-बोध खोकर कोई भी लेखक आज युद्ध और शान्ति के प्रश्नों पर वस्तु-परक दृष्टि से नहीं सोच सकता। यह तभी सम्भव है जब लेखक इस हकीकत के प्रति सचेत हो कि युद्ध दो प्रकार के होते हैं—साम्राज्यवादी युद्ध और देशभक्तिपूर्ण युद्ध—जिनका एक-दूसरे से फ़र्क़ करना ज़रूरी है। यद्यपि लोगों को यातनाएँ दोनों में झेलनी पड़ती हैं और विध्वंस भी दोनों में होता है, फिर भी उनके उद्देश्यों में परस्पर-विरोध होता है और एक या दूसरे की सफलता विरोधी परिणामों की ओर ले जाती है, जैसे उपनिवेशी गुलामी या राष्ट्रीय स्वाधीनता। और ये परिणाम अन्ततः विश्व-शान्ति और जनता की सांस्कृतिक और आर्थिक प्रगति के लिए काम करने वाली उन ताकतों को जिनका मूल्य मानववादी लेखक की दृष्टि में सबसे

४ : आलोचना

ज्यादा होता है, या तो खतरे में डाल देते हैं या उनको मजबूत करते हैं। इन दोनों प्रकार के युद्धों में सत् और असत् के परस्पर-विरोधी पक्ष होते हैं। साम्राज्यवादी युद्ध में साम्राज्यवाद का पक्ष असत् का पक्ष है और जिस देश की जनता को गुलाम बनाने के लिए यह नरसंहार रचा जाता है, उसका पक्ष सत् का होता है, जैसे वियतनाम के युद्ध में संयुक्तराष्ट्र अमरीका का पक्ष असत् का और दक्षिण वियतनामी जनता का पक्ष सत् का है। इसी तरह मोजाम्बीक और अंगोला की जनता का देशभक्तिपूर्ण संघर्ष सत् का पक्ष है और पुर्तगाली साम्राज्यवाद की दमन-कारवाइयाँ असत् पक्ष की हैं। संभव है कि युद्ध और संघर्ष की तात्कालिक उत्तेजना या आवश्यकता के कारण सत्-पक्ष में भी अनेक अतिवाद और क्रूरताएँ देखने को मिलें, लेकिन इतिहास-बोध रखने वाला मानववादी लेखक इन दोनों के प्रति न तो समान भर्त्सना का दृष्टिकोण अपना सकता है, न दोनों की हार-जीत के प्रति तटस्थता और सिनिसिज़्म का भाव रख सकता है। हमारा आग्रह केवल इतना है कि युद्ध के इन व्यापक प्रकारों का स्पष्ट अन्तर जान लेने से लेखक युद्ध की निरर्थकता और ट्रंजेडी को अभिव्यक्त करने की अपनी स्वाधीनता को बिना खोये हुए, क्षणिक उद्देगों और युद्धवाद की संकीर्ण भावनाओं से अवश्य ही ऊपर उठ सकते हैं। महान् साहित्यकारों ने सत् और असत्, सही और गलत में भेद किया है और उस जनता को अपने हृदय की सम्पूर्ण करुणा दी है जो हमलों और धोखे-बाजी की शिकार रही है।

यही कारण है कि रूपटं ब्रुक पहले

महायुद्ध को अपना पूरा समर्थन नहीं दे सका, क्योंकि वह दो प्रतिस्पर्धी साम्राज्यवादों का युद्ध था, जिसमें किसी महान् मानवीय आदर्श को चुनौती नहीं थी। उसने युद्ध की विभीषिका का चित्रण किया और युद्ध के प्रति उत्साह दिखाने वाले लोगों का मज़ाक उड़ाया। और दूसरे महायुद्ध में जब इज़रा पाउण्ड ने फ़ासिज़्म का समर्थन किया और 'शान्ति की दुर्गन्ध' के प्रति अपनी घृणा व्यक्त की तो उसने न केवल सत्य और जीवन के प्रति विश्वासघात किया बल्कि स्वयं अपने कवि की ही हत्या कर डाली।

इसके विपरीत पहले महायुद्ध में जिन लेखकों ने इंग्लैण्ड, जर्मनी, फ़्रांस और रूस में अपने-अपने देशों के साम्राज्यवादियों का विरोध किया, जैसे बर्नर्ड शाँ, वारबूज़, रोम्यां रोला, रिमार्क या गोर्की, उन्होंने ही दरअसल सत्य का दामन नहीं छोड़ा और इसी कारण वे उस युद्ध के बारे में ऐसी कृतियों की रचना कर सके जिनके लिए मानवता उनके प्रति चिर-कृतज्ञ बनी रहेगी।

दूसरे महायुद्ध के दौरान विश्व के सभी महान् लेखकों ने फ़ासिज़्म, उसके जातिवाद के सिद्धान्तों और यहूदियों के उत्पीड़न का विरोध किया और मानवता पर होने वाले नाज़ी अत्याचार के विरुद्ध जन-प्रतिरोध का समर्थन किया। इसके अलावा, सोवियत यूनियन के लेखक—शोलोखोव, अलेक्सी तॉलस्तॉय, इलिया एहरनबर्ग, सिमोनोव आदि—नाज़ी आक्रमण के विरुद्ध लिख रहे थे और लाल फ़ौज की अगली कतारों में लड़ रहे थे। वे अपनी रचनाओं में फ़ासिज़्म का अमानवीय और क्रूर चेहरा दिखा रहे

थे। फ्रांस में सार्त्र, लुई अरांगा, आन्द्रे मालरो आदि प्रतिरोधी आन्दोलन में हथियार लेकर नाज़ी आधिपत्य के विरुद्ध संघर्ष कर रहे थे।

जैसा कि युद्ध में होता है, आक्रामक और आततायी भी अपने कृत्य के लिए जनता का समर्थन पाने की खातिर देश-भक्तिपूर्ण नारे लगाता है। लेकिन 'पितृ-भूमि खतरे में है' की पुकारों का जर्मनी के किसी महान् लेखक पर प्रभाव नहीं पड़ा। इससे लेखकों और कलाकारों के मन में नफरत और ज्यादा गहरी हो गई। टॉमस मान, अर्न्स्ट टोलर, स्टीफन ज़वाइग, अन्ना सेगर्स जैसे सभी बड़े लेखक जर्मनी छोड़कर, अपनी ही मातृभूमि के साम्राज्यवादी नाज़ी शासकों के खिलाफ़ संघर्ष करने के लिए दूसरे देशों में चले गये।

'युद्ध के प्रति लेखक का दृष्टिकोण क्या हो?' जब से यह प्रश्न ज्वलंत बना है, तब से विश्व के महान् लेखकों की यही परम्परा रही है। उन्होंने साम्राज्यवादी युद्धों का विरोध किया है और आज़ादी के युद्धों का समर्थन किया है। इतना ही नहीं, जहाँ कहीं स्वतन्त्रता और शान्ति संकट में पड़ी है, लेखकों ने स्वतन्त्रता-प्रेमी जनता के साथ मिलकर लड़ने के लिए अपना जीवन तक खतरे में डाला है। राल्फ़ फ़ाक्स और कॉडवेल ने फ़ोंको फ़ासिज़्म के खिलाफ़ लड़ते हुए मेड्रिड की खन्दकों में अपना जीवनोत्सर्ग कर दिया। एशिया और अफ्रीका के गुलाम देशों में लेखकों की कई पीढ़ियाँ उपनिवेशी पराधीनता के विरुद्ध संघर्ष करती हुई अपने रवीन्द्रनाथ और प्रेमचन्द पैदा करती रही हैं।

साम्राज्यवाद, फ़ासिज़्म, जातिवाद और प्रतिस्त्रियावाद ससार में कहीं भी

किसी भी महान् लेखक का समर्थन प्राप्त करने में सफल नहीं हो सका। काव्य-देवता निरन्तर मृत्यु, शोषण और दासता की ताकतों के युद्ध-रथ से बँधने से इन्कार करता रहा। वह केवल उन पर अपनी वरद मुसकानें बिखेरता रहा जो विपरीत परिस्थितियों में भी स्वतन्त्रता, प्रेम और शान्ति की मानववादी भावनाओं को संजोये रहे।

: २ :

इस व्यापक सन्दर्भ में पाकिस्तान के साथ होने वाले मौजूदा युद्ध के प्रति लेखक का दृष्टिकोण क्या होना चाहिए? क्या लेखक मूल्यों के प्रश्न को एक तरफ़ हटाकर, कौन सही है कौन गलत है, के निर्णय से निःसंग रहकर भारत और पाकिस्तान के शासकों पर एक साथ ही 'थूके' जिन्होंने हमारी जनता को 'एक-दूसरे की हत्या करने की पाशविकता' में धकेल दिया है (जैसा कि आकाशवाणी से प्रसारित एक कविता में सुझाया गया था) या पूर्ण उदासीनता की मुद्रा बनाकर दावा करे कि लेखक का काम लिखना है जिस तरह सिपाही का काम लड़ना है और इन दोनों कार्यों में कोई उभयनिष्ठता नहीं है (जैसा कि दिल्ली की संज्ञा-गोष्ठी में एक लेखक ने कहा), या इस युद्ध को एक 'स्थिति' मात्र मानकर जिसमें कोई भी मूल्यगत प्रश्न अन्तर्निहित नहीं है, जिससे लेखक उसमें ज़रा भी रुचि रख सके, वह उससे अपने-आपको दूर और अ-सम्बद्ध रखे (जैसा कि संज्ञा-गोष्ठी में एक और लेखक ने सुझाया)?

इन दृष्टिकोणों को संवेदनशील लेखकों के उन ईमानदार प्रयत्नों का प्रतिनिधि माना जा सकता था जो वे अपनी अभि-

६ : आलोचना

व्यक्ति की स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए करते हैं और जिनके द्वारा वे अपनी 'प्रतिभा' को प्रचारात्मक लक्ष्यों की सिद्धि के लिए उपलक्ष्य-मात्र बनाये जाने से रोकते हैं, अगर उनकी आधारभूत धारणाएँ सही होतीं और अगर इन दृष्टि-कोणों में वर्तमान युद्ध के वास्तविक स्वरूप और उसमें अन्तर्निहित नैतिक प्रश्नों और भावी खतरों के प्रति घोर उदासीनता व्यक्त न होती।

भारत इस युद्ध में साम्राज्यवादी लक्ष्यों को लेकर सम्मिलित नहीं हुआ। भारत ने युद्ध नहीं छेड़ा, युद्ध में उसे घसीटा गया और देश की एकता, स्वतन्त्रता, धर्म-निरपेक्ष प्रजासत्त और गुट-निरपेक्षता की रक्षा के लिए ही उसे विवश होकर हथियार उठाने पड़े। इसलिए युद्ध 'मूल्य-निरपेक्ष' एक 'स्थिति' मात्र नहीं है।

सिनिसिज्म या अनास्था का स्वांग रचकर लेखक अपनी कला को ही दरिद्र बना सकता है। इसके अलावा इस तरह का दृष्टिकोण ब्रिटिश और अमरीकी साम्राज्यवादियों के छिपे हाथों को और चीनी षड्यन्त्र को भी, जिन्होंने पाकिस्तान के नेताओं को भारत पर यह युद्ध थोपने के लिए प्रोत्साहित किया, नज़रन्दाज़ कर देता है।

दूसरी तरफ़, क्या भारतीय लेखक भी पाकिस्तानी शासकों की तरह युद्धोन्माद को उभारने में मदद करे और देशभक्ति के नाम पर पाकिस्तान के विरुद्ध 'जिहाद' का नारा छगायें जैसा कि इस समय संकीर्ण राष्ट्रवादी और साम्प्रदायिक विचारधारा के अनेक तुकड़ कवि-समूह कर रहे हैं? पाकिस्तानी शासक और उनके वैतनिक

शायर महमूद गज़नवी-जैसे मुसलमान विजेताओं की विरुद्धालियाँ गाकर पाकिस्तान की जमता को उनका वारिस घोषित कर रहे हैं, जिनका लक्ष्य एक बार फिर तलवार के जोर से भारत को गुलाम बनाना और कश्मीर के मुसलमानों को भारत की गुलामी (?) से मुक्ति दिलाना है। हमलावरों के नारों की नक़ल करके भारत के हिन्दू सम्प्रदायवादी तुकड़ भी 'पाकिस्तान को क़ब्रिस्तान में बदलने', 'नक्शे से पाकिस्तान का नाम मिटा देने' और 'पाकिस्तान पर अधिकार करके विभाजन के पूर्व के अखण्ड भारत को पुनःस्थापित' करने के लिए ललकार रहे हैं। ये लोग देश-भक्ति, भारत की एकता और गांधी की हत्या का प्रतिशोध लेने के नाम पर खून की नदियाँ बहाने को लालायित हैं। ये लोग अपनी कविताओं में राणा सांगा और रानी दुर्गावती-जैसे सूरमाओं के जीवन-चरितों का आह्वान करते हैं जिन्होंने किसी समय मुसलमान आक्रमणकारियों के विरुद्ध युद्ध किया था और इस प्रकार हिन्द-पाकिस्तान युद्ध की हिन्दू-मुस्लिम युद्ध में परिणति देखना चाहते हैं। इसीलिए वे अपनी कविताओं और नाटकों की भाषा में जिन प्रतीकों और रूपकों को ग्रंथित हैं, वे मूलतः मध्य-कालीन धर्मान्विता से प्रेरित और हिन्दू-परम्परावादी होते हैं।

संवेदनशील लेखक इस तरह के दृष्टिकोण को केवल इसलिए गहित और खतरनाक नहीं समझते कि वह जिस तरह की मानवीय संस्कारहीन, प्रचारात्मक कविता और नाटक लिखे जाने की प्रेरणा देता है, उनमें विकृत, ओछी और पाशविक भावनाओं की ही छिड़ली अभिव्यक्ति

होती है, बल्कि इसलिए भी यह दृष्टिकोण एक ऐसी अन्ध और क्रूर रक्त-पिपासा को भी प्रतिबिम्बित करता है जो फ्रांसिज्म और उसके द्वारा आयोजित यहूदियों के हत्याकाण्डों का स्मरण दिलाती है। इसके अलावा, यह दृष्टिकोण हमारे जीवन के समस्त मानवीय और प्रजातान्त्रिक मूल्यों, भारत की धर्म-निरपेक्षता की नीति और वर्तमान युद्ध में उन सामरिक लक्ष्यों को भी नकारता है, जो केवल देश की सुरक्षा तक ही सीमित हैं। घृणा और हिंसा को प्रोत्साहन देने वाले ये नाटक और कविताएँ इतिहास में से ऐसे ही व्यक्तियों और प्रसंगों का आह्वान करते हैं जिनको भारत के हिन्दू और मुसलमान संयुक्त रूप से अपनी समन्वित परम्परा का अंग नहीं मानते और पूर्व-इस्लामी पौराणिक हिन्दू-परम्परा या शुद्ध हिन्दूवादी दृष्टिकोण का प्रतिनिधित्व करते हैं और इस प्रकार उनका आह्वान आज के सन्दर्भ में घोर सम्प्रदायवाद का प्रतीक बन जाता है, मानो यह संघर्ष दो पड़ोसी राज्यों के बीच न होकर हिन्दू भारत और मुस्लिम पाकिस्तान के बीच हो—यही तर्क पाकिस्तान के जंग-वाज हुक्मरानों का भी है। लेकिन यह संकीर्ण हिन्दू राष्ट्रवादी दृष्टिकोण भारतीय इतिहास को झुठलाता है और भारत के छः करोड़ मुसलमानों को जैसे अपनी ही मातृभूमि में विदेशी घोषित करता है। और सबसे पीड़ाजनक बात तो यह है कि इस प्रकार की उन्मादपूर्ण रचनाएँ जो मानव-चेतना और लोगों की प्रजातान्त्रिक भावना पर नापाम बमों-जैसा काम करती है, भारतीय रेडियो तथा अन्य सरकारी प्रचार-एजेन्सियों का संरक्षण प्राप्त है।

सारी स्थिति इतनी जटिल है कि

सिनिकल उदासीनता की यह जरूरत से ज्यादा सरल दृष्टि और साम्प्रदायिक सुरों से भरी साहित्यिक उत्तेजनावाद की प्रवृत्ति ये दोनों ऊपर से परस्पर-विरोधी दिखायी देने पर भी, दरअसल एक-दूसरे की पूरक साबित हो सकती हैं, यदि लेखक स्थिति की यथार्थता और उसमें निहित गहन मानवीय परिप्रेक्षों को नजरअन्दाज कर देंगे। हिन्दू-पाकिस्तान युद्ध के बारे में कोई भी भारतीय लेखक निम्नलिखित तथ्यों के प्रति उदासीन रहकर एक सही दृष्टिकोण निर्धारित नहीं कर सकता :

एक : कि यह युद्ध दो भाई देशों के बीच है जो अभी कल तक एक-दूसरे के अंग थे—यानी दोनों देशों की जनता का इतिहास एक ही रहा है, उनकी संस्कृति और जातीय परम्परा भी एक ही रही है। विभाजन से चाहे जमीन बँट गई हो, इतिहास, संस्कृति और परम्परा दोनों की आज भी एक है।

दो : पाकिस्तान की राज्य-व्यवस्था चाहे जैसी हो, वह इस्लामिक राज्य हो या सैनिक डिक्टेटरशिप, जबकि भारत एक प्रजातान्त्रिक और धर्म-निरपेक्ष राज्य है, लेकिन फिर भी हमारा उद्देश्य पाकिस्तान को मिटाना नहीं बल्कि उसके साथ शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व प्राप्त करना है, क्योंकि इसी में दोनों का कल्याण है।

तीन : पाकिस्तान के शासक भारत पर अपने जारिहाना हमले को चाहे एक धर्म-युद्ध, जेहाद का रूप देना चाहते हों, लेकिन हमें पूरी सजगता से उनके जाल में फँसने से रोकना चाहिए, क्योंकि हमारी लड़ाई पाकिस्तानी की जनता से नहीं है, बल्कि उसके शासकों से है, जो साम्राज्यवाद के पिढू हैं। 'जेहाद की गुहार वे

८ : आलोचना

इसलिए लगाते हैं कि इससे पाकिस्तान में भारत-विरोधी युद्धोन्माद पैदा किया जा सके, ताकि इसके जवाब में भारत की जनता में भी हिन्दू साम्प्रदायिकता को प्रोत्साहन मिले। भारत की धर्म-निरपेक्ष जनतान्त्रिक व्यवस्था अगर कमजोर हो जाए तो साम्राज्यवाद पर उसकी पूर्ण निर्भरता एक अनिवार्य हकीकत बन सकती है। पाकिस्तानी शासकों को आशा थी कि इस चाल में भारत के मुसलमान उनके और साम्राज्यवाद के पाँचवें दस्ते का काम करेंगे। लेकिन भारतीय मुसलमानों की देशभक्ति और वर्तमान युद्ध में उनके वीरतापूर्ण कारनामों ने उनकी आशा पर पानी फेर दिया और भारत के हिन्दू सम्प्रदायवादियों को भी पाकिस्तान का खेल खेलने से रोक दिया।

चार : भारत में छः करोड़ मुसलमान रहते हैं। वे यहाँ के वाशिन्वे हैं, नागरिक हैं, विदेशी नहीं हैं, शुद्ध भारतीय हैं। भारतीय संस्कृति के निर्माण में—भारतीय दर्शन, विचारधारा, साहित्य, कला, संगीत, स्थापत्य और दस्तकारी के विकास में उनका योगदान इतना महान् है कि हमारी संस्कृति के ताने-बाने में जो केवल हिन्दू-कालीन धागे हैं उनको ही 'भारतीय संस्कृति' का पर्याय समझना एक बर्बर और असभ्य मनोवृत्ति का परिचायक है।

पाँच : पाकिस्तान के शासकों ने हम पर जो युद्ध लादा है, उससे और धर्मों के अनुयायियों की अपेक्षा मुसलमानों के लिए कहीं ज्यादा द्वैजिक परिस्थिति पैदा की है क्योंकि भारत के विभाजन ने हिन्दुओं की तरह लाखों-करोड़ों मुसलमानों को अपने परम्परागत निवास-स्थानों से विस्थापित ही नहीं किया, बल्कि लाखों

परिवारों को भी बाँट दिया। फिर भी पाकिस्तान में बसे अपने सगे-सम्बन्धियों, बेटे-बेटियों के भाग्य के बारे में सहज चिन्ता के बावजूद, भारत के मुसलमानों ने इससे अपनी मातृभूमि के प्रति अपनी वफ़ादारी पर आँच नहीं आने दी। इन लाखों मुस्लिम हृदयों में एक मौन किन्तु हृदय-विदारक, पीड़ाजनक, द्वैजिक मानवीय नाटक खेला जा रहा है, और कोई भी संवेदनशील लेखक उसकी उपेक्षा नहीं कर सकता।

छः : पाकिस्तान के सैनिक तानाशाह वहाँ की जनता के प्रतिनिधि नहीं हैं। पूर्व बंगाल, पश्चुनिस्तान, पश्चिमी पंजाब और बलोचिस्तान की जनता एक अरसे से जनतान्त्रिक अधिकारों के लिए संघर्ष करती रही है, यह सभी जानते हैं। पाकिस्तान की जनता के इन आन्दोलनों के प्रति सहानुभूति प्रदर्शित करने का तात्पर्य है कि हम पाकिस्तान की जनता को अपना मित्र समझते हैं और हमारा विश्वास है कि दोनों देशों के जनवादी आन्दोलनों का पारस्परिक सहयोग ही अन्ततः दोनों देशों के बीच स्थायी शान्ति की बुनियादी डाल सकता है और सम्भवतः भविष्य में दोनों देशों को पुनः एक होने की प्रेरणा दे सकता है। लेकिन सद्भावना का यह वातावरण तभी पैदा हो सकता है जब हर हिन्दू भारत के मुसलमानों को अपना भाई और सजातीय समझकर उनको सामाजिक व्यवहार और भावना के स्तर पर अपना लेगा। स्मरण रहे कि 'पाकिस्तान' का बीज उस दिन पड़ गया था जब हिन्दुओं ने भारत में आकर बसे मुसलमानों को 'रोटी-बेटी' के सामाजिक

(शेष पृष्ठ १८३ पर)

स्वातंत्र्योत्तर सिद्धान्त-वर्चा

श्री रामधारीसिंह 'दिनकर'

युद्ध और कविता

युद्ध कविता के लिए कहाँ तक ग्राह्य या अग्राह्य है ? मेरा ख्याल है, कविता के लिए युद्ध को उतना ही ग्राह्य या अग्राह्य होना चाहिए जितनी ग्राह्य या अग्राह्य नैतिकता या अनैतिकता हो सकती है। युद्ध बर्बर कृत्य है और कविता सभ्यता की वाणी है, इस आधार पर कविता को युद्ध से अलग नहीं रखा जा सकता। युद्ध वह जन्तु है जो अपनी सेवा सभ्यता के अग्रणी लोगों से करवाता है। और कविता को भी असभ्यता से परहेज नहीं है। वह अनाचार, दुराचार, कदाचार—यहाँ तक कि व्यभिचार में भी रस लेती है और अब वह यह कार्य मनुष्य के सुधार के लिए नहीं करती, बल्कि केवल यह जानने को कि अनाचार कैसा होता है, दुराचार का स्वरूप क्या है और व्यभिचार की प्रेरणा कहाँ से आती है। युद्ध अगर दुराचार है तब भी कविता उसे जरूर समझना चाहेगी।

किन्तु यह सत्य है कि युद्ध के प्रसंग में नई कविता पुरानी कविता से भिन्न हो गई है। पुरानी कविता में युद्ध के लिए उत्साह था। नई कविता में उसके लिए व्यथा और विपाद है, द्विधा और द्वन्द्व है, विरक्ति और विलाप है। पुराने ज़माने में युद्ध की अच्छी कविता वह समझी जाती थी जो युद्ध का समर्थन करती थी। अब युद्ध की अच्छी कविता वह है जो युद्धों का विरोध करती है, उनके प्रति वितृष्णा उत्पन्न करती है। पुरानी कविता आवेग-प्रधान थी। नई कविता चिन्तन-प्रधान है। और यह बात प्रत्यक्ष है कि क्रोध बिना सोचे-समझे किया जाता है। सोचने-विचारने से क्रोध की आग मन्द पड़ जाती है। लेकिन युद्ध वह तूफान है जो चिन्तन के चिराग को गुल कर देता है। अतएव, प्रश्न यह बन जाता है कि युद्ध छिड़ जाने पर हम क्या करें ? आया हम तटस्थ हो जाएँ या युद्ध का विरोध करें अथवा बन्दूकें उठाकर मैदान की ओर दौड़ें और कलम उठाकर उन आवेगों को बढ़ावा दें जो अन्धवीरता के आवेग हैं, जिन आवेगों के सामने विजय और विनाश को छोड़कर कोई और विकल्प नहीं है।

पुरानी कविता उस अडिग मनुष्य की कविता थी जो चिन्तन कम, कार्य अधिक करता था। नई कविता उस मनुष्य की कविता है जो ज्ञानाधिक्य से पीड़ित होने के कारण कर्म के विषय में शंकाग्रस्त है। पुरानी कविता के वीरनायक श्रीराम थे जिन्हें शम्बूक-वध के समय भी दुविधा नहीं हुई, श्रीकृष्ण थे, जिन्हें अपनी प्रतिज्ञा तोड़कर भीष्म पितामह पर दूट पड़ने में किसी प्रकार का संकोच नहीं हुआ। नई कविता का नायक हैमलेट है जो आत्मरक्षा का उपाय न खोजकर केवल इस विचिकित्सा में पड़ा

१० : आलोचना

रहता है कि होने और नहीं होने में कौन-सा विकल्प ठीक है, कर्म और अकर्म में कौन सा सही और कौन-सा गलत मार्ग है। पुरानी कविता का स्वर था—

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्षसे महोम्

तस्मात् उत्तिष्ठ कोन्तेय, युद्धाय कृतनिश्चयः ।

किन्तु नई कविता का स्वर है, “आशा करने से बाज आओ, क्योंकि आशा गलत चीज की आशा होगी। प्रेम करने से बाज आओ, क्योंकि प्रेम गलत चीज के लिए प्रेम होगा।” इलियट की चेतावनियों में एक चेतावनी यह भी जोड़ी जा सकती है कि “युद्ध करने से बाज आओ, क्योंकि युद्ध गलत बातों के लिए युद्ध होगा।” और अन्त में सभी युद्ध, सचमुच ही, गलत बातों के लिए युद्ध सिद्ध होते हैं।

किन्तु, हैमलेटवादी दृष्टिकोण की प्रधानता होते हुए भी युद्ध रुकता नहीं दिखाई देता। उल्टे यह बात दिनोंदिन अधिक प्रत्यक्ष होती जाती है कि हैमलेट जहाँ भी जन्म लेते हैं, बर्बाद होने को जन्म लेते हैं। हैमलेटों की ईमानदारी का आदर केवल कवि करते हैं, दार्शनिक और कलाकार करते हैं। किन्तु कर्मवादी राजनीतिज्ञ, जो संसार के संचालक और सूत्रधार हैं, हैमलेट की पहले भी अवहेलना करते थे और आज भी अवहेलना करते हैं। और युद्ध आदि से अन्त तक राजनीति है। जब राजनीति श्वेत वस्त्रों में होती है, हम उसे शान्ति कहते हैं। जब उसके कपड़े लाल रंग में रंग जाते हैं, तब वही राजनीति युद्ध बन जाती है। प्रश्न यह नहीं है कि युद्ध दुष्कर्म है या नहीं। प्रश्न यह है कि उसके अभिशापों से बचा कैसे जाए ?

केवल ऊँची बातें बोलने से युद्ध नहीं रुकेगा क्योंकि आदमी ऊँची बातों को अमल में लाने से लाचार है। विशेषतः अहिंसा की साधना व्यक्ति के लिए सुकर, समूह के लिए अत्यन्त दुःसाध्य है। और जब भी हम व्यक्ति के धर्म को समाज का धर्म बनाएँगे, नतीजा वही निकलेगा जो भारतवर्ष में दिखाई पड़ा है। भारत का पतन इसलिए नहीं हुआ था कि यह देश पापियों का देश था। पतन उसका इसलिए हुआ कि सभ्यता उसने ज़रूरत से ज्यादा सीख ली थी।

बहुत ऊँचे आदर्श व्यक्ति को तो ऊँचा उठा ले जाते हैं, मगर वे राष्ट्रों का विनाश कर डालते हैं। भारत शान्ति की आराधना करे, इससे किसी का भी विरोध नहीं हो सकता। व्यावहारिक कठिनाई केवल यह है कि अगर ऋषि ने यज्ञवेदी पर काफ़ी बन्दूकें जमा नहीं की हैं तो उसका शान्ति-यज्ञ भी पूरा नहीं होगा।

युद्ध से डरनेवाले लोग शान्ति-स्थापना में हमेशा असमर्थ रहे हैं। शान्ति की रक्षा आज भी वे ही लोग कर रहे हैं और आगे भी वे ही लोग करेंगे जो युद्धों से नहीं डरते, मगर, युद्ध रोकने को तैयार हैं। आदर्श मनुष्य की सबसे समीचीन कल्पना यह है कि उसे शरीर से बर्बर और मन से साधु होना चाहिए। लेकिन शान्ति-स्थापना में जितनी बाधा बर्बरों की बर्बरता से पड़ी है, साधुओं की निर्वीर्यता उससे कम गुनहगार नहीं है।

विशेषतः जिन देशों की जनसंख्या बहुत बड़ी है, उन्हें सामरिक दृष्टि से बलवान् होना चाहिए। नहीं तो उनकी कमज़ोरी ही विश्वयुद्ध का सबसे बड़ा कारण बन

जाएगी। चिड़ियों की लाशों पर केवल कौए ही भीड़ लगाते हैं। बड़े-बड़े गिद्ध तो तभी उतरते हैं जब उन्हें किसी बड़े जानवर की लाश दिखाई देती है।

युद्ध की कविता केवल युद्ध के ही समय नहीं लिखी जाती है। वह तब भी लिखी जाती है और लिखी जानी चाहिए जब युद्ध शुरू नहीं होते हैं और उस समय भी जब युद्ध खत्म हो जाते हैं। और जैसे युद्ध में जीत उसकी होती है जो पहले से ही उसके लिए तैयार रहता है, उसी प्रकार संसार में मान के साथ केवल वे जातियाँ जीती हैं, जिनका जीवन-दर्शन युद्ध पर आधारित है, संघर्ष की वास्तविकता से एकाकार है। सर मोहम्मद इक़बाल कविता को व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति मानते थे, किन्तु, व्यक्तित्व से उनका तात्पर्य संघर्ष और तनाव से था। इक़बाल के अनुसार व्यक्तित्व उसका बनता है जो दुरवस्थाओं से संघर्ष कर रहा है, जो तनाव की स्थिति में रहकर अपना विकास खोज रहा है। जो बातें व्यक्तित्व के विकास में सहायता पहुँचाती हैं उन्हें इक़बाल कला के लिए भी उपयोगी समझते थे। और जिन बातों से मनुष्य का व्यक्तित्व शिथिल होता है, उन्हें इक़बाल कला के लिए भी वर्जित बताते थे। हाफ़िज़ की गज़लों की उपमा उन्होंने उन गुलाबों से दी थी, जिनके भीतर साँप छिपे हुए हैं। इक़बाल के उद्गारों से यह शिक्षा मज़े में निकाली जा सकती है कि मानवता को ऊँचा उठानेवाली प्रत्येक कविता युद्ध की ही कविता होती है, क्योंकि वह संघर्ष को प्रेरित करती है, तनाव की स्थिति को मजबूत बनाती है। और इस संघर्ष और तनाव का कहीं भी अन्त नहीं है। मंजिलों के आगे नयी मंजिलें मौजूद हैं और आदमी को हमेशा अपने से ऊपर उठने का प्रयास करते ही जाना है।

सितारों से आगे जहाँ और भी हैं,

अभी इश्क के इम्तिहाँ और भी हैं।

तू शाहीं है, परवाज़ है काम तेरा,

तेरे सामने आसमाँ और भी हैं।

संसार अभी भी उन कविताओं के पूरे प्रभाव में है, जिन्हें हम सब युद्ध-काव्य कह सकते हैं। रामायण युद्ध की कविता है। महाभारत युद्ध का काव्य है। होमर युद्ध के कवि हैं। शेक्सपियर युद्ध की प्रेरणाओं से पूर्ण हैं। मनुष्य के मन के भीतर युद्ध को गौरवपूर्ण भाव के रूप में प्रतिष्ठित करने का सारा कार्य कवियों ने किया है और आज इस भाव को गौरवहीन बनाने की दिशा में भी वे ही सबसे अधिक सचेष्ट हैं। किन्तु, युद्ध की गरिमा का चाहे जितना भी हरण किया जाए, युद्ध अचानक फूट पड़ता है और तब बहुत-से ऐसे कवि भी युद्ध की कविता लिखने लगते हैं जो सच्चे मन से युद्धों के विरुद्ध हैं। शान्ति का प्रचार तभी तक सम्भव है जब तक युद्ध नहीं छिड़ा हो। जब युद्ध छिड़ जाता है तब फिर लड़ना छोड़कर कोई और मार्ग शेष नहीं रह जाता।

युद्ध के दर्पपूर्ण आवेगों से मनुष्य का जितना परिचय है उसका उतना ही पुराना परिचय युद्ध की करुणा के भी साथ है। जिन कारणों से हम युद्ध का गौरव-हरण करना चाहते हैं, वे कारण कदाचित् व्यासजी को भी दिखाई पड़े थे। युद्ध के

१२ : आलोचना

ठीक पहले अर्जुन की और युद्ध के बाद युधिष्ठिर की जो मनोदशा हुई थी, वह आधुनिक चिन्तकों की मनोदशा से मिलती-जुलती है। किन्तु, व्यास ने अर्जुन का समाधान भगवान् श्रीकृष्ण से तथा युधिष्ठिर का समाधान भीष्म से करवा दिया। अर्थात् अपने इस मत को उन्होंने दो-दो बार रेखांकित किया कि अन्याय के प्रतिकार के लिए अगर खड्ग छोड़कर और कोई विकल्प नहीं हो, तो वैसी अवस्था में खड्ग उठाना धर्म तथा नहीं उठाना अधर्म है।

वास्तविक युद्ध-काव्य और कोरे प्रचार काव्य के बीच हमें भेद करना चाहिए, गरचे यह विभाजन ज्यादातर गुण नहीं, परिमाण को ही लेकर किया जा सकता है। जैसे शैली की नवीनता और उसका तकनीकी सौन्दर्य अन्य कविताओं की श्रेष्ठता के लक्षण माने जाते हैं, उसी प्रकार युद्ध-काव्य की भी श्रेष्ठता उसकी शैली में परखी जाती है। वास्तविक युद्ध-काव्य वह है जो भाव और शैली, दोनों से लोगों के बीच असंतोष पैदा करता है, उनके भीतर अन्याय के विरोध की भावना जगाता है और उन्हें विपत्तियाँ झेलने को तैयार करता है। किन्तु, युद्ध के समय जो ढेर-की-ढेर अख-बारी कविताएँ लिखी जाती हैं वे एक दृष्टि से तो प्रचार-साहित्य हैं, किन्तु, एक दूसरी दृष्टि से वे एक प्रकार की मनोवैज्ञानिक ग्रन्थि से उत्पन्न होती हैं। अँधेरे और सुनसान रास्ते से चलनेवाले मुसाफिर को जब भय लगता है, वह जोर-जोर से गाने लगता है। इसी प्रकार जनता जब किसी युद्ध से भय मानती है तब वह गाने और सुनने के लिए उग्र-उन्मादक कविताओं की माँग करती है। यह भी ध्यान देने की बात है कि जिस युद्ध से जितना ही अधिक आतंक फैलता है, उसे लेकर उतनी ही अधिक कविताएँ लिखी जाती हैं। मनोवैज्ञानिक ग्रन्थि का एक स्वरूप यह भी है कि युद्ध के समय हमारे अन्तर्मन में यह ग्लानि समाई रहती है कि हम सुरक्षित इसलिए हैं कि हमारी रक्षा करने को और लोग मोर्चे पर खतरे झेल रहे हैं, अपनी जान और जिस्म की कुर्बानी दे रहे हैं। अपने अन्तर्मन की इस अपराध-भावना को छिपाने के लिए भी हम देशभक्ति का बहाना बनाकर युद्ध की कविता रचते अथवा जोर-जोर से उसका पाठ करते हैं। युवकों को मृत्यु के मुख में झोंककर खुद आराम करने में जो एक मनोवैज्ञानिक ग्लानि और दंश है उसे छिपाने अथवा उससे पलायन करने के काम में देशभक्ति-पूर्ण कविताएँ जनता को सहायता पहुँचाती हैं। एक यह भी कारण है कि युद्ध के समय युद्ध-प्रचार की कविताएँ जितनी लोकप्रिय रहती हैं, उतनी लोकप्रिय वे युद्ध में बाद नहीं रह पातीं।

किन्तु, युद्ध की सारी कविताएँ केवल लोकप्रिय ही हों, यह कोई आवश्यक बात नहीं है। वे आलोकप्रिय भी हो सकती हैं और जो कविताएँ आलोकप्रिय होती हैं, वे ही दीर्घायु भी होती हैं। युद्ध का जो वक्तव्य सार्वजनिक मंचों से आता है वह उसका असली वक्तव्य नहीं है। युद्ध का असली वक्तव्य वह है जिसे नीरवता में केवल हमारी आत्मा सुना करती है। युद्ध ऐसा विषय नहीं है जिसका बखान केवल ढोल पीटकर कर दिया जाए। उसके साथ अनंत परिवारों की वेदना बँधी है, उसके साथ सभ्यता का भविष्य सम्बद्ध होता है, उसके साथ जीवन-मरण की ऐसी अनेक गुत्थियाँ

लिपटी
बड़े परि
विस्फोट
है। युद्ध
अपने क
अच्छी व

जिक क
नहीं हो
आधी स
हैं, उसके
कविताएँ
भी राष्ट्र
पहुँचती
अतिक्रम
एक शत

युद्ध को
विख्यात

गयी। उ

देशभक्ति
यह कि
नहीं होते
शिक्षा है
हम शांति
का अनु
छोड़कर

लिपटी होती हैं जिन्हें सुलझाने के काम में चिन्तकों, दार्शनिकों और राजनीतिके बड़े-बड़े पंडितों को बारबार पराजय स्वीकार करनी पड़ी है। युद्ध राष्ट्रीय भावनाओं का विस्फोट है, मगर वह मानवीय समस्या का भी सबसे ज्वलन्त, सबसे दुःखदायी स्वरूप है। युद्ध में मनुष्यों को क्या-क्या नहीं सहना पड़ता है ? मेरा ख्याल है, कविगण यदि अपने को कम, मनुष्य को कुछ अधिक देखने की कोशिश करें तो वे युद्ध की बहुत अच्छी कविताएँ लिख सकते हैं।

युद्ध-काव्य को मैं एक सामाजिक कर्तव्य मानता हूँ जैसे राष्ट्रीय काव्य सामाजिक कर्तव्य है। किन्तु यहाँ यह भी याद रखने की बात है कि कवि साधारण सैनिक नहीं होता। हम विशेष प्रकार के सिपाही हैं। हम जिससे लड़ते हैं, अपने हृदय की आधी सहानुभूति उस दुश्मन के लिए भी सुरक्षित रखते हैं। हम जिस पर वार करते हैं, उसके घाव के लिए मरहम तैयार करना भी हमारा ही काम है। युद्ध की श्रेष्ठ कविताएँ वे नहीं हैं जो युद्ध-विशेष के साथ समाप्त हो जाती हैं। कविता राष्ट्रीय होकर भी राष्ट्रीयता का अतिक्रमण करती है, धार्मिक होकर भी साम्प्रदायिकता के पार पहुँचती है। युद्ध की भी श्रेष्ठ कविताएँ वे हैं, जो युद्ध-काव्य होने पर भी युद्ध का अतिक्रमण करती हैं, जो एक देश में जन्म लेकर अनेक देशों का स्पर्श करती हैं, जो एक शताब्दी में पैदा होकर अनेक शताब्दियों की यात्रा करती हैं।

नये कवि करुणा और संवेदना के कवि हैं। वे भावुकता के आवेश में आक युद्ध को दर्पपूर्ण भाव के रूप में ग्रहण करने को तैयार नहीं हैं। प्रथम विश्व-युद्ध के विख्यात युद्धकवि विलफ्रेड ओवेन ने लिखा था :—

My subject is war and the pity of war.

The poetry is in the pity.

और येट्स का सिपाही मोर्चे पर खड़ा बड़े ही निःसंकोच भाव से कहता है :

Those that I fight, I do not hate.

Those that I guard, I do not love.

द्वितीय विश्वयुद्ध की कविता तो दर्प और भावुकता से बिल्कुल ही मुक्त हो गयी। उस युद्ध के एक वर्दीधारी कवि ने लिखा था :

Droll rat, they will shoot you if they knew your cosmopolitan sympathies.

वेदना और व्यंग्य, ये युद्ध-काव्य की अब रीढ़ बन गए हैं। वेदना उनकी जो देशभक्ति के लिए अथवा विचारधारा के प्रेम में शहीद होते हैं। और व्यंग्य की बात यह कि जिन सपनों के लिए सिपाही अपना वलिदान देना है, वे सपने कभी भी पूरे नहीं होते। व्यंग्य इस बात पर भी कि हमें जो शिक्षा दी जाती है वह शान्ति की शिक्षा है, युद्ध-विरोध की शिक्षा है। किन्तु, यह शिक्षा हमारे किसी काम नहीं आती। हम शान्ति चाहते हैं, किन्तु, हमें युद्ध में उतरना पड़ता है। अपने भीतर हम रंजानि का अनुभव करते हैं, ऊँचाई से खिसकने पर हमें पश्चात्ताप होता है, किन्तु, लड़ना छोड़कर हम और कुछ नहीं कर सकते, क्योंकि जातियों के लिए राष्ट्रीय पराजय

१४ : आलोचना

बढ़कर और कोई पाप नहीं है। कवि कैलास ने इस दर्द को बहुत अच्छी अभिव्यक्ति दी है।

यह सब कल के लिए छोड़ दो।

आज तो बस युद्ध को—

नहीं, नहीं, 'आवश्यक बुराई' को,

नीचे से ऊपर तक ओढ़ लो।

यह वक्तव्य ईमानदारी का वक्तव्य है। ओवेन और येट्स के वक्तव्य भी ईमानदारी के ही वक्तव्य हैं। किन्तु, ये सारे वक्तव्य अधूरे दीखते हैं, क्योंकि वे जिस गहराई की याह लेने की कोशिश करते हैं, वह गहराई अथाह है। युद्ध के बारे में मुख से उद्गीर्ण कोई भी वक्तव्य पूर्ण नहीं हो सकता। भाषा इस विषय की पूरी वेदना और विवशता को नहीं संभाल सकती, न चिन्तन इस समस्या का सम्यक् समाधान निकाल सकता है। जब तक कर्म की घड़ी नहीं आती, वाणी और चिन्तन अपना काम कर सकते हैं, किन्तु, कर्म का अखाड़ा खुलते ही कर्म ही हमारा प्रधान कर्तव्य हो जाता है। क्योंकि कर्म के अखाड़े में चिन्तन की तलवार का भरोसा करनेवाला मनुष्य मारता नहीं, खुद मारा जाता है।

क्रिया को छोड़ चिन्तन में फँसेगा,

उलट कर काल तुझको ही ग्रसेगा।

स्वत

हम स

वात

की अ

क्रिया

जन्म

१४-१

बन्द

है औ

अपन

निर्देश

विहीन

में को

नियम

नया

हुए हैं

विविध

आश्व

गोष्ठी

की ज

हुआ

१५-१

एक स

का भ

और

दे सके

और

डॉ० सुरेश अग्रवस्थी

स्वतन्त्रता के पश्चात् हिन्दी नाटक : विकास की भूमिका

हम समसामयिक हिन्दी नाटक और रंगमंच पर दृष्टिपात करते हैं तो आज भी यह बात सहज ही स्पष्ट हो जाती है कि हिन्दी नाट्य-लेखन साहित्य की दूसरी विधाओं की अपेक्षा परिमाण और गुण दोनों ही दृष्टियों से हीन कोटि का है, और रंगमंचीय क्रियाकलाप का इतना बड़ा विस्तार भी किसी संगठित और व्यावसायिक रंगमंच को जन्म नहीं दे सका। यही नहीं, हिन्दी का एकमात्र व्यावसायिक रंगमंच पृथ्वी-थिएटर्स १४-१५ वर्ष समस्त हिन्दी-भाषी क्षेत्रों में नाटकों का प्रदर्शन करके १९६० में सहसा बन्द हो गया। हिन्दी नाट्यालोचना आज भी मुख्य रूप से साहित्यिक आलोचना ही है और वह नाटक को रंगशाला के सन्दर्भ में मूल्यांकित करने में असमर्थ है। वह अपना स्वरूपपूर्ण और प्रयोजनशील बनाकर नाटक के क्षेत्र में रचनात्मक कार्य को कोई निर्देश नहीं दे पा रही। नाट्य-लेखन और प्रदर्शन दोनों ही संकुचित और कल्पनाविहीन यथार्थवादी परम्पराओं और प्रणालियों से जकड़े हुए हैं, और इन दोनों ही क्षेत्रों में कोई नया विचारोत्तेजक और प्रयोगात्मक कार्य नहीं हो रहा है। नाट्य-लेखन के नियमों और व्यवहारों तथा नाट्य-प्रदर्शन की पद्धतियों और शैली मूल्यों का कोई नया रूप विकसित नहीं हो रहा, और वे एक प्रकार के कलात्मक गतिरोध से घिरे हुए हैं।

फिर भी सब मिलाकर रंगमंचीय क्रियाकलाप का विस्तार हुआ है और उसमें विविधता आई है तथा कुछ श्रेष्ठ नाटकों की रचना हुई है जो नई उपलब्धियों का आश्वासन देते हैं। नाटकीय समस्याओं पर गम्भीर साहित्यिक वादविवाद हो रहे हैं, गोष्ठियाँ हो रही हैं; नाटकों और नाट्य-प्रदर्शनों के शिल्प-पक्ष की गम्भीर समीक्षाएँ की जा रही हैं, 'नटरंग' नामक उच्च स्तर की त्रैमासिक नाटक पत्रिका का प्रकाशन हुआ है। इस सबके आभार पर यह कहा जा सकता है कि स्वतन्त्रता के पश्चात् का १५-१८ वर्षों का समय हिन्दी नाटक और रंगमंच के जीवन में वास्तव में विकास की एक सुनिश्चित भूमिका का समय है। यह भूमिका धीरे-धीरे भावी विकास की दिशाओं का भी संकेत कर रही है, और इस बात की आशा होने लगी है कि हिन्दी नाटक और रंगमंच हमारी साहित्यिक और सांस्कृतिक गतिविधियों में अपना महत्वपूर्ण योग दे सकेगा।

सन् १९३३, जब प्रसाद की अन्तिम नाट्य-कृति 'ध्रुवस्वामिनी' प्रकाशित हुई, और सन् १९४७ के बीच के काल को इस दृष्टि से देखना उपयोगी होगा कि इस

१६ : आलोचना :

काल-खण्ड में नाट्य-लेखन के कौनसे रचना-नियम और व्यवहार प्रचलित थे और रंगमंच की क्या स्थिति थी। इस दृष्टि से विचार करने पर ज्ञात होगा कि एक ओर तो प्रसाद की नाट्य-रचना-पद्धतियों और रीतियों का ही अनुसरण किया गया और भारतीय इतिहास के विविध काल-खण्डों और कथानकों को लेकर ऐतिहासिक नाटकों की रचना की गई और दूसरी ओर, पश्चिम के यथार्थवादी नाट्य-आन्दोलन के प्रभाव में सामाजिक और यथार्थवादी समस्या-प्रधान नाटकों की एक नई धारा का सूत्रपात हुआ। यह एक आश्चर्यजनक ऐतिहासिक संयोग की बात है कि १९३३ में 'ध्रुव-स्वामिनी' के प्रकाशन के साथ हिन्दी नाटक की एक धारा अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँची, और उसके दूसरे ही वर्ष सन् १९३४ में लक्ष्मी नारायण मिश्र के नाटक 'सिन्दूर की होली' के साथ एक नई धारा का जन्म हुआ।

स्वतन्त्रता के पश्चात् इन दो प्रमुख धाराओं में ही नाटकों की रचना होती रही और सब मिलाकर हमारा नाटक साहित्य का सृजन और उसकी उपलब्धियाँ अत्यन्त सामान्य स्तर की हैं। लेकिन, इस बीच कुछ ऐसी नाट्य-कृतियाँ आईं तथा कुछ ऐसे प्रदर्शन हुए, जिनमें नए तत्त्वों और विकास की नई दिशा का आभास मिला। प्रसाद की परम्परा का अनुसरण करने वाली ऐतिहासिक नाटकों की धारा में इस अवधि में सबसे पहला और महत्त्वपूर्ण मोड़ जगदीशचन्द्र माथुर की रचना 'कोणार्क' से आया। यथार्थवादी नाट्य-लेखन परम्परा का यह पहला ऐतिहासिक नाटक है, जिसके वस्तु-विधान और चरित्र-विधान में इस परम्परा के सर्वोत्तम तत्त्वों का समावेश हुआ है। प्रयोग की दृष्टि से भी यह कृति महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि इसमें मध्ययुगीन भाषा-नाटकों की परम्परा में वृन्द-वातिक, सूत्रधार और कथावाचकों का समावेश किया गया, और नाटक की दृश्य-अंक-योजना में उपक्रम, उपसंहार और उपकथन की नियोजना करके अन्वितियों का पालन करते हुए भी नाटकीय कथानक के विस्तार की रक्षा की गई। शिल्पगत प्रयोग की दृष्टि से इस नाटक का बहुत बड़ा महत्त्व है, क्योंकि इसकी रचना-पद्धति में परम्परा के सूत्रों को खोजा गया और उनके साथ नया सम्बन्ध स्थापित किया गया। यह नाटक शायद हिन्दी का पहला साहित्यिक धारा का नाटक है, जो रंगमंच पर भी पर्याप्त सफलता के साथ खेला गया और कई पद्धतियों और शैलियों में इसके प्रदर्शन हुए। इसके बाद श्री माथुर ने एक और सफल ऐतिहासिक नाटक 'शारदीया' की रचना की। यह नाटक भी अपने रूपबन्ध में बड़ी सफलता के साथ रंगमंच के अनुशासनों का निर्वाह करता है, और यही कारण है कि रंगशाला में इसका सशक्त प्रदर्शन सम्भव हुआ है।

हिन्दी के ऐतिहासिक नाटकों की परम्परा में दो अन्य श्रेष्ठ नाट्य-कृतियों 'अन्धा युग' और 'आषाढ़ का एक दिन' की भी चर्चा की जा सकती है; यद्यपि ये दोनों ही इस नाट्य-धारा से विलग और सर्वथा भिन्न रचनाएँ हैं। अन्धायुग ऐसे समय की रचना है जब नई कविता समर्थ और प्रौढ़ होकर अधिक नाटकीय होने लगी थी। यही कारण है कि 'अन्धायुग' में श्रेष्ठ काव्य के तत्त्व नाटकीय तत्त्वों के अनुगामी होकर आए हैं और उनके साथ समेकित होकर रचना की नाट्य-शक्ति को पुष्ट करते

स्वतन्त्रता के पश्चात् हिन्दी नाटक : विकास की मूमिका : १७

हैं। इस रचना में महाभारत का अत्यन्त घनीभूत कथा-खण्ड नई वैचारिक और सैद्धान्तिक भंगिमाओं के साथ प्रस्तुत किया गया है; पात्रों की नितान्त मौलिक संकल्पनाएँ की गई हैं, और उनको युग-सापेक्ष सन्दर्भों में प्रस्तुत किया गया है। रूप-विधान की दृष्टि से भी इसमें नए प्रयोग किये गए हैं। नाटकीय-वस्तु-योजना में स्थापना, समापन और अन्तराल रखे गए हैं : अंकों को प्रतीकात्मक शीर्षक दिए गए हैं, और कथा-स्थितियों तथा पात्रों पर टीकाएँ करने के लिए प्रहरी और कथा-गायन का विधान किया गया है। इन शिल्पगत प्रयोगों द्वारा पहली बार हिन्दी नाटक को यथार्थवादी नाट्य-लेखन की जड़ता से मुक्त किया गया और उसमें उन श्रेष्ठ साहित्यिक तत्त्वों का समावेश किया गया, जिनके बिना किसी भी धारा और परम्परा का नाटक श्रेष्ठ नाटक नहीं होता।

इसके दो वर्ष बाद मोहन राकेश के नाटक आपाड़ का एक दिन का प्रकाशन हुआ, जिसमें स्कन्दगुप्त के बाद पहली बार हिन्दी नाट्य-लेखन में यथार्थवादी आन्दोलन द्वारा निर्वासित काव्य-तत्त्व फिर से प्रतिष्ठित हुआ। यद्यपि इस नाटक में यथार्थवादी नाट्य-रचना-पद्धति ही अपनाई गई और एक दृश्यबन्ध तथा तीन अंकों के रूप-विधान में अन्वितियों का निर्वाह किया गया, फिर भी इसके स्वरूप में एक ऐसी नम्यता है कि वह प्रदर्शन की विविध शैलियों में सहज ही ढल जाता है। इस नाटक के गम्भीर, काव्यपूर्ण और लयबद्ध संवाद तो हिन्दी नाटक के एक शताब्दी के संवाद-लेखन में अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं। इस प्रकार की साहित्यिक भाषा और उदात्त शैली में लिखे गए पात्रों के लम्बे-लम्बे संवाद, एकालाप और स्वगत-कथन जिस प्रकार से प्रदर्शन में पात्रों की रंगचर्या के साथ एकीभूत हो जाते हैं और उनके व्यापारों और भावों को उद्घाटित और घनीभूत करते हैं, वह अनुभव हिन्दी दर्शक के लिए सर्वथा नवीन है।

इसी अवधि में सन् १९६४ में मोहन राकेश का एक दूसरा नाटक 'लहरों के राजहंस' प्रकाशित हुआ, जो महात्मा बुद्ध के भाई आनन्द और उनकी पत्नी सुन्दरी के उस आख्यान पर आधारित है, जिस पर अश्वबोध ने अपने प्रसिद्ध महाकाव्य 'सौन्दरनन्द' की रचना की है। लहरों के राजहंस में एक ऐसे कथानक का नाटकीय पुनराख्यान है, जिसमें सांसारिक सुखों और आध्यात्मिक शान्ति के पारस्परिक विरोध तथा उनके बीच खड़े हुए व्यक्ति के द्वारा निर्णय लेने का अनिवार्य द्वन्द्व निहित है। चुनाव की यातना ही इस नाटक का कथा-बीज और उसका केन्द्रबिन्दु है। धर्म-भावना से प्रेरित कथानक में उलझे हुए ऐसे ही अनेक प्रश्नों का इस कृति में नये भाव-बोध के परिवेश में परीक्षण किया गया है। इस नाटक में लेखक ने पात्रों की नव-सर्जना की है तथा कथानक को युगीन और नाट्य-गर्भित अभिप्राय दिया है। इसके अत्यन्त कोमल और संवेदनशील संवादों तथा प्रेम और श्रृंगार की कथा-स्थितियों में पाठक को मध्ययुगीन श्रृंगारिक लघु चित्रों को देखने का-जैसा कलात्मक सुख मिलता है।

हिन्दी में ऐतिहासिक नाटक बहुत-कुछ पाठ्य-पुस्तकों की मांग की पूर्ति के लिए

१८ : आलोचना

लिखे जाते हैं। यही कारण है कि हिन्दी में ऐतिहासिक तथा पौराणिक नाटक बहुत बड़ी संख्या में हैं, और ऐसे सामाजिक नाटकों का अभाव है जिनमें प्रस्तुत प्रश्नों से ज़ूझने का सशक्त कथानक हो और जिनके पात्र अपने परिवेश और समाज से लड़ते-दूटते हुए दिखाई दें। हिन्दी नाटक साहित्य की यह स्थिति बड़ी विचित्र लगती है कि बहुत बड़ी संख्या में ऐतिहासिक नाटक ही लिखे जाते हैं, और उनमें से अधिकांश हीन कोटि की रचनाएँ हैं; और साथ ही चार-छः जो श्रेष्ठ नाटक हैं—स्कन्दगुप्त, कोणार्क, अंधा-युग, आपाढ़ का एक दिन और लहरों के राजहंस वे सब ऐतिहासिक हैं। ऐतिहासिक नाटक कभी भी सशक्त और कलात्मक नहीं हो सकते, यदि कथानक को नई, युग-सापेक्ष भंगिमाएँ नहीं दी गईं, और पात्रों का तीव्र चरित्रांकन नहीं किया गया। ऐतिहासिक नाटकों का रचयिता अपने पात्रों को 'अनैतिहासिक' और 'युगीन' बनाकर ही अपनी कृतियों को कलात्मक सार्थकता और शक्ति प्रदान कर सकता है।

हिन्दी नाट्य-रचना की दूसरी धारा सामाजिक समस्या-नाटकों की है। यद्यपि इस धारा में पिछले ३० वर्षों से नाटक-रचना हो रही है, किन्तु सब मिलाकर इसकी उपलब्धियाँ बहुत ही सामान्य हैं। इस धारा के नाट्य-लेखन में यथार्थवादी परम्परा की नाट्य-रचना के व्यवहारों और रूढ़ियों का अनुसरण किया गया है, और इसकी प्रेरणा इब्सन और शॉ से ग्रहण की गई है; तथा इन नाटकों का रूप-विधान आधुनिक प्रदर्शन-व्यवहारों को ध्यान में रखकर किया गया है। लेकिन यह सारा नाटक साहित्य न तो अपने रंगमंचीय तत्त्वों और शिल्प-विधान में ही श्रेष्ठ कोटि का है, और न उसके साहित्यिक गुण ही उच्च-स्तर के हैं। इन नाटकों में सामाजिक कथानकों को तीव्र अन्तर्द्वन्द्व और घात-प्रतिघात की स्थितियों में रखकर अपने परिवेश और परिस्थितियों से लड़ते-जूझते रहते हुए पात्रों को प्रस्तुत करने में नाटककार असफल रहे हैं। यह नाटक साहित्य केवल विश्वविद्यालयों में पाठ्य-पुस्तकों की माँग पूरी करता रहा और रंगमंच की क्षीण परम्परा को सम्बल देता रहा है। लक्ष्मीनारायण मिश्र और उपेन्द्र-नाथ अशक ने इस धारा में कई नाटकों की रचना की और उनके नाटक रंगमंच पर भी खेले गए, विशेषकर अशक के नाटकों को रंगमंच पर अधिक सफलता और ख्याति मिली। स्वतन्त्रता के पश्चात् इधर पिछले कुछ वर्षों में इस धारा में डॉ० लक्ष्मी-नारायण लाल ने कई नाटकों की रचना की है और अब तक उनके अंधाकुँआ, सूखा सरोवर, मादा कैवटस, सुंदर रस, रक्त कमल, रात रानी और दर्पन आदि नाटक प्रकाशित हो चुके हैं। डॉ० लाल कथानक की नाटकीय अनुभूति और उसकी रंगमंच-सापेक्ष वस्तु-योजना करने में अधिक सफल हैं; और उनके नाटकों से ऐसा लगता है कि वे अपने लिए एक विशिष्ट प्रकार के नाट्य-रूप की खोज कर रहे हैं। इसी धारा में नरेश मेहता के दो नाटकों—सुबह के घण्टे और खण्डित यात्राएँ—की चर्चा भी की जा सकती है। पिछले कुछ वर्षों में दूसरी भाषाओं से अनूदित होकर जो नाटक हिन्दी में प्रकाशित हुए हैं, उनमें पंजाबी से परितोष गार्गी का 'छलावा' और कन्नड़ से आद्य रंगाचार्य का 'मुनो जनमेजय' उल्लेखनीय कृतियाँ हैं।

हिन्दी नाटक लेखन की एक नई प्रवृत्ति यह है कि इस समय हिन्दी में बहुत

स्वतन्त्रता के पश्चात् हिन्दी नाटक : विकास की भूमिका : '१६

बड़ी संख्या में ऐसे नाटक लिखे जा रहे हैं, जिनकी रचना केवल प्रदर्शन के लिए होती है। और जो प्रायः प्रकाशित भी नहीं होते। इस नई धारा के नाटक हिन्दी की साहित्यिक नाटक-धारा से भिन्न हैं। ये नाटक प्रायः ऐसे लोगों के लिखे हुए होते हैं जो नाट्य-संस्थाओं के ही उत्साही कार्यकर्ता और सदस्य होते हैं अथवा जो स्वयं अभिनेता या निर्देशक के रूप में नाट्य-संस्था से सम्बद्ध रहते हैं। उनमें से कुछ नाटक प्रकाशित भी होते हैं, लेकिन अधिकांश का केवल प्रदर्शन में ही प्रयोग किया जाता है। वैसे तो हमको इस प्रवृत्ति का स्वागत करना चाहिए, क्योंकि नाटककार का रंग-शाला से सम्बद्ध रहना बहुत आवश्यक है जिससे कि वह रंगमंच के अनुशासनों और उसकी आवश्यकताओं से अच्छी तरह से परिचित रह सके और अपनी नाटकीय कथा को उन्हीं के अनुसार संगठित करे। किन्तु, इसमें कहीं ऐसा न हो कि जो श्रेष्ठ रचनाकार हों वे रंगमंच से निर्वासित हो जाएँ और हिन्दी रंगमंच उनकी कृतियों से वंचित रह जाए।

प्रदर्शित होने वाले नाटक में कई प्रकार के दोष रहते हैं, जो नाटक को कम-जोर और कलाहीन बनाते हैं। नाटकों के वस्तु-निर्माण में विथिलता रहती है, और व्यापार में ऐसा अनर्गल फैलाव होता है कि वह बार-बार नाटक के मुख्य व्यापार से दूर हट जाता है। नाटकीय अन्तर्द्वन्द्व की दृष्टि बहुत ही पुरानी घिसी-पिटी युक्तियों से की जाती है, जैसे कि एक-दूसरे से सर्वथा भिन्न प्रवृत्ति वाले पात्रों का नाटकीय स्थितियों में एक साथ नियोजन, नाटकीय कथा में आकस्मिक रूप से नया मोड़ देने वाली नितान्त असम्बद्ध और प्रायः अस्वाभाविक घटनाओं का समावेश, प्रगतिमान कथानक में बहुत ही कृत्रिम रूप से नए-नए पात्रों का प्रवेश।

एक प्रवृत्ति यह भी है कि नाटककार अनावश्यक और गौण महत्त्व के कार्य-व्यापार पर काफी देर के लिए टहर जाता है, और पात्र अनर्गल और निष्प्रयोजन वार्तालाप में लग जाते हैं। प्रायः पात्रों को ऐसी स्थिति में बहुत अधिक संवाद दे दिए जाते हैं, जहाँ कुछ शब्दों का आदान-प्रदान नाटकीय दृष्टि में अधिक प्रभावशाली होता है। नाटकीय पात्रों में समुचित अनुपात में संवादों का वितरण नहीं किया जाता। गौण कथानकों के कुछ विशेष प्रकार के 'टाइप' पात्रों को ही नाटककार अधिक महत्त्व देते हैं, जिससे कि नाटक में हास-परिहास की सृष्टि कर सकें। नाटककार अपने नाटकों में 'टाइप' पात्रों को रखने के प्रलोभन का संवरण नहीं कर पाते, और प्रायः वे अपने नाटकों की सफलता के लिए उन्हीं पर निर्भर रहते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि वास्तविक सामान्य पात्रों की अवहेलना होती है और उनका चित्रण कमजोर रह जाता है। नाटकों में एक प्रवृत्ति यह भी देखने में आती है कि नाटककार ऊपरी तौर पर सामाजिक जागरूकता का परिचय देते हैं, और सामाजिक समस्याओं को बड़ी गम्भीरता से उठाते हैं; लेकिन वास्तव में उनके कलात्मक अभिप्राय और प्रणालियाँ प्रायः भावनात्मक होती हैं और उनमें नाटकीय शक्ति का अभाव होता है।

रंगमंच के लिए उपयुक्त और प्रदर्शन के ही लिए लिखे जाने वाले नाटकों में हम पृथ्वी थियेटर्स के नाटकों 'आहुति', 'पैसा' और 'दीवार' आदि को ले सकते हैं।

२० : आलोचना

दिल्ली की एक सक्रिय नाट्य-संस्था 'श्री आर्ट्स क्लब' के अभिनेता और निर्देशक अशोक मेहता ने इसी परम्परा में कई नाटक लिखे हैं, जिनमें 'ढोंग' और 'जमाना' बहुत लोकप्रिय हैं। विनोद रस्तोगी का इसी धारा का नाटक 'नये हाथ' बहुत ख्याति पा चुका है। गोविन्द बल्लभ पन्त, विमला रैना, बीरेन्द्र नारायण तथा सर्वदानन्द ने इस अवधि में ऐसे नाटक लिखे जिनका सफलता के साथ प्रदर्शन हो सका; साथ ही कुछ नाटक साहित्यिक गुणों से भी सम्पन्न हैं। यह तथ्य अपने-आपमें महत्वपूर्ण है कि आज हिन्दी के नाटकों को प्रदर्शन का अवसर मिल जाता है; इससे हिन्दी नाट्य-लेखन रंगमंचीय अनुशासनों और प्रदर्शन-मूल्यों की ओर जागरूक हो रहा है।

नाट्यालोचना

हिन्दी नाटक के विकास की इस भूमिका का एक नया स्वर उसकी नाट्यालोचना है। पिछले छः-सात वर्षों में हिन्दी की नाट्यालोचना का क्षेत्र विस्तारित हुआ है, और वह पहले की अपेक्षा अधिक व्यापक और सर्वांगीण हुई है। शायद पहली बार हिन्दी नाट्यालोचना में नाटक के रूप-विधान और उसके अन्य रचना-पक्षों का विधिवत् शिल्पगत अध्ययन और विश्लेषण प्रस्तुत किया जा रहा है। हिन्दी नाट्य-समीक्षा के इस नए स्वरूप के कारण ही आज यह सम्भव हो सका है कि हिन्दी के नए नाटक रंगमंच के सन्दर्भ में प्रदर्शन की दृष्टि से मूल्यांकित किए जा रहे हैं। नाट्यालोचना के इस रूप के कारण ही पहली बार हिन्दी नाट्यकार को उसके रचनात्मक कार्य में समुचित दिशा-निर्देश मिल रहा है। आज हिन्दी की नाट्य-समीक्षा कथानक और चरित्र-चित्रण के ही संकुचित घेरों में नहीं घिरी हुई है। वह विश्वविद्यालयों से बाहर अधिक वास्तविक और व्यावहारिक भूमि में आ गई है। व्यावहारिक नाट्य-समीक्षा के सिद्धान्त और व्यवहार आज रंगशाला में निर्धारित हो रहे हैं। इस सम्बन्ध में सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि रंगमंच-सम्बन्धी पारिभाषिक और विशिष्ट शब्दावली तथा विवेचन-शैली का विकास हुआ है। पिछले कुछ वर्षों में प्राचीन नाट्य लक्षण-ग्रन्थों के जो नए व्याख्यात्मक अध्ययन प्रकाशित हुए हैं, उनसे भी नई नाट्य-समीक्षा पुष्ट हुई है; और वह प्राचीन समीक्षा पद्धति और पश्चिमी नाट्यशास्त्र के पारस्परिक समन्वय से समीक्षा का एक नया क्षेत्र विकसित कर रही है।

आज जिस नाट्यालोचना का विकास धीरे-धीरे नाटकों के प्रदर्शनों की समीक्षाओं के साथ हुआ है, और उसका श्रेय विशेषकर हिन्दी की दो साहित्यिक पत्रिकाओं—कल्पना और वर्मयुग—को है। वैसे यह स्थिति आज भी अत्यन्त खेदजनक है कि हिन्दी के दैनिक पत्र इस ओर से उदासीन हैं, और इस बात की आवश्यकता का अनुभव ही नहीं करते कि नाटकों के प्रदर्शनों की समीक्षाएँ नियमित रूप से प्रकाशित हों, और हिन्दी में भी अंग्रेजी के समान ही नाट्य प्रदर्शन समीक्षा की परम्परा का विकास हो। इसके साथ ही यह भी आवश्यक है कि नाटक के अध्ययन और अध्यापन को 'रंगमंचपरक' बनाया जाए। इस सम्बन्ध में पटना और दिल्ली विश्वविद्यालयों के हिन्दी विभागों का यह प्रयास सराहनीय है। उन्होंने रंग-शिल्प

से सम्बन्धित कुछ पाठ्यक्रम भी रखा है; दिल्ली में तो इस पाठ्यक्रम को एक 'स्पेशल पर्चे' के रूप में रखा गया है। आवश्यकता इस बात की है कि इसी प्रकार सभी विश्वविद्यालय नाटक के अध्ययन-अध्यापन की पद्धति में परिवर्तन करें और उसे रंगमंच तथा प्रदर्शन कक्षाओं में सम्बद्ध करें। इसी दोहरे प्रयत्न से हमारी नई नाट्यालोचना विकसित होगी और रचनात्मक कार्य को समुचित योगदान दे सकेगी।

079581

समसामयिक हिन्दी नाट्यालोचना की इन उपलब्धियों और प्रवृत्तियों की चर्चा के बाद उसके सैद्धान्तिक पक्ष और उसकी मूल प्रवृत्ति का संक्षिप्त विवेचन प्रासंगिक होगा। हिन्दी में नाट्यालोचना की जो पद्धति अपनायी जाती है, उसे हम वर्णनात्मक साहित्यिक आलोचना कह सकते हैं। इस आलोचना शैली में नाटकों की कथावस्तु, पात्रों के चरित्र-चित्रण और नाटक के विचार और भाव-पक्ष का तो गम्भीर विश्लेषण प्रस्तुत किया जाता है, किन्तु नाटक के रूप-विधान, उसके रचना-नियमों और व्यवहारों, प्रदर्शन की दृष्टि से उसके गुण-दोषों तथा नाट्य-रूप को प्रभावित करने वाली रंगमंचीय परिस्थितियों और रुढ़ियों का कोई विवेचन नहीं होता। ऐसी स्थिति में हिन्दी नाट्यालोचना निरन्तर एकांगी हो गई है, और वह बहुत सीमित विवेचन-क्षेत्र में और सीमित शब्दावली के साथ अपने को बराबर दोहरा रही है। वह अपने इसी स्वरूप के कारण नाट्य-लेखन और रंगमंचीय क्रियाकलाप से असम्बद्ध और विलग है। यही कारण है कि नाटक के क्षेत्र में रचनात्मक और समीक्षात्मक कार्य में बराबर खाई बढ़ती जा रही है, और वे एक-दूसरे को शक्ति नहीं दे पा रहे हैं। यह स्थिति इसलिए और भी घातक है, क्योंकि नाटक एक ऐसी विधा है, जिसमें समीक्षा किसी अन्य साहित्यिक विधा की अपेक्षा कहीं अधिक रचनात्मक कृतित्व को प्रभावित करती है।

हिन्दी नाट्यालोचना में एक बड़ा भारी अन्तर्विरोध आरम्भ से ही यह आ गया कि आधुनिक नाट्य-साहित्य का मूल्यांकन करने में न तो वह अपने को प्राचीन नाट्य-लक्षण ग्रन्थों में उपलब्ध समीक्षा सिद्धान्तों से सम्बद्ध कर सकी और न पश्चिमी-नाट्य-सिद्धान्तों और कला-मूल्यों को ही स्वीकार करके उनके समन्वय से वह किसी स्वतन्त्र और विशिष्ट नाट्य सिद्धान्त-शास्त्र का ही निर्माण कर सकी। यही कारण है कि आज तक हिन्दी की कोई ऐसी एकीकृत और मौलिक नाट्य-समीक्षा-पद्धति का निर्माण नहीं हो सका, जिससे कि हम उसी प्रकार हिन्दी नाट्य-शास्त्र के कुछ नितान्त स्थूल तत्त्वों और सिद्धान्तों की चर्चा कर सकते जिस प्रकार कि हिन्दी के स्वतन्त्र काव्यशास्त्र की चर्चा की जाती है। हमने अपने नाटक साहित्य का मूल्यांकन करने के लिए कभी तो प्राचीन शास्त्रीय सिद्धान्त अपनाये और कभी पश्चिमी नाट्य-सिद्धान्तों और कला-मूल्यों के आधार पर उसका परीक्षण किया। इसी स्थिति के कारण हमारे बहुत बड़े नाटक साहित्य का आज तक ठीक-ठीक मूल्यांकन नहीं हो सका।

रंगमंच और नाट्य-प्रदर्शन

नेशनल स्कूल आफ ड्रामा द्वारा सन् १९६४ में अलकाजी के निर्देशन में प्रस्तुत 'अन्धो-युग' और सन् १९६२ में श्यामानन्द जालान के निर्देशन में कलकत्ते की अनामिका संस्था द्वारा प्रस्तुत 'आषाढ़ का एक दिन' का प्रदर्शन हिन्दी रंगमंच की नई उपलब्धियों के वे चरम बिन्दु हैं, जिनके पीछे पिछले १०-१५ वर्षों के रंगमंचीय विस्तार और विकास की एक लम्बी भूमिका है। इस विकास के कई सूत्रों में एक महत्त्वपूर्ण सूत्र यह है कि रंगमंचीय कार्यकलाप में निर्देशक का उदय हुआ है और वह नाट्य-प्रदर्शन कला को अपना महत्त्वपूर्ण योगदान दे रहा है। अलकाजी और श्यामानन्द जालान के अतिरिक्त बम्बई की थियेटर यूनिट संस्था से सम्बद्ध सत्यदेव दुबे तथा प्रयाग रंगमंच के निर्देशक सत्यव्रत सिन्हा के प्रदर्शन भी आज हिन्दी नाट्य-प्रदर्शन को नया स्तर प्रदान कर रहे हैं। नाटककार डा० लक्ष्मीनारायण लाल ने इलाहाबाद में नाट्य-केन्द्र संस्था द्वारा अपने कई नाटकों का इस अवधि में सफल प्रदर्शन किया है। दिल्ली में हबीब तनवीर ने संस्कृत नाटकों के अनुवादों के प्रयोगात्मक प्रदर्शन किये हैं, और पारसी थियेटर की प्रदर्शन-शैली के पुनर्निर्माण का महत्त्वपूर्ण काम किया। इसके अतिरिक्त कानपुर, बनारस, पटना, जयपुर, ग्वालियर आदि अनेक छोटे-छोटे नगरों में उदीयमान निर्देशक सराहनीय कार्य कर रहे हैं। नेशनल स्कूल आफ ड्रामा से प्रशिक्षित होकर जो कलाकार अपने नगरों में वापस जा रहे हैं, वे भी रंगमंच के संगठन में और प्रदर्शनकला के विकास में अपना सक्रिय योग दे रहे हैं। रंगमंच की एक जीवित परम्परा और कुशल निर्देशक के अभाव के कारण ही हिन्दी का बड़ा और समर्थ नाटक साहित्य उपेक्षित पड़ा है, और उसकी अभिनेयता के सम्बन्ध में हमारे मन में शंकाएँ बनी हुई हैं। आज पहली बार यह धारणा धीरे-धीरे पुष्ट हो रही है कि नया निर्देशक इस नाटक साहित्य की निहित रंगमंच-शक्ति और प्रदर्शन-क्षमताओं का अन्वेषण करेगा और उसे हिन्दी रंगमंच का अभिन्न अंग बनाएगा।

हिन्दी रंगमंच आज भी मूलतः अव्यावसायिक रंगमंच ही है, यद्यपि उसका पहले से बहुत अधिक विस्तार हुआ है और वह आज पहले से अधिक संगठित भी है। कुछ बड़े नगरों में नाट्य-दल अर्द्ध-व्यावसायिक रूप भी ले रहे हैं। हिन्दी रंगमंच का क्षेत्र आज इतना विस्तृत हो गया है कि धीरे-धीरे वह अखिल भारतीय स्तर पर विकसित हो रहा है। आज हिन्दी भाषी क्षेत्र में ही नहीं अनेक अहिन्दी-भाषी क्षेत्रों में भी हिन्दी-नाटकों के प्रदर्शन हो रहे हैं। अहिन्दी-भाषी क्षेत्रों के प्रमुख नगरों में ऐसी नाट्य-संस्थाएँ हैं जो दो-दो तीन-तीन भाषाओं में नाटकों के प्रदर्शन करती हैं, जिनमें से एक भाषा हिन्दी होती है। लेकिन किसी भी भाषा और देश का रंगमंच तब तक प्रौढ़ और सम्पन्न नहीं हो सकता जब तक कि वह व्यावसायिक रूप में विकसित और संगठित न हो। यह खेद की बात है कि हिन्दी का एकमात्र व्यावसायिक नाट्य-दल 'पृथ्वी थिएटर' सोलह वर्षों तक देश-भर में नाट्य-प्रदर्शन करने के बाद १९६० में बन्द हो गया।

रंगमंच के नवोत्थान और विकास में कई बातें उल्लेखनीय हैं। इस सम्बन्ध में

सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि आज हिन्दी के नये नाटकों का प्रायः प्रदर्शन का सुयोग मिल जाता है, जबकि उसके पहले के महत्त्वपूर्ण नाटक भी प्रदर्शन से वंचित रह गए और इस प्रकार नाटक की पूर्णाभिव्यक्ति के माध्यम रंगशाला की कलाएँ उनके रूप और शिल्प को उजागर करने में अपना योगदान न दे सकीं। नया नाटककार आज रंगशाला के निकट जा रहा है, उसी को अपने रचनात्मक कार्य का क्षेत्र बना रहा है, और उसकी कला-रूढ़ियों से परिचित हो रहा है। विहित गद्य-नाटकों के साथ-साथ हिन्दी रंगमंच में नृत्य-नाटकों का प्रचलन और विकास भी एक महत्त्वपूर्ण घटना है। संस्कृत नाटकों के अनुवादों और रूपान्तरों के प्रदर्शन भी आज हिन्दी रंगमंच को प्राचीन परम्परा से सम्बद्ध कर रहे हैं।

बम्बई की दो संस्थाएँ—'लिटिल बैले ट्रूप' और 'बैले यूनिट' तथा दिल्ली की—'भारतीय कला केन्द्र' और 'बैले सेण्टर' ऐसी नृत्य-संस्थाएँ हैं, जिनके प्रदर्शन देश-भर में बड़ी सफलता के साथ हुए। 'लिटिल बैले ट्रूप' तो अपने प्रसिद्ध नृत्य-नाटक 'पंचतन्त्र' के प्रदर्शन अनेक पश्चिमी देशों में भी कर चुका है और उसकी अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति है। 'भारतीय कला केन्द्र' की 'रामलीला' और 'बैले सेण्टर' की 'कृष्णलीला' ने नृत्य-नाटक की कला को नया आयाम दिया है। हिन्दी रंगमंच के विकास में इन नृत्य-नाटकों का इस दृष्टि से विशेष महत्त्व है कि इनके द्वारा लोक-नाटक-परम्परा का आधुनिक रंगमंच में पुनर्निर्माण हुआ है। प्रदर्शन के अनेक व्यवहार और रूढ़ियाँ लोक-नाट्य-परम्परा से ली गई हैं। कोरस और कथावाचकों का प्रयोग और दर्शकों के देखते हुए रंग-कर्मियों अथवा स्वयं पात्रों द्वारा दृश्य-सज्जा सामग्री का रखना, उठाना आदि रूढ़ियाँ लोक-नाट्य-परम्परा से ही आई हैं। इसी प्रकार इन नाटकों में पात्रों की वेशभूषा और सज्जा की बहुत-सी सामग्री भी लोक-परम्परा से ली गई है। यह खेद की बात है कि इन नृत्य-नाटकों के अनेक पक्ष बहुत ही सम्पन्न और सबल होने पर भी इनका कथा-अंग, दृश्य-विधान और साहित्य अंश प्रायः कम-जोर रहते हैं। श्रेष्ठ कवियों को अभी तक इनका सहयोग नहीं मिला।

इसी प्रसंग में इस बात का उल्लेख भी किया जा सकता है कि हिन्दी रंगमंच में संगीत और गेय नाटक (ऑपेरा) के विकास के लिए अभी तक कोई प्रयत्न नहीं हुए, जबकि कुछ अन्य भारतीय भाषाओं जैसे मराठी, पंजाबी, तेलुगु आदि में नए गेय नाटक का विकास हो रहा है। यह स्थिति इसलिए और भी शोचनीय लगती है कि हिन्दी क्षेत्र में ऑपेराधर्मी लोक-नाटकों की बड़ी समृद्ध परम्परा है और नए ऑपेरा के निर्माण की असीम सम्भावनाएँ हमारी नाट्य-परम्परा में निहित हैं।

समकालीन हिन्दी रंगमंच की एक और नई प्रवृत्ति यह है कि पिछले कुछ वर्षों में संस्कृत नाटकों के अनुवादों और रूपान्तरों के प्रदर्शन हुए हैं। केवल दिल्ली में ही दो-तीन नाट्य-संस्थाओं ने कई संस्कृत नाटकों के प्रदर्शन किए हैं। इन प्रदर्शनों ने कुछ में तो पारम्परिक यथार्थवादी प्रदर्शन-शैली अपनायी गई है, कुछ में नई और प्रगतिशील। हबीब तनवीर ने मृच्छकटिक का अत्यन्त विवादास्पद और प्रयोगात्मक प्रदर्शन किया है। मोनिका मिश्र द्वारा निर्देशित 'शकुन्तला' संस्कृत नाटकों की प्रदर्शन-

शैली की खोज में एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है। संस्कृत नाटकों के कथानकों को लेकर कई नृत्य-नाटकों की भी रचना हुई है। 'रत्नावली' नाटक 'नौटंकी' शैली में लिखा गया और नौटंकी के ही कलाकारों द्वारा प्रस्तुत किया गया। यह नितान्त आवश्यक है कि रंगमंच के इस नवजागरण काल में हम अपनी प्राचीन परम्पराओं से परिचित हों और उसके साथ नये और जीवन्त सम्बन्ध स्थापित करें। अपनी नाट्य-परम्पराओं का पुनर्निर्माण करके ही हम पश्चिमी परम्परा का भी अधिक कलात्मक आत्मसात् कर सकेंगे और तभी भारतीय रंगमंच का वर्तमान गतिरोध भी दूटेगा और वह प्रगति करेगा।

चिरंजीत

स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी एकांकी तथा रेडियो-नाटक

हिन्दी के कुछ नाट्यालोचकों एवं समीक्षकों द्वारा रचित पाठ्य-पुस्तकों में हिन्दी एकांकी और रेडियो-नाटक को एक ही विधा माना गया है। कुछ पुस्तकों में तो रेडियो-नाटक को रेडियो—(अथवा ध्वनि) एकांकी की संज्ञा दी गई। विद्वानों के ऐसे आप्त वचनों के कारण ही हिन्दी के सामान्य पाठकों एवं विद्यार्थियों में यह भ्रान्ति फैली हुई है कि रेडियो से प्रसारित होने वाला प्रत्येक नाटक एकांकी होता है। सन् १९४७ के बाद के एकांकी तथा रेडियो-नाटक के स्वतन्त्र विकास के आयामों एवं उपलब्धियों पर दृष्टिपात करने से पहले हम इस भ्रान्ति का निराकरण कर लेना चाहते हैं।

शब्द-प्रधान होने के कारण रेडियो-नाटक पूर्णतया एक स्वतन्त्र साहित्यिक विधा है। इस पर रंगमंचीय नाटक का अंकों वाला गणित लागू नहीं होता। यदि हम अंकों, दृश्यों और दृश्य-बंधों को ही दृष्टि में रखकर बात करें, तो हम कह सकते हैं कि रेडियो-नाटक एकांकी भी होता है और अनेकांकी भी। यह एक दृश्य का भी हो सकता है और अनेक दृश्यों का भी और रेडियो-नाटक के दृश्यों की लम्बाई-चौड़ाई पर भी कोई बन्धन नहीं होता। एक दृश्य एक संवाद का भी हो सकता है और दो सौ संवादों का भी। रेडियो-धर्मी सही नाटक स्थान एवं काल की अन्वितियों के बन्धन से भी मुक्त होता है। यदि उसका एक दृश्य मकान के कमरे में अभिनीत हो रहा है, तो दूसरा दृश्य सड़क के चौराहे पर, तीसरा रेलवे ट्रेन, हवाई जहाज या नदी की लहरों पर अभिनीत हो सकता है। रेडियो-नाटक वर्तमान के कक्ष में से अतीत और भविष्य की झलक प्रस्तुत कर सकता है। इस दृष्टि से रेडियो-नाटक कहानी और सिनेमा के अधिक निकट है। उसमें पहाड़ी झरने के समान जीवन का नैसर्गिक एवं यथातथ्य अबाध-प्रवाह है। रंगमंचीय नाटक की तरह नपे-तुले चौखटे की सीमित, रूढ़ एवं जड़ मर्यादा नहीं। माध्यम के लचीलेपन के कारण ही आकाशवाणी से जिस सफलता एवं कलात्मकता से रामकुमार वर्मा, उपेन्द्रनाथ 'अशक' और जगदीश चन्द्र माथुर के एकांकी नाटक प्रसारित होते हैं, वैसे ही जयशंकर प्रसाद, राधेश्याम कथावाचक,

सेठ गोविन्द दास, लक्ष्मीनारायण और लाला लम्बे नाटक, वचन द्वारा किये गए शेक्सपियर के नाटकों के अनुवाद, मुनिमानन्दन और उदयशंकर भट्ट के काव्य-रूपक, विष्णु प्रभाकर के मनोविश्लेषणात्मक नाटक एवं मानोलोग, गिरिजाकुमार माथुर के अन्तरिक्ष-यात्रा सम्बन्धी कल्पना-रूपक, देवकीनन्दन खत्री, प्रेमचन्द, वृन्दावनलाल वर्मा और भगवतीचरण वर्मा के बड़े बड़े उपन्यासों तथा जयशंकर प्रसाद, मैथिलीशरण गुप्त और रामधारीसिंह 'दिनकर' के महाकाव्यों के नाट्य-रूपान्तर और रासलीला सांगीत तथा नौटंकी जैसे लोक-नाटक भी प्रसारित होते हैं।

रेडियो-नाटक के विभिन्न रूपों एवं आकारों सम्बन्धी इस विवरण से यह भली-भाँति स्पष्ट हो जाता है कि एकांकी और रेडियो-नाटक शिल्प एवं माध्यम की दृष्टि से हिन्दी साहित्य की दो अलग-अलग स्वतन्त्र विधाएँ हैं। मोटे तौर पर यह भी समझ लेना चाहिए कि स्थान और काल की अन्वितियों से मुक्त सही किस्म का रेडियो-नाटक एक दृश्य-बन्ध (सेट) वाले आधुनिक रंगमंच पर अभिनीत भी नहीं हो सकता है।

परन्तु एकांकी और रेडियो-नाटक में तंत्र एवं रचनागत कुछ ऐसी समानताएँ अवश्य हैं, जिनसे हिन्दी में एकांकी और रेडियो-नाटक को एक ही चीज समझने की भ्रान्ति उत्पन्न हुई है। पहली समानता तो यह है कि दोनों की ही अभिनयावधि पूर्णाकार रंगमंचीय नाटक के मुकाबले में बहुत कम होती है। दोनों में ही न तो अनावश्यक विस्तार होता है, न अधिक पात्र-संख्या होती है, और न चरमोत्कर्ष के पश्चात् लम्बा उपसंहार होता है। दोनों की सफलता कलेवर की संक्षिप्तता, शब्दों की मितव्ययता, कथा की एकाग्रता, प्रभाव की एकता और प्रवाह की क्षिप्रता में निहित है। दोनों को ही ढीलढाल, फैलाव और मन्थरता सह्य नहीं। दोनों का ही प्रारम्भ आकर्षक एवं कौतूहल-जनक, विकास द्वन्द्वात्मक, कौतूहल पूर्ण एवं सतत जिज्ञासा-वर्द्धक और अन्त रसानुभूति के आकस्मिक झटके के साथ चरमोत्कर्ष पर होता है। दोनों की ही रचना में शैलिक कौशल एक बहुत बड़ी शर्त है।

हिन्दी एकांकी और हिन्दी रेडियो-नाटक के इतिहास में संयोगवश एक ऐसी और समानता मिलती है, जो बंगला और मराठी जैसे प्रादेशिक भाषाओं के नाटक-साहित्यों की इन दोनों विधाओं में शायद नहीं है। और वह समानता यह है कि आधुनिक हिन्दी एकांकी और भारतीय रेडियो नाट्य विधा का उदयकाल लगभग एक ही है। हिन्दी का पहला एकांकी कव किसने लिखा, इसके सम्बन्ध में विद्वानों के अलग-अलग कई मत हैं। कुछ विद्वानों का मत है कि हिन्दी का पहला एकांकी भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र ने १९वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में लिखा था। अन्य विद्वानों में से कोई 'एक घूंट' (१९२९) के रचयिता बाबू जयशंकर प्रसाद को हिन्दी का पहला एकांकी-कार ठहराता है, कोई 'बादल की मृत्यु' (१९३०) के रचयिता डॉ० रामकुमार वर्मा को और कोई 'श्यामा—एक वैवाहिक विडंबना' (१९३३) के लेखक भुवनेश्वर प्रसाद को। इधर कुछ अन्य वयोवृद्ध एकांकीकारों के जीवन-वृत्त प्रकाशित हुए हैं, जिनमें कइयों ने अपने प्रथम एकांकी के रचनाकाल १९१० के आसपास दे दिया है। और

२६ : आलोचना

यह श्रेय-प्रदान तो हिन्दी साहित्य के इतिहासकारों का काम है। निष्पक्ष भाव से भारतेन्दु-काल से लेकर १९३६ तक का समूचा काल एकांकी कला का प्रयोग-काल माना जा सकता है। इस प्रयोगकाल में पहले संस्कृत नाटकों की प्रणाली पर एकांकी रचे गये, बाद में पश्चिम की विकसित एकांकी-कला की प्रणाली पर। हम समझते हैं कि १९३६ से, पाश्चात्य एकांकी-कला से पूर्णतः प्रभावित हिन्दी एकांकी में शिल्प एवं भावगत मौलिकता उभरने लगी और पूर्णाकार नाटक के मुकाबले में इसकी स्वतन्त्र सत्ता स्थापित होने लगी, जिसका लेखा-जोखा १९३८ में प्रकाशित 'हँस' के एकांकी-विशेषांक में मिलता है। सन् १९३६ में ही ऑल इंडिया रेडियो का जन्म हुआ, जिसके अन्तर्गत पहले दिल्ली, फिर १९३८ में लखनऊ में रेडियो स्टेशनों की स्थापना हुई। इन रेडियो-स्टेशनों पर पहले तो उर्दू के नाटककारों का ही एकाधिकार था, परन्तु धीरे-धीरे हिन्दी के नाटककारों की कृतियाँ भी यदा-कदा रेडियो से प्रसारित होने लगीं। १९४० के बाद हिन्दी के कुछ मूर्धन्य एकांकीकारों का वस्तुतः रेडियो पर ही उदय हुआ। यह ठीक है कि १९४७ तक रेडियो पर हिन्दी की उपेक्षा ही हुई, परन्तु इस तथ्य से इन्कार नहीं किया जा सकता कि हिन्दी एकांकी के विकास में रेडियो का शुरु से ही योगदान रहा है।

हिन्दी का अपना कोई रंगमंच न होने के कारण हिन्दी एकांकियों का मंच-प्रदर्शन स्कूलों, कॉलेजों और साहित्यिक संस्थाओं के वार्षिकोत्सवों तक ही सीमित था। परन्तु वे प्रदर्शन जीवंत रंगमंच की ठोस परम्परा न स्थापित कर सके; इसलिये अधिकांश हिन्दी एकांकी, रंगमंच की मात्र मानसिक कल्पना के आधार पर, पत्र-पत्रिकाओं और पाठ्य पुस्तकों में प्रकाशनार्थ विशुद्ध साहित्यिक कृतियों के रूप में लिखे गये। प्रकाशित रचनाओं से एकांकीकार को नाम भी मिला और दाम भी। प्रकाशित रचना के लिए आवश्यक है कि वह कहानी अथवा खंडकाव्य की तरह सुपाठ्य और मनोरंजक हो। इसी आवश्यकता के परिणामस्वरूप हिन्दी में ऐसे सुपाठ्य-साहित्यिक एकांकियों की बाढ़ आई, जिनमें से अधिकतर रंगमंच पर अभिनीत ही नहीं हो सकते थे। परन्तु रेडियो के लचीले शब्द-प्रधान माध्यम को यह साहित्यिक एकांकी भी ग्राह्य थे। इस प्रकार रेडियो ने हिन्दी-नाटकों, विशेषकर एकांकियों को रंगमंच प्रदान किया। आज हम देखते हैं कि हिन्दी के सिद्धहस्त एकांकीकारों की समस्त रचनाएँ रेडियो के किसी-न-किसी केन्द्र से कई-कई बार प्रसारित हो चुकी हैं। नाट्य-मर्मज्ञों ने देखा कि जो नाटक एक सप्ताह पहले रेडियो से प्रसारित हुआ था, वही आज किसी पत्र-पत्रिका में रंगमंचीय एकांकी के रूप में रंग-निर्देशों के साथ प्रकाशित हो गया है और उन्होंने यह निष्कर्ष निकाल लिया कि हिन्दी एकांकी और रेडियो-नाटक एक ही चीज हैं।

वास्तविकता यह है कि हमारे अधिकांश नाटककारों ने मूलतः रेडियो-नाटक नहीं लिखे। उन्होंने ऐसे एकांकी लिखे, जो पत्र-पत्रिकाओं और पुस्तकों में प्रकाशित होने पर रंग-निर्देशों के साथ रंगमंचीय एकांकी माने जाएँ और साथ ही थोड़े फेर-बदल के बाद रेडियो पर भी प्रसारित हो सकें। अतः इन साहित्यिक एकांकियों को

हम सही मानों में रेडियो-नाटक नहीं कह सकते। हाँ, कुछ फेर-बदल करके उन्हें श्रव्य अवश्य बना लिया जाता है। इसके अलावा रेडियो पर इनके सफल प्रसारण के पीछे एक ऐसा रहस्य है, जो सुपाठ्य साहित्यिक नाटक को प्रेषणीयता की दृष्टि से रेडियो-नाटक के निकट ले आता है। यह सर्वविदित है कि रंगमंचीय-नाटक जनसमुदाय का सामूहिक रूप से मनोरंजन करता है। इसके विपरीत रेडियो-नाटक श्रोता का व्यक्तिगत रूप से एकांतिक मनोरंजन करता है। वह कैसे? रेडियो-नाटक केवल ध्वनि के माध्यम से ही श्रोता तक पहुँचता है। यह ध्वनि संवादों, ध्वनि प्रभावों और वाद्यसंगीत के अंशों में विभाजित होकर प्रत्येक श्रोता की कल्पना-शक्ति को प्रेरित एवं प्रभावित करती है और श्रोता अपने मन के रंगमंच पर नाटक का दृश्य सजाता है, कल्पित पात्रों को अपनी रुचि तथा वाह्य जगत् के अनुभवों और ज्ञान के अनुसार रंग-रूप एवं हावभाव देता है, और इस तरह वह अपने मन के कल्पना-मंच पर भावबोध के साथ-साथ रूप-बोध की स्वतः स्थिति पैदा करके रेडियो-नाटक को सजीव एवं संप्राण करके देखता है, सुनता है, रसानुभव करता है। विलकुल ऐसी ही मानसिक प्रक्रिया उस पाठक की होती है, जो एकान्त में अकेला बैठकर कहानी या उपन्यास की तरह छपा हुआ साहित्यिक नाटक पढ़ता है। इस प्रकार आज से कोई तीन दशक पूर्व रेडियो के वैज्ञानिक आविष्कार ने नाटक जैसी सामाजिक कला को व्यक्ति के एकांतिक मनोरंजन की चीज बनाकर मानवीय मनोरंजन एवं रसानुभूति के क्षेत्र में बहुत बड़ी क्रान्ति का सूत्रपात किया। इसी तरह नाट्य-प्रदर्शन के क्षेत्र में भी रेडियो के कारण क्रांतिकारी परिवर्तन हुआ। जिस नाटक के मंचाभिनय के लिए कई-कई सप्ताह तक तैयारी करनी पड़ती है, मंच-सज्जा आदि पर काफी खर्च करना पड़ता है, उसे रेडियो तीन-चार दिन में ही श्रोताओं को घर बैठे सुनवा देता है। सारांश यह कि रेडियो ने, विशेषकर स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद के वर्षों में, हिन्दी की एकांकी नाट्यकला को प्रोत्साहित करने और उसे जन-जन तक पहुँचाने में स्मरणीय काम किया है।

: २ :

१९४७ के बाद के हिन्दी एकांकी-साहित्य का मूल्यांकन उससे पहले के एकांकी-साहित्य के सम्यक् परिचय की पृष्ठभूमि पर ही किया जा सकता है। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के वर्ष की विभाजन-रेखा अपने-आपमें महत्त्वपूर्ण है, परन्तु इससे पहले के दशक में स्थापित नाट्य-रूढ़ियाँ एवं परम्परायें १९४७ के बाद एकदम समाप्त हो गई हों, ऐसी कल्पना नहीं जा सकती।

सन् १९३६ से १९४६ तक एकांकी हिन्दी साहित्य की एक स्वतन्त्र एवं सशक्त विधा के रूप में मान्य हो चुका था। रंगमंचीय प्रदर्शन की कोई सुव्यवस्थित परम्परा तो न बन पाई, फिर भी एक जनोपयोगी सामाजिक कला के रूप में इसका आकर्षण उत्तरोत्तर बढ़ता गया। १९३६ में स्थापित प्रगतिशील लेखक संघ ने भी इधर काफ़ी ध्यान दिया। इस नई विधा ने अभिव्यक्ति के नए क्षितिज उद्घाटित किए। सुप्रसिद्ध छायावादी कवि, पूर्णकार नाटकों के नामी लेखक, यथार्थवादी कहानियों एवं उपन्यासों के यशस्वी रचयिता, यहाँ तक कि राजनीतिक नेता तथा विचारक भी सबके-सब

२८ : आलोचना

एकांकीकार बन गए और हिन्दी में एक समय कहानी के महत्त्व को भी नकारती हुई एकांकियों की बाढ़ आई। जैसा कि हम पहले बता चुके हैं, ये एकांकी मूलतः पत्र-पत्रिकाओं और पाठ्य-पुस्तकों में प्रकाशित होने और पठन-पाठन के लिए ही लिखे जा रहे थे, इसलिए यह स्वाभाविक ही था कि इनमें अभिनय तत्त्व गौण हो गए और सुपाठ्य साहित्य के शास्त्रीय तत्त्व प्रमुख होते गए। पाठ्य पुस्तकीय समीक्षा में भी एकांकियों के प्रदर्शन-पक्ष की उपेक्षा करके उनके साहित्यिक पक्ष की विवेचना की प्रणाली चल पड़ी। इन साहित्यिक तत्त्वों के बाहुल्य के कारण हिन्दी एकांकी अमर-वेल की तरह हवा में तो खूब लहराया, परन्तु रंगमंच की धरती पर उसकी जड़ें कभी भी न जम पाईं। आज १९६५ में हम देखते हैं कि हिन्दी एकांकी की हालत बहुत ही खस्ता हो गई है। सुपाठ्य साहित्य के क्षेत्र में हिन्दी कहानी ने उसे खदेड़ दिया है। सुपाठ्य साहित्य पर अच्छा पारिश्रमिक देने वाली पत्रिकाओं में शायद ही कभी कोई एकांकी छपता हो। स्कूल-कालिजों और साहित्यिक संस्थाओं के शौकिया मंच पर अधिकांशतः अभिनेय नाटकों और प्रहसनों का दौरा-दौरा है। पाठ्य-पुस्तकों में अधिकतर १९३५-४० में रचित १५-२० एकांकी ही एकाधिकार जमाए हुए हैं। ले-दे कर केवल रेडियो का ही सहारा रह गया है, परन्तु वहाँ भी अब रेडियो की शैली में लिखे नाटकों की ज्यादा माँग है। एकांकी की इस खस्ताहाली के कारण ही हमारे पुराने एकांकी-कारों में से कुछ तो कहानी और उपन्यास लिखने लगे हैं, कुछ आलोचक बन गए हैं, कुछ अपने पुराने एकांकी-साहित्य की विज्ञापनबाजी में लगे हैं, कुछ ने एकदम सन्यास ले लिया है। एक पुराने एकांकीकार के शब्दों में, “आज के इस अर्थप्रधान युग में साहित्य-सृजन पर भी उत्पादन और खपत तथा माँग और पूर्ति के अर्थशास्त्रीय नियम लागू होते हैं।”

इस अर्थशास्त्रीय मन्तव्य की सत्यता को स्वीकार करते हुए भी हिन्दी एकांकी के ऐतिहासिक एवं साहित्यिक महत्त्व को भूलाया नहीं जा सकता। सन् १९३०-३६ के भारत की राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक परिस्थितियों पर एक नज़र डालिये। गांधीजी के नेतृत्व में सत्याग्रह आन्दोलन बड़े जोर में चला, विफल हुआ और सारे देश में निराशा, तनाव और घुटन का वातावरण फैला। मन के सहारे के लिए दृष्टि भारत के गौरवपूर्ण अतीत की ओर गई। राजनीतिक आन्दोलन ने सामाजिक एवं सांस्कृतिक चेतना की भूमिका तैयार की। जर्जर रूढ़िग्रस्त समाज को पुनरुज्जीवित करने के लिए शल्य-क्रिया होने लगी। इधर भारतीय आदर्शपरक सुधारवादी आन्दोलन चला, उधर पश्चिम से आई फ्रैबियन बुद्धिवाद, कार्ल मार्क्स के समाजवाद एवं द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद और फ्रायड के मनोवैज्ञानिक संस्ववाद की नई-नवेली हवाएँ भारतीय मानस को झकझोरने लगीं। कला और संस्कृति के क्षेत्र में बोलते चित्रपट और बाद में रेडियो के आविष्कार ने मृतप्राय नृत्य, संगीत एवं नाट्य-परम्पराओं की पुनःस्थापना की। डी० एल० राय जैसे राष्ट्रीय चेतनाशील हिन्दीतर नाटककारों की कृतियाँ जब हिन्दी में अनूदित होकर बुद्धिजीवी मध्यवर्ग तक पहुँचीं, तो उसकी नैतिकता के नीचे दबी नैसर्गिक नाट्याभिरुचि जागी। चूँकि पूर्णाकार

स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी एकांकी तथा रेडियो नाटक : २६

नाटकों का लेखन एवं प्रदर्शन अधिक श्रम एवं व्ययसाध्य था, इसलिए पश्चिमी ढंग के छोटे-छोटे एकांकियों का सृजन शुरू हुआ। उन एकांकियों ने उस काल के बुद्धिजीवी मध्य वर्ग की नाट्याभिरुचि को ही सन्तुष्ट नहीं किया, बल्कि जनोपयोगी साहित्य के एक सबल माध्यम के रूप में उस काल की समस्त विचार-धाराओं, भावनाओं और कल्पनाओं को भी मूर्त अभिव्यक्ति दी। सामाजिक यथार्थ एवं आदर्श विभिन्न रूपों, प्रतीकों तथा शैलियों द्वारा एकांकियों में ही सर्वाधिक प्रतिपादित हुआ। डॉ० राम कुमार वर्मा, सेठ गोविन्ददास, उदयशंकर भट्ट, हरिकृष्ण प्रेमी, लक्ष्मी नारायण मिश्र, भगवतीचरण वर्मा, जगदीशचन्द्र माथुर और सद्गुरु शरण अवस्थी ने जहाँ आदर्शवादी, ऐतिहासिक, पौराणिक एवं सामाजिक एकांकियों का सृजन किया, वहाँ उपेन्द्र नाथ अश्व, भुवनेश्वर प्रसाद और गणेश प्रसाद द्विवेदी ने यथार्थवादी सामाजिक एवं मनो-वैज्ञानिक एकांकियों की रचना की। इन सबका कृतित्व सन् १९४७ के बाद स्वाधीन भारत के परिवेश में और भी मंज-सँवार कर अपनी पूरी परिपक्वता के साथ उभरा।

जैसा कि स्वभाविक ही था, स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद देश का मनोविज्ञान तो बदला, परन्तु उन्मुक्त उल्लास का अपेक्षित स्वर नहीं फूटा। साम्प्रदायिक रक्तपात, देश-विभाजन, बेघरवार शरणार्थियों का भारी संख्या में आगमन, साम्प्रदायिकता की बलिवेदी पर युगपुरुष गांधी की हत्या, नैतिक आदर्शों और मानवीय मूल्यों का ह्रास, आर्थिक वैषम्य, भ्रष्टाचार तथा कुष्ठाग्रस्त जीवन—ऐसी अनेक विकट समस्याओं, कुसयोगों और दुर्घटनाओं ने देश की आत्मा को विपन्न और विपाक्त-सा कर दिया। सारे वातावरण पर राजनीति कुछ इस तरह छाई कि सृजनात्मक शक्तियाँ कुण्ठित और अवरुद्ध हो गईं। जन-साधारण का मन विज्ञान एवं भौतिक सुख-सुविधा पर आधारित पाश्चात्य संस्कृति की ओर आकर्षित होने लगा। परन्तु इसके साथ ही देश में लोकतन्त्र की स्थापना हुई, सामन्तवादी परम्पराएँ खत्म हुई, शिक्षा का प्रचार-प्रसार बढ़ा, समाज में स्त्री और पुरुष की समानता की भूमिका तैयार हुई, व्यक्ति की प्रतिष्ठा बढ़ी, देश के विकास और नव-निर्माण की योजनाएँ बनीं, और भावी समृद्धि की हल्की सी आशा उभरी। उधर उद्योग, व्यापार और नौकरी के पेशे के प्रसार से आडम्बर और निहित स्वार्थों वाले वर्ग ने समाज में अजीब-सी असंगतियाँ और उपहासास्पद परिस्थितियाँ पैदा कीं। देश, समाज और व्यक्ति का यह द्वन्द्व और असंगतिपूर्ण यथार्थ हिन्दी-एकांकी में विविध रूपों में प्रतिबिम्बित हुआ। एकांकीकार कहीं समाज का आलोचक बना, कहीं सामाजिक विकृतियों और वैयक्तिक ग्रन्थियों का उद्घाटक बना, कहीं आदर्शवादी नैतिकता का पोषक बना, कहीं मानवीय मूल्यों का संस्थापक बना, कहीं पाखण्ड और आडम्बर का व्यंग्यकार बना और कहीं सांस्कृतिक चेतना का शिल्पी बना।

डॉ० रामकुमार वर्मा की स्वातन्त्र्योत्तरकालीन एकांकी-कला ने 'कौमुदी महोत्सव', 'दीपदान', 'रजत रश्मि' में कथ्य और शिल्प के निरन्तर नए शिखर छुए। उन्होंने आदर्शवादी परम्परा के अन्तर्गत ऐतिहासिक एवं सामाजिक एकांकी तो लिखे ही, साथ ही शिष्ट हास्यपूर्ण प्रहसन भी लिखे हैं। इस प्रकार उनकी कला जीवन के

३० : आलोचना

यथार्थ से उद्भूत होकर सजीव आदर्श की सृष्टि करने में आज भी अग्रसर है।

यश्चाथवादी चित्रण, सामाजिक व्यंग्य और ईमानदाराना अभिव्यक्ति की दृष्टि से उदेन्द्रनाथ 'अश्क' के एकांकी हिन्दी में बेजोड़ हैं। समसामयिक समाज की रूढ़ियों, विद्रूपताओं, संकीर्णताओं और वर्जनाओं पर उन्होंने व्यंग्यात्मक तथा प्रतीकात्मक प्रहार किए हैं। 'कैद', 'उड़ान', 'छठा बेटा', 'भंवर', और 'अंजो दीदी' उनकी एकांकी कला की महत्त्वपूर्ण उपलब्धियाँ हैं।

उदयशंकर भट्ट ने १९४७ के बाद रेडियो से सम्बद्ध होकर एकांकी के क्षेत्र में वस्तु एवं शैलीगत कई नए प्रयोग किए। उनकी कला राष्ट्रीय, ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक भाव-भूमियों पर विचरती हुई सामाजिक यथार्थ और व्यंग्य के क्षितिजों पर भी पहुँची। इस दृष्टि से 'धूम शिखा', 'पर्दे के पीछे', 'जवानी' आदि नए एकांकी विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

सेठ गोविन्द दास के राजनीतिक मस्तिष्क और सांस्कृतिक हृदय ने युग सत्य को आदर्शवादी नैतिक धरातल पर अपने एकांकियों में उतारा। शिल्प की दृष्टि से भी उन्होंने सर्वाधिक प्रयोग किए। हिन्दी में एकांकियों की विधा की सर्वप्रथम उन्होंने ही उद्भावना की।

'भोर का तारा' एवं 'रीढ़ की हड्डी' के ख्यातिप्राप्त लेखक जगदीश चन्द्र माथुर ने १९४७ के बाद सामाजिक यथार्थ को हास्य और व्यंग्य-द्वारा अभिव्यक्त किया। इस दृष्टि से उनका एकांकी संग्रह 'ओ मेरे सपने' उल्लेखनीय है। एक पात्रीय लोक नाटकों के समर्थक होने के नाते उन्होंने कठपुतली खेल की शैली में जो साहित्यिक प्रयोग किए हैं, वे भी उल्लेखनीय हैं।

'कारवाँ' से हिन्दी संसार को चमत्कृत करने वाले भुवनेश्वर प्रसाद वाद में प्रतीकों एवं ऐतिहासिक कथानकों की और प्रवृत्त हुए।

इस तरह लगभग सभी एकांकीकारों ने स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद हिन्दी के एकांकी साहित्य को कथ्य और शिल्प की दृष्टि से समृद्ध एवं विविधता-पूर्ण बनाने में पूरा-पूरा योग दिया। इस कार्य में रेडियो का सहयोग विशेषरूप से महत्त्वपूर्ण है। रेडियो ने हिन्दी एकांकी को केवल रंगमंच ही प्रदान नहीं किया, कई नई प्रतिभाओं को कथ्य और शिल्पगत नए प्रयोग करने का मौका भी दिया। १९४७ के बाद रेडियो के माध्यम से प्रकाश में आने वाले एकांकीकारों में उल्लेखनीय हैं विष्णु प्रभाकर, गिरिजा कुमार, भारत भूषण अग्रवाल, प्रभाकर माचवे, सिद्धनाथ कुमार, नरेश मेहता और चिरंजीत। वैसे तो विष्णु प्रभाकर १९४७ से पूर्व भी एकांकी लिख रहे थे, परन्तु उनकी नाट्य-कला में वास्तविक निखार १९४७ के बाद ही आया। मानव-कल्याण और मनोविज्ञान के धरातल पर आदर्शोन्मुख यथार्थवाद इनके एकांकियों का विशेष गुण है। इनके 'उपचेतना का छल' 'सीमा रेखा' और एकपात्री नाटक हिन्दी के एकांकी साहित्य की विशेष उपलब्धि हैं।

पिछले डेढ़ दशक में स्वतन्त्र रूप से उभरने वाले प्रतिभाशील एकांकीकारों में उल्लेखनीय हैं धर्मवीर-भारती, लक्ष्मी नारायण लाल, विनोद रस्तोगी, मानव, सत्येन्द्र

स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी एकांकी तथा रेडियो नाटक : ३१

शरत्, बीरेन्द्र नारायण, विमला लूथरा, देवराज दिनेश और जयनाथ नलिन। धर्मवीर भारती के एकांकियों की संख्या बहुत ज्यादा नहीं, परन्तु कथ्य एवं शिल्प की प्रभावोत्पादकता की दृष्टि से उनका प्रत्येक एकांकी विशिष्टता लिए हुए है। नए एकांकीकारों में लक्ष्मी नारायण लाल का कृतित्व इधर सर्वाधिक उभर कर सामने आ रहा है। इनके 'नाटक बहुरूपी' एवं 'नाटक-बहुरंगी', में एक ऐसे समर्थ एवं प्रयोगशील एकांकीकार के दर्शन होते हैं, जो रंगमंच के व्यवहारों को ध्यान में रखकर नाटक के साहित्यिक तथा प्रदर्शनात्मक पक्षों को समन्वित करने में लगा है। ऐसे ही रंगमंचीय आग्रह का परिचय विनोद रस्तोगी, बीरेन्द्र नारायण और चिरंजीत की कृतियों में मिलता है। चिरंजीत के दोनों एकांकी संग्रहों 'दादी माँ जागी' और 'रंगारंग' के नाटक जगह-जगह सफलतापूर्वक अभिनीत हो चुके हैं। बीरेन्द्र नारायण तो रंगमंच से पूरी तरह सम्बद्ध हैं।

स्वातन्त्र्योत्तर-कालीन सांस्कृतिक पुनर्जागरण के परिवेश में हिन्दी भाषी क्षेत्रों में मंचाभिनय का 'शौकिया' स्तर धीरे-धीरे समाप्त हो रहा है। रंगमंच और अभिनय शास्त्र में निष्णात युवावर्ग बड़े-बड़े नगरों में हिन्दी रंगमंच की स्थापना के लिए प्रयत्नशील है। कुछेक सरकारी एवं गैर-सरकारी संस्थानों से इस रंगमंचीय चेतना को निरन्तर प्रोत्साहन मिला है। अब यह धारणा बल पकड़ रही है कि एकांकी को रंगमंच की कसौटी पर कस कर ही सही नाटक माना जा सकता है, मात्र साहित्यिकता ही पर्याप्त नहीं। रंगमंचीय कसौटी की इस मान्यता ने गत तीन दशकों में रचित अधिकांश हिन्दी एकांकियों को अभिनेय साबित कर दिया है। एकांकी रूपी झाड़-झंखाड़ की इस निराई ने जहाँ एक ओर मात्र साहित्यिक एकांकीकारों को विरत एवं निरुत्साहित किया है, वहाँ रंगमंचीय व्यवहार तथा अनुशासन से परिचित स्वदेश कुमार, जानदेव अग्निहोत्री, राजेन्द्रकुमार शर्मा, कणादकृष्ण भटनागर आदि अनेक नए एकांकीकारों की कला के पुष्पित-पल्लवित होने के लिए अनुकूल स्थिति भी पैदा की है, जो हर प्रकार से अभिनन्दनीय है। हिन्दी रंगमंच के अभाव का नारा लगाकर हिन्दी के कागजी नाट्य-क्षेत्र में कोरी साहित्यिकता, बौद्धिकता एवं दार्शनिकता का काफी तमाशा हो चुका। अब हिन्दी के नाट्यालोचकों को भी प्रदर्शन-पक्ष के मानदण्डों की ओर ध्यान देना होगा।

: ३ :

हिन्दी रेडियो नाटक का वास्तविक विकासकाल सन् १९४७ से ही मानना चाहिए। इससे पहले रेडियो पर उर्दू नाटकों का ही प्रभुत्व था। हिन्दी नाटक यदा-कदा प्रसारित होते थे। वैसे स्व० चतुरसेन शास्त्री का लिखा हुआ नाटक 'राधा कृष्ण' सन् १९३७ में प्रसारित हुआ। सम्भवतः वह हिन्दी का पहला रेडियो नाटक था। १९४० में उपेन्द्रनाथ 'अक्' ने रेडियो के लिए लिखना शुरू किया था। 'अक्' ने अपने अनेक सुप्रसिद्ध एकांकिकों के 'प्रथम संस्करण' सर्वप्रथम रेडियो-प्रसारण के लिए ही लिखे। १९४१ से कांतिचन्द्र सौनरेक्सा, शिवदानसिंह चौहान, चन्द्र किरण सौनरेक्सा और चिरंजीत की कृतियाँ प्रसारित होने लगी थीं। गिरिजा कुमार माथुर का रेडियो-

३२ : आलोचना

लेखन-काल कुछ वर्षों बाद शुरू हो गया था। उस प्रारम्भिक काल में चन्द्र किशोर जैन-रचित 'विष कन्या' नामक रेडियो-नाटक की बड़ी धूम मची थी। तभी लखनऊ में डॉ० रामकुमार वर्मा का पहला रेडियो-नाटक 'आँखों का आकाश' प्रसारित हुआ था, जो आज भी लोकप्रिय है। परन्तु सन् १९४७ तक का यह पूरा दशक माध्यम की नवीनता के कारण हिन्दी रेडियो-नाटक का प्रयोग-काल था। इसका वास्तविक स्वरूप स्वतन्त्रा-प्राप्ति के बाद ही उभरा। गत १७ वर्षों में रेडियो-नाटककार विकास के कितने ही सोपानों को पार करके अपने कृतित्व के अनेक नए क्षितिज उद्घाटित कर चुके हैं, जिनके फलस्वरूप हिन्दी रेडियो-नाटक आज कथ्य तथा शिल्प की दृष्टि से हिन्दी नाटक की एक स्वतन्त्र एवं समृद्ध विधा के रूप में प्रतिष्ठित हो चुका है। क्योंकि रेडियो नाटक केवल श्रव्य है, इसलिए कथ्य, शिल्प और प्रभाव की दृष्टि से इसका सही मूल्यांकन केवल सुनकर ही किया जा सकता है, पढ़कर नहीं। वैसे पढ़ने का सवाल ही पैदा नहीं होता, क्योंकि हिन्दी प्रकाशकों एवं आलोचकों की उपेक्षा के कारण बहुत कम रेडियो-नाटक अपने मूल रूप में प्रकाशित हुए हैं। यही कारण है कि हिन्दी के एक वयोवृद्ध नाट्यालोचक ने अपने एक बहु-प्रचारित नाट्य-ग्रन्थ के हाल ही के संस्करण में यह लिखकर अपनी निपट अनभिज्ञता प्रकट की कि 'अभी तक हमारे देश में रेडियो-नाटक शैशवावस्था में हैं। इसके विषय में अभी क्या कहा जाए? जब तक रेडियो की नाट्य-कला विकसित नहीं हो जाती, कोई निर्दिष्ट मत कैसे बन सकता है?' अचरज की बात है कि हिन्दी के यह नाट्याचार्य २७ वर्ष की अवस्था को शैशवावस्था मानते हैं। इससे भी बड़ा आश्चर्य यह है कि जो रेडियो-नाटक कुछ फेर-बदल के बाद तथाकथित रंगमंचीय रूप में प्रकाशित हो चुके हैं, उन्हें यही नाट्याचार्य हिन्दी की सुविकसित समृद्ध नाट्यकला की उत्कृष्टतम उपलब्धियाँ बताते हैं।

हिन्दी रेडियो-नाटक को स्वतन्त्र विधा के रूप में प्रतिष्ठित करने वालों में प्रमुख हैं—सुमित्रानन्दन पन्त, डॉ० रामकुमार वर्मा, उपेन्द्रनाथ अश्व, विष्णु प्रभाकर, नरेन्द्र शर्मा, भगवतीचरण वर्मा, अमृतलाल नागर, उदयशंकर भट्ट, रामवृक्ष बेनीपुरी, लक्ष्मीनारायण मिश्र, प्रभाकर माचवे, राधाकृष्ण, गिरिजाकुमार माथुर, हरिकृष्ण 'प्रेमी, चिरंजीत, भारतभूषण अग्रवाल, नरेश मेहता, प्रफुल्लचन्द्र ओझा 'मुक्त', लक्ष्मीनारायण लाल, रेवती सरन शर्मा, विश्वम्भर मानव, राधाकृष्ण प्रसाद, रामेश्वर सिंह, काश्यप, मोहन राकेश, विनोद रस्तोगी, हरिश्चन्द्र खन्ना, सिद्धनाथ कुमार, चन्द्रकिरण सौनरेवसा, कान्तिचन्द्र सौनरेवसा, कमलेश्वर, गंगाधर शुक्ल, मधुकर गंगाधर, गोपाल कृष्ण कौल, मार्कण्डेय, रामचन्द्र तिवारी, सत्येन्द्र शर्मा, रमेश वक्षी, ओंकार श्रीवास्तव, दुष्यन्त कुमार, भृंग तुपकरी, विश्वप्रकाश दीक्षित 'बटुक', उर्मिला वर्मा, देवराज दिनेश, जयनाथ नलिन, हंसकुमार तिवारी, प्रशान्त पाण्डे, स्वदेश कुमार, अमीक हनफ्री, ज्ञानदेव अग्निहोत्री, कुमुद नागर, उग्रसेन नारंग, इत्यादि। इनमें अधिकतर एकांकीकार कवि उपन्यासकार और कहानीकार के रूप में हिन्दी साहित्य के सिरमौर हैं। उनकी प्रतिभा का अमृत पाकर पनपने वाले हिन्दी रेडियो-नाटक को अविकसित कहना भारतीय प्रतिभा का अपमान करना है।

रेडियो-नाटक के ध्वनिगत शिल्प और संकलनत्रय के बन्धनों से मुक्त तन्त्र की चर्चा हम एकांकी के साथ इसकी तुलना के प्रसंग में कर चुके हैं। यदि गहराई से विचार किया जाए, तो रेडियो-नाटक में आदि नाटक के मूलभूत तत्त्व मिलते हैं। नाटक आखिर कहानी कहने की एक विधा ही तो है। दृश्य नाटक रंगमंचीय सीमाओं और रूढ़ियों के कारण कहानी को पूरी तरह नहीं कह पाता। रेडियो-नाटक कथोपकथन द्वारा ही दृश्य, वातावरण और कार्य-व्यापार का चित्रण करता है, पात्रों के मनोभाव, प्रवेश और प्रस्थान को सूक्ष्म ढंग से सूचित करता है और कथा को विभिन्न घटना-स्थलों पर स्वाभाविक रूप से ले जाता है। रंगमंचीय नाटक पात्र का बाह्य व्यक्तित्व ही प्रस्तुत करता है, जबकि रेडियो-नाटक पात्र के मन की गहराइयों में झाँककर उसके आन्तरिक व्यक्तित्व, उसकी गुत्थियों, स्मृतियों, अदृश्य-अनुभूतियों और द्वन्द्वों से श्रोता-को परिचित कराने की क्षमता रखता है। यही नहीं, रेडियो-नाटक मानवोत्तर प्राणियों, प्राकृतिक एवं अतिप्राकृतिक शक्तियों, अभिव्यक्तियों तथा व्यापारों और दूसरे लोकों की कहानी भी कहता है। उदाहरणतः पंतजी का नाटक 'ज्योत्सना' जिस स्वाभाविक ढंग से रेडियो पर प्रस्तुत हो सकता है, उस प्रकार रंगमंच पर सम्भव नहीं। गिरिजा-कुमार माथुर के 'अवांतर ग्रह' जैसे अन्तरिक्ष-विज्ञान सम्बन्धी नाटकों के मंचाभिनय की तो कल्पना ही नहीं की जा सकती। 'चिरंजीव' के मनोवैज्ञानिक नाटक 'दर्पण की परछाई' में एक ऐसे विधुर का चित्रण किया गया है, जो पितृत्व की जिम्मेदारी उठाए बिना स्त्री के रूप-यौवन का उपभोग करने का आदी हो चुका है। एक दिन उसके हाथ एक ऐसी अपरिचित लड़की की डायरी लग जाती है, जो किसी लंपट से विवाह का झूठा आश्वासन पाकर गर्भवती हो जाती है और ग्लानिवश आत्म-हत्या कर लेती है। उसकी डायरी की पंक्तियाँ पढ़ते हुए उस विधुर का अपना पापी मन पश्चात्ताप से पीड़ित, मंथित होकर स्मृति-पट पर उसकी वासना का घिनौना चेहरा प्रतिबिम्बित करता है और चित्रित करता है उस अभागिनी लड़की की कहानी से मिलती-जुलती विधुर की अपनी एक खेल की दुर्भाग्यपूर्ण कहानी। रेडियो पर डायरी के पृष्ठ और उनसे प्रादुर्भूत स्मृति-पट के बिम्ब-प्रतिबिम्ब बड़ी ही स्वाभाविकता और प्रभावोत्पादकता से प्रस्तुत हो सके। क्या यह रंगमंच के बस की बात है? विष्णु प्रभाकर के 'उपचेतना का छल' जैसे अनेक सफल रेडियो-नाटकों में पात्र की उपचेतना, मन और अन्तःकरण बोलते हैं, अभिनय करते हैं। ऐसे नाटकों का प्रस्तुतीकरण रेडियो पर ही सम्भव है। एक और उदाहरण लीजिए। लक्ष्मीनारायण लाल ने अपने रेडियो-नाटक 'जंगल' में वन्य पशुओं और पक्षियों को प्रतीकात्मक पात्र बनाकर आपसी फूट के दुष्परिणामों और एकता की शक्ति की कहानी बड़ी ही सफलता एवं मार्मिकता से कही है। रंगमंच पर यह नाटक बच्चों का प्रहसन बन जाएगा। इस सन्दर्भ में कान्तिचन्द्र सौनरेकसा का प्रतीकात्मक रेडियो-नाटक 'पूरा कमरा' भी विशेषरूप में उल्लेखनीय है। इसमें टेलीफोन, कुर्सी, फाइल, घड़ी आदि जड़ वस्तुएँ चेतन चरित्रों के साथ पात्र बनती हैं और मानवीय परम्परा और आधुनिक पूँजीवादी व्यवस्था की मशीनी मूल्यहीनता की तुलना के आधार पर एक सुगठित सोद्देश्य कथानक का सृजन होता है। ऐसे प्रतीकात्मक नाटकों

से ही रेडियो के माध्यम की सूक्ष्म सम्भावनाओं का अनुमान लगाया जा सकता है।

रेडियो-नाट्य-तन्त्र में फ्लैश-बैक का प्रयोग आधुनिक कहानियों एवं उपन्यासों के समस्त बड़ी ही प्रभावोत्पादकता और कलात्मकता से होता है। इधर रंगमंच भी रेडियो के इस तन्त्र को अपनाने में प्रयत्नशील हैं। रामकुमार वर्मा कृत 'समय चक्र', अमृतलाल नागर कृत 'पहला सवाल', भगवती चरण वर्मा कृत 'थके पांव', चिरंजीत कृत 'बर्फ और साया', एवं 'तस्वीर उसकी', विष्णु प्रभाकर कृत 'दरिन्दा', भारत भूषण अग्रवाल कृत 'और खाई बढ़ती गई' एवं 'नींद की घाटियाँ', विनोद रस्तोगी कृत 'फ़ैसला' आदि अनेक रेडियो-नाटकों में फ्लैश-बैक टैकनीक का बड़ा ही सफल एवं प्रभावोत्पादक निर्वाह हुआ है।

रेडियो ने नाट्य-कला की कुछ ऐसी विधाओं के अभिनय एवं प्रस्तुतीकरण को फिर से सम्भव बनाया है, जो पठन-पाठन तक ही सीमित हो गई थीं। इनमें से दो मुख्य हैं—एकपात्री नाटक और काव्य नाटक। दोनों विधाएँ शब्द एवं भाव-प्रधान हैं। रंगमंच पर शब्द-शक्ति रंगसज्जा, रूपसज्जा, प्रकाश-योजना और आंगिक अभिनय के कारण गौण हो जाती है। इसके विपरीत ध्वनि-प्रधान रेडियो पर शब्द-शक्ति अपनी सूक्ष्मताओं, संवेदनाओं, संकेतों और बिम्बों के साथ उद्भासित होती है। इसी कारण रेडियो-शिल्प के अनुसार रचित एकपात्री नाटक और काव्य-नाटक रेडियो पर अभिनीत होकर सजीव और साकार हो सके। इस सन्दर्भ में कविवर सुमित्रानन्दन पन्त के 'शिल्पी', 'रजत शिखर' आदि, उदय शंकर भट्ट के 'कालिदास', 'विक्रमोर्वशी' आदि, नरेन्द्र शर्मा रचित 'धर्मराज', भगवती चरण वर्मा रचित 'कर्ण', हंसकुमार तिवारी रचित 'कच-देवयानी' आदि इस युग के महान् काव्य-नाटक हिन्दी-साहित्य को रेडियो के माध्यम से ही प्राप्त हुए हैं। इनमें गिरिजा कुमार माथुर, नरेश मेहता, सिद्धनाथ कुमार और हरिकृष्ण प्रेमी की रेडियो धर्मी विशिष्ट कृतियाँ भी शामिल हैं। इस युग की महान् उपलब्धि है कविवर दिनकर का गौरवपूर्ण काव्य-नाटक 'उर्वशी'। उसका रचना-शिल्प भी मूलतः रेडियो माध्यम से ही प्रेरित है। उसका प्रारम्भिक अंश रेडियो से प्रसारित होने के बाद ही प्रकाशित हुआ था। धर्मवीर भारती के 'अन्धा-युग' का सर्वप्रथम सफल प्रस्तुतीकरण रेडियो पर ही हुआ था। रेडियो-माध्यम से प्रेरित हिन्दी का नवीनतम उल्लेखनीय काव्य-नाटक है दुष्यन्त कुमार कृत 'एक कण्ठ विषयायी'।

रेडियो ने पत्रों में धारावाहिक छपने वाले उपन्यासों के ढंग पर धारावाहिक नाटकों की विधा का भी प्रचलन किया, जिससे हिन्दी साहित्य को कई अनमोल रत्न मिल चुके हैं। मोहन राकेश का एकादमी-पुरस्कार-प्राप्त नाटक 'आपाढ़ का एक दिन' मूलतः रेडियो-नाटक के रूप में ही रचा गया था और धारावाहिक प्रसारित हुआ था। इस विधा की अन्य उल्लेखनीय कृतियाँ हैं—उपेन्द्रनाथ अश्व कृत 'अन्धी गली', रामेश्वर सिंह काश्यप कृत 'लोहा सिंह', चिरंजीत कृत 'नया नगर' और 'मास्टर सिलबिल'। 'नया नगर' आकाशवाणी, दिल्ली से निरन्तर सात वर्ष तक प्रसारित हुआ था। आकाशवाणी, पटना से उद्भूत 'लोहा सिंह' आज भी समस्त विहार का हृदय-हार बना हुआ है। जैनेन्द्रकुमार के 'व्यतीत' और 'मुक्तिबोध' दोनों उपन्यासों का धारावाहिक सृजन

है।

रेडियो पर ही हुआ।

उपन्यासों
मंच भी
चक्र',
परजीत
भारत
स्तोत्री
ल एवं

कीकरण
इनमें से
प्रधान
प्रभिनय
अपनी
कारण
अभि-
नयन पन्त
आदि,

तिवारी
रेडियो
सद्गुण
इस युग
उसका
रेडियो
युग' का
हिन्दी
यी'।

वाहिक
ल रत्न
क दिन'
था था।
रामेश्वर
दिल'।
आकाश-
ना हुआ
क मृज

रेडियो ने हिन्दी के महत्त्वपूर्ण उपन्यासों और कहानियों के नाट्य-रूपान्तर प्रसारित करके न केवल हिन्दी के नाटक साहित्य की श्रीवृद्धि की है, बल्कि हिन्दी के कथा-साहित्य को भारत की बहुसंख्यक निरक्षर जनता तक पहुँचाया है। इस सिलसिले में प्रेमचन्द, जयशंकर प्रसाद, वृन्दावन लाल वर्मा, भगवती चरण वर्मा और यशपाल के उपन्यासों और कहानियों के नाट्य-रूपान्तर विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। जयशंकर प्रसाद के ताँ अनभिनेय कहे जाने के वाले नाटकों का प्रस्तुतीकरण भी रेडियो पर ही सम्भव हो सका। इस सन्दर्भ में कहा जा सकता है कि भारतेन्दु से लेकर जयशंकर प्रसाद तक का समूचा पुराना नाटक साहित्य जो १९४७ से पहले या तो पुस्तकालयों में बन्द था, या क्लास-रूम की मात्र पुस्तकीय चर्चा तक सीमित था, रेडियो-रूपान्तरों द्वारा पुनरुज्जीवित हुआ, और जन-साधारण की नाट्य-चेतना का संजीव एवं गौरवशाली अंग बना।

रेडियो ने हिन्दी की प्रहसन-परम्परा को भी पुनरुज्जीवित करने में योग दिया है। रोज़मर्रा जीवन के रंगारंग पहलुओं और समाज की रूढ़ियों एवं असंगतियों के सम्बन्ध में इतने प्रहसन शायद ही पहले कभी रचे गए हों। रेडियो-प्रहसनों ने साहित्यिक शिष्टता एवं शालीनता के भी मापदण्ड स्थापित किये हैं। रेडियो-नाटक का शिल्प की दृष्टि से हिन्दी कहानी और उपन्यास पर भी जो व्यापक प्रभाव पड़ा है, वह शास्त्रीय अध्ययन व शोध का विषय है।

कुल मिलाकर रेडियो नाटक ने १९४७ के बाद से न केवल अपने को हिन्दी-साहित्य की जनोपयोगी स्वतन्त्र, सशक्त एवं विकासशील विधा के रूप में प्रतिष्ठित किया है, बल्कि हिन्दी के नाटक-साहित्य की अन्य-विधाओं को भी, भाव, भाषा एवं शिल्पगत सौष्ठव की दृष्टि से, प्रभावित तथा प्रेरित किया है। रेडियो-नाटक स्वातन्त्र्योत्तर-कालीन हिन्दी साहित्य की महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है।

वीरेन्द्र नारायण

हिन्दी रंगमंच : राष्ट्रीय रंगमंच का सूत्रपात

हिन्दी का रंगमंच एक अश्वत्थ वृक्ष के आकार-प्रकार का बनता जा रहा है। यह रूप और गुण हिन्दी की अपनी प्रकृति में निहित है जिसकी झलक उसके साहित्य में भी मिलती है। हो सकता है कि यह वृक्ष अभी विरवा ही हो। लेकिन ऐसी स्थिति में भी किसी तालवृक्ष की लम्बाई, क्रोटन की कमनीयता और फर्न की ज्यामितिक एक-रूपता से इसकी तुलना गलत है।

हिन्दी रंगमंच का यह सौभाग्य या दुर्भाग्य रहा है कि उसका आधार-स्तम्भ किसी एक शहर या क्षेत्र में नहीं गड़ा है। बंगाल से लेकर पंजाब तक और उत्तर-

३६ : आलोचना

प्रदेश से लेकर बम्बई तक हिन्दी के नाटक, पेशेवर रूप में न सही, खेले जाते रहे हैं। इसके विपरीत अन्य भाषाओं का क्षेत्र इतना सीमित रहा है कि एकाध शहर में जो कुछ होता है वह उस भाषा के पूरे रंगमंच पर हावी हो जाता है, उस भाषा के रंगमंच का प्रतिनिधि रूप पा लेता है।

बंगाल की ही बात देखिये। बंगला रंगमंच की चर्चा करते समय हम जिन प्रदर्शनों की चर्चा करते हैं वे कलकत्ते तक ही सीमित हैं। हो सकता है कि कलकत्ते की ये पेशेवर या गैरपेशेवर कम्पनियाँ छोटे-मोटे शहरों में भी जाती रही हों। लेकिन इनकी जन्म और कर्मभूमि कलकत्ता ही है। इसका प्रभाव साहित्य और रंगमंच, दोनों पर समान रूप से पड़ रहा है। कलकत्ते में जन्म लेनेवाले इन प्रदर्शनों का भावक्षेत्र मध्यमवर्गीय परिवार रहा है और प्रदर्शन की शैली यथार्थवादी। विषयवस्तु की दृष्टि से पिछले दिनों, जिस प्रदर्शन ने इस सीमा का उल्लंघन किया है, जहाँ तक मुझे पता है, उसका नाम है 'तीतास एकटि नदीर ना' ! प्रस्तुतकर्ता रहे हैं उत्पल दत्त। कहानी पूर्वी बंगाल के नाविकों के जीवन पर आधारित है ! लेकिन इस अपवाद में भी दो बातें उल्लेखनीय हैं। पहली बात तो यह है कि यह रचना पहले उपन्यास के रूप में आई थी। प्रदर्शन के लिए इसका नाटकीकरण किया गया। फलस्वरूप नाटक का कसाव और नाटक की धार का अभाव है। दूसरी महत्वपूर्ण बात है इसका प्रदर्शन ! नाटक की आत्मा और काया, दोनों ही अयथार्थवादी प्रदर्शन की माँग करती थीं पर इसका प्रदर्शन था घोर यथार्थवादी ! इन बातों की चर्चा इसलिए जरूरी है कि हिन्दी रंगमंच को अन्य रंगमंचों की पृष्ठभूमि में ही देखना उचित होगा।

अगर बंगला रंगमंच की स्थिति का चित्रण करना हो तो कहना होगा कि कलकत्ते के कुछ पेशेवर और गैर-पेशेवर लोग जो प्रदर्शन कर रहे हैं वही उनका सही चित्र है। बंगाल के छोटे-मोटे शहरों में जो-कुछ होता है वह इनका अन्धानुकरण ! कलकत्ते का रंगमंच यानी बंगला का प्रतिनिधि रंगमंच घोर यथार्थवादी है और कथानक की दृष्टि से सिर्फ मध्यमवर्गीय समाज की समस्याओं को टटोलता है। बंगाल में नाटक की एक परम्परा है और पेशेवर रंगमंच की मजबूरियों के कारण प्रदर्शन का इन्द्रजाल ही नाटक का चुनाव, प्रदर्शन आदि मामलों में फैसला दिया करता है। यह ध्यान देने की बात है कि इससे एक पीढ़ी पहले जब शिशिर बाबू और अहिन बाबू (शिशिर कुमार भादुड़ी और अहीन्द्र चौधरी) के युग में रंगमंच अभिनेताओं का था वहीं, बीस साल के भीतर बंगला रंगमंच पर न लेखक और न अभिनेता तथा निर्देशक का आधिपत्य है बल्कि प्रकाश व्यवस्थापकों का ही बोलवाला है। बंगाल की जनता और खासकर कलकत्ते की जनता नाटक के नाम पर प्रकाश-व्यवस्था के चमत्कारों की अपेक्षा रखती है। यह तो बंगला भाषा की विशेषता है ही कि नाटक के सम्भाषणों में मेलोड्रामा का पुट रहा करे।

पंजाबी का अपना कोई रंगमंच नहीं। हिन्दी रंगमंच की देखादेखी उसमें भी प्रदर्शन होने लगे हैं। लेकिन पंजाबी भाषा और संस्कृति की वह झलक अभी से दिखाई पड़ने लगी है। यदाकदा के इन प्रदर्शनों में भी जीवन के प्रति गहरी आस्था और

मस्ती तथा बेफिक्री झाँका करती है। अभी इसका स्वरूप बन नहीं पाया इसलिए कुछ कहना कठिन है। लेकिन कथानक की दृष्टि से पंजाब का ग्रामीण जीवन ही अभी तक नाटकों पर हावी दिखाई पड़ता है। जहाँ तक प्रदर्शन का सवाल है, वयःसन्धि के पहले आकर्षण-सा यथार्थवाद ही उन्हें अपनी ओर खींच सका है। दिल्ली में कभी-कभी कलकत्ते की मण्डलियों के प्रदर्शन का प्रभाव भी इसका कारण हो सकता है। या यह भी हो सकता है कि पंजाबी जनजीवन में नाटक की कोई अपनी परम्परा नहीं जिसके अभाव में यही सबसे सीधा रास्ता मालूम होता हो।

गुजराती रंगमंच की हालत इन सबसे थोड़ी भिन्न है। गुजरात में रंगमंच प्रदर्शन की परम्परा रही है। और परम्परा रही है इस बात की कि रंगमंच को सफल व्यवसाय कैसे बनाया जा सकता है! पारसी रंगमंच के कर्ता-धर्ता अधिकतर गुजराती ही थे। दुर्लभजी की सूरिविजय कम्पनी से हिन्दी संसार परिचित ही है। दुर्लभजी स्वयं बड़े ही कुशल नट थे और हिन्दी नाटकों का अभिनय किया करते थे। इस व्यावसायिकता ने जहाँ एक ओर बंगला रंगमंच को सोलह आने, प्रकाश-व्यवस्थापकों के सामने घुटने टेकने पर मजबूर किया वहीं गुजराती रंगमंच पर एक प्रकार की शोखी उभरी जो कभी-कभी अलौलता की सीमा तक पहुँच जाती है। पारसी और गुजराती रंगमंच की इस प्रवृत्ति को लोकनानाट्य की शैली भवाई ने कुछ हद तक मोड़ा है। फिर भी मूल रूप में यह प्रवृत्ति वर्तमान है ही! गुजराती रंगमंच पर अहमदाबाद में जो भी प्रयोग हो रहे हैं उनकी यदा-कदा झाँकी मिल जाती है। मृणा-लिनी साराभाई की संस्था की ओर से आधुनिक नाटकों (अंग्रेजी के नाटकों के अनुवाद या रूपांतर) का प्रदर्शन होता रहता है। लेकिन जो नाटक बम्बई में खेले जाते हैं उन्हें देखकर यह कहना ही पड़ता है कि गुजराती रंगमंच ने मनोरंजन के लिए जो रास्ता बहुत पहले अपनाया था उससे मूल रूप में अलग नहीं हो सका है।

मराठी रंगमंच की समस्या भारतीय रंगमंच की हर शाखा से निराली है। शायद मराठी रंगमंच पर ही संगीतात्मक नाटकों का समान रूप से बोलबाला रहा है। प्रसिद्ध नाटककार साधारणतः अभिनेता वर्ग से ही आये। इस तरह बंगाल में नाटक-कार और अभिनेता के बीच होड़ाहोड़ी या सहयोग का जो वातावरण निखरा, महाराष्ट्र में उसका पूर्णतया अभाव था। लेखक और अभिनेता के अलग वर्ग नहीं बने। पेशेवर कम्पनियाँ एक-एक लेखक-अभिनेता के सहारे चला करती थीं। उस परम्परा की झाँकी-स्वरूप आज भी रांगणेकर की कम्पनी है जो अधिकांश उसके ही नाटक खेला करती है तथा पु० ल० देशपांडे स्वयं अपने नाटकों का अभिनय करते हैं।

संगीतात्मक नाटकों की परम्परा और पेशेवर रंगमंच की मजबूरियों ने कुछ ऐसी विशेष विकृति भी उपस्थित कर दी है जिसकी चर्चा आवश्यक लगती है। पेशेवर मराठी रंगमंच पर कुछ नाटक बड़े ही लोकप्रिय हुए हैं। आज स्थिति यह है कि उन नाटकों की प्रमुख भूमिका का विशेषाभिनय करनेवाले पेशेवर अभिनेता उपलब्ध हैं। अमुक नाटक करना है और इतना पैसा लगाया जा सकता है तो क की भूमिका में प और ख की भूमिका में फ को रखा जाएगा। अगर इतना पैसा लगाना है तो क की

३८ : आलोचना

भूमिका में च और ख की भूमिका में छ को रख लीजिए ! रिहर्सल आदि की कोई समस्या नहीं । इन लोगों को प्रति रात्रि पैसे देते जाइए और ये अभिनय कर दिया करेंगे । अभिनय के सिद्धान्तों की कोई चिन्ता ही नहीं है । स्पष्ट है कि ऐसे अभिनयों में क्या होता होगा । इसकी हास्यास्पदता तो उस दिन मेरी समझ में आई जब एक लड़की ने एक अंक तक नायिका का काम किया, झगड़ा हो जाने पर रुठकर चली गई, दूसरे अंक से दूसरी लड़की ने उसी पात्र की भूमिका की और नाटक का प्रदर्शन पूरा हुआ । पश्चिमी रंगमंच पर भी, जहाँ लोकप्रिय नाटकों की जीती-जागती परम्परा है, ऐसा नहीं होता । प्रसिद्ध अभिनेता और अभिनेत्रियों की मण्डली भी बाकायदा रिहर्सल करती है । इस तरह की भूमिका वाली ठेकेदारी पहले से बँधी-सधी नहीं होती ! हर प्रदर्शन की अपनी एक दिशा होती है, अपना नया व्यक्तित्व होता है ।

दूसरी प्रवृत्ति है संगीतात्मक नाटकों की ! इसमें नाटक सिर्फ एक बहाना होता है । साधारणतः पक्के गानों की भरमार होती है । महाराष्ट्र में ऐसे विशेष अभिनेता हैं जिनका प्रमुख आकर्षण अभिनय के बदले संगीत है ! अपने में यह भी एक प्रकार बनकर नाटक के विकास में योगदान दे सकता था । लेकिन व्यावसायिकता ने इसे भी हास्यास्पद बना दिया है । कुछ वर्ष पहले की बात है । एक नाटक में लगभग दस बजे बड़े गुलाम अली खाँ दरबारी गायक के रूप में मंच पर आये । उनका गायन दो बजे तक होता रहा । फिर गाना समाप्त हुआ और नाटक भी । लोग अपने घरों को वापस गये । शायद इस तरह की घटनाओं का यह भी कारण रहा हो कि नाट्य-प्रदर्शन पर मनोरंजन कर नहीं लागू होते । संगीत के आयोजनों पर मनोरंजन कर लागू होता है । फिर भी इतना तो निर्विवाद है कि संगीतात्मक नाटकों की यह परम्परा अभिनय और नाटक के बदले संगीत द्वारा दर्शकों को सम्मोहित करती है और इसलिए अभिनय की कला में इतनी अविच्छिन्न परम्परा के बावजूद जो निखार आता चाहिए वह नहीं आ पाया ।

बीसवीं सदी में महाराष्ट्र के रंगमंच ने एक नया मोड़ लिया है और स्वस्थ सहज नाटक की ओर लोगों का ध्यान आकर्षित हुआ है । जब यह चर्चा में करता हूँ तो सिर्फ प्रकाशित नाटकों की सूची देखकर नहीं, बल्कि नाट्य-प्रदर्शनों को ध्यान में रखकर । पु० ल० देशपांडे, मो० ग० रांगणेकर, कानिटकर प्रभृति नाटककारों ने वर्तमान समस्या पर यथार्थवादी रंगमंच के लिए ऐसे नाटक लिखे हैं जो व्यावसायिक रूप से सफल हुए हैं ।

अन्तिम विश्लेषण में मराठी रंगमंच का एक अंश ऐसा है जिस पर संगीत और अभिनेता हावी है तथा दूसरा अंश ऐसा है जिस पर लेखक और अभिनेता । और सबके ऊपर हावी हैं व्यावसायिक प्रदर्शन के लिए पैसे खर्च करने वाले ! रंगमंच के तकनीकी विशेषज्ञों का बोलबाला नहीं । प्रकाश-व्यवस्था, सेट आदि पर उतना जोर नहीं । दरअसल मुझे तो यह भी ज्ञात नहीं कि यथार्थवादी प्रदर्शन के अलावा भी और किसी शैली में उल्लेखनीय प्रदर्शन हुए हैं । कुछ मण्डलियों ने यदाकदा संस्कृत नाटकों तथा अंग्रेजी नाटकों के अनुवाद के लिए आकारवादी सेट का प्रयोग किया था, लेकिन उनका

हिन्दी रंगमंच : राष्ट्रीय रंगमंच का सूत्रपात : ३६

स्तर ऐसा रहा कि उसकी चर्चा बस इसीलिए की जा सकती है कि वह एक प्रकार की चेतना का द्योतक है। बंगला और मराठी की तुलना बरबस दिमाग में आ जाती है। बंगला रंगमंच एक प्रकार की सीधी लम्बाई में विकसित हो रहा है। अच्छा अभिनेता और लेखक मिल गया तो यह विकास ऊर्ध्व होता है। लेकिन आधार के फैलाव का, नाटकीय चेतना की परिधि के विकास के चिह्न दिखाई कम पड़ते हैं। यह ध्यान देने की बात है कि बंगाल की लोक-नाट्य शैली 'यात्रा' वहाँ के पेशेवर और गैर-पेशेवर रंगमंच को प्रभावित करने के बदले स्वयं अपना आकार और स्वरूप नष्ट करती जा रही है। यह तो सभी जीवित शैलियों का स्वभाव है कि वह आसपास की अन्य विधाओं से प्रभाव ग्रहण करती हैं, लेकिन साथ ही यह भी जरूरी है कि वह अपने पैरों पर खड़ी भी रहे। स्वयं अपना स्वरूप न खो बैठे।

इसके विपरीत मराठी रंगमंच यद्यपि यथार्थवादी प्रदर्शन का ही दामन पकड़े है, फिर भी कथ्य की दृष्टि से उसमें व्यापकता अधिक है और वे अंकुर अभी सुरक्षित हैं जो व्यापक आधार बनाने में सहायक होंगे। आज नहीं तो बीस वर्ष बाद यह एकदम स्पष्ट हो जायगा कि मराठी रंगमंच का आधार बंगला रंगमंच की अपेक्षा कहीं अधिक व्यापक है। साथ ही यह भी हम नहीं भुला सकते कि बंगला रंगमंच अभिनय, रंगमंच की तकनीक आदि में ऐसी जगह पहुँच चुका है जहाँ पहुँचने में मराठी रंगमंच को समय लगेगा। दोनों रंगमंचों की वर्तमान अवस्था और मूलभूत प्रवृत्तियों को देखकर यह कहा जा सकता है कि बंगला रंगमंच पर जब तक किसी सशक्त लेखक या अभिनेता का आवर्भाव नहीं होता उसकी वर्तमान स्थिति में मौलिक परिवर्तन नहीं आ सकता। मराठी रंगमंच धीरे-धीरे तकनीकी दृष्टि से उन्नति करता रहेगा, लेकिन मराठी रंगमंच पर ऐसे सशक्त अभिनेता या लेखक के आविर्भाव की अभी कम ही सम्भावना है।

दक्षिण भारत के रंगमंच का मेरा ज्ञान बहुत ही सीमित रहा है। दो-चार प्रदर्शनों से अधिक को देखने का दावा नहीं कर सकता। हाँ, बहुत सारे नाटकों का स्थापत्य और कथावस्तु अनुवाद के माध्यम से देख चुका हूँ। तमिल, तेलुगु, कन्नड़ और मलयालम—चारों भाषाओं में अनेकानेक दृश्यों वाले पारसी रंगमंच की छटा अब भी दिखाई पड़ती है। राजमानिक्यम बन्धुओं ने कई वर्ष पहले जब दिल्ली में कई नाटकों का प्रदर्शन किया था तो तमिल बन्धुओं के बीच इसी बात की चर्चा थी कि इतने विलक्षण दृश्य-परिवर्तन इतनी जल्दी वह कैसे प्रस्तुत कर सकता है। लेकिन इसके अलावा गैर-पेशेवर रंगमंच पर अन्य प्रकार के प्रयोग भी हो रहे होंगे इसमें मुझे सन्देह नहीं। यह ध्यान देने की बात है कि तेलुगु की कूचिपुडि जैसी अभिनय प्रधान नृत्य-शैली के बावजूद कोई महत्त्वपूर्ण प्रयोग नहीं हो सके हैं और आज भी सुप्रसिद्ध कलाकार 'उपापरिणयम्' 'भामाकलायम्', 'प्रह्लादचरितम्' का ही प्रदर्शन करते दिखाई पड़ते हैं। इस सम्बन्ध में कन्नड़ रंगमंच के एक नाटक की चर्चा अनिवार्य लगती है। नाटक का नाम है लंचावतार। लंच अर्थात् घुस। नाम से ही स्पष्ट है कि इस नाटक का कथानक सामयिक महत्व का है। इसके प्रमुख अभिनेता और

४० : 

लेखक हैं श्री नरसिंह राव । कहा जाता है कि पिता की मृत्यु के बाद कम्पनी इनके हाथों से निकल गई और इन्हें दरदर ठोकें खानी पड़ी । लेकिन अन्ततः इन्होंने अपने को सम्हाला और मजदूरों के मुहर्ले में टीन की चादरों का मण्डप खड़ा कर अभिनय शुरू किया । आज सबसे अधिक लोकप्रिय अभिनेता का सहज गौरव इन्हें प्राप्त है । नाटक में प्रमुख आकर्षण है कुछ ऐसे स्थल जहाँ श्री नरसिंह राव समाचार-पत्रों की ताजा घटनाओं का जिक्र करते हैं और उस पर हास्य-व्यंग्यपूर्ण टिप्पणी । बताना नहीं होगा कि यह हिस्सा प्रतिदिन बदलता रहता है और अपना आकर्षण कभी नहीं खोता । आज इस नाटक की लोकप्रियता का यह आलम है कि एक भी सीट खाली नहीं रहती । अंग्रेजी 'रेव्यू' की तरह की ऐसी कृतियाँ भारत में पेशेवर रंगमंच के लिए अभूतपूर्व घटना है और शायद 'रेव्यू' की परम्परा का श्रीगणेश भी इसी से हो । यह ध्यान रहे कि हिन्दी नौटंकी, विदेसिया आदि लोक-नाट्यों में स्थानीय और तत्कालीन घटनाओं और व्यक्तियों की चर्चा करने की ऐसी परम्परा रही है तथा उन पर की गई टिप्पणियाँ लोगों का मनोरंजन भी करती रही हैं ।

बंगला रंगमंच पर भी किसी ज़माने में छोटी-छोटी घटनाओं को लेकर अर्धेन्दु-शेखर मुस्तफी ऐसे प्रदर्शन किया करते थे जिनका नाम 'मुस्तफी साहब का तमाशा' था । मुस्तफी साहब के समय अंग्रेजों का रंगमंच उगते हुए बंगला रंगमंच के प्रति बड़ा ही सशंक था और बंगला रंगमंच पर कीचड़ उछाला करता था । उसी के जवाब में था यह 'मुस्तफी साहब का तमाशा' । लेकिन इन सबके बावजूद किसी भी भारतीय रंगमंच पर यह चीज नहीं आई । कन्नड़ रंगमंच की यह विशेषता उस कलाकार की ही देन है, जिसने पेशेवर अभिनेता की तरह जीने के संघर्ष में, किताबों और सैद्धान्तिक वाग्जाल से दूर, अपने लिए व्यावहारिक रास्ता अपनाया और 'रेव्यू' को यह नया रूप दिया । जहाँ 'रेव्यू' में ऐसे ही छोटे-छोटे दृश्य होते हैं और उसका स्वरूप एक गुलदस्ते का होता है वहाँ लंचावतार में जैसे वही लड़की नित नये फूल जूड़े में डालकर आती है ।

इस पृष्ठभूमि में कलकत्ते से लेकर दिल्ली तक और लखनऊ से लेकर बम्बई तक फैले हिन्दी रंगमंच का लेखा-जोखा लेना होगा । यह तो स्पष्ट है कि इतने बड़े क्षेत्र में वैसी एकरूपता नहीं हो सकती जैसी अन्य भाषाओं के क्षेत्र में रही है । इसमें भी सन्देह की कोई गुंजाइश नहीं कि हर क्षेत्र के हिन्दी रंगमंच पर पास-पड़ोस के रंगमंच का असर होगा । उदाहरण के लिए कलकत्ते के हिन्दी रंगमंच पर बंगला का प्रभाव स्वाभाविक ही है ।

वैसे यह बात अक्सर भुला दी जाती है कि पेशेवर हिन्दी रंगमंच का श्रीगणेश कलकत्ते में ही हुआ था और हल तक पेशेवर तरीके से हिन्दी नाटकों का अभिनय कलकत्ते में होता रहा । लेकिन पेशेवर रंगमंच का जहाँ तक सम्बन्ध है, कलकत्ते के हिन्दी रंगमंच के विकास की धारा बंगला से मूलतः भिन्न रही । कारण ढूँढ़ने के लिए बहुत दूर जाने की ज़रूरत नहीं । कलकत्ते में पेशेवर हिन्दी रंगमंच को जन्म देने वाले व्यूचस्थापक गुजराती और पारसी थे । उसमें काम करने वाले अभिनेता-अभिनेत्रियों में उत्तर भारत तथा बम्बई तक की सभी भाषाओं के लोग पाये जाते थे । स्त्री पात्रों

के लिए जिस उ यह फल हिन्दी बंगला रंगमंच भी अप साहित्य मानी र की भी रंगमंच का वैस की आव वर्गीय रंगमंच आई ज से निक

नाटकों सकते हैं दिनों ब कुछ संस यहाँ अ नितान्त और य पड़ती है दोनों ही दिलाता व्यक्ति

स्पष्ट है थे, लेखि हैं । सा अनुवाद उच्चार के अधि

हिन्दी रंगमंच : राष्ट्रीय रंगमंच का सूत्रपात : ४१

के लिए गणिकाओं को रखा जाता था। हिन्दू-मुसलमान की भी समस्या नहीं थी। जिस उदारता से हिन्दी-भाषी जनता ने ऐसे पेशेवर अभिनयों को अपनाया उसी का यह फल है कि हिन्दी लोक रंगमंच का कोई प्रभाव इन प्रदर्शनों पर नहीं पड़ा तथा हिन्दी रंगमंच का वैसा (सीमित आधार वाला ही सही) विकास नहीं हो पाया जो बंगला रंगमंच पर सम्भव हो सका। दूसरा महत्वपूर्ण कारण यह भी था कि बंगला रंगमंच को विकास की अवस्था के बाद बंगाल के सामाजिक जीवन के कर्णधारों ने भी अपना सक्रिय सहयोग दिया। राष्ट्रीयता की भावना ने ज्यों-ज्यों जड़ पकड़ी, साहित्य और रंगमंच, दोनों पर उसका असर दिखाई पड़ने लगा। बंगाल के धनी-मानी रईसों ने जहाँ प्रदर्शन की व्यवस्था कराई वहीं अच्छे नाटकों के लिए पुरस्कार की भी घोषणा की। लेकिन कलकत्ते के हिन्दी रंगमंच का गठन ऐसा था, हिन्दी रंगमंच जिस तबके के लोगों के लिए प्रदर्शन करता था, दोनों कारणों से हिन्दी रंगमंच का वैसा विकास सम्भव नहीं हो सका। हिन्दी-भाषी सुशिक्षित और सुसंस्कृत लोगों की आवश्यकता बंगला नाटकों से भी पूरी हो जाती थी। कलकत्ते का निम्न मध्यम-वर्गीय हिन्दी भाषी तबका सस्ते मनोरंजन से चिपका हुआ था। न तो कलकत्ते के हिन्दी रंगमंच ने जनता की रुचि परिष्कृत करने की कोशिश की और न कोई ऐसी हस्ती ही आई जो अपने व्यक्तित्व के जोर से कलकत्ते के पेशेवर हिन्दी रंगमंच को इस दलदल से निकाल सके।

साधारणतः कलकत्ते का हिन्दी-भाषी सुसंस्कृत तबका बहुत असे तक बंगला नाटकों से ही सन्तोष प्राप्त करता रहा। इसे हम हिन्दी भाषियों की उदारता ही कह सकते हैं। पर फल यह हुआ है कि गैर-पेशेवर स्तर पर भी हिन्दी रंगमंच ने बहुत दिनों बाद अँगड़ाई ली है। अब गैर-पेशेवर रंगमंच पर अच्छे प्रदर्शन होने लगे हैं। कुछ संस्थाओं ने इस दिशा में काफी अच्छा प्रयास किया है और 'अनामिका' की चर्चा यहाँ असंगत नहीं लगती। उनका नाटक 'नये हाथ' दिल्ली में देखने का अवसर मिला। नितान्त यथार्थवादी शैली का यह नाटक कथ्य की दृष्टि से अपना महत्व रखता है और यह विश्वास दिलाता है कि हिन्दी-साहित्य की अन्य विधाओं में जो प्रगति दिखाई पड़ती है उसका स्वरूप रंगमंच पर भी जल्दी ही दिखाई पड़ेगा। अभिनय या प्रदर्शन दोनों ही दृष्टियों से कलकत्ते के इन हिन्दी प्रदर्शनों की एक खूबी की ओर ध्यान दिलाता अनिवार्य लगता है। जहाँ बंगला रंगमंच का प्रभाव स्पष्ट है, वहीं अपना विशिष्ट व्यक्तित्व भी इन प्रदर्शनों की विशेषता रही है। और यह बड़ा ही शुभ संकेत है।

बिहार में गैर-पेशेवर रंगमंच की दो धाराएँ हैं जिनका असर काशी तक स्पष्ट है। एक ओर तो वे बंगाली हैं जो पहले बंगला नाटकों का प्रदर्शन किया करते थे, लेकिन समय की रफ्तार को पहचानकर अब हिन्दी नाटकों की ओर मुड़ गए हैं। साधारणतः कलकत्ते के बंगला नाटकों से प्रेरणा लेकर बंगला नाटकों के हिन्दी अनुवाद या उसी आधार पर लिखे गए हिन्दी नाटकों का ये प्रदर्शन करते हैं। भाषा, उच्चारण और अन्य सभी बातों में ये नाटक बंगला रंगमंच की कुरूप छाया से अधिक के अधिकारी नहीं प्रतीत होते। भागलपुर, पटना और गया के कुछ प्रदर्शनों को सामने

४२ : आलोचना

रखकर इतना ही महत्व इन्हें दिया जा सकता है कि प्रकाश व्यवस्था के कुछ तकनीकी प्रयोगों को इन प्रदर्शनों ने कलकत्ते से बिहार तक पहुँचाया। इसके विपरीत ऐसे प्रदर्शन भी काफी अधिक संख्या में होने लगे हैं जिनकी मूल प्रेरणा हिन्दी क्षेत्र की ही है। लेकिन इन प्रदर्शनों की प्रमुख समस्या है उपयुक्त नाटक का चुनाव। साधारणतः प्रसिद्ध कहानियों और उपन्यासों के रूपान्तर ही रंगमंच पर दिखाई पड़ते हैं। उदाहरण के लिए तीन कहानियों का उल्लेख किये बिना नहीं रह सकता—‘कफन’, ‘उसने कहा था’ और ‘आकाशदीप’। तीनों रचनाएँ सुप्रसिद्ध हैं और साहित्य में उनका विशिष्ट स्थान है। शायद यह बात उभरकर स्पष्ट नहीं हो पाई है कि इन रचनाओं की काया कहानी के माध्यम के लिए ही सबसे अधिक उपयुक्त है। मोह में अगर इन कृतियों को परकाया में प्रवेश कराया जाय अर्थात् कहानी से नाटक बनाया जाय तो इनका मूल सौन्दर्य ही नष्ट हो जायगा।

लोक नाट्य की एक विशेष शैली विदेसिया के लिए बिहार पहले से प्रसिद्ध रहा है। कथानक और प्रदर्शन, दोनों ही दृष्टियों से इसकी विशेषता रही है। इन दिनों इसका जोर तो कम हो गया है पर कथ्य और भाषा की दृष्टि से एक ऐसे व्यक्ति का पदार्पण हुआ जिसका उल्लेख करना अनिवार्य है। मेरा मतलब है श्री रामेश्वर-सिंह काश्यप और उनके नाटक ‘लोहा सिंह’ से। यह नाटक पहले रेडियो रूपक के रूप में सामने आया। पर इसकी सफलता ने इसे मंच पर लाया और अब शायद यह चरित्र फिल्म के पर्दे पर भी आने वाला है। इस नाटक के बारे में इसकी भाषा और इसका कथ्य दोनों उल्लेखनीय हैं। ‘लोहा सिंह’ की भाषा भोजपुरी मिश्रित हिन्दी और अंग्रेजी है जो विलक्षण हास्य-व्यंग्य की सृष्टि करती है। लोहा सिंह का व्यक्तित्व विनोदी है। इस विलक्षण भाषा के कारण व्यंग्य दो स्तरों पर चोट करता है। एक तो वह जो लोहा सिंह का लक्ष्य है और दूसरा वह जो लेखक को अभीष्ट है। कथ्य की दृष्टि से लोहा सिंह के पारिवारिक जीवन पर आधारित ये घटनाएँ एक बड़े नाटक का सूत्रपात कर सकती थीं पर भाषा के चमत्कार ने जो सफलता दिलाई वही बाधक बन गयीं। फिर भी लोहा सिंह ने हिन्दी-नाटकों के लिए एक नये परिच्छेद का सूत्रपात किया है।

साधारणतः उत्तर प्रदेश में प्रदर्शन का स्तर बिहार की ही तरह निम्न रहा है। और तुलनात्मक रूप से हिन्दी-भाषी क्षेत्रों में सामान्य रूप से प्रदर्शन की यही दशा है। नाट्य-लेखन की दृष्टि से जहाँ उपेन्द्रनाथ अशक, रामकुमार वर्मा, आदि का नाम गिनाया जा सकता है, गैर-पेशेवर प्रदर्शन की दृष्टि से संस्थाओं और व्यक्तियों का नाम ढूँढ़े नहीं मिलता। डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल ने सुन्दर रत्न आदि नाटकों के लेखन और प्रदर्शन द्वारा स्थानीय हलचल के रूप में कुछ पाया हो तो हो, नाट्य-लेखन की दृष्टि से उन्हें महत्व नहीं दिया जा सकता। डॉ० रामकुमार वर्मा के शुरू के प्रदर्शन या नाट्य-एकांकियों में एक प्रकार की ताजगी है। लगता है कि नाटक का कथ्य अब समाप्त हो गया है। साधारणतः साहित्य की कई विधाओं में सृजन करने वालों का जो हाल होता है वही हाल उपेन्द्रनाथ ‘अशक’ का हुआ है। इस सन्दर्भ में एक बात और ध्यान

हिन्दी रंगमंच : राष्ट्रीय रंगमंच का सूत्रपात : ४३

देने की है। नाटककार का विकास रंगमंच और प्रदर्शन के घात-प्रतिघात द्वारा ही होता है। जिन नाटककारों ने अपने को इससे अलग रखा या अलग हो गये उनकी कृति का अंतिम परिच्छेद स्वयं लिख जाता है ! फिर भी कथ्य की दृष्टि से इस क्षेत्र ने हिन्दी-नाटक के आधार को व्यापकता दी है। साधारण मध्यमवर्गीय परिवार की हलचल से लेकर ऐतिहासिक और अन्य समस्यामूलक नाटकों की एक नई फसल सामने आई है। दुर्भाग्यवश इन सभी रचनाओं में रंगमंच के अनुभव का अभाव खटकता है। यह अभाव इसलिए और भी तीखा बन जाता है कि हिन्दी क्षेत्र में हिन्दी भाषियों द्वारा जब इन नाटकों का प्रदर्शन होता है तो प्रदर्शन की भोंडी और भयानक गलतियों के कारण नाटक की हत्या होती है ! जब अहिन्दी भाषी कलाकार इन नाटकों का प्रदर्शन करता है तो भाषा के संकेतों को नहीं समझने के कारण नाटक और प्रदर्शन की दिशाएँ विरोधी हो जाती हैं। इस तरह फिर नाटक की हत्या होती है ! साथ ही एक स्वर से यह आवाज लगाई जाती है कि हिन्दी में प्रदर्शन के योग्य नाटक नहीं। दिल्ली और बम्बई के नाट्य प्रदर्शनों की चर्चा करते समय इस समस्या पर विस्तार से विचार किया जायगा।

मध्य प्रदेश का हिन्दी रंगमंच मराठी रंगमंच के बोझ से आक्रांत हैं क्योंकि विधा का निर्वाह वहाँ के नाटकों में उसी तरह होता है जैसा कि मराठी नाटकों में ! मध्य प्रदेश की मिट्टी की गंध न तो नाटकों में दिखाई पड़ती है और न नाट्य-प्रदर्शनों में। जो थोड़े से प्रदर्शन देखने को मिले हैं उनमें घिसे-पिटे हथकंडों का ही प्रयोग दिखाई पड़ता है। यथार्थवादी प्रदर्शन के चौखटे के भीतर मराठी रंगमंच पर कभी-कभी नाजगी दिखाई पड़ती है लेकिन इन सस्ते अनुकरणों में एक-एक तरह की शिथिलता है।

बम्बई में हिन्दी रंगमंच मराठी, गुजराती और अंग्रेजी प्रदर्शनों से थोड़ा प्रभावित रहा है। एक ओर तो पेशेवर गुजराती नाटकों की तरह सस्ते और भोंडे प्रदर्शन भी होते हैं तो दूसरी ओर अंग्रेजी नाटकों की देखा देखी अंग्रेजी नाटकों के अनुवाद भी रंगमंच पर लाये गए हैं। इस सम्बन्ध में राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय से निकले हुए छात्र-छात्राओं का भी योगदान रहा है। 'इडीपस रैक्स' आदि नाटकों की चर्चा इस सम्बन्ध में की जा सकती है लेकिन इस तरह के नाटकों का सिर्फ एक ही लाभ हिन्दी रंगमंच को हुआ है और वह है हिन्दी भाषी जनता का रंगमंच की विभिन्न विधाओं से परिचय। इस प्रदर्शन का ऐसा स्तर नहीं जो अपने-आप में उपलब्धि की संज्ञा पा सके। हिन्दी नाटक और हिन्दी रंगमंच के आधार को विस्तृत करने का श्रेय जरूर इन नाटकों को मिलना चाहिए। यह ध्यान देने योग्य बात है कि एक ओर डी० एल० राय या गडकरी जैसे आचार्यों की रचना बंगला और मराठी रंगमंच से आई तथा स्वीकृत हुई उसी तरह जयशंकर प्रसाद, लक्ष्मीनारायण मिश्र आदि की रचनाओं को हिन्दी रंगमंच पर नहीं उतारा गया। एक फैशन-सा बन गया है और फतवे दिये जाते हैं कि इतने दृष्टियों के कारण या संस्कृतनिष्ठ भाषा होने के कारण ये नाटक रंगमंच के योग्य नहीं।

दिल्ली आकर यह समस्या और भी मजेदार बन जाती है। हिन्दी प्रकृति से

४४ : आलोचना

ही भारत की राष्ट्रभाषा है। इसलिए राजधानी में सभी भाषा-भाषियों का हिन्दी में दिलचस्पी लेना स्वाभाविक ही है। यह भी ठीक है कि हिन्दी नाटक का वह अंग जो साहित्यिक भाषा तक सीमित है, आम-फहम जवान को हिन्दी माननेवालों के लिए दुर्गम है। इसलिए हिन्दी नाटकों का एक अंग तो ऐसे लोगों के लिए अछूता ही रह जाता है। बोलचाल की चालू भाषा में जो नाटक मिलते हैं उसे ही हिन्दी नाटक का एकमात्र रूप समझने की ओर बाकी नाटकों को नजर-अन्दाज कर देने की एक परिपाटी-सी चल पड़ी है। खासकर ऐसी बातों के फतवे अँग्रेजी के माध्यम से दिये जाते हैं जिनकी ओर हिन्दी के सृजनात्मक कलाकारों का ध्यान ही नहीं जाता। मिला-जुलाकर स्थिति ऐसी हो गई है कि एक ओर हिन्दी नाटकों की ओर लोग ललचाई नजरों से देखते भी हैं और दूसरी ओर यह भी कहते जाते हैं कि हिन्दी में अभिनय के योग्य नाटक नहीं। आँकड़ों की मेरे पास कमी है और यह लिखना सम्भव नहीं कि पिछले दिनों दिल्ली में किस प्रकार के नाटकों के कितने प्रदर्शन हुए। इतना जरूर लिख सकता हूँ कि दिल्ली की आम जनता को वे ही नाटक पसन्द आये जिनमें पंजाब की मिट्टी की गंध थी।

हिन्दी क्षेत्र में अच्छे निर्देशक के अभाव ने ही यह स्थिति उत्पन्न कर दी है। 'आषाढ का एक दिन' और 'अन्धा युग' जैसे नाटकों के प्रदर्शन भी दिल्ली में हुए हैं। लेकिन उनका उतना ही महत्व है जितना एक साहसिक कार्य का हो सकता है। लीक से अलग इन दोनों प्रदर्शनों ने यह साबित कर दिया है कि ऐसे नाटकों का प्रदर्शन जिस तरह विदेशों में होता रहा है उसी तरह हिन्दी में भी अच्छी तरह हो सकता है। साथ ही यह भी बुरी तरह उभर कर सामने आया कि इन प्रदर्शनों में नाटकों की आत्मा और काया, दोनों अछूती रह गई। धृतराष्ट्र-गांधारी संवाद में रवीन्द्रनाथ ने साबित किया था कि धृतराष्ट्र सिर्फ आँखों का अन्धा नहीं था बल्कि मोहान्ध था। एक कदम आगे बढ़कर लेखकों ने अन्धा युग में संकेत किया कि वह युग ही अन्धा था। लेकिन प्रदर्शन में ? युग की झाँकी ही सामने नहीं आई।

इसी तरह आषाढ के एक दिन में लेखक ने महाकवि कालिदास के भीतर के साधारण मानव को ही चित्रित किया है। यह बात प्रदर्शन में भी आनी चाहिये थी कि महान से महान व्यक्ति के भीतर भी एक साधारण मानव होता है। इस साधारण मानव के दर्शन नहीं हुए।

अच्छे निर्देशकों के अभाव में उतने हिन्दी नाटक सामने नहीं आ रहे जितने आने चाहिए थे या साहित्य की अन्य विधाओं में जितनी रचनाएं आ रही हैं। तटस्थ होकर देखा जाय तो हिन्दी रंगमंच बँगला या मराठी रंगमंच से पिछड़ा हुआ ही कहा जायगा। लेकिन दूसरी ओर राष्ट्रीय रंगमंच के संदर्भ में राष्ट्रीय रंगमंच अपने-आप में एक विलक्षण बात है और उसका कोई फामूला पेश नहीं किया जा सकता। यह ध्यान देने योग्य बात है कि यूरोप के कई छोटे-छोटे देशों में राष्ट्रीय रंगमंच बहुत पहले बन चुका था कि इंग्लैंड जैसे देश में जहाँ रंगमंच, लेखक, अभिनेता और निर्देशक की अक्षुण्ण परम्परा रही है, कुछ ही वर्ष पहले राष्ट्रीय रंगमंच की स्थापना हुई। यह नहीं कहा जा सकता कि इसका कारण क्या है। इस पेचीली प्रक्रिया में बहुत सारी बातें

शामिल हैं। भारत के संदर्भ में अगर हम राष्ट्रीय रंगमंच की समस्या को देखें तो यह निर्विवाद है कि हिन्दी रंगमंच ही इस जगह को भर सकेगा। जब मैं राष्ट्रीय रंगमंच की बात करता हूँ तो मेरा आशय किसी भवन या संस्था से नहीं है बल्कि उद्गम रंगमंच से है जिस पर पूरे राष्ट्र का जीवन प्रतिबिम्बित हो।

हिन्दी साहित्य अन्य भाषा-भाषियों के जीवन को धीरे-धीरे प्रतिबिम्बित करने लगा है, अन्य क्षेत्रों की विशिष्टताओं को धीरे-धीरे आत्मसात करता जा रहा है। ऐसे आंकड़े इकट्ठे किये जाएँ जिनमें अन्य भाषा-भाषियों के जीवन को चित्रित किया गया हो तो मेरे कथन की तुरन्त पुष्टि हो जायगी। मराठी और गुजराती एक-दूसरे के इतने निकट रहे लेकिन मराठी साहित्य में गुजरातियों के जीवन को या गुजराती साहित्य में मराठियों के जीवन को कितना स्थान मिला? कलकत्ते में हिन्दी भाषियों की संख्या कम नहीं। बंगालियों के जीवन से वे इतने घुलमिले भी हैं। साधारण बंगाली उन्हें अच्छी तरह जानता-पहचानता भी है। लेकिन क्या बंगला साहित्य में कभी उनका चित्रण हुआ? (शायद सतीनाथ भाटुड़ी इसके अपवाद माने जा सकते हैं।) यही स्थिति असम और उड़ीसा निवासियों की है।

मौलिक रचनाओं की बातू छोड़ भी दें तो अन्वनदों की हालत भी उससे समान नहीं निकलेगी। आत्मन्येवात्मनः तुष्टः की जहाँ एक हद तक सुविधा रही, वहीं दूसरी ओर उसकी असुविधा भी सामने आने लगी है। अन्य भाषा-भाषियों ने अंग्रेजी को तो स्वीकारा है। उसके आगे गाड़ी नहीं बढ़ी। अन्य किसी भाषा में भगिनि भाषाओं की मौलिक रचनाओं का अनुवाद नहीं के बराबर है। कलकत्ता और बम्बई हमेशा से ऐसे शहर रहे जहाँ सभी भाषाओं के लोग रहते आये। ये ऐसे शहर रहे जहाँ बँगला और मराठी तथा गुजराती साहित्य ने रूप और आकार ग्रहण किया। लेकिन वस इतना ही। पासपड़ोस के साहित्य से इन लोगों ने हमेशा आँखें बन्द रखीं।

यह ध्यान देने योग्य बात है कि हिन्दी में जिस तरह गर्द और पराङ्कर जाने-माने गये, जिस तरह भूदेव मुखर्जी को स्थान दिया गया वैसा कलकत्ता और बम्बई में क्यों नहीं हो सका। रंगमंच के सम्बन्ध में साहित्य की चर्चा इसलिए करनी पड़ती है कि जब अन्य विधाओं में जहाँ अपेक्षाकृत कम कठिनाइयाँ होती हैं, यह स्थिति है तो नाटक के सम्बन्ध में स्थिति सहज ही स्पष्ट हो जायगी।

वर्तमान स्थिति में हिन्दी रंगमंच ही राष्ट्रीय रंगमंच का सूत्रपात है। हिन्दी का आधार और क्षेत्र व्यापक है। हिन्दी में रूढ़ परम्पराओं का बोलबाला नहीं। सभी भारतीय भाषाओं से इसका सीधा सम्पर्क बनता आ रहा है जो प्रतिक्षण पुष्ट होता जा रहा है। सारे देश की चेतना को व्यक्त करने की इसीमें चेतना है। यह ठीक है कि विभिन्न भारतीय भाषाओं की दृष्टि से हिन्दी रंगमंच को तीसरा या चौथा स्थान देना पड़े, लेकिन उपरोक्त विश्लेषण से यह भी स्पष्ट हो गया होगा कि राष्ट्रीय रंगमंच की जरूरतों को पूरी करने वाली संभावनाएँ हिन्दी रंगमंच में ही हैं।

स्वातन्त्र्योत्तर निबन्ध-साहित्य

डॉ० रामखेलावन पाण्डेय

हिन्दी निबन्ध : प्रेरणा, प्रयास और उपलब्धि

‘निबन्ध’ आधुनिक चेतना की परिणति-सम्भवा विधा और आधुनिकता-बोध की कसौटी है अतः वैदिक साहित्य में इसके आधार का अन्वेषण अयथार्थ परिकल्पना मात्र। आधुनिकता की अवधि, उसकी व्याप्ति और मर्यादा अनिश्चित-सी रही है और इसके विस्तार और संकोच की चेष्टाएँ अद्यावधि सजग हैं। निबन्ध, प्रबन्ध, लेख, आशय, प्रस्ताव और ‘ऐसे’ आदि शब्दों के पर्यायमूलक प्रयोग उपलब्ध होते हैं और ऐसे प्रयोगों के ऐतिहासिक क्रम का अन्वेषण अधिक परिश्रम-साध्य नहीं। कतिपय लेखकों का ध्यान इन अभिधानों के अर्थ-वैभिन्य की ओर गया और इसके यत्किञ्चित् निर्देश यत्र-तत्र उपलब्ध हुए। निबन्ध का सामान्य अर्थ हुआ ‘विद्वत्तापूर्ण रचना’ और प्रबन्ध का हुआ ‘ग्रन्थ’; यद्यपि अर्थ-भिन्नता की सुस्पष्ट रेखा सदा निर्दिष्ट नहीं रही। निर्दिष्टता-पूर्ण निर्णयात्मक रचना के अर्थ में ‘निबन्ध’ शब्द का प्रयोग होता था, ऐसा संकेत जयन्त भट्ट कृत ‘न्याय मञ्जरी’ के इस कथन से उपलब्ध होता है—“निर्णीता स्व निबन्धे निपुणमिह मया षोडशैते पदार्थाः।” सुबन्धु कृत ‘वासवदत्ता’ में उल्लेख है—प्रत्यक्ष श्लेषमय प्रबन्ध विन्यास वैदग्ध्यनिधिनिबन्धम चक्रे’ और ‘शिशुपाल वध’ में—‘अनुज्ञितार्थ सम्बन्धः प्रबन्धो दुरूदाहारः।’ भाष्यों, टीकाओं और अनुटीकाओं की परम्परा को ‘निबन्ध’ का प्रेरणा-स्रोत मानना न तो तात्त्विक है और न वास्तविक। परम्परा के प्रति आस्था-मूलक आग्रह का यह है प्रतिफलन मात्र। विभिन्न अभिधानों के अर्थ की सीमा निबन्ध सम्बन्धी दृष्टिकोण को स्पष्ट करती है और इसकी मर्यादा निर्दिष्ट करने में सहायक होगी।

यूरोपीय सम्पर्क ने उन सभी विधाओं के अनुक्रम को स्वीकृत करने के लिए बाध्य किया, जिनका उद्भव और विकास यूरोपीय चेतना के विकास-क्रम का परिचायक है। यह धारणा उचित नहीं कि ब्रिटेन ही यूरोप है और वह है यूरोपीय चेतना का संवाहक, केवल इतना ही तथ्य है कि यूरोपीय भाव-धारा इंग्लैंड की छलनी में छनकर भारत में आई और इंग्लैंड में नई ‘लेबुल्ले’ भी अच्छी बनती हैं। मॉन्तेन (१५३३-१५६२) और बेकन (१५६१-१६२६) के निबन्धों की पारस्परिक तुलना से स्पष्ट हो जाएगा कि फ्रांसीसी और अंग्रेजी भाव-धाराएँ भिन्न हैं और दोनों जातियों की प्रकृति, अंतः प्रवृत्ति में पर्याप्त अन्तर है। मॉन्तेन के निबन्ध निर्बन्ध, वैयक्तिकता-पूर्ण, विषय प्रधान और व्यक्तित्वपरक हैं और बेकन के निबन्ध, नियंत्रित, विचार-मूलक, विवेचनात्मक-वर्णनात्मक एवं विषय-प्रधान। एक में फ्रांस की रोमांचक वृत्ति

है तो दूसरे का साँचा है 'क्लासिकल'; एक में उन्मुक्त वैयक्तिक-वैयक्तिकता है तो दूसरे में मर्यादित वैयक्तिकता; प्रथम में चेतना की स्वतन्त्र भंगिमा है तो द्वितीय में अनुल्लंघनीय संयम। मौनतेन द्वारा प्रवर्तित रूप प्रयत्न को साध्य के रूप में स्वीकृत करता है क्योंकि फ्रेंच 'एसेइ' का अर्थ रहा—प्रयत्न करना। वेकन का 'एसे' लातीनी 'एक्जीअम' से व्युत्पन्न है, अतः अर्थ हुआ—मूल्यांकन, सिद्धान्तीकरण जिसकी परिणति सारगर्भित, निर्दिष्ट और ठोस विचारों के निर्दिष्टीकरण में हुई। अन्य विचारक इन दोनों की सीमाओं के मध्य अपना स्थान निर्धारित करते रहे, और उनके लक्षणों में लक्षण-निर्धारण का जो उपक्रम है, वह है वस्तुतः आत्म-सम्बन्ध-बोध का निदर्शन मात्र।

समस्त लक्षण अपूर्ण और अपर्याप्त होते हैं; और वे हैं मात्र दिशा-संकेतक, तथा वस्तु-निर्देश में प्रायः अक्षम। ऐसा प्रतीत होता है कि निबन्ध के लक्षण दिशा-निर्देशन के लिए भी पर्याप्त नहीं। मौनतेन की धारणा का तात्पर्य है कि निबन्धों का वह स्वयं विषय है, क्योंकि वही चित्रकार है और चित्रपट भी। ऐसी स्थिति में निबन्ध गीति-काव्य से भी अधिक गीति-काव्यात्मक होगा। 'विशृङ्खल भाव-तरंग' भी विधा-निर्धारण न कर लेखक की मनोदशा सूचित करती है। चिन्तन की निर्दिष्टता को प्रतिफलित करनेवाली वेकन की प्रणाली शास्त्र-निर्धारण को मान्यता देती है। 'निबन्ध में भाव-धारा तरल और मिश्र होती है, उसका प्रवाह कभी उपदेशात्मकता की ओर झुकता है और कभी वैयक्तिक आत्माभिव्यञ्जन की ओर', ऐसी मान्यता में स्पष्ट निर्दिष्टता का अभाव है, इसी प्रकार 'एसे' 'संलापमयी रचना के साथ वैसी रचना-विधि है जिसमें साहित्यिकता के साथ आनन्दमयता की अनिवार्य स्थिति है,' ऐसा मानने का उपक्रम प्रवृत्ति का संकेतक मात्र है। निबन्ध-रचना की एक पद्धति यदि मौनतेन, काउले और चार्ल्स लैम्ब में विकसित हुई तो दूसरी परम्परा ने जॉनसन, कार्लाइल, अर्नल्ड, रस्किन, मेकॉले और इमर्सन में प्रौढ़ता पाई। शुक्ल के अनुसार, निबन्ध गद्य की कसौटी है और भाषा की पूर्ण शक्ति का विकास निबन्धों में ही सबसे अधिक सम्भव होता है। लेख यदि सामान्य रचना-विधि का सूचक है, तो प्रस्ताव और आशय बौद्धिक चेतना की परिणति। निबन्ध को कुछ 'एसे-ही' मानने का आग्रह इसकी एक विकास-दिशा का ही सूचक होगा।

हिन्दी के निबन्ध-साहित्य का इतिहास समाचार-पत्रों के इतिहास की अनुक्रमणिका है और आधुनिक काल की प्रारम्भिक स्थिति का दृष्टिकोण था—

विविध कला शिक्षा अमित, ज्ञान अनेक प्रकार।

सब भावन सो ले करहु, भावा माँहि प्रचार ॥

(हिन्दी लेखक, भारतेन्दु)

'उदन्त मार्तण्ड' (सन् १८३६ ई०) का घोषित उद्देश्य था—देश-विदेश के समाचारों को पछाँही जनता तक सम्प्रेषित करना, अतः लेख सूचना-मूलक रहे। पाठ्य पुस्तकों की निर्माण-पद्धति से भी इसका प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनों सम्बन्ध रहा। दोनों के उद्देश्य समान थे अर्थात् सामान्य चेतना-सम्पन्न और प्रबुद्धता की प्रक्रिया में संलग्न

व्यक्तियों को विविध विषयों से परिचित करना। खड़ी बोली का गद्य-साहित्य निर्माण की प्रारम्भिक स्थिति में था, और था पाठकों का चेतना-स्तर भी सामान्य, अतः उस काल का निबन्ध-साहित्य भी रहा परिचयमूलक विवरणात्मक एवं वर्णन-प्रधान। भारतेन्दु कालीन निबन्धों की स्थिति इससे स्पष्ट होती है। राजा शिवप्रसाद सितारे हिन्द (१८२३-१८६५ ई०), राजा लक्ष्मणसिंह (सन् १८२६-१८६६ ई०) समाचार पत्र और पाठ्य पुस्तक-निर्माण-प्रक्रिया से सम्बद्ध रहे, यद्यपि दोनों की रचना-शैली में महत्त्वपूर्ण अन्तर है। स्वामी दयानन्द सरस्वती (सन् १८२४-१८८३ ई०) ने आर्य-समाजी धारणाओं को प्रचारित-प्रसारित करने के लिए साधु खड़ी बोली का उपयोग किया एवं उनके द्वारा संस्थापित आर्य समाज ने धार्मिक एवं कुछ अंशों में राजनीतिक चेतना जागरित करने के लिए निबन्ध-साहित्य की विधा का उपयोग किया। यह निबन्ध-साहित्य उपयोगितामूलक, पुनः संस्कारवादी और उपदेश-प्रधान ही बन सका। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र द्वारा संस्थापित और सम्पादित 'हरिश्चन्द्र मैगजीन' (जो बाद में चलकर 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' हो गई) ने साहित्यिक विषयों को अपनी सीमा की परिधि में संश्लिष्ट किया और इस नव्य प्रवर्तन को अविस्मरणीय घटना के रूप में स्वीकृत कराने के लिए १८७३ ई० में हिन्दी को नए साँचे में ढलना माना। साहित्य-शास्त्रीय मान्यताओं और धारणाओं को विवेच्य मानने का यह उपक्रम महावीरप्रसाद द्विवेदी में प्रतिफलित हुआ, जिसका शास्त्रीय और सुगठित संस्कार शुक्ल ने विकसित किया। समाचार-पत्र नव्य-चेतना के संवाहक बने और इनमें से अनेक को राजकीय संरक्षण और प्रोत्साहन तथा शिक्षा विभागीय समर्थन प्राप्त था। खण्डन-मण्डन, सिद्धांत निरूपण एवं विषय-प्रतिपादन की प्रणाली को अतः स्पष्ट निदिष्टता मिली। इन रूपों के साथ निबन्ध-साहित्य की उस विधा का भी सूत्रपात हुआ जिसकी व्याप्ति का निर्धारण मॉन्तेन ने किया था। इस परम्परा में बालकृष्ण भट्ट (१८४४-१८९४), प्रतापनारायण मिश्र (-१८५६-१८९४) अम्बिकादत्त व्यास (१८५८-१९००) और बालमुकुन्द गुप्त (१८६५-१९०७ ई०) विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं जिनकी रचनाओं में निश्छल परिहास से लेकर कटूकृतपूर्ण व्यंग्य, उल्लासपूर्ण उद्वेग से लेकर चिन्ताजन्य आग्रह प्रतिफलित है। उस काल का सामाजिक व्यक्तित्व व्यापक ममत्वपूर्ण निजत्व से संवलित था, उत्साह उसका आधार था और विनोद मापदण्ड।

गद्य को कवियों की कसौटी माननेवाले आलोचक ने इस पर ध्यान नहीं दिया था कि अपनी समस्त व्याप्ति और सीमा के साथ जीवन ही गद्य की कसौटी है। जीवन, मात्र कला नहीं, जब साहित्य का मापदण्ड होगा, तब गद्य ही साहित्य का अनुमापक होगा। गद्य को काव्यात्मक गरिमा से मण्डित करने और उसके घरातल पर प्रतिष्ठित करने का आग्रह, तथा काव्य को गद्यात्मक समवर्तता देने का मोह समभूत होकर भी भिन्न रहते हैं, और कला-चेतना, इस स्थिति में, सोद्देयता के समक्ष प्रणिपात करती है। लेखक समसामयिकता बोध की ओर सन्तान है, मात्र दत्तक पुत्र नहीं। समसामयिकता बोध जीवन के अभावों की मात्र आकांक्षामूलक विवृति नहीं, वासनामूलक आकांक्षा का भव्य प्रदर्शन मात्र नहीं, बल्कि जिज्ञासा और संशय, निष्ठा

और वित्त
अन्तर्भूत
काल में
त्मक-लया
होंगे, चाहे
चार्य और
तथा पण्डि
मिलेगा भ
अधिक म
चरम परि
होगी, न
आधार न
व्याख्यात्म
नीतिक, व
क्षात्मक,
स्वीकृत हैं
भावोत्तेज
एवं विषय
प्रधान, सं
व्यक्तित्वा
प्रवेश का
सीमा है,
भिचित्रित
अनुभवको
की शिला
नूतन अभि
करता है।
है, जिसके
यह चित्रा
कालपात्रा
वादी रूपा
वह विधा
और जो
अधिक स
है जिसमें

हिन्दी निबन्ध : प्रेरणा, प्रयास और उपलब्धि : ४६

और वितर्क, संकल्प और विकल्प की तात्त्विक अभिव्यक्ति है। गद्य के समानान्तर ही अन्तर्भूत अनास्थामूलक निष्ठा और निष्ठाहीन आस्था की द्वन्द्वात्मक स्थिति है। जिस काल में छन्द अभिव्यक्ति और सम्प्रेषण का माध्यम होगा, उस समय जीवन की छन्दात्मक-लयात्मकता से अधिक विशेषाधिकरण और जीवन-विधि की एकांगिता के दर्शन होंगे, चाहे उसमें विविधता के विस्तार का विराट् संयोजन ही क्यों न हुआ हो ! शास्त्राचार्य और नीतिकार, चिकित्सक और ज्योतिषी, कवि तथा कलाकार, एवं दार्शनिक तथा पण्डित जिस समय राज्याश्रित होंगे, उस समय कला-संस्कार सचेत रहेगा, एवं मिलेगा भव्यता, रोचकता, चमत्कार और वैदुष्य को निर्दिष्टता एवं सहज बोध से अधिक महत्त्व। जीवन को ही जीवन का मानदण्ड मानने का आग्रह आत्म-बोध को चरम परिणति के रूप में स्वीकार करेगा और साहित्य की कसौटी उसकी पारदर्शिता होगी, न कि उसका चमत्कारपूर्ण अवबोध।

‘निबन्ध’ का वर्गीकरण विभिन्न आधारों पर किया जा सकता है और प्रत्येक आधार नव्य वर्गों का निर्धारक होगा। प्रक्रिया की दृष्टि से वर्णनात्मक, आख्यात्मक, व्याख्यात्मक एवं विचारात्मक कोटियाँ हैं तो विषय की दृष्टि से सामाजिक, राजनीतिक, वैज्ञानिक, धार्मिक, ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक। साहित्यिक निबन्ध समीक्षात्मक, विवेचनात्मक होते हैं और इनकी सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक कोटियाँ स्वीकृत हैं। उपलब्धि को यदि आधार मानें, तो कोटियाँ होंगी—विचारोत्तेजक, भावोत्तेजक एवं प्रचारात्मक। विषय और विषयी की चिन्ता के आधार पर विषय-मूलक एवं विषयप्रधान रचनाएँ उपलब्ध होंगी, इस प्रकार आत्मपरक, आत्माभिव्यञ्जन प्रधान, संश्लेषणात्मक और व्यंग्य-विनोद-मूलक निबन्ध-कोटियाँ निर्धारित होंगी। व्यक्तित्वाभिव्यञ्जक रचनाओं में काव्यत्व का मोह परिस्फुटित रहता है और उसका प्रवेश काव्य की परिधि में होगा। गीति-काव्य की गद्यात्मक परिणति गद्य-काव्य की सीमा है, यद्यपि दोनों में अपने निजत्व के दर्शन किये गए हैं। भाव-प्रधान कल्पना-भिचित्रित रचनाएँ इस कला की संगति हैं। यथार्थवादिता के आग्रह के कारण अनुभवको विशेष महत्त्व दिया जाने लगा और अनुभूति को, संवेग को अनुभव की शिला से टकराने का श्रेय मिला। रेखाचित्र, पोर्ट्रेट, सबीह आदि इस भंगिमा के नूतन अभियान हैं; चित्र-कला से उधार लिया गया यह शब्द, उस विधा को संकेतित करता है जिसकी सांकेतिकता ही मूल है। कथा-साहित्य की यह निबन्धात्मक परिणति है, जिसके आधार-स्वरूप व्यक्ति और व्यक्तित्व की आत्म-क्षेपक विवृति रहती है। यह चित्रात्मक से अधिक सांकेतिक है, विश्लेषणात्मक से अधिक संश्लेषणात्मक और कालपात्राश्रित से अधिक प्रभावान्वित है। संस्मरणात्मक रेखाचित्र के चित्र यथार्थवादी रूपान्तरों ने ‘स्केच’ का रूप धारण किया एवं सूचनात्मक विवरणों के स्थान में वह विधा आई जिसे उपयुक्त अभिधान के स्थान में सूचनिका कहने की प्रथा चल पड़ी और जो फ्रांसीसी ‘रिपोतार्जि’ का हिन्दी रूपान्तर है। ‘आकाशवाणी’ ने इस विधा को अधिक सबल और सतेज किया। कथात्मक अथवा आख्यात्मक निबन्धों की एक कोटि है जिसमें कलाकार कथ्य को कथा के ‘नील माठ’ में डुबोकर प्रकट करता है और इस

५० : आलोचना

विधि ने संलापात्मक कोटि को रूपायित किया। पत्रात्मक निबन्ध किसी भी प्रणाली को ग्रहण करने में स्वतन्त्र हैं। औपचारिकता हीन, निबन्ध विधा में मनोरंजन एवं विनोद को चासनी मिलाकर जो निबन्ध रचे जाते हैं उनमें उन्मुक्त मन की उड़ान और 'भटकन' मिलती है, अनियन्त्रित नियंत्रणपूर्ण मानसिक उद्वेग इसकी आधार-शिला है। जीवन-सम्बन्धी दृष्टिकोण, वस्तु के साथ आत्म-सम्बन्ध निर्धारण और व्यक्तित्व निर्मिति के कारण निबन्ध-साहित्य में वैविध्य आया और समाचार-पत्रों के साथ आकाश-वाणी ने इनके विकास को गति दी। स्वर-संयोजन की अनिवार्यता ने एक नव्य-लयात्मक संस्कार दिया और निबन्धों में नाद-व्यञ्जना की अभिनव प्रतिष्ठा हुई।

निबन्ध-साहित्य की स्वातंत्र्योत्तरोपलब्धि की विवेचना के लिए जिस व्यापक सन्दर्भ का आकलन अपेक्षित है, उसे एक निबन्ध की सीमा में समेटना किसी कुशल नट की कला की अपेक्षा रखता है और ऐसे दुस्साहस का आग्रह मैं नहीं पालता। कुछ निर्देशक चिह्न ही मैं स्थिर करना चाहूँगा; निबन्ध-लेखकों की निराशा ही मेरा अनुवेदन है।

समीक्षा का क्षेत्र शुक्लाक्रान्त है^१ और उस खेव के आलोचक शुक्ल को अमान्य करने के लिए भी शुक्ल की दुहाई देते हैं। हज्जारीप्रसाद द्विवेदी, नगेन्द्र और नन्ददुलारे वाजपेयी ने साहित्यिक अर्थात् समीक्षात्मक निबन्ध लिखे। द्विवेदी शुक्ल के पूरक हैं, प्रतिद्वंद्वी नहीं; शुक्ल जहाँ त्रस्त करते हैं, वहाँ द्विवेदी आश्वस्त। शुक्ल मर्मभेदी हैं और द्विवेदी परम्परा-निष्ठ संदर्भमूलक; शुक्ल भावान्वेषी रहे और द्विवेदी हैं भाव-तरल, रस-विह्वल। नगेन्द्र में ऐतिहासिक विवृत्ति का अनुसन्धानात्मक उन्मेष है और वाजपेयी में आन्दोलन-क्षम परिक्रमा। वाजपेयी की संवेदना, यदि इसका प्रयोग किया जा सकता हो, छायावादी अतः अनिर्दिष्ट है। काव्य-साहित्य घादात्मक आन्दोलनों में जिस समय संकुचित होता है, उस समय समीक्षा-साहित्य प्रतिपादक अथमा प्रतिगामी। यथार्थवादी संश्लेष ने जहाँ शिवदानसिंह चौहान, नामवरसिंह, रामविलास शर्मा, अमृतराय प्रभृति को प्रगति दी वहाँ उनकी व्याप्ति को मर्यादित भी किया। प्रगति-शीलता और प्रगतिमूलकता का संदर्भ इन्हें वर्गीकृत करने में समर्थ न हो सका। 'हंस' के प्रकाशन का स्थगन इस आन्दोलन एवं तत्प्रभावित निबन्ध-साहित्य के निर्माण में बाधक हुआ, यद्यपि ये लेखक प्रायः सजग और सक्रिय रहे। इस आन्दोलन ने प्राचीन की नव्य मान्यतामूलक व्याख्या की और नव्य रचनाओं के लिए सिद्धान्तों का निरूपक हुआ। इस दिशा में 'संकेत' के प्रकाशन को अनिवार्य स्तम्भ मानना होगा। राजनीति और साहित्य की एकरसता सिद्धि के प्रयाससिद्ध सफल्य की कामना जहाँ भगवतशरण उणाध्याय के 'प्रगति का ऐरावत' में है वहाँ जातीय एकता को कायम रखने की चिन्ता और कामना रामविलास शर्मा की 'संस्कृति और जातीयता' में है। नामवर की दृष्टि

१. हिन्दी साहित्य के जो इतिहास इधर प्रकाशित हुए हैं, उनमें भी निबन्धात्मकता की प्रक्रिया ही परिलक्षित होती है। डॉ० धीरेन्द्र वर्मा द्वारा सम्पादित 'हिन्दी साहित्य' ऐतिहासिक पद्धति पर लिखे गए विभिन्न साहित्य-विषयक निबन्धों का विशाल संकलन है। पद्धति ऐतिहासिक है किन्तु रचना निबन्धात्मक।

हिन्दी निबन्ध : प्रेरणा, प्रयास और उपलब्धि : ५१

में अनुभूति की गहराई की मापक है उसकी व्यापकता अर्थात् गहराई और व्यापकता समानधर्मा पर्याय हैं। साहित्यिक मान-मूल्यों की चिन्ता शिवदानसिंह चौहान को इस दल से कुछ भिन्न कर देती है। सावधि के बोध के साथ कलात्मक संयोजन की अनिवार्यता का प्रश्न प्रगतिशील साहित्य का अनुमापक हुआ। हंस (साहित्य संकलन, अक्टूबर, १९५७) में 'साहित्यकार की आस्था' के अन्तर्गत संकलित चौहान, शर्मा, नामवर, अमृतराय, बालकृष्ण राव, महादेवी, पंत, हजारीप्रसाद द्विवेदी और राहुल सांकृत्यायन के लघु निबन्ध सिद्धान्त-निरूपक से अधिक आत्म-सम्बन्ध-विवृत्तियाँ हैं।

'तार सप्तक' का प्रकाशन जिस प्रकार ऐतिहासिक महत्त्व रखता है, उसी प्रकार 'प्रतीक' का प्रकाशन भी क्योंकि इससे न केवल प्रयोगवाद के साहित्यिक आन्दोलन का प्रवर्तन ही हुआ बल्कि हुआ एक नए वाद-विवाद का सूत्रपात। इस आन्दोलन में भाग लेनेवाली पत्रिकाएँ हुई—कृति, कल्पना, नई कविता, निकष, आधार, ज्ञानोदय, राष्ट्रवाणी, आलोचना, काव्य-धारा, समवेत और धर्मयुग। यह भी स्मरण रखना चाहिए कि प्रयोगवाद प्रयोगशील होकर 'नई कविता' में रूपान्तरित होता गया। 'आत्मने पद' में अज्ञेय ने इस अभिवान के प्रयोग का साभिमान उल्लेख किया है। साधारणीकरण के प्रश्न को लेकर एक मनोरंजक विवाद खड़ा किया नन्ददुलारे वाजपेयी ने और इसी विवाद में भाग लेनेवालों ने शास्त्र की अशास्त्रीय व्याख्या में संकोच नहीं किया। 'तार सप्तक' के वक्तव्य आत्म-सिद्धान्त-निरूपक स्थिति के संयोजक हैं। इस आन्दोलन को कुछ वैसा ही विरोध सहन करना पड़ा, जिसके दर्शन छायावाद के प्रवर्तन-काल में हुए थे और समर्थन में नई कविता के कवियों ने अपने परशु का आस्फालन आवश्यक समझा। रामस्वरूप चतुर्वेदी, लक्ष्मीकान्त वर्मा, जगदीश गुप्त, धर्मवीर भारती, रघुवंश, श्रीकान्त वर्मा, शिवकुमार मिश्र आदि इसमें उल्लेख्य माने गए हैं। अनेक निबन्धकारों में आत्म-सम्बोधन की स्थिति है और नव यन्त्र-युग की यान्त्रिकता से मुक्त होने का प्रयास भी किन्तु, आत्मसात करने की वह विपुल क्षमता नहीं जो शुक्ल अथवा अज्ञेय में है। संश्लेषण का अभाव नई शैली की सीमा बन गया।

राजनीतिक और सामाजिक समस्याओं के सम्बन्ध में जो निबन्ध अथवा लेख प्रकाशित हो रहे हैं उनमें अधिकांश दैनिक और साप्ताहिक-पत्रों की सामग्री है। परिणामस्वरूप जो गाम्भीर्य, विवेचनात्मक दृढ़ता और निर्दिष्टता अपेक्षित है उसका प्रायः अभाव ही मिलता है। दार्शनिक और मनोवैज्ञानिक निबन्धों की स्थिति भी समान है। अर्थशास्त्र, समाज-शास्त्र, नृ-तत्त्व-विज्ञान-सम्बन्धी निबन्धों की संख्या ही कम नहीं, बल्कि उनके घरातल भी सामान्य हैं। इन विषयों के विद्वानों का मोह हिन्दी के माध्यम से कार्य करने का बाधक है, क्योंकि अंग्रेजी को ख्याति का आधार मानने का आग्रह स्वीकृत है। काशी नागरी प्रचारिणी पत्रिका ने पुरातत्त्व, इतिहास, समाज-शास्त्र आदि को हिन्दी के माध्यम से प्रस्तुत करने का जो स्तुत्य प्रयास प्रारम्भ में किया था, उसका निर्वाह सम्प्रति नहीं हो रहा है। मान्य घरातल की पत्रिकाओं के अभाव में विद्वानों को माध्यम नहीं मिल पाता और विकास की यह दिशा कुण्ठित-सी

५२ : आलोचना

रही। वैज्ञानिक साहित्य के निबन्धों का अभाव तो संकोच में डालनेवाला है। वैज्ञानिक चेतना के व्यापक प्रभाव-सम्बन्धी निबन्ध मेरे देखने में प्रायः नहीं आए। 'ज्ञानोदय', 'कल्पना' और इन्हीं के प्रकार की पत्रिकाओं में यदा-कदा एक-आध निबन्ध प्रकाशित हो जाते हैं। क्या यह सम्भव नहीं कि हिन्दी के माध्यम से लिखने की क्षमता रखने वाले वैज्ञानिक हिन्दी की समृद्धि में योग देने की सामर्थ्य प्रकट करें? हिन्दी की संस्थाओं की राजनीति यदि आत्म-मोह त्यागकर ऐसी पत्रिकाओं के प्रकाशन का प्रारम्भ करे, जिनके माध्यम से शास्त्रीय विषयों की विवेचना सम्भव हो सके तो हिन्दी निबन्ध-साहित्य का कल्याण हो। मनोविज्ञान का जो उपयोग निबन्धों में होता है उसमें लेखकों का अपरिपक्व ज्ञान ही परिलक्षित होता है।^१

सांस्कृतिक सन्दर्भ-गूढ़ता, ऐतिहासिक अनुबन्धता और अतीत के गुरु गहवर को आलोकित करने की सजग कल्पना भगवतशरण उपाध्याय के निबन्धों में उपलब्ध है। 'उर्वशी' (दिनकर कृत) की आलोचना में उपाध्याय ने इस ऐतिहासिक चेतना का उपयोग किया और संस्कृत साहित्य के परिचय की संदर्भता का परिचय दिया। ऐसे तो, उपाध्याय ने स्केच और रिपोर्ताज भी लिखे, जिनमें आत्मीयता और परि-कल्पनात्मक-चेतना की अभिव्यक्ति है। सांस्कृतिक चेतना की काव्यात्मक परिणति हजारीप्रसाद द्विवेदी के वैयक्तिक निबन्धों में उपलब्ध है। इनके निबन्धों की कोटियों और वर्गों का निर्धारण सम्भव तो है किन्तु, सरल नहीं क्योंकि सभी पद्धतियों का संश्लेष इनमें मिलेगा। एक साथ ही इनके निबन्ध विचारात्मक, आलोचनात्मक, भावात्मक, वर्णनात्मक, विवरणात्मक और व्यक्तिवाच्य-व्यञ्जक भी हैं। द्विवेदी का उन्मुक्त व्यक्तित्व, सहज आत्म-बोध और सचेत कलाकार विशिष्ट प्रकार का संश्लेषण उपस्थित करता है। सांस्कृतिक-बोध के अन्य लेखक हैं—वासुदेव शरण अग्रवाल। आधुनिक समस्याओं के ऐतिहासिक आधारान्वेषण की जो प्रक्रिया प्रसाद ने प्रवर्तित की उसका ही सामान्य और घरातलीय संस्पर्श अग्रवाल में है। अग्रवाल व्याख्याता हैं, विवरण को विवेचनात्मक आवरण देने के आग्रही। महापण्डित राहुल सांकृत्यायन के ऐतिहासिक-पुरातत्त्व-सम्बन्धी परिचयात्मक-विवरणात्मक निबन्धों में अन्वेषण के सूत्र थे। उनका जैन-रूपांतर मुनि कान्तिसागर की 'खोज की पगडंडियाँ' में है, जिन्होंने इतिहास के जैन-सूत्रों को अनावृत करने का प्रयास किया। समसामयिक इतिहास लेखकों के लिए चिन्तनीय रहा जिसमें राजनीतिक आग्रह प्रकट है।^२ सम्पूर्णानन्द

१. उत्तर प्रदेश सरकार की हिन्दी समिति ने विभिन्न ज्ञान-विज्ञान-सम्बन्धी कई महत्त्वपूर्ण पुस्तकें प्रकाशित की हैं। यद्यपि उन्हें निबन्ध की कोटि में परिगणित नहीं किया जा सकता किन्तु, उनकी रचना निबन्धात्मक ही है। 'खाद और उर्वरक' (फूलदेव सहाय वर्मा), 'तारों की दुनिया' (निहाल करण सेठी), 'जीव जगत' (सुरेश सिंह) आदि ग्रन्थ निबन्धात्मक ही माने जायेंगे।
२. भारतीय संस्कृति के सम्बन्ध में इधर अनेक ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं। 'संस्कृति के चार अध्याय' (दिनकर) की रचना-पद्धति निबन्धात्मक है और दिनकर के स्वतन्त्र रूप में लिखे गए निबन्ध संकलित-से हो गए हैं। 'रवीन्द्र' और 'इकबाल' सम्बन्धी विवेचन इस ग्रन्थ की निबन्धात्मक परिणति की सूचना देते हैं। मंगलदेव शास्त्री कृत 'भारतीय संस्कृति' (वैदिक धारा) तो निबन्धों का संकलन है ही।

हिन्दी निबन्ध : प्रेरणा, प्रयास और उपलब्धि : ५३

कांग्रेसी और समाजवादी हैं और उनके 'भारत और समाजवाद' (ज्ञानोदय) में भारतीय समाजवाद एवं समाजवाद की भारतीय व्याख्या का व्याख्यान है। साहित्य और कला के चिन्तन-क्षेत्र में विभिन्न मान्यताओं की सन्दर्भता ने कुछ निबन्ध दिए, जिसमें उल्लेख्य हैं श्यामसुंदर मिश्र लिखित 'अज्ञेय के काव्य में अस्तित्ववाद' तथा प्रभाकर माचवे लिखित 'साहित्य, सेक्स और स्पष्टवादिता'। कला की मूल प्रेरणा के रूप में 'काम नहीं सुरक्षा' के महत्त्व को प्रतिष्ठित करने वाले रामचन्द्र शुक्ल ने फ्रायडोत्तर मनोविज्ञान के सन्दर्भ में काव्य-प्रेरणा का व्याख्यान किया है। साहित्य की वैयक्तिक निबन्धों की पद्धति में विवेचना की विवेकी राय ने 'शौर्य की मर्माहत घाटियाँ और कवि' में तथा विद्यानिवास मिश्र ने 'भ्रमरानन्द का आंचलिक वक्तव्य' में।

संस्मरणात्मक रेखा-चित्र में व्यक्ति-विशेष को अपने व्यक्तित्व के 'प्रिज़म' के माध्यम से देखने की चेष्टा है : संस्मरणीय व्यक्तियों के महत्त्व आकलन से अधिक जब पूजन का भाव जग जाता है तो लेखक ही संस्मरणीय हो उठेगा। विविध रंग-चित्रों में जीवन के क्षणों को तूलित करने की चेष्टा बनारसीदास चतुर्वेदी कृत 'रेखा चित्रों' में उपलब्ध है। माखनलाल चतुर्वेदी ने भी 'समय के पाँव' पर माथा टेका और व्यक्ति-विशेष के प्रति अर्पित आत्म-बोध को शिल्पमयीवाणी में अभिचित्रित किया। इन संस्मरणात्मक वृत्तों में कुछ उद्देलित उत्साह, आन्तरिक संभ्रम, सहमा संकोच और लोक-धारणा की स्वीकृति की आतुरता है। 'मेरी कौन सुनेगा' में महावीर त्यागी के कैमरे को समय-असमय का ध्यान नहीं रहा और उसने अनजाने क्षणों को बाँध रखा है। आत्मीय विनोद, उन्मुक्त आत्म-लघुता-बोध, विनोद का उत्साहमूलक आग्रह, आस्था की बाध्यता इनके निबन्धों में हैं, काश ! राजनीतिक नेताओं में ऐसी साहित्यिक रुचि होती; इनके संस्मरण अधिक आत्मीय और निकटवर्ती हैं, अपने-आपको अनुबन्धित करने के अनावश्यक मोह से मुक्त त्यागी के संस्मरण अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। 'दिनकर' के नेहरू-सम्बन्धी संस्मरण संस्मरणात्मक से अधिक विवृत्तिमूलक हो गए और दिनकर के स्व-सम्मोहन को अभिव्यक्ति मिल गई। जगदीशचन्द्र माथुर की 'दस तसवीरों' की रेखाएँ स्पष्टतया उभरी हुई हैं और चित्रण में गहरी वारीकी है। माथुर ने लघु-चित्रण-शैली को भित्ति-चित्रात्मक व्यापकता देने में सफलता प्राप्त की है। नाटकीयता के परिज्ञान ने इन संस्मरणात्मक निबन्धों को अधिक नाटकीय अतः प्रभावोत्पादक बना दिया है। गद्य और पद्य इन दोनों भाई-बहनों (?) में से किसी एक को बड़ा अथवा किसी दूसरे को छोटा न कर पानेवाले माखनलाल चतुर्वेदी के 'अमीर इरादे, गरीब इरादे' में आत्मीयता-बोध के साथ काव्यात्मक भावुकता के संश्लेष मिलते हैं। इनकी शैली भाषणात्मक, कहीं-कहीं स्वगत-कथन सदृश है। काव्यात्मक आग्रह ने संलापात्मकता को किन्तु, परिवद्ध ही किया है। लयात्मक गद्य की तरंगमयता चतुर्वेदी के गद्य-साहित्य का मापदण्ड है, और इसकी सजग ध्वनि नव्य गद्यात्मक नाद का सृजन करती है।

सामान्य को विशेषीकृत कर संस्मरणात्मक रेखा-चित्र अंकित करने की जो क्षमता बेनीपुरी की 'माटी की मूर्तें' में प्रकट हुई थी, उसके दर्शन इस कोटि के

५४ : आलोचना

निबन्धों में नहीं होते। ऐसे निबन्धों में सहज-बोध की सहजता उपलब्ध नहीं होती, जो बेनीपुरी की क्षमता है। महादेवी के ऐसे संस्मरणात्मक रेखा-चित्रों में संवेदनशीलता की कहराव्रता है, उसकी अनुकृति सम्भव नहीं हुई। ऐसे निबन्धों में जहाँ सैद्धान्तिक मोह जगेगा, वहाँ रेखा-चित्र टूट का चित्र हो जाएगा।

‘मैं’-त्व का विस्फोट यदि नई कविता है, तो वैयक्तिक कहा जानेवाला निबन्ध-प्रकार उसका गद्य-काव्य। रोमांटिसिज्म का यह नव्य अभियान कहा जा सकता है क्योंकि लघुता को मोहक आवरण देने एवं सामान्य को अति विशिष्ट बनाने का आग्रह इस विधा में उपलब्ध है। यथार्थ को भावुकता-भावात्मकता नहीं, एवं अवबोध को रागात्मक आवेश की चासनी में डुबोकर परोसने का उपक्रम इस कोटि के निबन्धों में होता है। ‘क्षण बोले, कण मुसकाये’ इस विधा की सूक्ति मानी जा सकती है और इसका सैद्धान्तिक निरूपण है—‘अनुभव की सूक्ष्म बारीकी (?) को कल्पना की रंगीनी में आवृत कर शैली में द्रुतशीलता (?) भरने की आकांक्षा। कन्हैयालाल मिश्र ‘प्रभाकर’ ने भावुकता और यथार्थ में वैवाहिक विधि सम्पन्न करनी चाही है और इस प्रकार माटी हो गई सोना की यथार्थता सिद्ध की जा सकती है। ‘प्रभाकर’ ने ललित रमणीय निबन्ध, रोचक संस्मरण, व्यञ्जक रेखा-चित्र आदि की रचना की। ऐसा प्रतीत होता है कि यथार्थ की भावुकतामूलक परिणति यथार्थ को कल्पित एवं कल्पित को यथार्थ बनाने के लिए आतुर है। इसी प्रकाश ‘छितवन की छाँह’ में ‘कदम्ब की फूली डार’ ले ‘तुम चन्दन, हम पानी’ की टेर लगानेवाले विद्यानिवास मिश्र का बनजारा मन आँगन का पंछी हो गया है। इनके निबन्धों में आरोपित रोचकता के साथ रोचक आरोप, कथात्मक चित्रों में विपुल बिम्बता, एवं विवेचन का तथ्यात्मक आग्रह मिलेगा। शब्द-क्रीड़ा को अभिनव सम्मोहन देने की चिन्ता नवीन अर्थ-बोध देने की चेष्टा करेगी जिसकी परिणति हुई सन्दर्भात्मक अनुबन्धता के रूप में।

कथात्मक संदर्भ के आग्रह से संवलित रमणीय निबन्धों के संग्रह ‘शिखरों के सेतु’ में शिवप्रसादसिंह ने क्वचित् वैचारिक पद्धति से यथार्थ की वाध्यता को सह-भुक्ति की कामना से मण्डित कर, अभाव की कसमसाहट को निबन्ध चिन्तन से सजग कर अभिव्यक्त किया है। क्षणों को रूपायित करने के उपक्रम में क्षण अपनी क्षणिकता खो बैठे और उनमें एक विशेष प्रकार की गतिमूलक अगति आ गई।

त्रिशंकु की चिन्ता से ग्रस्त सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन ने कुट्टिचातन का छद्मवेश धारण कर ‘सब रंग’ के निबन्ध लिखे। ‘नदी के द्वीप’ की-सी स्थिति कुट्टिचातन की है, अर्थात् वह प्रवाह-निमित्त होकर भी प्रवाहित नहीं; मिट्टी का होकर भी पृथ्वी से सम्पृक्त नहीं। इन अन्तरंग निबन्धों में अतः आन्तरिक एकालाप, अचेतन चेतनाप्रवाह की अन्तरंगता, व्यञ्जक तथा वक्रतापूर्ण रोचक शैली उपलब्ध होती है। अज्ञेय की चेतना बौद्धिक, आग्रह भावात्मक एवं भावुकता कल्पनामूलक है। तथ्य को सत्य में परिणत करने और यथार्थ को अनुभूतिजन्य संदर्भ देने की विलक्षण प्रतिभा अज्ञेय में है। अनुप्रास की नादात्मक व्यञ्जना को ध्वन्यात्मक बिम्बता देने का आग्रह अज्ञेय में मिलेगा। अज्ञेय में एकाकीपन, आत्म-चिन्ता (जो यदा-कदा आत्म-रति की

सीमा में सहज ही प्रवेश पा जाती है), स्मृति पुनरावर्तन और सांकेतिक चित्रण का प्राचुर्य है, आत्म-मोह-ग्रस्त वैयक्तिकता वास्तविकता से अधिक औपचारिक हो जाती है जिसकी व्यक्तिनिष्ठता में तटस्थता का अभाव-सा मिलेगा। दूसरों से अपनी भिन्नता की सिद्धि के लिए अकेलापन आवश्यक साधन है और इसके उपयोग में अज्ञेय हुए कुशल। आत्म-मोह की पीड़ा से सम्पृक्त विश्वनाथ मुखर्जी के 'बना रहे बनारस' में कुछ निकट से लिये गए आत्मीय चित्र हैं, जो केवल व्यक्तिगत उपयोग के लिए ही नहीं रहे।

संस्मरण, रेखा-चित्र, सवीह, कथात्मक निबन्ध, वार्तामूलक संलाप-संभव वैयक्तिक निबन्ध, आन्तरिक एकालाप, स्वगत-भाषण आदि विधियों और रूपों का एकनिष्ठ और निर्दिष्ट उपयोग उपलब्ध नहीं, इनके मिश्रण की विविध शैलियाँ और भंगिमाएँ अवश्य उपलब्ध हैं। भगवतशरण उपाध्याय के 'ठूठा आम' में सुनेपन की चिन्ता और शंका का मोहक आवरण है। इसी प्रकार उपेन्द्रनाथ 'अश्क' के 'रेखाएँ और चित्र' में संस्मरण, रिपोर्ताज, निबन्ध आदि हैं जिनमें विविधता की रंगीनी और भाषा का चुलबुलापन है।

स्वस्थ परिहास जीवन की सप्राणता का प्रमाण है और आत्म-परिहास की सामर्थ्य स्वस्थ मानसिक विकास का प्रतिफलन। 'मेरी असफलताएँ' में गुलाब राय इस दृष्टि से पूर्ण सफल हो सके हैं। आख्यानगर्भ सन्दर्भ के माध्यम से संकेतात्मक परिहास व्यक्तित्व का व्यञ्जक हो उठता है। अपनी गम्भीरता से संतुष्ट लेखक का यह विनोदात्मक आत्माभिव्यञ्जन उसकी उस चेतना की परिणति है जिसके कारण अपनी गम्भीर मुद्रा स्वयं खलने लगती है और वह 'आफ़त का मारा दार्शनिक' अपनी 'मधुमेही आत्म-कथा' में 'कुछ उथले कुछ गहरे' लिख जाता है।

गम्भीरता के विक्षेप को नाटकीय भंगिमा, संलाप की गति और कथात्मक रोचकता एवं सरसता देने की अभिनव विधा 'एक आलोचक की डायरी' में है। शरत् देवड़ा ने 'धर्म युग' में ऐसी आलोचनाओं, पुस्तकों की परिचयात्मक आलोचनाओं का क्रम चलाया। आलोचक की गम्भीर मुद्रा से संतुष्ट पाठक की दृष्टि में ऐसा प्रयोग व्यञ्जक सिद्ध हुआ। वस्तुतः समाचार पत्रों में प्रकाशित आलोचनाएँ पाठकों से अधिक लेखकों और उनके मित्रों तक ही सीमित रह जाती थीं। देवड़ा ने आलोचना को गरिष्ठ के स्थान में सुपाच्य बनाने का उपक्रम किया। हजारीप्रसाद द्विवेदी ने इसके प्रारम्भिक रूप का आभास दिया था किन्तु इस पद्धति को कथा के घरातल पर प्रतिष्ठित करने की आकांक्षा आत्म-प्रक्षेपण की कला का नव्य विन्यास है। कहानी, नयी और पुरानी : एक संस्मरणात्मक पर्यवेक्षण में इलाचन्द्र जोशी ने व्यक्तिव्यञ्जकत्व के माध्यम से मान्यताओं का स्पष्टीकरण किया।

सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक व्यवस्था पर गहरे आघात की उत्कण्ठा 'बकलम खुद' में बोलती है जिसमें नामवरसिंह ने वैयक्तिकता को निर्व्यक्तिकता के साँचे में ढालने की चेष्ट की है। इनके निबन्धों में सचेष्ट लापरवाही, गपशप में सुकं राती संयोजन, गुदगुदी में तिलमिलाहट की मिलावट मिलेगी। यूँ तो, 'बकलम खुद'

५६ : आलोचना

की संज्ञा यह सूचित करती है कि यह मुहर है और हजारीप्रसाद द्विवेदी की पद्धति में नए विषयों और अपनी विचार-धारा के अनुरूप निरूपण का प्रवेश। साधारणतया बेकाम की बात से प्रारम्भ कर गुरु-गम्भीर विषय को कंठ के नीचे उतरने योग्य बनाने की कला ही वैयक्तिक निबन्धों की प्राण है, इस कला के आचार्य हैं द्विवेदी। द्विवेदी के उन्मुक्त हास्य की मुद्रा को लापरवाही, रोचक और रमणीय संलाप की क्षमता को सुकराती भंगिमा देकर लेखक 'बकलम खुद' में उतरता है। राम विलास शर्मा के 'विराम चिह्न' और प्रभाकर माचवे की 'खरगोश की सींग' से भिन्न कृष्णदेव प्रसाद वेढव का 'हुक्का-पानी' है जिसके चलने की चलनमें सामाजिकता का मूल्य बोध है। वेढवजी के व्यंग्य कभी-कभी रीतिकाल के कवियों के स्मरण दिलाते हैं जिनमें हास्य की अपेक्षा हँसोड़पन है, व्यंग्य के स्थान में चोट है और परिहास के स्थान में कचोट है; रुचि-संस्कार की भिन्नता के कारण सम्भावनाओं की सम्भावित दिशा परिवर्तित हो गई।

यात्राओं के रोचक संस्मरणों में 'यादें यूरोप की' का सहज स्मरण हो जाता है जिनमें धर्मवीर भारती ने आत्मीयता का परिचय और परिचयात्मक आत्मीयता का संयोजन किया। इस विद्या को लोक-प्रिय करने का श्रेय 'ज्ञानोदय' एवं 'भारतीय ज्ञानपीठ' को मिलना चाहिए। सृजनात्मक गद्य के त्रैमासिक प्रकाशन 'विधा' ने भी 'विधा-विविधा' के अन्तर्गत 'डायरी', 'पत्र', 'संस्मरण', रिपोर्ताज, ललित और रमणीय निबन्ध की विविध विधाओं को स्फूर्ति और प्रेरणा दी। 'रेणु' और इलाचन्द्र जोशी की कुछ बहुचर्चित रचनाएँ इसके माध्यम से प्रकाश में आईं। 'आधार', 'कृति', 'वातायन' को विस्मृत करना भूल है। वालकृष्ण 'राव' सम्पादित 'माध्यम' निबन्ध-विधा की कल्पित-अकल्पित विधाओं के प्रकाशन में योग दे रहा है, और साहित्य की नव्य चेतना इन माध्यमों से आ रही है। कुछ ऐसा प्रतीत होने लगा है कि छायावाद के आन्दोलन के पश्चात् नव सौंदर्यनाद ने अपने मूल्यों और मान्यताओं के लिए माध्यम उपलब्ध कर लिया है।

स्वातंत्र्योत्तर साहित्य के अन्तरंग में भारतीय स्वतंत्रता की उपलब्धियाँ और विफलताएँ हैं। स्वतंत्रता ने उन आकांक्षाओं, आशाओं और स्वप्नों को रूपायित करने में अपनी अक्षमता प्रकट की जिनकी सजग कल्पना ने उल्लास और सप्राण चेतना दी थी। भारतीय आत्मा उद्देलित हुई और साहित्यकार की आस्था विचलित होने लगी; आशा का उन्माद श्लथ-शिथिल हुआ। मूल्य-चेतना की व्यापक परिणति दैन्य के आक्रोश में हुई। स्वतंत्रता-प्राप्ति के पश्चात् प्रशासकीय नियंत्रण ने परोक्ष सत्तात्मक रूप ग्रहण किया। आकाशवाणी ने जहाँ प्रचार और प्रसार को व्यापकता दी, वहाँ उसकी सीमाओं ने व्याप्ति मर्यादित की। साहित्यकारों का संरक्षण नव्य चारण-युग की आशा का उत्पन्न करने लगा। आधुनिककाल के प्रारम्भ में जो स्वच्छन्द उल्लास, जो मादक उन्मुक्तता और निश्चल उन्मुक्तता थी, उनका चिन्तासंकुल अभाव स्वतंत्रता-प्राप्ति के पश्चात् दीख पड़ने लगा। अतीत का मोहक वातावरण वर्तमान के अभाव-ह्रमक परिवेश में विच्छिन्न हो उठा। यन्त्र-युग का वैज्ञानिक संस्कार हमें बौद्धिक चेतना देने में असमर्थ और पंगु रहा, मात्र-यांत्रिकता के पाश में हम आवद्ध होते गए। वर्तमान

हिन्दी निबंध : प्रेरणा, प्रयास और उपलब्धि : ५७

की आशंका, अनिश्चितता और यांत्रिकता के कारण भविष्य की आशा हमें आस्थावान् न कर सकी। भविष्य की छायाभास आशा वर्तमान को गिरवी न रख सकी और जड़-यांत्रिकता में हमारी प्रगति-कामना योजना-बद्ध अतः शिथिल-सी हो गई। समाजानु-बन्धित व्यक्ति में वैयक्तिकता का सहज बोध सचेत न हो सका। स्वतन्त्रता नय्यता का उन्मेष न होकर विगत का विस्तार मात्र सिद्ध हुई। साहित्यकार स्वतन्त्र-चेतना न होकर मसिजीवी रह गया। व्यक्तिगत रूप से मैं इस स्थिति से हताश नहीं। किन्तु, सम्भावनाओं के पूर्ण प्रतिफलन की आशा-किरण से उद्दीप्त भी नहीं। द्विधा-ग्रस्त भारतीय आत्मा का अभिषेक निष्ठा के मंगल-घट से नहीं हो सका और हो उठा हमारा समसामयिकता-बोध हमारी कुंठा का प्राणायाम। आन्दोलनों में स्पंदित होने-वाला जीवन-दर्शन आंदोलित न हो सका और समस्याएँ समाधान की चिन्ता-से विच्छिन्न समस्याएँ रह गई; अभाव चेतना को सजग करने के स्थान में अभावात्मक मात्र रह गए। उल्लास आरोपित है, सजगता प्रक्षेपित है, वैयक्तिकता संकुचित और वैयक्तिकताहीन है, व्यक्तित्व सहमा हुआ है, आत्म-बोध मर्यादित है, उन्मुक्त नहीं और चेतना हो गई है आवर्त-वद्ध। साहित्यिक प्रगति का अवरोध भारतीय जीवन के गतिरोध का आकुल प्रतीक है।

हिन्दी का एक दुर्भाग्यपूर्ण दुर्योग आधुनिक काल के प्रारम्भ में ही घटित हो गया। साहित्यिक कण्ठ फूटने के पूर्व ही इसका राजनीति के साथ विनियोग हो गया और इस नियोग ने तेजस्वी सन्तान नहीं दी। बोध-ग्रस्त पश्चिम की चकाचौंध ने हमें चमत्कृत किया और हमारी चेतना अनुकृति-लक्ष्य हो उठी। आध्यात्मिकता के भारतीय उन्मादी जीवन के कर्कश धरातल पर खड़े न रह सके। दर्शन दर्शनीकरण का व्यामोह बन गया; गतिमूलक जीवन का प्राणवंत जीवन-दर्शन न हो सका। और आए जैनेन्द्र के वे निबन्ध जिनमें दार्शनिकों की वह वट वक्र शैली आई जिसकी झोली निराला-चित्रित भिक्षुक की झोली से भी अधिक फटी हुई थी। गांधीवाद हमारा 'लेबुल' हुआ, हमारी समन्वय साधना का 'साफल्य' न हो सका। 'श्रेय और प्रेय' की चिन्ता चेतना को सप्राण करने में असफल रही। 'समय और मैं' का बोध समसामयिकता बोध का परिहास हो गया। साहित्य संस्कार न होकर शीलाभास रह गया। हिन्दी क्षेत्रों के दुर्भाग्य से किसी प्रौढ़ चिन्तक और निश्छल विचारक ने हिन्दी के माध्यम से वैसा कुछ नहीं दिया जिसे दार्शनिक अनुबन्ध में स्वीकार किया जा सके। आज का दर्शन विज्ञान की अन्तःसलिला चेतना से समन्वित और समृद्ध होगा किन्तु, भारत में विज्ञान के अध्यापक और छात्र हैं, वैज्ञानिक नहीं, उनमें वैज्ञानिक संचरण के युग-संस्कार नहीं। विश्वविद्यालय फैक्टरियाँ हैं, प्रयोगशाला तक नहीं। अन्ततोगत्वा जीवन-दर्शन का अन्वेषण उपाधिकामी परीक्षाथियों और शोध-कर्त्ताओं के लिए लोकप्रिय विषय बन गया। गांधी दर्शन को आत्मसात् कर प्रौढ़ चिन्ता-धारा के रूप में अभिव्यक्त करने की क्षमता रखनेवाले जैनेन्द्र गुत्थियों के सुलझाने में उलझे रहे और माखनलाल चतुर्वेदी जीवन की लयात्मकता के अन्वेषण में संलग्न न हो, गद्य को लयात्मक, काव्याभास बनाने में प्रयत्नशील, अतः गद्यात्मक काव्य रचने के मोह में आबद्ध। राजनीतिक

५८ : आलोचना

प्रभाव ने नेताओं और इस चेतना से सम्बद्ध व्यक्तियों के रेखा-चित्र, संस्मरणात्मक विकृतिपूर्ण दीं किन्तु, इनमें भी लेखकों का विचलित अहं स्वलित हुआ। संस्मरण लेखक गीतिकार की भाँति क्षणों को बाँधने का प्रयास करता है, उन्हें अनुबन्धता के की कामना पालता है, किन्तु उसका लयात्मक बोध विराट् के स्पन्दन का योग-क्षेप नहीं। ऐसी रचनाएँ मूर्ति-पूजा की शब्द-भित्ति हैं, और उनमें आत्म-हीनता का अवबोध व्यापक फलक प्राप्त कर लेता है। महत् में निजत्व के संयोजन का व्यापक इसके लेखक की पूंजी है। शब्द-चित्रों में व्यक्तित्व को आँकने, रूपायित करने के स्थान में स्व-संदर्भता का मोहक राग बिखर जाता है, महत् की महनीयता में स्व-योग का आत्म-मोह प्रासंगिक संदर्भ खो बैठता है। और, हम रहे हैं मूर्ति-पूजक; पत्थर के अनगढ़ टुकड़ों को प्रतिमा का मान देनेवाले पुजारी। मूर्ति-पूजा आत्म-पूजा का जल सुयोग घटित कर दे तो, अहं की तुष्टि को एक दिशा मिल जाती है।

निबन्ध-साहित्य की समग्रता के दर्शन की अखण्ड समग्रता का व्यामोह मुझ में नहीं और न तो इसके मूल्यों का अतर्क्य आग्रह ही। आकांक्षा और आपूर्ति का अन्तराल अभाव-बोध का अनुमापक है। 'हम संक्रान्ति काल के प्राणी बदा नहीं सुख भोग' की चिन्ता से आकुल द्विधा-ग्रस्त भारतीय जीवन चिन्तन-प्रधान न हो चिन्ता-शील हो उठा है, अतः वैयक्तिकता द्विधा-ग्रस्त है, चिन्तन चिन्ता-प्रधान है, पाण्डित्य विमोहित और चेतना कुंठित है। भौतिक जीवन में पश्चिम का अनुकरण और अनुगमन नव्य अनुकृतिवाद का संयोजक हो गया; राजनीतिक स्वतन्त्रता मानसिक मुक्ति की प्रतीक बनने में असमर्थ रही; आध्यत्मिकता आरोपित जिज्ञासा ही बनी रही। प्रौढ़ जीवन-दर्शन के अभाव में दर्शन दार्शनिक अनुबन्धन एवं दक्रोक्ति-भंगिमा बन गया किन्तु, इसमें नैराश्य का आकुल क्रन्दन नहीं, मानवता के हर्षोल्लास की आलोकमय प्रतीकात्मकता भी है। प्रतीकात्मक विम्बता के स्थान में विम्बात्मक प्रतीकात्मकता का संयोजन उस नव्य संचरण का संदेशवाहक है जिसमें स्थूल सुख-बोध से ऊपर उठकर सूक्ष्म भाव-बोध की अन्तरंगता से सप्राण आनन्दवाद की प्रतिष्ठा होगी। हम विषपायी होकर शंकर को शिवत्व की साधना में अनुप्राणित करेंगे। निबन्ध-साहित्य का भावी विकास हिन्दी साहित्य की उपलब्धियों का अनुमापक मापदण्ड और मानदण्ड भी होगा।

स्वतन्त्र

वर्तमान
लगता जा
है। बच्
बाल-सा
जरूरी इ
निकालते
पर अब
करनी प
को नानी
में दादी
अगली प

कोई सा
स्वीकृत
संख्या क
था। भा
जा सक
ऐसी बा
साहित्य
यह है कि
देने के
था, अब
हो सक
मन के
से भी न
जाए।

और उ

स्वातन्त्र्योत्तर बाल-साहित्य

—मन्मथनाथ गुप्त

स्वतन्त्रता के बाद का हिन्दी बाल-साहित्य

वर्तमान युग के सम्बन्ध में यह कहा गया है कि इसमें एक ओर बूढ़ों की कद्र पर बढ़ा लगता जा रहा है और दूसरी ओर बच्चों की कद्र दिन-दूनी रात चौगुनी बढ़ती जा रही है। बच्चों की कद्र बढ़ती जा रही है, उसी का एक परिणाम यह है कि अब चिन्तक बाल-साहित्य के फलने-फूलने के सम्बन्ध में चिन्तन करने लगे हैं। यह चिन्तन और भी जरूरी इसलिए हो गया है कि पहले माँ-बाप नहीं तो दादा-दादी बच्चों के लिए समय निकालते थे और उन्हें सोते समय पास खींचकर लोरियाँ और कहानियाँ सुनाते थे, पर अब किसी को समय नहीं मिलता। नतीजा यह है कि बच्चों को अपनी मदद आप करनी पड़ती है यानी पुस्तकों से कहानियाँ और लोरियाँ पढ़नी पड़ती हैं या रेडियो को नानी या दादी का आसन देना पड़ता है। अफसोस है कि कम-से-कम हमारे देश में दादी और नानी का स्थान अच्छी तरह कोई नहीं ले सका है; नतीजा यह है कि अगली पुस्त, जो भी खुराक उसे मिल जाए, उसी पर पल रही है।

पहले के युगों में बाल-साहित्य का कोई अलग अस्तित्व नहीं था। भले ही कोई साहित्य परिस्थितिबश बाल-साहित्य बन गया हो, पर बाल साहित्य करके कोई स्वीकृत विधा नहीं थी। अस्तित्व हो भी नहीं सकता था, क्योंकि जब पढ़े लिखों की संख्या कम थी तो साहित्य के जरिए बच्चों के मनोरंजन का कोई प्रश्न नहीं उठता था। भारत में ले-देकर केवल पंचतन्त्र या हितोपदेश को ही प्राचीन बाल-साहित्य कहा जा सकता है। यह प्राचीन तथा एकमात्र बाल-साहित्य है, पर इसलिए यह घटिया हो, ऐसी बात नहीं। सच तो यह है कि पंचतन्त्र और हितोपदेश के मुकाबले का बाल-साहित्य उसके बाद केवल भारत में ही नहीं, कहीं भी लिखा नहीं गया। मजे की बात यह है कि अब विश्लेषण करने पर ज्ञात होता है कि राजा के बेटों को नीति की शिक्षा देने के लिए विष्णु शर्मा ने जिन कहानियों का ताना-बाना सैकड़ों वर्ष पहले फैलाया था, अब उनमें बाल-साहित्य के सब नहीं तो अधिकांश अच्छे-से-अच्छे उपादान प्राप्त हो सकते हैं। विष्णु शर्मा को इस रहस्य का पता था कि बोलते हुए जानवर बाल-मन के लिए एक रोमांटिक अपील रखते हैं, इसके अलावा वह जानते थे कि बच्चे नीति से भी नहीं घबराते, बशर्ते कि वह नीति मनोरंजन के स्वर्णपात्र में उँडेल कर परोसी जाए। असली बात है मनोरंजन।

बाल-साहित्य के सम्बन्ध में उद्देश्यपरकता का झगड़ा उठाया जा सकता है और उठाया गया है कि बाल-साहित्य का क्या उद्देश्य है, उद्देश्य होना भी चाहिए या

६० : आलोचना

कुछ नहीं ? लोगों का कहना है कि बाल-साहित्य का उद्देश्य केवल बालक या बालिका के ध्यात को अपनी तरफ आकृष्ट किए रहना है, बाकी उसका कोई उद्देश्य नहीं है। इस मत का अतिरेक हम कामिक टाइप के साहित्य में देख सकते हैं जिसमें भयानक किस्स की कहानियाँ कही जाती हैं जिन्हें पढ़कर रोंगटे खड़े हो जाते हैं या पाठक को परिचित देश में ले जाया जाता है, जहाँ न तो मनोविज्ञान बाधक है और न कार्य-कारण की कड़ी की कोई आवश्यकता है। पात्र बात की बात में चाँद की सैर को पहुँच जाते हैं और जो गुत्थियाँ पैदा होती हैं वे यों चुटकी बजा कर सुलझा दी जाती हैं। कहानी उड़नखटोले का बोलबाला रहता है, तो कहीं अलादीन का चिराग है, कल्पना बिल्कुल बेलगाम होती है।

इस प्रकार के कल्पना-प्रधान साहित्य में बच्चे का मन आसानी से बहल जाता है, इस मेल के प्राचीन या मध्ययुगीन साहित्य में और कामिक साहित्य में फर्क यह है कि पहले का साहित्य बहुत कुछ निर्दोष कल्पना-विलास मात्र होता था, जब कि कामिक साहित्य में पाठक को वास्तविकता के बहुत पास रख कर उसके मन में सीधे-सीधे या घुमाव के साथ ऐसे सुझाव पहुँचाए जाते हैं या पहुँचते रहते हैं जिन्हें वह अपने रोजगार के जीवन में व्यावहारिक रूप से देखना या करना चाहता है। शिक्षक या अभिभावक से नहीं बनती, तो सोते में उनके सिर पर हथौड़ा मार दो, इस प्रकार के सुझाव कई बार खतरनाक स्थिति उत्पन्न कर चुके हैं। कई बार अदालतों में यह प्रमाणित हो चुका है कि इस प्रकार के साहित्य पढ़ने से ही लड़का अपराधी बन गया। अलादीन के चिराग में असम्भवता है, पर जब तक वह चिराग मिल नहीं जाता तब तक पाठक केवल अलादीन से ईर्ष्या ही कर सकता है, उससे उसके सामने कोई बना-बनाया सामान नहीं आता जिससे वह शिक्षक या अभिभावक के विरुद्ध अपनी कुण्डा या क्रोध कार्य-रूप में परिणत करे।

इस प्रकार पंचतन्त्र और हितोपदेश के संदर्भ में यह प्रश्न स्वतः उठ खड़ा होता है और विष्णु शर्मा के मन में यह प्रश्न रहा होगा कि कैसी कहानियाँ राजा के बेटों को परोसी जाएँ, बल्कि विष्णु शर्मा से पहले राजा के मन में यह प्रश्न उठा होगा, तभी उसने विष्णु शर्मा को एक कमीशन या मिशन देकर नियुक्त किया। वह कमीशन या मिशन क्या था ? वह यह था कि राजा के बेटे इस प्रकार से तैयार हो जाएँ कि वे अच्छे राजा और नागरिक बन सकें। इस तरह हम देखते हैं कि पंचतन्त्र और हितोपदेश के जमाने में ही बाल-साहित्य का क्या उद्देश्य हो, इस सम्बन्ध में बिना दन्त-कटाकटी के ही एक उपसंहार पर अभिभावक और शिक्षक पहुँच चुके थे। वह उपसंहार यह था, जैसा कि उनकी कहानियों से ज्ञात होता है, कि बच्चों को नीति की शिक्षा देनी चाहिए, पर साथ ही उन्हें व्यवहारिक जगत की तरफ से सावधान भी कर देना चाहिए।

राजा शुद्धोदन ने अपने बेटे सिद्धार्थ को शिक्षा देते समय उसकी आँखों के सामने से जीवन की वास्तविकताओं को सर्वथा हटा देना चाहा था, क्योंकि उन्हें डर था कि लड़के को यदि पूरी वास्तविकता ज्ञात हो जाएगी तो वह सांसारिक बातों से

हट जाएगा। इसलिए उन्होंने लड़के के सामने रोग, बुढ़ापा, मृत्यु आदि अत्यन्त साधारण वास्तविकताओं को भी आने नहीं दिया। पर उसका नतीजा क्या हुआ ? उसका नतीजा यह हुआ कि बालक का मन अत्यन्त अनुभूतिशील हो गया। जिन दृश्यों को देखकर साधारण बालक या नवयुवक बिल्कुल विचलित नहीं होता, यहाँ तक कि वे दृश्य शायद उसके मन पर कोई रेखा या छाया भी नहीं डाल पाते, उन्हीं दृश्यों से उत्तेजित होकर सिद्धार्थ ने गृहस्थी छोड़ने का इरादा कर लिया।

पर विष्णु शर्मा ने यह गलती नहीं की थी। उनकी कहानियों में वास्तविकता पर राख डाल कर उसके फन या फुफकार को छिपाने का कोई प्रयास नहीं है, वास्तविकताएँ कई बार भ्रान्तिभंगकारी ढंग से सामने आती हैं, फिर भी नीति की शिक्षा अंततोगत्वा दी ही जाती हैं।

अब यहाँ हम एक बहुत बड़े मौलिक प्रश्न की चट्टान से आकर टकराते हैं, वह यह कि नीति या सदाचार क्या है ? हर राज्य पद्धति और समाज का अपना ठप्पावाला एक सदाचार होता है। शिक्षा पद्धति के द्वारा उसी सदाचार को छात्रों और छात्राओं के मन में उतारा जाता है, कभी आहिस्तगी से और कभी बड़े जोर-शोर के साथ। बाल-साहित्य साहित्य होने के कारण इस झमेले से अपने को बचा नहीं सकता, उदाहरणस्वरूप विष्णु शर्मा ऐसी नीति का पाठ नहीं दे सकते थे, जिसमें राजा का अस्तित्व ही अस्वीकार कर दिया गया हो, इसी कारण उनकी कहानियों में पशुओं में भी बराबर राजा-प्रजा का भेद बना रहता है। यह मान लिया गया है कि राजा का अस्तित्व एक ऐसा नींव का पत्थर है, जिसे हिलाने का अर्थ यह होगा कि सारा समाज हिल गया।

इस सम्बन्ध में व्योरे में जाने की जरूरत नहीं है, पर पंचतन्त्र और हितोपदेश के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि वे नीति का प्रतिपादन करते हैं, पर ऐसी नीति जो शासक समुदाय को मंजूर हो। यहाँ हम इस पचड़े में नहीं पड़ेंगे कि यह नीति कैसी है, इसके विरुद्ध नीति हो सकती है या नहीं, हम केवल इतना ही दिखाकर आगे बढ़ जाएँगे कि पंचतन्त्र और हितोपदेश जिसे हम आसानी से प्रथम बाल-साहित्य कह सकते हैं, कम-से-कम भारत का, वह विचारधारा के झगड़े से मुक्त नहीं है।

पंचतन्त्र के हिन्दी में बहुत से संस्करण निकले हैं। प्रकाशन विभाग ने पूरे पंचतन्त्र को अलग-अलग और दो खण्डों में विष्णु प्रभाकर द्वारा प्रस्तुत कराकर 'सरल पंचतन्त्र' प्रकाशित किया है। पंचतन्त्र सम्बन्धी प्रकाशन बहुत सफल रहे हैं यह इसी से प्रमाणित है कि थोड़े ही दिनों में कई संस्करण हो चुके हैं। इन पुस्तकों की विशेषता यह है कि इनमें मूल का अनुसरण किया गया है। राजकमल प्रकाशन ने 'पंचतन्त्र की कहानियाँ' नाम से इसे तीन भागों में प्रकाशित किया है। यह बहुत छोटे बच्चों के लिए रचित है। इसी तरह 'बाल पंचतन्त्र' नाम से भी एक अलग पुस्तक प्रकाशित की गई है। इन चारों की संकलनकर्त्री शकुन्तला देवी हैं। धर्मपाल शास्त्री ने भी 'सरल हितोपदेश' नाम से पंचतन्त्र की आठ कहानियाँ छोटे बच्चों के लिए प्रस्तुत की हैं। सावित्री देवी वर्मा ने भी 'कथा कहानी' नाम से पंचतन्त्र की कुछ कथाएँ अपने

६२ : आलोचना

ढंग से लिखी है।

सारा पौराणिक साहित्य, जिसमें रामायण-महाभारत और जातक कथाओं को लिया जा सकता है, बाल-साहित्य का बहुत सुन्दर सोता है। आधुनिक भारतीय भाषाओं के बाल-साहित्य में पौराणिक साहित्य के गद्य में लिखे हुए छोटे-बड़े सचित्र और चित्रमय संस्करणों का होना कोई आश्चर्य की बात नहीं है। महाभारण, रामायण तथा जातक आदि में बाल-साहित्य के सारे उपादान मौजूद हैं। बालक लड़ाई-भिड़ों का वर्णन बहुत पसन्द करते हैं और पुराण लड़ाइयों से भरे पड़े हैं। इन लड़ाइयों को चूँकि एक नैतिक आधार दिया गया है, इसलिए वे बहुत ही दिलचस्प हो गई हैं और उनसे कोई उकताता नहीं।

लड़ाइयों के अतिरिक्त पुराणों में एक आकर्षण यह भी है कि नायक का साबका तरह-तरह की लौकिक और अलौकिक विपत्तियों से पड़ता है। बन्दर, राक्षस, दैत्य, गंधर्व, किन्नर जाने किन-किन से मुठभेड़ होती है। इसके अलावा स्त्रियों का हरण आदि उपादान के साथ-साथ दमयन्ती, सीता, सावित्री ऐसी स्त्रियाँ भी आती हैं जो आदर्श माँ तथा बड़े बच्चों के लिए घुँघली प्रेमिका की भूख को तृप्त करती हैं। पुराणों के रूप में हमारे पास ऐसा जखीरा है जो कभी चूक नहीं सकता और हर पुस्तक के लेखक नए सिरे से उनका संस्करण प्रस्तुत कर सकते हैं। इसी प्रकार चित्रकारों के लिए भी यह एक ऐसा संसार है, जिसमें से वे चाहे जो कुछ निकाल कर अपना जोहर दिखाकर अपनी कला में चार चाँद लगा सकते हैं।

यों तो हिन्दू व्यवहार में काफ़ी कट्टर हैं, पर मुसलमानों के मुकाबले में बहुत उदार हैं। यहाँ यह डर नहीं है कि राम का चित्र बना दिया तो गोली खाने की नौबत आ जाए, जैसा कि बंगाल के एक प्रकाशक को हुआ था, यद्यपि उस बेचारे ने हालैंड में प्राप्त मुहम्मद का एक पुराना चित्र छापा था। राम-रावण, पाण्डव-कौरव के चाहे आप जितने और जैसे भी भौंडे चित्र बनाएँ, कोई आपकी कूँची या कलम पकड़ने वाला नहीं है और न इस पर कोई बोलने वाला है कि आप प्राचीन कथा से हटकर राम से रावण को और पाण्डवों से कौरवों को क्यों अधिक महत्व दे रहे हैं। यह परिस्थिति पौराणिक आधारयुक्त बाल-साहित्य के सृजन के लिए बहुत ही उपयुक्त है, क्योंकि लेखक को बनी बनाई परखी हुई, व्यक्ति-व्यक्ति के अवचेतन में बसी और जड़ जमाई हुई कहानी का सहारा मिल जाता है, जिसका अर्थ यह होता है कि आधा किला तो यों ही फतह हो गया, आगे लेखक की भाषा-शैली और चित्रकार की कला जो कुछ भी जादू पैदा कर ले।

चित्रकार की अहमियत

यहाँ यह बता दिया जाए कि बाल-साहित्य में चित्रकारी न केवल सहायक विधा है, बल्कि यह अपरिहार्य है। इस तथ्य को हमारे प्रकाशक जितना जल्दी समझ लें, उतना ही भला है। चित्रकला के साथ-साथ फोटोग्राफी भी उपयोगी है, विशेषकर जहाँ कहानियों से हटकर विज्ञान और तकनीकी से सम्बन्धित पुस्तकों का सम्बन्ध है।

बाल-साहित्य में चित्रकार का स्थान पाठक के वयवर्ग के अनुसार होता है। अभी-अभी जिन बच्चों ने पढ़ना सीखा है यानी चार से सात साल के बच्चों के लिए जो साहित्य होगा, उसमें निश्चित रूप से चित्र का पलड़ा भारी होना चाहिए और लेखन का पलड़ा अपेक्षाकृत हलका होगा। इसका अर्थ हिन्दी के कुछ लोगों ने यह लिया है कि चाहे जैसी स्क्रिप्ट चल सकती है, पर यह उनकी बहुत बड़ी भूल है। अभी-अभी बच्चे की रुचि विकसित हो रही है, इसलिए उसे भोजन देने में जितनी सावधानी बरती जाती है या बरती जानी चाहिए, उससे कहीं अधिक सावधानी उसे मानसिक भोजन देने में बरतना चाहिए। चित्र अच्छे-से-अच्छे होने चाहिए, एक कलाकार ही एक प्रकाशन की सारी पुस्तकों के चित्र बनाए, यह भी नहीं होना चाहिए, क्योंकि औसत कलाकार की एक सीमा होती है, जिसके बाहर वह जा नहीं सकता। स्क्रिप्ट के सम्बन्ध में भी उतनी ही सावधानी जरूरी है, क्योंकि ध्वनियों और भाषा के प्रतीकों का ऐसा असर पड़ना चाहिए कि बच्चे को उसमें अधिक-से-अधिक रस आए।

यहाँ इस दिशा में कुछ बहुत ही प्रासंगिक बातें बता दी जाएँ जो शायद कुछ हद तक अप्रासंगिक लगें। हिन्दी का क्षेत्र यानी खड़ी बोली का क्षेत्र बहुत फैला हुआ है, इससे बाल-साहित्यकार के सामने एक प्रश्न फन उठाकर खड़ा हो जाता है। वह इसलिए कि सारे हिन्दी क्षेत्र में एक ही लोरियाँ तथा एक ही तरह की भाषा में बताई हुई कहानियों का एक ही सेट चालू नहीं है। यहाँ तक कि हम भारतीयों में जो सबसे बड़ा अखिल क्षेत्रीय एका है यानी धार्मिक अनुष्ठानों आदि का एका, उसका भी रूप, ओवरटोन, अण्डरटोन सब अलग-अलग हैं। धार्मिक त्योहारों का महत्व भी हिन्दी क्षेत्र में एक सा नहीं है। दुर्गापूजा को ही लीजिए, बिहार में मूर्तियाँ बनाकर दुर्गापूजा होती है, इस मामले में विहारी बच्चे की अनुभूतियाँ बंगाली, आसामी, उड़िया आदि से ज्यादा मिलती हैं और उत्तर प्रदेश, राजस्थान आदि से कम। स्वाभाविक रूप से इस फर्क के कारण जिन आधारों पर बाल-साहित्य की इमारत खड़ी हो सकती है या जिन स्रोतों से बाल-साहित्य की जड़ों में खुराक पहुँच सकती है, उनके भिन्न होने के कारण बाल-साहित्य का निर्माण भी भिन्न होना चाहिए। कुछ हद तक तो भिन्न होगा ही।

पौराणिक साहित्य

पुराण तथा पौराणिक साहित्य बाल-साहित्य का बहुत अच्छा कभी न सूखने वाला स्रोत है। यह समझने की जरूरत नहीं है कि चूँकि किसी ने पहले रामायण या महाभारत के उपाख्यानो को हिन्दी में लिखा है, इसलिए उस ओर प्रयास करने की जरूरत नहीं है। परिस्थिति तो यह है कि इन उपाख्यानो का कोई ऐसा बाल-संस्करण हिन्दी में नहीं प्रकाशित हो सका जिसके सम्बन्ध में यह कहा जा सके कि यह एक मानकीकृत संस्करण है और इस दिशा में और प्रयास करने की जरूरत नहीं है। स्वतन्त्रता के पहले और उसके बाद पुराणों पर आधारित जो बाल-साहित्य निकला है, उसे देखते हुए अभी बहुत से लेखकों तथा चित्रकारों को इस ओर प्रयास करने की गुंजाइश है।

आत्माराम ने कुछ पौराणिक कहानियों का चित्रमय संस्करण प्रकाशित किया है और ये सारी पुस्तकें स्वतन्त्रता के बाद प्रकाशित हुई हैं, पर न तो इनके चित्र खास अच्छे हैं और न इनकी स्क्रिप्ट ।

यह आश्चर्य की बात है कि हमारी सबसे बहुमूल्य थाती और बाल-साहित्य के आकार महाभारत और रामायण के कोई सुन्दर बालोचित संस्करण प्रकाशित नहीं हुए । प्राणनाथ वानप्रस्थी का 'सरल महाभारत' और सत्यकाम विद्यालंकार की 'सरल रामायण' इस शून्यता की पूर्ति नहीं करते । मजे में कम-से-कम दो से लेकर ढाई सौ पृष्ठों के संस्करण प्रकाशित हो सकते थे ।

पुराणों की जनप्रियता देखते हुए जगन्नाथप्रसाद मिश्र ने पौराणिक व्यक्तियों की अलग-अलग जीवनी लिखने का जो क्रम चलाया है, उसका हम स्वागत करते हैं । इस माला में व्यास, विश्वामित्र, अगस्त्य और दुर्वासा की जीवनियाँ प्रकाशित हुई हैं । चित्र और शैली, दोनों दृष्टियों से पुस्तकें सराहनीय हैं ।

पौराणिक व्यक्तियों को लेकर अन्य कई पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं जैसे प्राणनाथ वानप्रस्थी का 'श्रीकृष्ण', 'भारत के महान ऋषि', और 'वीर हनुमान' । उन्हीं की अन्य कृतियाँ 'आदर्श बालक' और 'आदर्श देवियाँ', जिनमें पुराणों के वीरों और देवियों का वर्णन है, पर शायद जगह भरने के लिए पुराणों के वीरों में हकीकतराय और देवियों में मीरा को स्थान दिया गया है जो भ्रामक है । 'भारत के महान ऋषियों' पुस्तक में भी इसी प्रकार पौराणिक और ऐतिहासिक व्यक्तियों को मिलाया गया है ।

लोक कथाओं का दोहन

स्वाभाविक रूप से बच्चों की कहानी सम्बन्धी भूख को परितृप्त करने के लिए हमारे प्रकाशकों ने लोककथाओं का खूब दोहन किया है, पर यह दोहन अक्सर भोंडा हुआ है । लोककथाओं को परोसने का एक तरीका तो वह है कि जैसे वे गाँव में दादा-दादी, नाना-नानी के मुँह से सुनी जाती हैं, वैसे हूबहू उनका रेकार्ड प्रस्तुत करना ।

योरप में लोक-कथाओं को बहुत अधिक महत्व दिया गया है । प्रथम लोक-कथाएँ ग्रिम-बन्धु, ऐसव्योरनसेन और मोए (Moe) के द्वारा संग्रहीत हुए । इन लोगों ने सीधे-सीधे सोते से लोक-कथाओं का संग्रह किया । उनकी दृष्टि, केवल कहानी पर नहीं थी बल्कि जिस प्रकार से कथा कही जाती थी, हूबहू उसी प्रकार से उसे लिपिबद्ध कर लिया जाता था । इस क्षेत्र में जोसेफ जैकोब्स ने भी अच्छा काम किया, फिर बाद को अन्य और बहुत से लोगों ने लोक-कथाओं के क्षेत्र में काम किया जैसे डबल डे ने अफ्रीकी कहानियों, ई० एम० अल्मेडिगेन ने रूसी लोक-कथाओं, लेसली बोनेट ने चीनी लोक-कथाओं, मोरेस और पामेला माइकेल ने जर्मन लोक-कथाओं, रोला गा ने फ्रेंच लोक-कथाओं के क्षेत्र में काम किया । भारत में भी अंग्रेजी भाषा में भारतीय लोक-कथाओं पर कई लोगों ने अच्छे काम किए बल्कि भारतीय भाषाओं में उतना अच्छा काम होना अब भी बाकी है । बंगला क्षेत्र के विषय में मैं जानता हूँ, वहाँ की लोक-कथाओं को हूबहू लिपिबद्ध करके कई पुस्तकें प्रस्तुत की गईं, जिसका कुछ स्वाद मैंने

हिन्दी में 'बंगाल की लोक-कथाओं' को पेश करने का प्रयत्न किया है। नन्दलाल चत्ता ने कश्मीरी लोक-कथाओं पर हिन्दी में अच्छा काम किया है पर बाकी बालकों के लिए जो अधिकांश लोक-कथाएँ प्रकाशित हुई हैं, उनकी विशेष प्रशंसा नहीं की जा सकती। इस सम्बन्ध में भारत सरकार को टेप रिकार्डर तथा अन्य जरियों से काम करना चाहिए। दुर्भाग्य से हिन्दी क्षेत्र में यह कार्य इस रूप में किए जाने पर कहीं तक ग्रहणीय होगा, इसमें संदेह है क्योंकि खड़ी बोली कहीं की भाषा न होने के कारण कथाएँ अपनी-अपनी बोली में कही और सुनी जाती हैं। अवश्य इससे बचने के लिए उनका जहाँ तक जरूरी है, हिन्दीकरण हो सकता है, पर इस सम्बन्ध में भी बड़ी जिम्मेदारी की जरूरत है। लोककथा के अन्दर यदि लेखक ने अपना एक भी वाक्य रख दिया तो वह लोककथा नहीं रह गई, बल्कि लोककथा के ढाँचे पर लेखक द्वारा प्रस्तुत की हुई नई इमारत बन गई। ऐसा करने में कोई बुराई नहीं पर पाठक को इसका पता हो जाना चाहिए और यदि पाठक इस बारीकी को नहीं समझ सकता तो भूमिका में इसका आभास तो दे ही देना चाहिए।

अफ़सोस है कि हिन्दी में तो सभी लोक-कथाएँ अजीब रूप में सामने आ रही हैं और ऐसे आ रही हैं कि अत्यन्त अनधिकारी लेखकों से लोक-कथाएँ लिखाई और छापी गई। फिर भी कुछ लेखकों ने जिम्मेदारी से काम लिया है और लोक-कथाओं के जरिए बाल-साहित्य को कुछ अच्छी रचनाएँ प्राप्त हुई हैं। ऐसी रचनाओं में कुछ हद तक उल्लेखनीय हैं—'पश्चिम भारत की लोककथाएँ', 'सुन्दर लोक-कथाएँ', 'भारतीय लोककथाएँ', 'निहालदे', 'देपाल दे', 'घनुआ राजा', 'द्रोणवीर कोहली की 'लोककथाएँ', और 'मोर के पैर' पुस्तकों में पंजाब की लोककथाएँ लिपिबद्ध हैं। संतराम द्वारा प्रस्तुत 'पहाड़ी प्रदेशों की कहानियाँ' कहानियों के रूप में अच्छी हैं, पर इससे यह पता नहीं लगता कि संतरामजी ने ये कहानियाँ किसी पुस्तक से ली हैं या फील्ड पर उनका संग्रह किया है।

लोककथाओं का महत्व अब हम कुछ-कुछ हृदयंगम कर रहे हैं। एक तो लोक-कथाओं से सामान्य भारतीय संस्कृति ही नहीं विश्व-संस्कृति का बोध होता है, दूसरे इधर जो सबसे बड़ी बात हुई है वह यह है कि अति आधुनिक कहानियों में लोक-कथा तत्व अपनाए जा रहे हैं।

लोककथाओं पर सोचते हुए फिर एक बार यह विचार बड़े जोर से सामने आता है कि प्रकाशकों के मन में, इसमें शायद ही कोई प्रकाशक अछूता हो, यह धारणा बैठी हुई है कि लोक-कथा कोई भी प्रस्तुत कर सकता है और उनकी पुस्तकों तथा साहित्य का चित्रण कोई भी चित्रकार कर सकता है। यह जितना जल्दी उनके दिमाग से निकल जाए, उतना ही अच्छा है, पर इसके साथ ही यह भी धारणा गलत है कि कोई लेखक ख्यातिप्राप्त है और बड़ों के लिए अच्छे उपन्यास-कहानियाँ आदि लिखता है, इस कारण वह बच्चों का भी अच्छा साहित्यकार होगा। प्रश्न यह है कि क्या ऐसा लेखक बच्चों का साहित्य लिखते समय बिल्कुल अन्य ही गीयर पर काम कर सकता है? जैसे यह जरूरी नहीं है कि कोई क्रिकेट का खिलाड़ी है तो वह फुटबाल आदि

अन्य खेलों में भी पारंगत होगा, उसी तरह लिखने के क्षेत्र में भी अलग-अलग विधा के अलग-अलग लेखक हैं, उसकी अलग-अलग साधना और अलग-अलग प्रशिक्षण हैं।

अंग्रेजी बाल-साहित्य की तरफ़ जब हम दृष्टि दौड़ाते हैं तो उसमें हम यह देखते हैं कि बाल-साहित्य के लेखक बिल्कुल दूसरे ही हैं जिनके नाम उस विधा के पाठकों तक ही सीमित रहते हैं। साधारण साहित्य का लेखक कई बार बाल-साहित्य का अच्छा लेखक हो सकता है, जैसे वाल्टर स्काट, किपलिंग, रवीन्द्रनाथ इत्यादि, पर यह जरूरी नहीं है कि हर नामी लेखक बाल-साहित्य का अच्छा लेखक हो, इसलिए अभी-अभी कहानी आदि के प्रख्यात लेखकों को अपने लेखक करके दिखाने और अपना विज्ञापन करने का जो प्रयास किया गया है, उसके चक्कर में कोई विशेषज्ञ नहीं आया। बात यह है कि बाल-साहित्य भाषा, शैली, कल्पना के क्षेत्र में कुछ ऐसे प्रयोग और नवीनता की अपेक्षा रखता है कि हर लेखक के लिए उनके तकाजों को पूरा करना सम्भव नहीं है। यह दुर्भाग्य है कि हिन्दी में बाल लेखकों का कोई अलग स्पष्ट वर्ग अभी तक नहीं बन पाया पर इसमें सन्देह नहीं कि हिन्दी बाल-साहित्य की उन्नति के साथ-साथ बाल-साहित्य के लेखकों की एक अलग श्रेणी का विकास होगा। पर ऐसा अभी तक क्यों नहीं हुआ, उसके कारणों पर भी कुछ विचार कर लेना आवश्यक है।

वयवर्ग देखकर लेखन

बाल-साहित्य के रचियता के लिए बाल-मनोविज्ञान के अतिरिक्त यह समझना जरूरी है कि वह किस वय-वर्ग के लिए लिख रहा है। बहुत दिनों तक हिन्दी के बाल-साहित्य के लेखक और प्रकाशक वयवर्ग के अस्तित्व से ही अपरिचित रहे और बाल-साहित्य में इसका कोई खयाल नहीं रखा जाता था, पर अब हिन्दी के प्रमुख बाल-साहित्य प्रकाशक—राजकमल, राजपाल, आत्माराम, किताब महल आदि वय-वर्ग पर ध्यान देने लगे हैं और अपने लेखकों से वयवर्ग के अनुसार लिखने का तकाजा करने लगे हैं। आशा है कि इसका नतीजा आगामी दस वर्षों में बहुत अच्छा होगा, पर जैसा कि हमने बताया, बाल-साहित्य के विशेष लेखक वर्ग का तभी उदय होगा, जब प्रकाशक इस सम्बन्ध में सचेत हो जाएँ। जब बाल-साहित्य की रचना में पारिश्रमिक ठीक से मिलने लगेगा और प्रकाशक एक मुश्त दाम देकर पुस्तक के सारे अधिकार खरीद लेने का मोह छोड़ देंगे, तभी इस क्षेत्र में उन्नति होगी।

यों तो जैसा कि हम बता चुके हैं, हमारे यहाँ केवल बाल-साहित्य के रूप में ले-देकर पंचतन्त्र या हितोपदेश ही हैं। हम यह भी बता चुके कि रामायण, महाभारत, तथा अन्य पुराण-कथाओं से बाल-साहित्य का बहुत बड़ा खजाना तैयार हो सकता है। पर केवल बाल-साहित्य के रूप में लिखने की प्रथम प्रेरणा बिल्कुल आधुनिक समय में ही आई। इस सम्बन्ध में यह बहुत ध्यान योग्य है कि पश्चात्य में बाल-साहित्य की रचना कई सदी पहले से शुरू हुई। हम इस पर इतना ही बता कर आगे बढ़ जाएँगे कि बाल-साहित्य की अमर कृति 'राबिन्सन क्रूसो' १७१९ और 'गुलिवर की कहानियाँ' की रचना १७२६ में हुई। 'अलिफलैला' जो बाल कहानियों का एक बहुत बड़ा

स्वतन्त्रता के बाद का हिन्दी बाल-साहित्य : ६७

खजाना है, उसकी भी रचना बहुत पहले हुई, यहाँ तक कि वह फ्रेंच तथा अंग्रेज़ पाठकों के हाथ में लगभग १७०० ईस्वी तक पहुँच गई थी।

गुलिवर की यात्राएँ उस समय के इंग्लैंड तथा उसके राजदरबार के विरुद्ध एक व्यंग-रचना के रूप में प्रस्तुत की गई थीं। इसका प्रकाशन भी बड़े अद्भुत ढंग से हुआ कि लेखक ने प्रकाशक का सामना नहीं किया और पाण्डुलिपि एक घोड़ागाड़ी से प्रकाशक के घर के सामने डाल दी गई। कुछ भी हो, जब हिन्दी तथा अन्य भारतीय भाषाओं में बाल-साहित्य के लिए माँग पैदा हुई तो लेखकों और अनुवादकों ने पाश्चात्य साहित्य और 'अलिफ लैला' आदि की इन अमर कृतियों की ओर हाथ बढ़ाया और उसके फलस्वरूप 'राविन्सन क्रूसो', 'गुलिवर की यात्राएँ', 'अलादीन', 'सिन्दवाद' आदि जाने कितनी रचनाएँ प्रस्तुत हुईं। 'राविन्सन क्रूसो' एक समुद्र यात्री जाति में ही लिखा जा सकता था और 'गुलिवर की यात्राएँ' भी ऐसी जाति में लिखी जा सकती थीं जो टटोल कर लोकतन्त्र की ओर चल रही हो। दुःख है कि यों तो हर प्रकाशक ने इन पुस्तकों के संस्करण निकाले हैं पर कोई ऐसा संस्करण नहीं है जिसके सम्बन्ध में कहा जा सके कि यह अंग्रेज़ी की तरह सुन्दर संस्करण है। इसके लिए किसे दोष दिया जाए, लेखकों या प्रकाशकों को ?

बाल-पत्रिकाएँ

बाल-साहित्य के क्षेत्र में मैं बाल-पत्रिकाओं को इस साहित्य के प्राथमिक सोपान में बहुत महत्त्व देता हूँ, इसलिए पहले उन्हीं का सर्वेक्षण किया जाए। स्वतन्त्रता प्राप्त करते समय हिन्दी में सबसे प्रमुख बाल-पत्रिका प्रयाग के इण्डियन प्रेस द्वारा प्रकाशित 'बाल-सखा' नामक पत्रिका थी, पर इस पत्रिका में कोई भी विशेषता नहीं थी और यह कहा जा सकता है कि यह क्षेत्र हिन्दी में बिल्कुल सूना था, जबकि एक-दूसरी भाषा जिसे मैं अच्छी तरह जानता हूँ, यानी बंगला में बाल-पत्रिकाओं में कई अच्छे नाम थे और उनके ग्राहकों की संख्या बीस-बीस हजार तक पहुँची हुई थी।

हिन्दी-क्षेत्र की यह कमी इतनी खटकने वाली थी कि भारत सरकार के प्रकाशन विभाग का जब स्वतन्त्रता के बाद पुनर्गठन हुआ तो यह निश्चय किया गया कि 'बाल-भारती' नाम से एक पत्रिका निकाली जाए, जिसमें मनोरंजन के साथ-साथ बालक-बालिकाओं के मानसिक उन्नयन का लक्ष्य भी रखा गया। यों तो इस लेख में पहले भी मैं इस प्रश्न को छू चुका हूँ पर यहाँ भी यह स्पष्ट कर दिया जाए कि बड़ों के लिए प्रस्तुत किए जाने वाले साहित्य के सम्बन्ध में भले ही यह वाद-विवाद कभी समाप्त न हो कि साहित्य का कोई साहित्येतर उद्देश्य होना चाहिए या नहीं, पर बाल-साहित्य के सम्बन्ध में सभी, सिवा उन लोगों के जो कामिक टाइप का भौंडा साहित्य लिख-वेच-प्रकाशित कर कालावाजारी करना चाहते हैं, इससे सहमत होंगे कि बाल-साहित्य का उद्देश्य अच्छे नागरिकों का निर्माण है। इसलिए यदि भारत सरकार ने बाल-भारती के प्रकाशन में कुछ उद्देश्य रखा तो वह गलत नहीं कहा जा सकता। अवश्य जब सरकार कोई काम करती है तो उसमें प्रचलित सरकार को सर्वश्रेष्ठ और

एकमात्र सत्य साबित करने की प्रवृत्ति हो सकती है, पर 'बाल भारती' पत्रिका इससे कई कारणों से बची रही और 'बाल-भारती' ने बाल-पत्रिकाओं में अपना एक स्थान बनाया। पर सरकारी प्रकाशन होते हुए भी क्या यह लेखकों का ऐसा वर्ग उत्पन्न कर सका जो बाल-साहित्य के ही लेखक हैं ? मैं समझता हूँ कि यह ऐसा नहीं कर सका, उस हद तक यह पत्रिका भी अपने पहले की पत्रिकाओं की तरह असफल ही कही जाएगी।

लेखक तो किसी क्षेत्र में तभी पैदा हो सकते हैं, जब उस क्षेत्र में रह कर उनकी गुजर-बसर हो सके, पर 'बाल-सखा', 'बाल-भारती', 'बालक', 'शेर बच्चा', 'राजा भैया', 'पराग', 'नन्दन' में छपकर और दस या बीस रुपये पारिश्रमिक पाकर किसी का निर्वाह नहीं हो सकता था। दुःख है कि यह परिस्थिति तब से नहीं बदली है और बाल-साहित्य राहचलतू लोगों के ऐडवेन्चर का शिकार बनता रहा है।

हिन्दी बाल-पत्रिकाओं में 'चन्दा मामा' का उल्लेख बहुत आवश्यक है क्योंकि इसकी इकरस छपाई और चित्र तथा गलत भाषा के बावजूद यह कहानियों के कारण बच्चों की बहुत प्रिय रही है। 'चन्दा मामा' के प्रकाशकों की इसलिए प्रशंसा करनी पड़ेगी कि वे बाल-पत्रिका के व्यवसाय को लाभजनक बनाने के लिए उसे एक साथ कई भाषाओं में प्रकाशित करते हैं। पहले शायद नौ भाषाओं में प्रकाशित होता था, अब छः भाषाओं में प्रकाशित होता है। इससे ब्लाक तथा डिजाइन आदि का खर्च बच जाता है और अनुवाद के ही पैसे लगते हैं। असल में तो प्रकाशन विभाग को यह प्रयोग करना चाहिए था। मैं यह मानता हूँ कि केन्द्र से न केवल बच्चों के लिए बल्कि बड़ों के लिए मासिक, साप्ताहिक आदि का प्रकाशन और किसी कारण से नहीं तो केवल इस कारण से अवश्य होना चाहिए कि राज्यों से जो पत्र-पत्रिकाएँ प्रकाशित होती हैं, उनमें प्रान्तीयता का खोल बहुत जबरदस्त रहता है और अखिल भारतीय ढंग से किसी भी प्रश्न पर सोचने का माद्दा पैदा न होकर हर पत्रिका को केवल अपनी भाषा और अपने दायरे में सोचने का प्रोत्साहन मिलता है।

अन्य बाल-पत्रिकाओं में 'पराग' एक अच्छी पत्रिका है, पर इसे भी देखने पर थही धारणा दृढ़ होती है कि हिन्दी में बाल-साहित्य के लेखकों का कोई वर्ग नहीं बन पाया। इस पत्रिका की प्रकाशक कम्पनी भी एक साथ कई भाषाओं में बाल-पत्रिकाएँ प्रकाशित करने का प्रयोग कर सकती है। जैसा कि मैंने इंगित किया, व्यावसायिक दृष्टिकोण से ही नहीं, पत्रिकाओं का खर्च घटाकर सस्ती करने के लिए और अखिल भारतीय दृष्टिकोण को निरन्तर ताज़ा रक्त पहुँचा कर बल देने के लिए इस प्रकार के प्रकाशनों की आवश्यकता है।

अभी हाल में बाल-पत्रिकाओं के अन्त में 'नन्दन' प्रकाशित कर 'हिन्दुस्तान टाइम्स' के प्रकाशकों ने इस क्षेत्र में कदम रखा है। यह प्रकाशक भी कई भाषाओं में प्रकाशन की बात सोचने में समर्थ हैं।

जीवनिया

जीवनियाँ भी बाल-साहित्य का प्रधान अंग हैं। जब बच्चा जरा बुद्धिमान हो जाता है और केवल आश्चर्य की भावना की जगह पर वह अपने को भी कुछ समझने लगता है यानी यह समझता है कि मुझे भी कुछ करना है तो वह जीवनियों की ओर आकृष्ट होता है। देश-आविष्कार, ऐडवेन्चर के सच्चे वीर कोलम्बस आदि की तरफ उसका ध्यान जाता है और वह यह समझने की कोशिश करता है कि जो लोग संसार में बड़े हुए या कहलाए, वे कैसे बड़े हुए।

इस क्षेत्र में बहुत अच्छा कार्य हुआ, यह नहीं कहा जा सकता। 'आदर्श विद्यार्थी बापू' महात्मा गांधी के जीवन के एक हिस्से पर रोशनी डालता है। राजकमल की ओर से प्रकाशित आदर्श जीवनमाला में इन्द्रनाथ मदान द्वारा लिखित पुस्तकें 'हमारे बापू', 'भगवान बुद्ध', 'हमारे गुरुदेव', 'अब्राहम लिंकन', 'मुंशी प्रेमचन्द', 'लेनिन', 'हमारे नेहरू'—ये सात पुस्तकें प्रकाशित भी हुई हैं और वे सफल भी हैं, पर इसमें दो बातों में कुछ सुधार हो सकता था, एक तो एक ही लेखक से सारी जीवनियाँ लिखाना अनुचित रहा और दूसरे सब पुस्तकों का आवरण चित्र एक-सा है यह भी उचित नहीं रहा। या तो ऐसा आवरण चित्र बनाया जाता जो गांधी, लेनिन, अब्राहम लिंकन सब पर घटता और नहीं तो हर एक का अलग आवरण चित्र बनाना चाहिए था। जो आवरण चित्र प्रस्तुत है, वह गांधी और बुद्ध और अधिक-से-अधिक नेहरू पर ठीक बैठ सकता है, बाकी, यहाँ तक कि प्रेमचन्द और रवीन्द्रनाथ के लिए भी यह अच्छा नहीं लगता। सत्यकाम विद्यालंकार ने 'महात्मा गांधी', 'सरदार पटेल', 'शिवाजी' की जीवनियाँ प्रस्तुत की हैं। इसके अतिरिक्त 'हमारे राष्ट्र निर्माता' नाम से उनकी एक पुस्तक है, जिसमें दादाभाई नौरोजी से लेकर सुभाषचन्द्र बोस की जीवनियाँ दी गई हैं। क्षितिश राय का 'गुरुदेव रवीन्द्रनाथ' (अनुवादिका—माया गुप्त) रवीन्द्र की सबसे सुन्दर, सस्ती और सचित्र जीवनी है। विश्वनाथ की भी 'महाराणा प्रताप' और 'महापुरुषों के संस्मरण' नाम से दो अच्छी पुस्तकें हैं। विनोद ने जवाहरलाल नेहरू, लाजपतराय, लोकमान्य तिलक, स्वामी रामतीर्थ, विवेकानन्द, राजेन्द्रप्रसाद पर पुस्तकें लिखी हैं। प्राणनाथ वानप्रस्थी के नाम पर लगभग एक दर्जन जीवनियाँ हैं, जिनमें बुद्ध, चाणक्य, अशोक से लेकर सरदार भगतसिंह और चन्द्रशेखर आजाद की जीवनियाँ आ गई हैं। रामेश्वरदयाल दुवे की कविता में 'माँ यह कौन?' नाम से भारत के प्रमुख महापुरुषों के व्यौरे प्रस्तुत किये गए हैं। इसी प्रकार आचार्य चतुरसेन ने 'महापुरुषों की झांकियाँ' नाम से कुछ आधुनिक नेताओं की और राष्ट्रबन्धु ने भी 'ये महान कैसे बने' नाम से भारतीय तथा अभारतीय कुछ महापुरुषों की जीवनी प्रस्तुत की है। मनोहर जुनेजा का 'डॉ० विश्वेश्वरैया' और चमूपति का 'हमारे स्वामी', धर्मदेव विद्यावाचस्पति का 'स्वामी श्रद्धानन्द' ही इस सम्बन्ध में उल्लेखनीय हैं। प्रकाशन विभाग की ओर से 'भारत के गौरव' नाम से एक बहुत ही महत्वपूर्ण पुस्तक माला प्रकाशित हो रही है। यद्यपि इन पुस्तकों का स्तर साधारण से ऊँचा है, पर भारत सरकार के प्रकाशनों का जो स्तर होना चाहिए (विशेषकर जबकि राष्ट्रीय

भाषाओं में इसका अनुवाद हो रहा है), वह नहीं है। सावित्रीदेवी वर्मा की 'भारत की महान नारियाँ' और प्राणनाथ वानप्रस्थी की 'वीर पुत्रियाँ' कुछ महान स्त्रियों की जीवनियाँ प्रस्तुत करती हैं। यह आश्चर्य है कि महान स्त्रियों की जीवनियाँ कम लिखी गई हैं। माया गुप्त का भारत के प्रकाश स्तम्भ 'रामकृष्ण परमहंस और द्विवेकानन्द' और जगदीश गोयल की पुस्तक 'मोतीलाल नेहरू' उच्च स्तर की जीवनियाँ हैं।

वैज्ञानिक पुस्तकें

यह बहुत ही गलत धारणा है कि बच्चों को केवल कहानी चाहिए या ऊल-जलूल एडवेंचर के किस्से चाहिए। बच्चे हर समय संसार को टटोलकर जानने के फिराक में रहते हैं और वे उसे समझना चाहते हैं। यही कारण है कि बहुत से बच्चों में, बल्कि सभी बुद्धिमान बच्चों में किसी भी वस्तु को तोड़-खोलकर उसके अन्दर क्या है, जानने की प्रवृत्ति पाई जाती है। वे हर समय कार्य-कारण के सिलसिले का अनुसरण करना चाहते हैं। यह प्रवृत्ति बहुत सराहनीय है और अभिभावकों तथा शिक्षकों को इसे प्रोत्साहन देना चाहिए। इस सम्बन्ध में पचास वर्ष पहले के बच्चों में और आजकल के बच्चों में विशेषज्ञों ने कुछ फर्क पाया है। सौभाग्य से वह फर्क युग के अनुसार है और उसमें वृद्धि होनी चाहिए। आजकल के लड़के अच्छी लिखी हुई विज्ञान-सम्बन्धी पुस्तक पहले के बच्चों से अधिक पसन्द करते हैं, ऐसा पश्चिम के पुस्तकालयाध्यक्षों ने अपनी रिपोर्ट में कहा है। मुझे ऐसा लगता है कि बच्चों में शायद उतना फर्क नहीं हुआ जितना कि लेखकों में हुआ यानी अब लेखक विषय का प्रतिपादन बच्चों की दिलचस्पी को देखते हुए सरल भाषा और शैली में करते हैं और जैसा कि हम पहले ही बता चुके हैं, उनके इस प्रयास को अच्छे चित्रकारों का सहयोग प्राप्त है।

इसीलिए हम देख रहे हैं कि प्रकाशक भी इस सम्बन्ध में अच्छी-से-अच्छी पुस्तक प्रकाशित करने की चेष्टा कर रहे हैं।

ऐसी पुस्तकों में आकाश और ग्रहनक्षत्रों पर बहुत-सी पुस्तकें हैं, जैसे, वी० डी० अवस्थी की 'ग्रह और नक्षत्र', जे० भारतदास की 'आकाश में देखे', वी० डी० अवस्थी की 'सूर्य और चन्द्रग्रहण', विनोदकुमार की 'आविष्कारों की कहानियाँ', केशव सागर की 'आवाज', 'हवा की बातें', 'पानी', 'आग की कहानी', रमेश वर्मा की 'हमारा पड़ोसी चाँद' उल्लेखनीय हैं। विज्ञान की साधारण पुस्तकों में उल्लेखनीय हैं—जे० भारतदास की 'समुद्र का खजाना', उन्हीं की 'भारत के जानवर', तथा इरा फ्रीमैन की 'विज्ञान का अद्भुत संसार', फ्रैंक एच० फारेस्टर की 'वायु महासागर की खोज', जान लैवलैन की 'परमाणु की जादू भरी ताकत' (इन सबके अनुवादक हैं नरेश वेदी), मन्मथनाथ गुप्त की 'आदमी का जन्म', श्रीराम शर्मा की 'जंगली जीव', राजेश्वरप्रसाद नारायणसिंह की 'हमारे जल पक्षी' और 'हमारे वृक्ष'। रुद्रदत्त मिश्र और चित्रकार नरेन्द्र ने मिलकर कविता और चित्रों में 'हमारे पक्षी' नामक जिस पुस्तक की रचना की है हम उसका भी स्वागत करते हैं।

सब कुछ कह-सुन लेने पर और पुस्तकालयाध्यक्षों के वयानों का अध्ययन करते

स्वतन्त्रता के बाद का हिन्दी बाल-साहित्य : ७१

के बाद यह नतीजा निकलता है कि बाल-साहित्य में सबसे प्रमुख स्थान कहानियों को ही प्राप्त है। इसलिए यह आश्चर्य की बात नहीं है कि इस क्षेत्र में बहुत काफी साहित्य प्रकाशित हो चुका है। अनुवाद भी काफी हुआ है। बल्कि कहना पड़ता है कि जो कुछ अच्छा साहित्य है, वह अनुवाद ही है। संस्कृत साहित्य का अनुवाद हुआ है, पर पाश्चात्य साहित्य से ही अधिक पुस्तकें आई हैं। कुछ नाम इस प्रकार हैं—सरवांते के 'डान क्विक्जाट' का 'तीसमारखाँ', 'ऐलिस इन वन्डरलैंड' का 'जादू नगरी', टैलिसमैन का 'चमत्कारी ताबीज', कोरल आइलैंड का 'मूंगे का द्वीप', काउण्ट आफ मान्टीक्रिस्टो का 'कैदी की करामात', ऐन्डरसन की कहानी का 'बर्फ की रानी', ईसप साहित्य का 'ईसप की कहानियाँ', 'डेविड कापरफील्ड' का उसी नाम से, 'ट्रेजर आइलैंड' का 'खजाने की खोज में', 'पिनोकियो' का 'कठपुतली', 'ग्री मस्केटियर्स' का 'तीन तिलंगे', स्टीवेन्सन के 'किडनैप्ट' का 'चाँदी का बटन', 'आइवान हो' का 'वीर सिपाही', 'टामस सायर' का 'बहादुर टाम', शेक्सपियर साहित्य 'शेक्सपियर की कहानियाँ', सिन्दबाद की कहानी 'सिन्दबाद की सात यात्राएँ', अलीबाबा की कहानी का 'अलीबाबा और चालीस चोर', मनरो लीफ की छोटे बच्चों की कृति 'बोबक बकरा', नाम से प्रकाशित हुई हैं।

मौलिक कहानी-कविता के क्षेत्र में बहुत कम उल्लेखनीय काम अभी तक हुआ है, फिर भी कुछ काम तो हुआ ही है। बाल उपन्यास के क्षेत्र में मनहर चौहान का 'जय भवानी', उमाशंकर का 'चित्तौड़गढ़ की रानी', हरिकृष्णदास गुप्त का 'बदला', सत्यप्रकाश अग्रवाल का 'एक डर पाँच निडर' (पहले पराग में प्रकाशित), कहानी क्षेत्र में मनमोहन सरल का 'नई बानी कथा पुरानी', रामनारायण उपाध्याय की 'चतुर चिड़िया', भगतसिंह के 'सुनहरे सपने', 'बूझो' और 'चूँ-चूँ', शारदा मिश्र की 'नीलम और मसहरी की देवी', श्यामसुन्दर व्यास का 'मुहावरों का मेला' (मुहावरों की कथा) सावित्रीदेवी वर्मा की 'जंगल ज्योति' और 'कथा भारतीय', नाटक के क्षेत्र में योगेन्द्र-कुमार लल्ला सम्पादित 'प्रतिनिधि बाल एकांकी' (जिसमें आनन्दप्रकाश जैन, मंगल सक्सेना, विमला लूथरा, वेद राही आदि की नाटिकाएँ संग्रहीत हैं), डॉ० महेन्द्र भटनागर के 'बच्चों के रूपक', भानु मेहता का 'वे सपनों के देश से लौट आए', सिद्धनाथ कुमार का 'आओ नाटक खेलें', आदि उल्लेखनीय हैं।

इसके अलावा जो नाम उभरकर सामने आये हैं, वे हैं जहूर बख्श, सोहनलाल द्विवेदी, राजेन्द्र अवस्थी, निरंकारदेव सेवक (विशेषकर कविता और कविता में अनुवाद), हरिकृष्ण देवसरे, सरस्वतीकुमार दीपक, शैलेश मटियानी, राबिनशा पुष्प आदि। कुछ सम्पादक, लेखक और कवि ऐसे हैं जो बाल-साहित्य की रचना करने या करवाने में लगे हुए हैं। कुछ सम्पादक तथा प्रकाशक यह जो प्रयास कर रहे हैं कि अन्य क्षेत्रों के नामी लेखक बाल-साहित्य के लेखक भी बन जाएँ यह बहुत स्तुत्य होते हुए भी शायद अधिक लाभांश न दे। बाल-साहित्य की रचना के लिए जिस प्रकार की मनोदशा या वृत्ति होने की आवश्यकता है, वह शायद सब लेखकों के वश की नहीं है। बच्चों के लिए लिखने में जैसा कि जार्ज नार्थक्राफ्ट ने लिखा है, लेखक को कुछ हद तक बच्चा बनना पड़ता है। कम-से-कम उसे अपने बचपन की अच्छी तरह

७२ : आलोचना

याद आनी चाहिए कि मुझे अमुक उम्र में अमुक बात अमुक तरह से अच्छी लगती थी। इसके अलावा क्रमशः हमारे बच्चे भी जटिल होते जा रहे हैं और उसी के अनुसार लेखक को भी शिल्प पर अच्छी तरह दखल पैदा करना पड़ेगा।

मैं अपने तजुर्बे से कह सकता हूँ कि बहुत सालों तक बाल-साहित्य से संयुक्त रहने पर भी बाल-साहित्य रचना की मनोदशा कभी-कभी ही बन पाती है। अवश्य उन लोगों की बात और होगी जो केवल बाल-साहित्य की रचना करते हैं। मैंने बीच में कई बाल-साहित्य रचना नहीं की, पर बाद को 'महानगरी का राजा' नाम से एक पुस्तक लिखी जो वर्तमान समाज और राजनीति पर व्यंग्य है।

इस तरह औरों का भी तजुर्बा है। सारे बाल-साहित्य का सर्वेक्षण करने के बाद यह नतीजा निकलता है कि काम तो थोड़ा-बहुत हुआ है, पर व्यवस्थित ढंग से नहीं हुआ और यह आशा करना गलत होगा कि एकाएक कोई जादू हो जाएगा, इसलिए बाल-साहित्य के भविष्य के सम्बन्ध में प्रकाशकों के सामने यही योजना होनी चाहिए कि वे मौलिक प्रतिभा को प्रोत्साहन तो दें ही, पर विश्व-साहित्य और भारतीय साहित्य से अच्छी पुस्तकों का अच्छा अनुवाद करवाएँ।

हिन

प्रत्येक
जाता है
सर्जन-त
तो 'आ'

जहाँ अ
घटनाओं
का उद्
में, जीव
है, चा
है। अ
उपन्यास
विभिन्न
का निरु
सांस्कृति
निर्देशन
रीति-नी
जीवन
आँचलि

के साध
गई। इ
साहित्य
क्षेत्रीय
चरित्र-नि
हैं, वहाँ
सामान्य
एक खा

स्वातन्त्र्योत्तर कथा-साहित्य

ले० मधुकर गंगाधर

हिन्दी में आँचलिक उपन्यास

प्रत्येक उपन्यास, स्थान, काल, संस्कृति या संस्कार विशेष के लोगों को लेकर लिखा जाता है। इस अर्थ में कोई भी उपन्यास गैर-आँचलिक नहीं कहा जा सकता है। सर्जन-तत्त्व की प्रधानता के जरिये उपन्यास के प्रकृति-निर्णय का सिद्धान्त बनाया जाय, तो 'आँचलिकता' एक विशिष्ट औपन्यासिक दृष्टिकोण है।

आँचलिक उपन्यास तथा अन्य सभी उपन्यासों में एक सही अन्तर यह है कि जहाँ अन्य उपन्यासों में देश, काल एवं खास किस्म के संस्कार वाले पात्रों के जरिये घटनाओं के उत्कर्ष तथा चरित्रों के मनोविश्लेषण द्वारा जीवन के किसी सर्वमान्य सत्य का उद्घाटन या समर्थन होता है, वहाँ, आँचलिक उपन्यास एक ही प्रकार के परिवेश में, जीवन के सर्वमान्य सत्य-उद्घाटन के बदले, क्षेत्र-विशेष का सत्य उद्घाटित करता है, चारित्रिक विकास के लिये पात्रों की बजाय क्षेत्र की सम्पूर्ण जन-संख्या को चुनता है। अन्य उपन्यासों के पात्र अपने 'किस्म-विशेष' के प्रतिनिधि होते हैं, आँचलिक उपन्यास के पात्र क्षेत्र-विशेष की जीवन-प्रथा के विभिन्न स्तरों, विभिन्न प्रकारों एवं विभिन्न दलों का प्रतिनिधित्व करते हैं। अतः आँचलिक उपन्यास का आदर्श व्यक्तित्व का निरूपण एवं जीवन के सर्वमान्य सत्य की अभिव्यक्ति नहीं, बल्कि भौगोलिक या सांस्कृतिक सीमा-बद्ध खास क्षेत्र के सामान्य जीवन के सत्यों का अन्तर या एकरूपता निर्दशन है। देश, काल, जाति, धर्म, भौगोलिक स्थिति, आर्थिक-सामाजिक प्रणाली, रीति-नीतियों के मनोवैज्ञानिक रहस्य के बीच स्थापित क्षेत्रीय-जीवन में सम्पूर्ण विश्व-जीवन से या विश्व-जीवन के अन्य क्षेत्रों से जो विशिष्ट अन्तर आ जाता है, वही आँचलिक उपन्यासों का दृष्टिकोण है।

हमारी मानव-सभ्यता खण्ड-गत है। धरती के अलग-अलग भू-खण्डों में प्रकृति के साधन भिन्नतर होते गये, तदनुरूप मानव-जीवन की साबना भी रूपायित होती गई। इसलिये, हम अन्ततः खण्डगत या क्षेत्रीय संस्कृति के सामाजिक प्राणी बन सके। साहित्य मूलतः संस्कृति का उद्गायन है। अतः जहाँ सामान्य उपन्यासों में पात्रों के क्षेत्रीय जीवन का आँचलिक वातावरण दिये बगैर या गौणरूप से इसका प्रयोग कर हम चरित्र-विकास में विश्व-जीवन के सर्वमान्य सत्य का संघटक खोजने का प्रयास करते हैं, वहाँ आँचलिक उपन्यासों में विशिष्ट आँचलिक वातावरण में दिन-प्रतिदिन की सामान्य घटनाओं तथा वर्ग विशेष के प्रतिनिधि पात्रों की जीवन प्रक्रिया के माध्यम से एक खास भौगोलिक संस्कृति का उद्घाटन वांछनीय स्वीकारते हैं। ऐसे उपन्यासों में

७४ : आलोचना

घटनाएँ इतिहास परम्परा से अविच्छिन्न नहीं रहतीं, न पात्र अपने वर्ग की आदतों से मुक्त। घटना का हर क्रम एवं पात्रों की हर प्रक्रिया भौगोलिक सीमान्त का संकेत होता है। ऐसे उपन्यासों की कोई भी इकाई, इकाई न होकर संघ होता है। आंचलिक उपन्यासों का लक्ष्य, संतुलन या संक्रमण—किसी भी काल में, किसी क्षेत्र की सम्पूर्ण भौगोलिक संस्कृति का प्रतिनिधित्व करता है। इस तरह, यह धारणा कि किसी देश या देश-खण्ड की प्राकृतिक बनावट, वहाँ के लोगों की सामाजिक—आदतें, रीति-रिवाज, तथा स्थानीय भाषा के प्रयोगों द्वारा, एकदम नपुंसक ढंग से, किसी उपन्यास की पृष्ठ-भूमि तैयार कर लेना या किसी क्षेत्र विशेष के लिए संवेगात्मक पक्षाकर्षण की भाषा द्वारा रिपोर्टों के कुछ असम्बद्ध चित्र प्रस्तुत कर देना, उपन्यास को आंचलिक बना देता है—भ्रामक है।

आंचलिक उपन्यासों का आदर्श केवल किसी क्षेत्र की चित्रगत वास्तविकता प्रस्तुत करना नहीं, बल्कि सम्पूर्ण जीवन-प्रणाली की ऐतिहासिक एवं वैज्ञानिक धारणा प्रस्तुत करना है। प्राकृतिक एवं स्थूल सामाजिक वास्तविकताओं का चित्रगत प्रस्तुतन तो मात्र एक ढाँचा है। आंचलिकता वादियों का मंत्र है कि जैसे लोग अपने क्षेत्र की विशिष्ट भौगोलिकता में अपने को ढालकर सामंजस्यपूर्ण बनाने का प्रयास करते हैं तथा संस्कृति व सामाजिकता की एक खास प्रथा गढ़ते हैं, वैसे ही आंचलिक उपन्यासों की एक रस-सिद्ध विलक्षण मगर सामंजस्यपूर्ण सिद्धि होनी चाहिये।

विशुद्ध आंचलिक उपन्यास एक कठिन धारणा है। वस्तुतः आज के अधिक उपन्यासों में, जिन्हें आंचलिक उपन्यासों की श्रेणी में रखा जाता है, आंचलिकता का आभास मात्र रहता है। यह विपथ-वृत्ति “सामाजिक-उपन्यास” की संज्ञा से विभूषित उपन्यासों में देखने को आती है। हर सामाजिक उपन्यास में खास-क्षेत्र की जीवन-प्रणाली का चित्रण रहता है तथा लेखक की कोई सुधारवादी मनोवृत्ति साथ लगी चलती है। ऐसे उपन्यास भी, यद्यपि निम्नतम अर्थों में, आंचलिकता का आभास रखते हैं। श्रेणी-निर्णय की समस्या को सामने रखकर, सिद्धान्त रूप में इन उपन्यासों को अंशगत आंचलिक भी नहीं कहा जा सकता है। ऐसे उपन्यास, निस्सन्देह एक क्षेत्र-विशेष के सामाजिक जीवन की प्रणालियों को सामने लाते हैं, किन्तु यह उस क्षेत्र की सम्पूर्ण सांस्कृतिक-प्रणाली का एक अंग ही होता है। उस आंचल की सांस्कृतिक परम्परा से संबद्ध-असंबद्ध हर प्रकार के बौद्धिक तर्कों द्वारा सुधारवादी उद्देश्य को पूरा किया जाता है, उस क्षेत्र की सांस्कृतिक-प्रणाली में बनी विचारधाराओं द्वारा संस्कृति की ऐतिहासिक प्रगतिशीलता को मुखरित करने का प्रयास नहीं किया जाता है। ऐसे उपन्यास यथार्थवादी धारा की विश्व-सम्मत दार्शनिक-परम्परा को ग्रहण करते हैं। इनके पात्र एवं इनकी घटनाएँ उसी रूप में उद्देश्यपरक होती हैं। पात्रों के चुनाव एवं उनके चरित्र-विकास में सांस्कृतिक परम्परा को ध्यान में नहीं रखा जाता है, बल्कि उपन्यासकार का अपना सुधारवादी आदर्श ही कार्यरत्न रहता है। अंचल की सामाजिकता को उसी रूप में एवं उतना ही लिया जाता है, जितने से उपन्यासकार की पृष्ठ-भूमि तैयार हो जाती है। ऐसे उपन्यासों में घटनाओं का सृजन भी इसी में होता है।

आंचलिक उपन्यास में घटनाएँ स्वभाव-कल्पित दैनिक होती हैं। अंचल की भौगोलिक-संस्कृति के वातावरण में होने वाले मानवीय कार्य-कलापों का यथाचित्र घटना के रूप में लिया जाता है—और इन घटनाओं को सभ्यता के ऐतिहासिक एवं वैज्ञानिक विकास की कसौटी पर रखकर एक सांस्कृतिक दृष्टिकोण बनाया जाता है। आंचलिक उपन्यासकार का दायित्व इतना ही है। इस तरह हम देखते हैं कि अगर अंचल-विशेष के सामान्य जीवन को उपन्यास की पृष्ठ-भूमि बनाया जाय, तो भी, सामाजिक उपन्यासकार की प्रक्रिया से आंचलिक उपन्यासकार की प्रक्रिया भिन्न होती है।

१९वीं सदी के अंग्रेजी, रूसी एवं फ्रांसीसी उपन्यासकारों के अधिकांश महान उपन्यास देश-काल के यथार्थ वातावरण में यथार्थ-चित्रण के साथ लिखे गये। किन्तु उनमें से केवल कुछ ही कृतियाँ आंचलिक कही जायेंगी और कुछ अंशगत आंचलिक। कारण स्पष्ट है। इन सभी उपन्यासों में उपन्यासकार ने अपने आदर्शों की पुष्टि के लिए अंचल के खंडगत जीवन को प्रश्रय दिया है। इनकी आंचलिक पृष्ठ-भूमि 'पेसिव' है—ठंडा नमूना। आंचलिक उपन्यासों में यह जाग्रत रहा करती है तथा आंचलिक सभ्यता को विभिन्न पहलुओं में अभिव्यक्ति देती है। महान कलाकार प्रेमचन्द ने अपने उपन्यासों में उत्तर प्रदेश के गाँवों के अगणित चित्र प्रस्तुत किये, किन्तु उनके उपन्यास आंचलिक नहीं हैं। कारण, हर उपन्यास में उपन्यास के ऊपर उनका अन्याय-विरोधी आदर्शवाद हावी रहा है। सारी घटनाएँ एवं चरित्र-विकास उनके आदर्शवाद की भित्ति की तैयारी या पृष्ठ-पोषण के लिये हैं। ऐसे उपन्यासों में अक्सर पात्र ऐसा कुछ कर बैठता है, जो उस भौगोलिक परिवेश में सम्भव एवं स्वाभाविक नहीं होता। घटनाएँ भी अक्सर इस रूप में घटती दिखलाई जाती हैं, जो अप्रत्याशित एवं असाधारण लगती हैं। ऐसा संयोजन औपन्यासिक भूल नहीं, उद्देश्यमूलक प्रयास है। लेखक अपने आदर्श की सिद्धि के लिये नियत किये गये रास्ते से परिस्थितियों एवं विकास को आगे बढ़ाता है। आंचलिक उपन्यासों में ऐसा नहीं होता है। वहाँ की घटनाएँ, चरित्र-विकास, परिस्थितियों का मार्ग सभ्यता की ऐतिहासिक प्रगति में पहले से बनी बनाई रहती है। बनी लीक पर चलते हुए क्षेत्रीय जीवन से छेड़-छाड़ किये बगैर, उसकी वैज्ञानिक व्याख्या प्रस्तुत करना ही आंचलिक उपन्यासकारों का दायित्व है। इस प्रस्तुतन में सन्तुलन या संक्रमण की सारी स्थितियाँ स्वयमेव समाहित हो जाती हैं। क्षेत्र से बाहर होने वाले सामाजिक, सांस्कृतिक आन्दोलनों को भी वह अपने वृत्त में लेता है। किन्तु उसी सीमा तक, जहाँ तक क्षेत्रीय जीवन में इन्ब बाहरी आन्दोलनों से परिवर्तन आता है। आंचलिक उपन्यास ऐसे ऊँचे धरातल पर उस प्रक्रिया को आत्मसात करता है, जिसके द्वारा आंचलिक-संस्कृति का सत्य, समस्त विश्व-संस्कृति के सत्य में अपनी सत्ता मिलाकर अपने क्षेत्र को अधिक-से-अधिक प्रसारित कर लेता है। यहाँ यथार्थ की सिद्धि से अधिक उसकी प्रक्रिया महत्वपूर्ण होती है।

हार्डी, डिकेन्स, शरतचन्द्र एवं प्रेमचन्द्र जैसे महान लेखकों में आंचलिकता का सशक्त विभ्रम है। वैसे ये उपन्यासकार अपने में महान हैं और अपने "स्थान" के

७६ : आलोचना

समाज का कोना-कोना झाँक आये हैं। इस तरह के लेखकों की कृतियों में आँचलिकता का ऐसा आभास है कि अक्सर लोग भ्रम में पड़ जाते हैं। प्रेमचन्द ने उत्तर-प्रदेश के अनेक गाँवों को कथा-भूमि बनाकर भी उनकी स्थानीयता को ग्रहण नहीं किया। उनकी समस्या सम्पूर्ण उत्तर-भारत के 'किसान-वर्ग' की समस्या है।

चार्ल्स डिकेन्स ने इंग्लैंड के सामाजिक जीवन पर उभरी औद्योगिक क्रांति की विपम प्रतिक्रियाओं की महानतम वास्तविकताओं को सफलता के साथ उतारा है। लेकिन इन प्रतिक्रियाओं में इंग्लैंड का कोई सम्बद्ध ऐतिहासिक-संस्कृति का पक्ष उद्घाटित नहीं होता है। प्रेमचन्द की तरह उनकी समस्या भी औद्योगिक क्रांति से पीड़ित यूरोपीय जनता की सर्वनिष्ठ समस्या है। हार्डी ने 'वेसेक्स नॉवेल्स' के नाम पर जितने उपन्यासों का सृजन किया, उनमें आँचलिक वातावरण का प्रयोग तो ठीक हुआ, किन्तु किसी आँचलिक संस्कृति के उद्घाटन के बदले भाग्यवाद जैसे मानव-जीवन के सामान्य सत्य का उद्घाटन मात्र हो पाया। घटनाओं का काल्पनिक सृजन तथाकथित वेसेक्स प्रदेश की संस्कृति को ध्वनित नहीं करता, बल्कि भाग्यवाद की परिणति को सिद्ध करने के लिए संयोगात्मक कथा-सूत्र का ताना-बाना तैयार करता है। हार्डी ने स्थानीय वातावरण को कुछ हद तक संभाला है। किन्तु इन उपन्यासकारों की तुलना में शरत्चन्द्र आँचलिकता के अधिक निकट पड़ते हैं। उन्होंने 'पल्ली समाज' के जरिए बंगाल के गाँवों की सामाजिकता के सम्बद्ध चित्र प्रस्तुत किये हैं। किन्तु इनकी कृतियों में आँचलिक संस्कृति की परिणति न होकर, क्रांति-मुखी आदर्शवाद की ही परिणति हुई। 'पल्ली समाज' प्रेमचन्द्र एवं डिकेन्स की सामाजिकता एवं हार्डी की स्थानीयता के सन्नि-स्थल पर खड़ा है। इसलिए आँचलिकता का बड़ा धोखा यही उपस्थित हो सकता है। ऐसी तमाम रचनाएँ विश्ववादी हैं।

(२)

उपन्यास में आँचलिकता का आन्दोलन वस्तुतः अमरीकी साहित्य से प्रारम्भ होता है। सामान्यतः आँचलिक शब्द केथर, फॉकनर, स्टेनबेक की रचनाओं, जो यथार्थवादी क्षेत्र केन्द्रित हैं, के लिए लागू किया गया। इनका दावा है कि "इस नये औपन्यासिक दृष्टिकोण का आधार संयुक्त-राज्य अमेरिका के किसी खास क्षेत्र की भौगोलिक तथा आर्थिक-सांस्कृतिक खासियत है। व्यक्त करने के लिए वैज्ञानिक माध्यम अपनाया गया। ऐसे क्षेत्र-केन्द्रित औपन्यासिक दृष्टिकोण के लिए जाति और संस्कृति के विद्वत्तापूर्ण, शास्त्रीय एवं विज्ञान-सम्मत अनुसन्धान आवश्यक हैं। यह चित्रगत थोथे यथार्थवाद से संस्कृति की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि की व्याख्या की ओर ले जाता है।" अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में बिटहार्ट के उपन्यासों के जरिये स्थानीयता को वातावरण के रूप में ग्रहण करने की नई प्रथा अमरीकी उपन्यासों में चली। वस्तुतः हार्ट ने ही आधुनिक आँचलिकतावाद को जन्म दिया, यद्यपि इसके वैज्ञानिक परिणाम से वह दूर रहा। उसने अपने उपन्यासों में मानवीय संस्कृति के ऊपर भौगोलिक स्थिति एवं जलवायु के प्रभावों का अध्ययन किया। सन् १८८८ ई० में प्रकाशित उनके उपन्यास 'एफिलिस ऑफ साराज' में संस्कृति के दो भिन्न प्रकारों को दिखाया

गया है तथा एक हद तक एन्थ्रोपोलोजिकल अध्ययन भी प्रस्तुत किया। अपने दूसरे उपन्यास 'दी एनसेस्टर्स ऑफ पीटर आथरली' में भी उसी तरह मिश्रित अंग्रेजी वेश-परम्परा की संस्कृतियों का उद्गायन है। इन उपन्यासों ने आंचलिकता को श्रम की तरह स्वीकारा।

समकालीन हैरेट वीयर स्टो ने अपनी कृति 'मिनिस्टर्स वूचिंग' के जरिये हार्ट की साझेदारी में आंचलिकता के महत्व को पूरी तरह साबित करने की कोशिश की। स्टो के उपन्यासों में कथा एवं घटना सूत्र की मनोरंजकता पर अधिक खयाल किया गया है। हार्ट के उपन्यासों में अगर इन बातों पर ध्यान दिया जाता, तो वे, निश्चय ही, आंचलिक उपन्यासों में श्रेष्ठ गिने जाते। स्टो का 'ओल्डटाउन ऑक' ग्रामीण उपन्यास है, जिसमें आंचलिक होने का माद्दा है। इस उपन्यास में एक देहाती अंचल की संस्कृति, वहाँ के लोगों का सामाजिक तथा आर्थिक जीवन, जनता के मनोविज्ञान, रीति-रिवाजों आदि का चित्रण करते हुए स्पष्टतः स्वीकारा गया है कि 'मेरे लिए यह मात्र कथालेखन से बड़ा काम है।' स्टो का प्रयास सचमुच वैज्ञानिक रहा, यद्यपि इस कार्य की दुर्गम कठिनाइयों की दृष्टि से उसकी रचना-शक्ति सदा ही सीमित रही एवं औपन्यासिक संगठन की शिथिलता, जाति-वाद के पक्षपात एवं संवेगात्मक भाषा-प्रयोगों की कमजोरी से बच नहीं सकी।

स्टो की परम्परा में दूसरा नाम सारा जिवेट का है। इनका उपन्यास 'द कंट्री ऑफ द प्वाइन्टेड पार्स' को उन्नीसवीं सदी के अमरीकी आंचलिक उपन्यासों में श्रेष्ठ माना जाता है। इस उपन्यास में, अवतक के सभी आंचलिक उपन्यासों में पाई जानेवाली शिल्पगत शिथिलता, दूर हो गई है। अन्य उपन्यासों की तरह स्थानीयता की सतह की अतिशय निर्भरता भी इस उपन्यास में नहीं है। इसके चरित्र, वातावरण घटनाएँ यथार्थ व गतिशील हैं। मिलाजुलाकर प्रस्तुत उपन्यास उच्चकोटि का आंचलिक उपन्यास है। जिवेट ने आंचलिकता की अच्छी समाजशास्त्रीय परम्परा पाई थी। चरित्र पर जलवायु के असर की बात अक्सर सुनी जाती है। स्थान का भी अपने पर जवर्दस्त प्रभाव पड़ता है तथा वे तमाम चीजें, जो हमें घर के अन्दर या बाहर घरे रहती हैं, हमारे जीवन में, हमारे आचार-व्यवहारों में अपनी प्रकृति को मनवाती रहती हैं। प्रस्तुत उपन्यास में इस उक्ति का संतुलित पाक हुआ है। "अन्तर्दृष्टि की तूलिका से अंकित, सम्बेदना की प्रतिभा से रंजित, स्मृति की जीवन्त चेतना से पुनर्स्पृशित तथा सागर आकाश की पृष्ठभूमि—जो जिवेट की अपनी खास बात है—से सुसज्जित इस उपन्यास के चरित्र कथा-शिल्प के क्रांतिकारी प्रयोग हैं।" प्रस्तुत उपन्यास में कथा-प्रवाह एवं परिच्छेदों का संयोजन ऐसा सन्तुलित हुआ है कि परिच्छेदों के जोड़ तक महसूस नहीं होते।

इस सदी के अन्य अमेरिकन आंचलिक उपन्यासकारों में खडवार्ड इग्लसटन, वाशिंगटन केब्ल, चान्डलर हेरिस तथा सिडनीपोटर आदि के नाम विख्यात हुए हैं। ये उपन्यासकार आंशिक रूप से ही आंचलिक हैं, क्योंकि आंचलिकता का इनका सारा प्रयास, 'लोकल कलर' तक ही रह जाता है। इग्लसटन ने स्कूल मास्टर, सरकिट

राइडर, रौवसी आदि कृतियों के जरिये ख्याति पाई, किन्तु सबसे अधिक विख्यात रूप प्रेयसन्स में उपस्थित किया है। आंचलिकता की दृष्टि से सरकिट राइडर अधिक ख्याति पा सका। प्रस्तुत उपन्यास में उन्नीसवीं सदी के पूर्वार्ध के पश्चिम-मध्य अमेरिका के सामाजिक जीवन का चित्रण है। वाशिंगटन केवल को ऐसी सफलता नहीं मिली। “केवल, न्यू आर्किचन्स का साहित्यिक अनुसन्धानकर्ता ‘रेकार्डर’ होने का दावा रखता है।” उसने आंचलिकता की परम्परा को मात्र निवाह दिया। हेरिस इनसे भिन्न वातावरण लेकर उपस्थित हुआ। वह निग्रो-जीवन का अकेला कलाकार है। अक्ल रेमस सीरिज की इनकी रचनाएँ ख्याति-लब्ध हुईं। अमरीकी इतिहास की दृष्टि से हेरिस की रचनाएँ उत्तर तथा दक्षिण भागों के सांस्कृतिक संयोजन के लिए महत्वपूर्ण हैं। थियोडोर रुजवेल्ट ने इन्हें आंचलिक विरोधाभासों का सफल विश्लेषक माना है। विलियम सिडनी पोर्टर, जो साहित्य में ‘अमरीकी मोपांसा’ के विशेषण के साथ साथ उतरा, ओ० हेनरी के नाम से लिखने लगा। इनकी रचनाओं में आंचलिकता निम्नतम रूप में है, इतना निम्नतम कि इन्हें आंचलिक कथाकार के रूप में हिचक के साथ ही रखा जाता है। सिर्फ ‘द फोरमिलियन’ में इन्होंने न्यूयार्क के आंचलिक वातावरण में वहाँ के सामाजिक प्रश्नों को मात्र स्पर्श किया है। अमरीकी साहित्य में यथार्थवाद तथा स्वाभाविकतावाद की परम्परा ने भी आंचलिक उपन्यासों को अच्छी भूमि दी। लेकिन जिन महान उपन्यासों, उपन्यासकारों के नाम से यथार्थवाद एवं स्वाभाविकतावाद की परम्परा अमरीकी साहित्य में विख्यात रही, उन्हें आंचलिक उपन्यासकारों की श्रेणी में लाते वही दिक्कत उपस्थित होती है, जो डिकेंस और हाडॉ के साथ है। ऐसे उपन्यासकारों में प्रमुख मोरिस एवं वाटसन हैं।

प्रथम विश्वयुद्ध के बाद के अमरीकी उपन्यासों में आंचलिकता की लहर पुनः वही। इस काल में बड़े आंचलिक उपन्यासकारों में विला कैथर, फॉकनर एवं स्टेनबेक मुख्य माने जाते हैं। यह युग आंचलिक उपन्यासों की परम्परा में आधुनिकता लाने वाला माना जा सकता है। इस युग की मुख्य विशेषता यह रही कि उपन्यासकारों ने आंचलिक संस्कृति का मानव-शास्त्रीय सर्वे प्रस्तुत करते हुए भी आधुनिक सभ्यता के सर्व-समन्वयवाद को धर्म की तरह ग्रहण किया। प्रभाव की दो धाराएँ स्पष्ट हैं। आंचलिकता का प्रभाव सारा जिबेट का है एवं अन्तर्राष्ट्रीयता का प्रभाव प्रख्यात अमरीकी उपन्यासकार हेनरी जेम्स का।

विला कैथर को पश्चिमी प्रदेशों का विशेषज्ञ माना जाता है। लेकिन वे कभी किसी खास अंचल से बँधी नहीं रहीं। वस्तुतः उनके उपन्यास अन्तःआंचलिकता को चित्र-वर्णन के रूप में पाते हैं। मिसिसिपी के उत्तरी प्रदेशों की पट-भूमि पर लिखे गए इनके उपन्यास बड़े ही यथार्थ एवं गतिमान वर्णन प्रस्तुत करते हैं। लेकिन इस प्रवाह में आंचलिकता की प्रकृति खो-सी जाती है स्टाइनबेक उस युग के उपन्यासकार हैं, जिन अमेरिका महादेश से ऊपर उठकर स्वतंत्र विश्व की संज्ञा पाने का अधिकारी हो लेता है।

स्टाइनबेक स्वभाव से ही संस्कृति की अमरता एवं अनन्त विस्तार का विश्वासी

है। उनके उपन्यासों में “फोरगॉटन विलेज” एक ऐसा दर्पण है, जिसमें मेक्सिको के एक गाँव का अंग-प्रत्यंग झलक उठता है।

आंचलिक उपन्यासों की सही परम्परा हमें अमरीकी साहित्य में ही मिलती है। अंग्रेजी-फ्रेंच आदि उपन्यासों में इसका अभाव है, जिसका एक अनुमानगत कारण यह हो सकता है कि इन देशों की अपनी सामाजिक-सांस्कृतिक अभिव्यक्ति हमेशा अन्य देशों के उलट-पुलट से संबद्ध रही। जाति एवं सामाजिक जीवन की परम्पराएँ यूरोपीय देशों में इतने प्राचीन काल में ही स्थायी हो गईं, जब साहित्य में जाति व समाज की केन्द्रीयता की चेतना उदित नहीं हो पाई थी। यूरोपीय साहित्य में सर्व-सामान्य दार्शनिकता का उत्तरोत्तर उदय होता गया। रूस के साथ भी कुछ ऐसी ही बातें रहीं। एक महान औपन्यासिक परम्परा का विशाल देश रूस ने, अपनी आजादी के पूर्व, दर्शन एवं मानवतावादी सामान्य सत्त्यों की ओर अपने साहित्यकारों को उन्मुख रखा, आजादी के बाद, आंचलिकता के सफल उन्नयन का अवसर आया तो वहाँ के साहित्यकारों के समक्ष दर्शन का एक व्यावहारिक ‘मिशन’ उपस्थित हो गया। फलस्वरूप उनकी चेतना निश्छल आंचलिकता से परे हटकर, बौद्धिक व्यवहारवाद की मशीनी-रचना से उलझती गई। अमरीकी साहित्य के साथ ऐसी कोई बात नहीं हुई। स्वतन्त्रता-संग्राम के बाद अमरीकी साहित्यकारों में जाति एवं राष्ट्र-चेतना का अलौकिक अभ्युदय हुआ, जिस पर किसी दर्शन या राजनीति का ‘मिशनगत’ दबाव नहीं रहा। अमेरिका की उज्ज्वल से उज्ज्वलतर तस्वीरें तैयार करना, वहाँ के साहित्यकारों की धुन बन गई। विश्व के अन्य देश, अपने उपन्यासों पर आंचलिकता का लेबुल लगाने के लिये अमेरिका के ऋणी हैं।

(३)

भारतीय उपन्यासों पर पाश्चात्य औपन्यासिक-प्रणाली की अमिट छाप प्रत्यक्ष एवं परोक्ष रूप से अंकित है। हिन्दी उपन्यासों का विकास “मनोरंजन” की स्थिति से होता है। सर्वप्रथम प्रेमचन्द ने उपन्यासों को ‘मनोरंजक कथाकारिता’ की स्वाभाविक अस्वाभाविक कलाबाजी से अलग उच्च सामाजिक स्तर पर ले जाने का प्रयास किया। इसमें सन्देह नहीं कि प्रेमचन्द के उपन्यास हार्डी के उपन्यास से एक स्तर ऊपर हैं और डिकेंस की तरह सामाजिक विरोधाभासों को सफलरूप में चित्रित नहीं कर सकने पर भी हिन्दी-बंगला के सभी उपन्यासकारों को पीछे छोड़ जाते हैं। उनके उपन्यास गाँव के कथांचल पर आधारित होकर अंचल विशेष का एन्थ्रोपोजिकल सर्वे प्रस्तुत करने में अक्षम हैं, फिर भी गाँव-घरों के साधारण चित्र, रहन-सहन आदि प्रस्तुत कर जो उपन्यासकार अपनी आंचलिकता सिद्ध किया करते हैं, प्रेमचन्द के वे अनुगामी हैं। इस समय श्री शिवपूजन सहाय की ‘देहाती दुनिया’ एक ऐसी कृति उपस्थित हुई, जिसमें अंगर संयमित दृष्टि विस्तार एवं उच्चतर की कथाकारिता रहती, तो निश्चित रूप से हिन्दी को एक अच्छा आंचलिक उपन्यास मिल गया होता। भारतीय उपन्यासों में आंचलिकता का स्रोत बंगला उपन्यासों में फूटता है। इस अर्थ में शरत्चन्द्र को स्मरण किया जा सकता है, किन्तु शरत्चन्द्र में आंचलिकता उतनी ही और उसी रूप में थी,

जैसी प्रेमचन्द में। किन्तु शरत्चन्द्र ने अपने साहित्यकारों को इतना प्रभावित किया कि उनकी आंचलिकता के वंशधर श्री ताराशंकर, विभूतिभूषण, मानिक वन्द्योपाध्याय, सतीनाथ भादुड़ी आदि हुए। इन उपन्यासकारों ने आंचलिकता की नई और सबल धारा प्रवाहित की। शरत्चन्द्र ने अपने 'पल्ली समाज' में गाँव के सामाजिक संगठन का जो सीधा चित्र खींचा है, वह सचमुच अन्यत्र दुर्लभ है, फिर भी आगे आनेवाले इन नये कथाकारों ने एक प्रगति अवश्य की और वह प्रगति है अंचल के चित्रों के जरिये वहाँ के मानवशास्त्रीय अध्ययन का प्रस्तुतन। ताराशंकर के जन-पद, आरोग्य-निकेतन, एवं विभूति बाबू के आरण्यक आदि उपन्यासों में गाँव की संस्कृति अर्द्ध-नगर व नगर-संस्कृति से अपनी भिन्नता स्वयं खोलती है तथा गाँव एवं नगर के अन्तर्संस्कृतिक प्रसंगों की विशद सामाजिक आर्थिक चेतना प्रस्तुत करती है। इस प्रसंग में वस्तुतः ताराशंकर एवं सतीनाथ भादुड़ी सर्वाधिक प्रयत्नशील रहे हैं। श्री भादुड़ी ने 'ढोढाय चरितमानस' में पूर्णियाँ की पिछड़ी जातियों के चन्द आंचलिक परिवेद के जरिये वहाँ की जिन्दगी को अच्छी तरह प्रस्तुत किया है। लेकिन बंगला के ये ख्याति-लब्ध उपन्यास भी आंचलिक उपन्यास की परिभाषा से कुछ दूर रह जाते हैं। ये उपन्यास, सही तोर पर, आंचलिकता की ओर उन्मुख हैं। सामान्य सामाजिक उपन्यासों की पुरानी आदतों को छोड़ सकने में इन्हें सफलता नहीं मिल सकी है। आंचलिक संस्कृति के मानव-शास्त्रीय प्रस्तुतन के बदले, या कम-से-कम जैसा पर्ल बक ने किया, आंचलिक जीवन के आधार में छिपे-पले किसी एन्थ्रोपोलोजिकल रहस्य को उद्घाटित करने के बदले, इन उपन्यासकारों ने अपने ग्रामांचलों में अपने नये क्रान्तिकारी, सामाजिक, राजनैतिक विचार-धाराओं को ही प्रतिपादित किया है, जिनका आंचलिक संस्कृति के रहस्योद्घाटन से कम ही नाता-रिश्ता है।

इतनी मंजिल तय करने के बाद केवल एक उपन्यास नज़र आता है, जिसे सर्वांग सफल आंचलिक उपन्यास की संज्ञा दी जा सकती है।

वह उपन्यास है उड़िया भाषा के लंबवप्रतिष्ठ लेखक गोपीनाथ महान्ती की महान कृति 'अमृत सन्तान'। इस उपन्यास में विश्व के सभी उपन्यासों के बीच प्रथम श्रेणी में रखे जाने की योग्यता है। उड़ीसा के आदिवासियों (दक्षिणी जंगल) के जीवन पर यह उपन्यास लिखा गया है। आंचलिक उपन्यास की परिभाषा के अनुसार इस उपन्यास में सारा अंचल ही पात्र बन गया है। दिन-प्रतिदिन की घटनाएँ, पर्व-त्यौहारों की विधि, सामाजिक कार्यों को सम्पादित करनेवाले संगठन, उनकी प्रतिक्रियाएँ आदि को एक साधारण अन्तर्गामिनी कथा-सूत्र में गूँथकर यह उपन्यास उस अंचल के आदिवासी जीवन का बहुत ही उत्तम मानवशास्त्रीय सर्वे प्रस्तुत करता है। यहाँ उस अंचल में प्रचलित रीति-रिवाजों, धारणाओं, कड़ियों एवं आगे आनेवाली क्रान्तिकारी सम्भावनाओं की विशद पृष्ठ-भूमि में बड़ी ही पूर्णता के साथ संयोजित किया जा सकता है। यद्वा-कदा पुनरुक्त दोष नहीं होने से इसका कथा-प्रवाह भी अपने ढंग का अकेला माना जाता। भारतीय कथा-साहित्य में आंचलिकता के ख्याल से इस उपन्यास को 'आदर्श माना जा सकता है।

(४)

हिन्दी में आंचलिकता का विकास किसी जादुई ढंग से न होकर, वर्षों की साधना के जरिये हुआ है। हिन्दी गद्य की और विधाओं में जिस प्रकार विकास आया और नया स्वरूप उभरा, उपन्यास भी जन-जीवन के परिवर्तनों के साथ विकसित होता गया। यह सही है कि हिन्दी में आंचलिक उपन्यास का श्रीगणेश सन् '३० के आस-पास शुरू हो गया होता, अगर हिन्दी क्षेत्र मात्र गांधी की उदार नीति से प्रभावित नहीं होता। राष्ट्रीयता के जिस तीक्ष्ण स्वार्थ से आंचलिकता का जन्म होता है, उसका आभास शिवपूजन सहाय की 'देहाती दुनिया', निराला की 'चतुरी चमार', बेनीपुरी की 'माटी की मूरतें' आदि पुस्तकों से मिलता है। किन्तु इन लोगों के साथ राष्ट्रीयता के उदार दृष्टिकोण का आदर्श हमेशा चिपका रहा, फलस्वरूप सीमावद्ध आंचलिकता, जिसके सृजन में कला के यथार्थ का संजीवन होता है, न पनप सकी।

उत्तरार्द्ध बीसवीं सदी के प्रवेश के साथ हिन्दी में आंचलिकता का अभ्युदय हुआ, जब आज़ादी के बाद, राष्ट्रीय चेतना ने विश्व-मंच पर अपने 'अहम्' को प्रतिष्ठित करने की बातें सोचीं। अपने स्वरूप को आप देखने की इच्छा जगी। यह शुभारम्भ श्री नागार्जुन के साथ होता है। वैसे इनसे पहले श्री अमृतलाल नागर एवं शिव प्रसाद मिश्र रुद्र ने ऐसी रचनाएँ की थीं, जिन्हें आंचलिकता के निकट सम्बन्धी होने का श्रेय दिया जा सकता है। 'सेठ बाँकेमल' या 'बहती गंगा' में अंशगत आंचलिकता है। श्री नागर ने अपने व्यंग्य के लिए सेठ को चुनकर, सेठ की आंचलिकता को प्रधानता नहीं दी, बल्कि व्यंग्य के लिए यत्र-तत्र आंचलिकता का आभास प्रस्तुत किया। श्री रुद्र का प्रयोग निश्चित रूप से आंचलिकता के इतिहास में स्मरणीय होता, अगर 'बहती गंगा' के किनारों के साथ उसकी धारा की गहराई व गति भी प्रस्तुत की जाती। 'बहती गंगा' भी वस्तुतः 'लोकल कलर' जैसी हल्की परतों पर आधारित मानव-जीवन के चिरन्तन राग-द्वेष को उद्घाटित करने का प्रयास है।

इस तरह हिन्दी का पहला आंचलिक उपन्यास 'बलचनमा' को कहा जा सकता है। 'बलचनमा' की रचना-भूमि प्रेमचन्द की वसीयत है। प्रेमचन्द एवं उनके आसपास के लेखक मुख्य रूप से राष्ट्रीय आन्दोलन एवं उससे उत्पन्न समस्याओं को साधने में लगे रहे। प्रेमचन्द ने लोकाश्रय के लिए अंचल-विशेष को चुना, किन्तु प्रेमचन्द के साहित्य का मूल-धर्म लोकोदय था, जिसके विकास का श्रीगणेश दर्शन के उदारवादी दृष्टिकोण से हुआ। फलस्वरूप प्रेमचन्द अंचल-विशेष के न होकर, लोकमात्र के हो रहे। 'बलचनमा' की रचना के पीछे वे तमाम कारण आ जुटे, जिनके जरिये, किसी भी साहित्य में, आंचलिकता का अभ्युदय सम्भव हो सकता है।

जिस प्रकार अमेरिकन साहित्य में आज़ादी की भूख ने मातृ-भूमि की मिट्टी के प्रति प्रेमाधिक्य का सृजन किया, औपनिवेशिक प्रभुओं के लोक इंग्लैण्ड के समतुल अपने को प्रतिष्ठित करने के लिए देश के कोने-कोने की कला को अँगुलियों से छूने को विवश किया, भारत के साथ भी ऐसी ही बात हुई। छायावाद या उसके समकालीन गद्य का यह रूप हम आज भी गौरव से देखते हैं। प्रेमचन्द एवं उसके आसपास का

आलेखन इस स्थिति तक पहुँच गया था ।

नागार्जुन के अभ्युदय के साथ हमारी राष्ट्रीयता ने मार्क्सवादी एवं विकासवादी दृष्टिकोणों से काफ़ी परिचय कर लिया था । साहित्य के लिए आवश्यक हो गया था कि वह देश के खंड-खंड को महागाथाओं के जरिये उद्घोषित कर वर्गवादी संघर्ष की दलित आत्माओं का उद्बोधन करता ।

प्रेमचन्द ने वर्ग-संघर्ष की कथा को 'गोदान' में जिस रूप में प्रस्तुत किया था, उसके बाद लेखन-चेतना के लिए यह आवश्यक था कि वह वर्ग-संघर्ष के उस सर्वदर्शी रूप की ऐतिहासिक व्याख्या पूरी गहनता से करे । गाँव या नगर की ऐसी स्थितियों के जरिये कथाकारिता का प्रारम्भ होना विकास का सरल, स्वाभाविक एवं अटल नियम-सा था । एक मुख्य बात यथार्थवादी आन्दोलन का प्रभाव भी है । आदमी को यथातथ्य रँगने के सिलसिले में 'गोदान' मील का पत्थर बनकर अवतरित हो चुका था । आदमी के बनाने-बिगाड़ने वाले वातावरण एवं आर्थिक हालातों को विश्लेषित करने के लिए 'इतिहास की आर्थिक व्याख्या' का प्रचार-प्रसार हिन्दी में हो चुका था । एक बात खासतौर से ध्यान देने योग्य यह है कि आंचलिकता का यह प्रस्फुटन हिन्दी में ग्रामांचल को आधार बनाकर हुआ । इसका सर्वप्रमुख कारण यह है कि गांधी ने हमारे उदित होते राष्ट्र-प्रेम को गाँव की ओर मोड़ दिया, यह बात दूसरी है कि गांधी के इस राजनीतिक दर्शन के पीछे तालस्ताय या अन्य फ्रांसीसी विचारकों ने बुनियाद रखी हो । किन्तु इतना तो अवश्य हुआ कि प्रेमचन्द के समय के ही कवियों ने 'चलो कवि वनफूलों की ओर' एवं 'भारत माता ग्रामवासिनी' कहकर जन-जीवन के नये यथार्थवादी रोमान्स को जन्म दे दिया । यही कारण है कि 'बूंद और समुद्र' जैसा सबल प्रयास भी आंचलिकता को नगर-उन्मुख नहीं कर सका ।

हिन्दी के लिए ऐसी स्थिति उत्पन्न हो चुकी थी, जब अंचल पर आधारित 'वलचनमा' जैसी यथार्थ कथा का सृजन हो । इसलिए यह कहना अत्युक्ति नहीं कि 'वलचनमा' हिन्दी कथा-साहित्य की स्वाभाविक एवं अनिवार्य उपज है ।

आत्मकथ्य शैली का यह उपन्यास मिथिला की विराट् संस्कृति की नींव की इंट जैसे एक नौजवान के जीवन का इतिवृत्त है, जिसके जरिये सम्पूर्ण मिथिला के सामाजिक, ऐतिहासिक, आर्थिक एवं अन्य जीवन-आयामों को अभिव्यक्ति दी जाती है । अंग्रेजों की लादी गई जमींदारी-प्रथा से पैदा होनेवाली श्रम की गुलामी की सीमास्त व्याख्या, उसके शोषक विलास के साथ, यहाँ उपस्थित की गई है । अनादि काल से आती हुई मनु-याज्ञवल्क्य अनुमोदित हिन्दू वर्ण-व्यवस्था के अवशेष समाज की प्रस्तुत कथा मिथिला के समाज का दर्पण है, जहाँ ब्याह-श्राद्ध, उत्सव-शोक, झगड़े-गीत—जीवन का प्रत्येक व्यापार अपनी ऐतिहासिक व्याख्या के साथ उपस्थित किया गया है । समाज के परिवर्तन की मुख्य भाराओं—शिक्षा व राजनीति का यथार्थ अध्ययन इसे आंचलिकता की पूर्णता की ओर ले जाता है । हाँ, वलचनमा की क्षेपक-कथा (पटना-पुराण) निश्चय ही टाँकी गई चिप्पी-जैसी लगती है और अनायास ही 'गोदान' की भाग दौड़ वाली कथा-पद्धति की याद दिलाती है ।

नागार्जुन की यह कथा-दृष्टि आगे चलकर परिपक्व हो सकी और 'बाबा बटेसरनाथ', 'वरुण के बेटे' आदि उपन्यासों में उनका आंचलिक कथाकार अधिक उज्ज्वल रूप में सामने आ सका।

आंचलिकता की इस सफलता ने हिन्दी साहित्य को गहरे रूप में प्रभावित किया और हिन्दी में आंचलिकता का तूफान-सा खड़ा हो गया। नागार्जुन की तरह हिन्दी के स्वाभाविक विकास और कथा-परम्परा को आधार बनाकर आंचलिक उपन्यास-लेखकों में देवेन्द्र सत्यार्थी का नाम महत्त्व का है, जिन्होंने 'ब्रह्मपुत्र', 'दूधगाछ' आदि के जरिये उपन्यास के इस आयाम को समृद्ध किया। किन्तु देवेन्द्र सत्यार्थी ने लोक-जीवन से अधिक महत्त्व लोक-गीतों एवं किस्सागोई को दिया, जिसके चलते उनके उपन्यास, उपन्यास लेखकों के मसाला बनकर रह गये। आगे चलकर उदयशंकर भट्ट ने 'सागर लहरें और मनुष्य', भैरव प्रसाद ने 'सती मैया का चौरा' एवं राजेन्द्र अवस्थी तृपित ने 'जंगल के फूल'-जैसी अच्छी कृतियाँ दी हैं। भट्ट के उपन्यास में वे ही त्रुटियाँ आ गई हैं, जो 'वरुण के बेटे' में। यह त्रुटि है नाटकीयता। भट्ट ने कथा में चमत्कार के लिए मछुआ की लड़की को बम्बई की छूटी हुई नागरिका बना दिया और नागार्जुन ने मछुआ की बेटी को कम्युनिस्ट पार्टी का माउथपीस^१। मछुआ जीवन पर लिखे गए इन दो उपन्यासों के मछुए बंगला के ख्यातिलब्ध लेखक मानिक बन्धोपाध्याय के पद्मा के माँझियों के वंशज हैं या नहीं, यह कहना कठिन है, किन्तु इतना तो कहा ही जा सकता है कि हिन्दी के ये मछुए कागजी अधिक हो गए हैं। 'सती मैया का चौरा' एवं 'जंगल के फूल' आंचलिक उपन्यासों के अधुनातन प्रयोग हैं, जो अपने अंचलों को विशेष रूप से उद्घाटित कर सके हैं। 'सती मैया का चौरा' अगर अनावश्यक विस्तार से बचाया जाता तो निश्चित रूप से और श्रेष्ठ कृति होती।

हिन्दी में आंचलिकता की चर्चा आयात उपन्यास 'मैला आँचल' से प्रारम्भ हुई। बंगला के शिल्प-निर्माता सतीनाथ भादुड़ी की कथा-भूमि पूर्णिया के जीवन पर लिखा गया यह उपन्यास जब हिन्दी में अवतरित हुआ, तो बंगला से अजाने किसी मूर्धन्य हिन्दी आलोचक ने प्रेमचन्द से गोत्र स्थापित कराते हुए इसे 'गोदान' से श्रेष्ठ उद्धोषित किया और इस नये फतवे की वजह से चर्चा का बाजार गर्म हो गया। 'मैला आँचल' हिन्दी का आयात उपन्यास इसलिए है कि लेखक श्री रेणु ने बड़े ही कौशल से भादुड़ी के 'ढोड़ाय चरित मानस' के नीचे कार्बन रखकर इसका आलेखन किया है। तागाशंकर की कथाकारिता को भी रेणु ने आदर्श के रूप में स्वीकारा है, किन्तु यह आदर्श मात्र मानसिक आदर्श रह गया है। 'मैला आँचल' की भाषा, टोन, स्थापत्य, निष्कर्ष—कुछ भी हिन्दी से मेल नहीं खाता। श्री भादुड़ी ने पूर्णिया के बतमा, घांडर, बाबू आदि की कथा जिस अन्दाज, शक्ति, आदर्श एवं कलाकारिता से कही है, अगर पात्रों के नाम, घटनाओं की तिथि एवं उपशीर्षकों को अलग कर दिया जाए तो 'मैला आँचल' के लिखने का कोई प्रयोजन नहीं रह जाता है। यह सत्य है कि रेणु ने अपने गुरु (बकौल रेणु) भादुड़ी के चरण-चिह्नों का अनुसरण बड़े ही ईमानदार ढंग पर किया है, किन्तु मात्र यह ईमानदारी 'मैला आँचल' की आंचलिकता को कहाँ

८४ : आलोचना

तक पूर्णता देती है, यह जाँचने की बात है।

उद्भव और उत्स की बातें छोड़ देने पर रेणु की कृतियाँ 'मैला आँचल' 'परती परिकथा' आंचलिक उपन्यास का ईमानदार प्रयास मानी जा सकती हैं। 'मैला आँचल' पूर्णिया के एक गाँव के स्थानीय वातावरण की पृष्ठ-भूमि पर लिखा गया है। सन् '४२ के बाद सन् '४८ तक उस गाँव की स्थिति, संगठन, बोलचाल, रहन-सहन, व्यक्ति के मनोविकार, भारतव्यापी सामाजिक, राजनीतिक तथा आर्थिक आन्दोलनों का ग्रहण करने की उस अंचल की प्रक्रियाओं के संकलित शब्दचित्रों का नाम 'मैला आँचल' है। लेखक की ईमानदारी इस बात में है कि उसने गाँव के जन-जीवन की प्रतिक्रियाओं को भादुड़ी की सम्पूर्ण ईमानदारी के साथ उतारने की कोशिश की है, किन्तु इस भोले ईमानदारी मात्र से कोई उपन्यास आंचलिकता की शतें पूरी नहीं कर देता। सर्वप्रथम 'मैला आँचल' एक गाँव को लेकर लिखा गया है, जिसके नाम पर संस्कृति के किसी खास लेबल का प्रचलन असम्भव है। दूसरी बात, भादुड़ी-ताराशंकर का अनुगमन का भी लेखक उनके जनपदीय उपन्यासों की संबद्धता व संगठनशीलता ग्रहण नहीं कर पाया। सांस्कृतिक परिवर्तन के ऐतिहासिक सत्य की व्याख्या पूर्ण रूप से प्रस्तुत नहीं हो पाई है। 'मैला आँचल' किसी भी संस्कृति का कोई भी एन्थ्रोपोलॉजिकल सत्य प्रस्तुत नहीं करता है। उसकी सफलता, स्थानीय बोलियों के प्रयोग में है।

'मैला आँचल' के अभावों की पूर्ति 'परती परिकथा' में करने की चेष्टा है। यहाँ लेखक सांस्कृतिक परिवेश तैयार करने के लिए कोशी का इतिहास लिखकर कोशी-संस्कृति का बिल्ला अपने उपन्यास पर साँटता है। संस्कृति-उद्घाटन के लिए शिविन्दर मिसिर की कथा-किम्बदन्तियों का श्लेषक-प्रयोग किया है तथा खानदान का गज-पत्रों के बीच से कोशी-अंचल की भूमि की प्रकृति को निर्देशित करनेवाले सांकेतिक चक्रों की मायावी-जासूसी उपलब्धि कराता है। इतने प्रयासों को स्वीकार लेने के बाद भी कहना पड़ता है कि ये सभी प्रयास सूनेपन को व्यर्थता से भर देने के लिए हैं। मिसर-घराने का श्लेषक उपन्यास एक ऐसे परिवार की नानी की कहानी बन गया है, जिसे गाँव के जीवन से ऊपरी लगाव-भर है। 'मैला आँचल' से एक प्रगति इस अवश्य है कि गाँव में होनेवाली दैनिक हलचलों की प्रतिक्रियाएँ यहाँ अधिक स्पष्ट हैं किन्तु भावुकता के अतिरेक, चरित्रों की अस्वाभाविकता एवं आदर्श के घटियापन के कारण 'मैला आँचल' से अधिक असफल हो गया है। आंचलिक उपन्यास की मूल भावना, लोकोदय का रहस्य एवं लोक-जीवन के दर्द को सहानुभूति के बदले व्यक्त एवं परवर्द्ध रिफ्लेक्शन में देखा गया।

आंचलिकता की कसौटी पर इतने दुर्गुणों को धारण करने वाले रेणु के ये उपन्यास औपन्यासिक दृष्टि से श्रेष्ठ हैं। इनकी त्रुटियों का एक बड़ा मूल कारण है कि 'अमृत सन्तान' के कथांचल की तरह यहाँ कोई विशिष्ट कथांचल नहीं है। जिस गाँव 'अंचल' में इन उपन्यासों की मृष्टि होती है, वहाँ संस्कृति-उद्घाटन के लिए भाषा विभिन्नता एवं कुछ साधारण रीति-रिवाजों की पद्धति-भिन्नता के अलावा क्या विशिष्ट हो सकती है? वैसे, पूर्णिया के गाँवों का बड़ा अंचल कथा-भूमि के लिए चुनकर

गहनतापूर्वक अध्ययन कर आंचलिकता के नाम पर कुछ बहुत ही महीन तन्तुओं को ढूँढा जा सकता है, क्योंकि नील-युग के अंग्रेजों, नेपालियों, पूर्वी पाकिस्तान के मुसलमानों से इसका गहरा सम्बन्ध रहा है। लेकिन रेणु ने अपना क्षेत्र इतना सीमित रखा है और उपन्यास के लिए जिस रिपोर्टाज-शैली को चुना है कि उसे मात्र छिछला रिपोर्टर बनकर रह जाना पड़ा है। उसके वर्णित गाँवों में सामाजिक जीवन की कोई विशिष्ट धारणा तो है नहीं, बिहार के गाँवों की सर्वसामान्य धारणाओं से अलग लोक-भाषा के चन्द बने-बिगड़े शब्द और भौगोलिक दाय के नाम पर चन्द खान-पान की चीजें उपलब्ध हैं। लेखक ने इसी साधारण भिन्नता को तरह-तरह से अतिरंजित कर असाधारण एवं विशिष्ट बनाने का कसरती प्रयास किया है। यह आंचलिक कला का परवर्सन है। सत्य को प्रकट करने के लिए कला के तोड़-मरोड़ के बदले कलाकारिता को सिद्ध करने के लिए सत्य को विकृत कर दिया गया है। आंचलिकता-प्रेमियों के लिए यह एक दुःखद बात है कि रेणु जैसे प्रतिभासम्पन्न कथाकार ने भादुड़ी, ताराशंकर से बाहर झाँकने की कोशिश नहीं की, वरना वह बहुत ही श्रेष्ठ कृतियाँ दे पाता। श्री महान्ती या पल्लवक से कुछ सीखे वगैर रेणु ने आंचलिकता को अपने आलेखन का आधार बनाकर साहित्य की मौसमी खेती भर की। जिस प्रकार महान्ती ने अपने आदिवासी कथांचल की संस्कृति में भारत की आर्य एवं अनार्य संस्कृति की भिन्नता—सम्मेलन, प्रवाह एवं प्रभाव—दिखलाई, अथवा पल्लवक ने सम्पूर्ण चीन के कथांचल में वहाँ की सामाजिक एवं आर्थिक धारणाओं का अन्वेषण कर भूमि-सम्पत्ति के मोह को उजागर किया, वैसा कुछ रेणु नहीं कर सका।

इस सामान्य विश्लेषण से इतना स्पष्ट हो गया कि आंचलिक उपन्यास के विकास के लिए परिस्थिति-विशेष की खास आवश्यकता है। उपन्यास साहित्य का विकास स्वयं युग-चेतना की विशद पृष्ठभूमि में हुआ करता है। आंचलिक उपन्यास युग-चेतना के उस निर्माण-काल की अभिव्यक्ति है, जहाँ सामाजिक जीवन में अपनी जाति, अपने धर्म, अपने राष्ट्र की कट्टरता भरी रहती है। यह ठीक है कि आंचलिक उपन्यासों में दृष्टिकोण या विरोधाभास भी काफ़ी रहता है। उपन्यासकार में आंचलिक संस्कृति की विशुद्धता एवं विशिष्टता के लिए विशेष पक्षपात रहा करता है।

आंचलिक उपन्यास विकास के बीच की सीढ़ी है। आंचलिकता के स्तर पर साहित्य का विकास रुकता नहीं है। संस्कृतियों के सम्मिश्रण से ज्यों-ज्यों जीवन का दृष्टिकोण विश्व-सम्मत होता जाता है, साहित्य भी जीवन के बृहत्तर मौलिक तथा सर्वसामान्य सत्यों के लिए अपने को प्रस्तुत कर लेता है। साहित्यकारों के लिए युग-चेतना का यह दायित्व सदा से वहन करने योग्य रहा है।

साहित्य की उपयोगिता तथा औचित्य की दृष्टि से आंचलिक उपन्यास न तो औपन्यासिक दृष्टिकोण के विकास का चरम उत्कर्ष है और न ऐसे उपन्यास को अन्यतम सफलता के साथ लिखकर लेखक अपने दायित्व को हल्का कर लेने योग्य हो जाता है। यह तो विकास की प्रक्रिया मात्र है। इन उपन्यासों के औचित्य एवं उपयोगिता को जब हम मानव-संस्कृति के विश्व-विकासोन्मुखता की कसौटी पर रखते हैं, तो वस्तुतः

८६ : आलोचना

आंचलिक सीमावद्धता के रूप में कितने ही संकीर्ण विरोधों के प्रश्न सामने आ जाते हैं। सर्वप्रथम, क्या आंचलिक उपन्यासों में संस्कृति के अन्तर-आंचलिक प्रभावों का स्थान दिया जाए ? अगर उपन्यासकार इस बात को स्वीकार करता है तो आंचलिकता की कोई सीमा-रेखा खींचना कठिन हो जाता है। अगर अस्वीकार किया जाता है तो युग-चेतना की गत्यात्मकता में स्थायी वास्तविकता का विरोध खड़ा हो जाता है। चार्ल्स डिकेन्स, प्रेमचन्द एवं बीसवीं सदी के अमेरिकन आंचलिक उपन्यासकारों की कृतियों के आंचलिकता-निर्धारण में यही कठिनाई है। निःसन्देह, जिबेट, पर्लबक, महान्ती, इन तीन सफल उपन्यासकारों के नमूने हैं, जिन्होंने अन्तर-आंचलिक प्रभावों को आंचलिक सीमा के भीतर इस तरह घुला-मिला दिया है, जैसे विभिन्न पदार्थों से बना शरीर का रक्त। यह पाक-प्रक्रिया आंचलिक उपन्यासों की खास समस्या है।

अस्तु, आंचलिक उपन्यासों की पहली दशा यह है कि इनके कथांचल की अपनी विशिष्ट संस्कृति हो। दूसरी, इस संस्कृति का उद्घाटन दो सम्मिलित प्रणालियों द्वारा हो। अध्ययन की प्रणाली के रूप में आंचलिक उपन्यास संस्कृति-अनुसन्धान की प्रक्रिया पूरी करता है और औपन्यासिक प्रणाली के रूप में आंचलिक आवरण के भीतर जीवन के चित्र खींचता है। ऐसे उपन्यासों में मनोविश्लेषण की कोई व्यक्तिपरक प्रणाली नहीं होती है। यह प्रणाली जाति-परक और वर्ग-परक होती है। पात्र अपना प्रतिनिधि नहीं होता, बल्कि जाति या वर्ग का और उसी परिभाषा में व्यक्ति का मनोविज्ञान उसकी अपनी प्रकृति नहीं होती, बल्कि उसकी जाति-संस्कार अथवा वर्ग-संस्कारगत विकास की प्रक्रिया होती है। इस तरह आंचलिक उपन्यास में उद्देश्य की दृष्टि से पात्रों का चुनाव दूसरी बड़ी समस्या है। यहाँ पात्रों की अपनी निश्चित क्रिया होती है और वे एक निश्चित दायित्व को वहन करते हैं। जन-जीवन के विभिन्न पक्षों का प्रतिनिधित्व करते हुए ये पात्र उपन्यास के अनुसन्धानिक माध्यम होते हैं। आंचलिक उपन्यासों में ऐसे पात्रों का महत्त्व नहीं होता, जो अपनी किस्म के आप प्रतिनिधि हों। 'परती-परिकथा' के भिन्नमल मामा जैसे हीट्रोजीनियस पात्र अंचल को उभार तो जरूर देते हैं, किन्तु संस्कृति के अनुसन्धान में ऐसे पात्र बाधक होते हैं।

इतनी सारी बातों के बाद, यद्यपि हिन्दी में अभी तक सर्वांग सफल आंचलिक उपन्यास लिखा नहीं गया है, किन्तु इस ओर प्रयास में कमी नहीं है। आज के दिन, हिन्दी उपन्यास की एक मुख्य धारा के रूप में आंचलिकता उभर आई है, जिसके आधार पर कहा जा सकता है कि निकट भविष्य में, निश्चय ही हिन्दी में जिबेट, पर्लबक, महान्ती जैसा व्यक्तित्व आने को है।

स्वा

प्रेमचन्द

अधिक

होंगे।

का। उ

विजय

या किर

तब यह

बहुत-से

प्रेमचन्द

निकोल

दीक्षा'

लिए च

पाई ज

आ बंधे

आविर्भा

हो, ऐ

कि आ

तो यह

इसीलि

ने अभि

पा ली,

आसपा

गतिरो

भी कह

है कि

१. कु

२. आ

३. आ

४. उप

५. दी

स्वातंत्र्योत्तर कथा-साहित्य और चरित्र-विकास

प्रेमचन्द ने एक स्थान पर लिखा है कि भविष्य में उपन्यास में कल्पना कम सत्य अधिक होगा, हमारे चरित्र कल्पित न होंगे, बल्कि व्यक्तियों के जीवन पर आधारित होंगे। भावी उपन्यास जीवन-चरित्र होगा, चाहे किसी बड़े आदमी या छोटे आदमी का। उसकी छुट्टाई-बड़ाई का फ़ैसला उन कठिनाइयों से किया जाएगा, जिन पर उसने विजय पाई है। अभी हमें मूल आधार दिखाना होगा। किसी किसान का चरित्र हो या किसी देशभक्त का या किसी बड़े आदमी का, पर उसका आधार यथार्थ पर होगा। तब यह काम उससे कठिन होगा जितना अब है, क्योंकि ऐसे बहुत कम लोग हैं, जिन्हें बहुत-से मनुष्यों को भीतर से जानने का गौरव प्राप्त हो।^१ आज के रूसी उपन्यास प्रेमचन्द के इस कथन को चरितार्थ करते हैं। पेस्टरनक का उपन्यास 'डॉक्टर जिवागो', निकोलाई ओब्रोवोस्की का उपन्यास 'अग्निदीक्षा' इसका सुन्दर उदाहरण है। 'अग्नि-दीक्षा' दरअसल प्रारम्भ से अन्त तक लेखक की आत्मकथा है। इस युग की कथा के लिए चरित्र-विकास ही प्रधान हो गया। स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी-कहानी में भी यही प्रवृत्ति पाई जाती है। घटना की बाँहों से छूटकर हिन्दी-कहानी 'चरित्र' के ही आलिंगन में आ बैधे, यह हिन्दी कथा-सृष्टि के लिए शुभ संयोग है। चरित्र ऐसे, जिनके प्राण का आविर्भाव कल्पना के आकाश से न होकर कथाकार की आत्मानुभूति के घरातल से हो, ऐसी योजना नई लेखनी द्वारा ही संयोजित हुई है।^२

आज के उपन्यास-शिल्प का मेरुदण्ड है चरित्र।^३ श्री श्रीपतराय का मत है कि आज का उपन्यास वैचित्र्यकृत आत्मकथा का रूप लेता जा रहा है।^४ सच बात तो यह है कि बिना महान् चरित्र के कोई भी उपन्यास महान् नहीं बन सकता है। इसीलिए वाल्टर एलन ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक में लिखा है—

"देयर इज नो ग्रेट नावेल विदाउट ग्रेट केरेक्टर।"^५

स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद हिन्दी-कथा-साहित्य में नये विचारों एवं नई उत्क्रान्ति ने अभिव्यक्ति पाई। सन् १९५० तक उस उदय-उत्क्रान्ति ने एक सुस्थिर दिशा पा ली, जो निस्सन्देह हिन्दी-कथा-साहित्य के लिए शुभ प्रतीत हुई। इस तिथि के आसपास हिन्दी-साहित्य में गत्यवरोध, गतिरोध और कुंठा का नारा खूब लगाया गया। गतिरोध के इस प्रचार-प्रसार से प्रभावित होकर दिनकर जैसे समाजवादी साहित्यकार भी कहने लगे कि आज गांधीवाद और मार्क्सवाद की सीमा पर खड़ा भारत सोच रहा है कि वह किधर जाए। इसमें कोई सन्देह की बात नहीं कि ऐसा केवल इसलिए हो

१. कुछ विचार, पृ० ५६।

२. आज, साहित्य विरोधांक, १९६१, पृ० १८।

३. आलोचना (उपन्यास विरोधांक), पृ० १५८।

४. उपन्यास का रूप-विधान, साहित्यकार सम्मेलन, इलाहाबाद में पठित निबन्ध, १९५७ ई०।

५. दी इंगलिश नावेल, पृ० १५।

८८ : आलोचना

रहा था कि ये कलाकार स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद साहित्य के लिए कोई व्याख्येय विचार-दर्शन नहीं खोज पा रहे थे। परिणामस्वरूप कुछ दिनों के लिए हिन्दी में अराजकता जैसी स्थिति परिलक्षित होने लगी। इस अराजकता और कुंठा की स्थिति को कांग्रेस के समाजवादी समाज (Socialistic Pattern of Society) के नारे ने बहुत-कुछ कम कर दिया और साहित्य के प्रति बहुत सारे रचनाकारों का दृष्टि-कोण साफ़ हो गया—विशेषकर ऐसे साहित्यकारों का, जो मार्क्सवाद से छूट की बीमारी की तरह परहेज करते थे और साहित्य का पानी कला की छन्नी से छानकर पीते थे। हालाँकि पूर्णतः ऐसा कहना भी शायद असत्य होगा कि समाजवादी दृष्टि-कोण ने ही गत्यवरोध और कुंठा के स्थान पर नये, ताज़े और निर्माणोन्मुखी कथा-साहित्य को जन्म दिया। गत्यवरोध समाप्त करने में नये साहित्यकारों ने बहुत बड़ा सहयोग दिया, जिनकी दृष्टि नये होने के कारण स्वाभाविक रूप से व्यापक थी, क्योंकि वे स्वतंत्रता की हवा में साँस ले रहे थे, लेकिन यहाँ मैं यह नहीं कहना चाहता हूँ कि वे नये साहित्यकार कांग्रेस द्वारा प्राप्त स्वतंत्रता में पूर्ण आस्था रखते थे। कई लोगों का बड़ा गहरा मतभेद इसमें था, किन्तु वे नये थे अर्थात् उनका पूर्ण विकास इस युग में हो रहा था, अतएव इनकी रचनाएँ परम्परागत कथा-परम्परा को छोड़ रही थीं। किन्तु उस समय के परम्परागत कथाकार, जो प्रेमचन्दोत्तर कथा-धारा के सबल स्तम्भ माने जाते थे, पुरानी विचारधारा और अपने सीमाबद्ध क्षेत्र में रहकर रचनाओं का सृजन कर रहे थे, जिससे गत्यवरोध और घुटन तो बढ़ ही रही थी, नये कथाकारों को उससे सन्तोष भी नहीं हो पा रहा था। इस युग में प्रकाशित जैनन्द्र, अज्ञेय और अश्व आदि की रचनाएँ इसका उदाहरण पेश करती हैं। भुवन (नदी के द्वीप, १९५१) शेखर का ही दूसरा रूप है, गरमराख (१९५२) का नायक चेतन का प्रतिरूप है और सुखदा एवं विवर्त (१९५३) सुनीता का। इस पुनरावृत्ति की परम्परा को तोड़ने में उस समय निम्नलिखित बाह्य और आन्तरिक शक्तियों ने योगदान दिया—कथाकारों की सामाजिक यथार्थवाद पर नई आस्था, जीवन को समग्रता में देखने का प्रयास अर्थात् नगर और ग्राम-जीवन को एकाकार कर एक ही कृति द्वारा प्रभाव उत्पन्न करने का महाकाव्योचित प्रयास, नवीन भाषा-संस्कार अर्थात् आंचलिक भाषा-शैली का अधिकाधिक प्रयोग और जनवादी भावनाओं का पृष्ठपोषण अर्थात् 'जिनमें जीवन के प्रति अनुराग एवं मानव-प्रेम है, जो स्थायी विश्व-शान्ति, आज़ादी और जनवाद के समर्थक हैं।'¹

उपर्युक्त प्रवृत्तियाँ स्वातन्त्र्योत्तर अधिकांश कृतियों में आसानी से देखी जा सकती हैं, जिसका सबल सूत्रगत नागार्जुन ने अपने 'बलचनमा' के द्वारा किया। नागार्जुन का औपन्यासिक विकास स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद होता है। उनकी पहली औपन्यासिक कृति का प्रकाशन १९४८ ई० में हुआ। यही बात रेणु के साथ भी है। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद ही कतिपय महत्वपूर्ण कथाकारों का विकास होता, जिनमें रागिय राघव, अमृतलाल नागर, हजारीप्रसाद द्विवेदी, बलवन्तसिंह, भारती, देवराज,

१. शिवदानसिंह चौहान।

राजेन्द्र यादव, रेणु, नरेश मेहता, कमलेश्वर, राकेश, मार्कण्डेय, मन्तू भंडारी आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। इस युग की महत्त्वपूर्ण कृतियाँ निम्नलिखित हैं—‘बलचनमा’, ‘बुखमोचन’ (नागार्जुन), ‘गंगा मैया’, ‘जंजीरें और नया आदमी’ (भैरवप्रसाद गुप्त), ‘मैला आंचल’, ‘परती परिकथा’ (रेणु), ‘अमरवेल’ (वृन्दावनलाल वर्मा), ‘जयवर्धन’ (जैनेन्द्रकुमार), ‘गरमराख’ (अश्वक), ‘झूठा-सच’ (यशपाल), ‘सागर, लहरें और मनुष्य’ (उदयशंकर भट्ट), ‘कब तक पुकारूँ’, ‘गदल’ (रंगेय राघव), ‘नदी के द्वीप’ (अज्ञेय), ‘उखड़े हुए लोग’ (राजेन्द्र यादव), ‘डूबते मस्तूल’ (नरेश मेहता), ‘पथ की खोज’ (डॉ० देवराज), ‘गुनाहों का देवता’, ‘सूरज का सातवाँ घोड़ा’, ‘गुलकी बन्तो’ (भारती), ‘बूंद और समुद्र’, (अमृतलाल नागर), ‘चारुचन्द्रलेख’ (हजारीप्रसाद द्विवेदी), ‘जहाज का पंछी’ (इलाचन्द्र जोशी), ‘बीज’ (अमृतराय), ‘पूर्व और पश्चिम’ (राधिकारमणिसिंह), ‘भूले बिसरे चित्र’ (भगवतीचरण वर्मा), ‘अंधरे वन्द कमरे’ (मोहन राकेश), ‘इन्दुमती’ (सेठगोविन्ददास), ‘भूदानी सोनिया’ (उदयरजसिंह), ‘निर्देशक’ (पहाड़ी), ‘बोरीबली से बोरी बन्दर तक’ (शैलेश मटियानी), ‘बोगस’, ‘फुटपाथ’, ‘रामलीला’ (राधाकृष्ण), ‘चाँदनी के खण्डहर’ (गिरधर गोपाल), ‘लोहे के पंख’ (हिमांशु श्रीवास्तव), ‘बया का घोंसला और साँप’ (लक्ष्मीनारायणलाल), ‘दूधगाछ’ (देवेन्द्र सत्यार्थी), ‘सोया हुआ जल’ (सर्वेश्वरदयालसक्सेना), ‘परन्तु’ (माचवे), ‘उद्भ्रान्त’ (जैनकुमार जैन), ‘भँवर के बीच’ (श्यामलकिशोर झा), ‘अनामन्त्रित मेहमान’ (माधवन) आदि।

स्वतन्त्रता-पूर्व की कथाकृतियों में अर्थात् प्रेमचन्दोत्तर कथाकारों ने औपन्यासिक महाकाव्यात्मक व्यक्तित्व के अभाव में खण्डित व्यक्तित्व का चित्रण किया। फलतः अधिकांश कथा-चरित्र रेखाचित्र मात्र हैं। लेकिन उस युग के आलोचक यह दावा करते रहे कि आज के जीवन को विभिन्न खण्डित आयामों एवं इकाइयों में ही देखा जा सकता है। ‘क्राइसिस’ के इस युग में संभव नहीं कि ‘गोदान’ जैसी महाकाव्यात्मक रचना का सृजन हो। हालाँकि पृष्ठों की तुलना में इस बीच ‘गोदान’ से अधिक पृष्ठ वाले उपन्यास भी प्रकाशित हुए, पर उनमें ‘गोदान’ का-सा व्यापक जीवन-चित्रण नहीं है। किन्तु स्वातन्त्र्योत्तर युग में ‘गोदान’ की परम्परा को विकसित करते हुए युग की समकालीन यथार्थ परिस्थितियों का चित्रण प्रेमचन्द एवं अन्यान्य समष्टि-वाही कथाकारों की-सी संवेदना का ऐसा ही चित्रण ‘बलचनमा’ और ‘परती परिकथा’ में किया गया। सम्पूर्ण परती घरती की कथा जितन, लुत्तो, ताजमनी, सुवंशराय आदि के माध्यम से उभरती है, अर्थात् यदि शेक्सपीयर से विचार उधार लिये जायें तो कहा जा सकता है कि ‘परती’ एक रंगमंच है और उपन्यास के विभिन्न पात्र उस पर अभिनय करने वाले अभिनेता हैं। इसीलिए ‘परती परिकथा’ के पात्र व्यक्ति-चरित्र नहीं हैं, क्योंकि उनकी कथा प्रमुख नहीं, बल्कि वे समष्टि-चरित्र हैं, मात्र जाति चरित्र से भी अधिक। इसलिए यहाँ व्यक्तियों के साथ-साथ परती घरती भी अपनी चारित्र्यिक विशेषताओं को स्पष्ट करती है और समूह के इस चरित्र-विश्लेषण की व्यापकता को लेकर श्री फणीश्वरनाथ ‘रेणु’ ने अपने उपन्यासों की सृष्टि की है। प्रकृति का एक खण्ड, दुलारी राय की धूल-भरी परती घरती तथा मिथिला का ‘मैला आंचल’

६० : आलोचना

उसकी कथा का विषय है। उपन्यास का नायकत्व किसी एक व्यक्ति को प्रदान नहीं किया गया है, क्योंकि केवल व्यक्ति का महत्त्व वहाँ नहीं है। कथा व्यक्ति के पीछे नहीं चलती। इस प्रसंग में विश्व-कथा-साहित्य की अन्यतम रचना 'मदर' का भी उदाहरण अपेक्षित है। गोर्की के 'मदर' या 'माँ' उपन्यास से पावेल का चरित्र निकाल दिया जाए तो उपन्यास में वर्णित विद्रोह, रूस के मजदूरों का जीवन-संघर्ष अपनी वेप-भूषण (गेसचर-पोसचर) के द्वारा भी उपन्यास के प्रभाव को जीवित रखते हैं। इलिया इहरेनबुर्ग की 'आँधी', ओत्रोवस्की की 'अग्निदीक्षा', हेमिंग्वे के उपन्यासों, विशेष रूप से 'सागर और बूढ़ा आदमी' (दी ओल्डमैन एंड दी सी) जैसे लघु उपन्यासों से भी यदि प्रमुख चरित्र को हटा लें, तो उपन्यास का प्रभाव सुरक्षित रह जाता है, जो मानव के श्रम-संघर्ष अथवा सागर और पौरुष का परिचायक है। सन् १९५०-६० के बीच सम्पूर्ण विश्व-उपन्यास की यह स्थिति थी। वहाँ व्यक्ति और समाज का पारस्परिक सम्बन्ध बड़ा घना दिखाया गया है, किन्तु इन क्रुद्ध पीढ़ी के लेखकों की नज़रों में समाज बड़ा विकृत है। ये अपनी इकाई को स्वतन्त्र मानते हैं। किन्तु केवल आत्म-कथात्मक चरित्रांकन इनका ध्येय नहीं है। विलियम गोर्लिंग, आइरिश मुरडोक, जेन आस्टीन, मान, स्नो, आदि इस युग के प्रतिभाशाली उदाहरण हैं जिनका उद्देश्य आज जीवन की महत्वपूर्ण अभिव्यक्ति करना ही है।

"But the most important fact about the novel at present is that it is vigorously worked field producing some rich results. It should develop, finding new scope and strength, whether as what it is at the moment a moral drama or as a more direct portrayal of life. This is good and also important since this literary form seems to be the most fit to be our civilization's chief instrument of awareness and self-expression."

इस युग के कथा-साहित्य में प्राचीन काल के धीरोदात्त क्षत्रिय का, देववंशोद्भव नायकों का सर्वथा अभाव हो गया है और उनके स्थान पर साधारण मजदूर-किसानों की बात छोड़िए, असाधारण अविकसित मानव तथा अपराधी मनोवृत्ति वाले चोर, जुआ-बाज़ और व्यसनी मनुष्यों का साधिकार प्रवेश होने लगा है। नवीन ज्ञान-विज्ञान की उन्नति के कारण कथा-साहित्य में रेल, तार, इंजन, एटमबम, राकेट की बातों का भी संरक्षण मिलने लगा। साथ ही समुद्र, क्षेत्रीय विशेषताएँ, टेस्टट्यूब बेबीज, यौन-परिवर्तन इत्यादि की बातें भी कथा-साहित्य में प्रवेश करने लगी हैं। राष्ट्रीय नव-निर्माण एवं क्रीनों, ट्रेक्टरों और बुलडोज़रों की नई गड़गड़ाहट के बीच से नया मानव निर्मित होकर कथा-साहित्य में स्थान पाने लगा है। इस व्यापक परिवेश के परिणामस्वरूप कथा-चरित्रों में दो धाराओं का विकास हुआ। आलोचकों ने उनका नामकरण 'शहरी एवं ग्रामीण' कथा के रूप में किया है। शहरी कथाओं में अधिकतर मध्यवर्गीय चरित्रों का एवं ग्रामीण कथाओं में अंचल-विशेष के पात्रों का चित्रण हुआ है। श्री राजेन्द्र यादव ने उपर्युक्त दोनों धाराओं का विश्लेषण करते हुए बताया है कि साहित्य

में लाये हुए छिछलेपन और झूठे अनर्जाचे मूल्यों के घपले के कारण ही तबोदित कथा-कारों का एक दल ग्रामीण जीवन एवं आंचलिक इकाइयों की ओर तथा दूसरा विदेशी साहित्य की ओर मुड़ा। 'पराजित पीढ़ी के दर्दाभ्यासी' हठयोगियों ने 'दृष्टिहीनता' के दर्शन का बड़ा बखान किया था। किन्तु इनके दिलों में तो देवदास और बाइरन बैठे थे। इन्होंने अपने साहित्य में 'बार' या सोसाइटी में चहकने वाली लड़कियों को 'सभ्यता का शिकार' बनाकर पेश किया। इन लड़कियों को वैसे ही नायक मिलता था, जिसकी दोनों जेबों में पैसे भरे होते थे और वह उन्हें खुलकर लूटना भी जानता था। इन नोटों को लूटने वाले कभी टैंकसी वाले होते हैं, कभी 'बार' की लड़कियाँ, कभी 'बैरे' आदि। नये कथाकारों में ऐसे पात्र राजकमल चौधरी, राजेन्द्र यादव-निर्मल वर्मा, प्रेमकुमार, रामकुमार, मोहन राकेश आदि ने रचे हैं। यही नायक शराब भरे गिलासों को झुला-झुलाकर चुस्कियाँ लेता हुआ, निहायत ही एकतराता ढंग से 'वेचारी नाचने वालियों' की जिन्दगी का अध्ययन शुरू कर देता है। इनमें गरीबी भी अपना महत्वपूर्ण पार्ट अदा करती है और यह 'प्रिस' किस्म का नायक ठीक उनके बीचोबीच पहुँच जाता है। यदि इससे भी मौलिक साहित्य की रचना करनी हो तो बाप-बेटी या भाई-बहन का शरीर सम्बन्ध दिखा दिया गया।^१

ग्रामीण चित्रण के अन्तर्गत किसी एक इलाका, जनपद या अंचल का चित्रण होता है। उस विशेष अंचल की पटभूमि पर लेखक वहाँ के सामाजिक जीवन का चित्रण स्थानीय किसानों, बुद्धिवादियों तथा अन्य वर्गों के पात्रों द्वारा करता है। ऐसी रचनाओं में नवीन सामाजिक पृष्ठभूमि में उभरते नये मानव, आर्थिक-सामाजिक संघर्ष और चरित्रों की सृष्टि, नागार्जुन, रेणु आदि कथाकारों ने अधिक की है। इन रचनाओं में कथाकारों ने समृद्ध चरित्रों के चित्रण किए हैं। जितन, ताजमनी, बलचनमा, सुखराम, कजरी और प्यारी, वामनदास आदि इस युग के अजर-अमर पात्र हैं, जिन्हें दूर से ही पहचाना जा सकता है। विशिष्ट चरित्रों पर आधारित कुछ कहानियाँ बड़ी महत्वपूर्ण हैं, जिनमें 'शाखामृग' (शिव प्रसादसिंह), 'एक्टर' (राजेन्द्र यादव) तथा 'नींद' उल्लेख्य हैं।

इस युग के चरित्रों में 'एवनार्मिलीटी' बहुत-कुछ समाप्त हो गई है। हालाँकि आज के कुछ पात्रों का मन कुण्ठित और क्रान्तियों, अविश्वासों, विश्रृंखलताओं आदि से ग्रस्त है।^२ किन्तु अधिकांश पात्रों में आस्था और नये जागरण के प्रति चेतना है। अमृतराय के 'बीज' में सत्यवान अपनी पत्नी से दृढ़ होकर कहता है—“इस घाव में हमारे नये जीवन के विराट अश्वत्थ का बीज छिपा है, हमारे नये सुख का बीज, नये प्रभात का बीज। इस स्वयंवर-वेला में हम उस प्रभात को प्रणाम करें।” यह एक ऐसी दृढ़ आस्था थी, जिसने समस्त स्वातन्त्र्योत्तर औपन्यासिकों को प्रभावित किया। शहरी मध्यवर्गीय औपन्यासिक पात्रों के चित्रण में इससे एक त्वरा आई। यशपाल का 'झूठा सच' उनके अब तक के प्रकाशित उपन्यासों में सर्वश्रेष्ठ है। 'झूठा सच' के अधिकांश पात्र मध्यम वर्ग के हैं। शायद स्वतन्त्रता के बाद के भारतीय जीवन और पात्रों

१. विनोद (विशेषांक), अगस्त १९६०, पृ० १३७।

२. आलोचना (७), पृ० ३५।

६२ : आलोचना

को इतने व्यापक ढंग से देखने का प्रयास पहली बार किया गया है। इसके सभी पात्र सजीव और प्राणवान हैं, जिनकी संख्या भी चालीस के करीब है। यह लेखक की असाधारण सफलता है, हालाँकि इसमें 'होरी' या सूरदास (रंगभूमि) या 'बलचनमा' या ताई (बूंद और समुद्र) की तरह पाठक को अभिभूत करने वाला कोई चरित्र नहीं आ सका है। फिर भी इस उपन्यास के सभी पात्र मिलकर विभाजित हिन्दुस्तान का एक जीता-जागता चरित्र पैदा करते हैं। सन् '५० के बाद अनेक नये दक्षिण भारतीय कथाकारों ने भी हिन्दी भाषा में श्रेष्ठ उपन्यासों की रचना की। नये चरित्र इन उपन्यासों में दिखाई पड़े। ऐसे सारे कथाकारों में आनन्द शंकर माधवन के 'अनामंत्रित मेहमान' का अपना अलग स्थान है। 'गोदान', 'भूले बिसरे चित्र', 'झूठा सच', 'पथ की खोज', 'बूंद और समुद्र' की पंक्ति में इस उपन्यास का स्थान सुरक्षित है। उपन्यास के सारे पात्रों को विकास-क्रम की दृष्टि से स्थान मिल चुका है, भले ही इसकी चर्चा (प्रोपेगेंडा) ज्यादा नहीं हुई हो। होरी, शेखर, बलचनमा, जितेन्द्रनाथ आदि ऐसे अमर पात्रों की परम्परा में माधवनजी ने दत्तात्रेय और यशवंत आदि पात्रों को लाकर खड़ा कर दिया है। इन पात्रों ने दक्षिण भारत पर अपनी छाप लगा दी है। उपन्यास-कार ने आशा प्रकट की है कि यशवन्त का जीवन फूले-फलेगा।

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद अर्थात् १९५० के बाद अर्थात् गणतंत्रोत्तर हिन्दी कथा-साहित्य में शिशुओं को भी पर्याप्त स्थान मिलने लगा है। ऐसे कथाकारों ने शिशुओं का चित्रण करना इसलिए अनिवार्य समझा कि उनकी यह मान्यता है कि चरित्र की मूल रेखाएँ जीवन की प्रारम्भिक अवस्थाओं में ही निश्चित हो जाती हैं। इसी अवस्था में व्यक्तित्व की नीचाई और ऊँचाई का विकास हो चुकता है। इस बीच प्रकाशित सेठ गोविन्ददास के बृहद् उपन्यास 'इन्दुमती' और 'रेणु' के उपन्यास 'परती परिकथा' में इसका थोड़ा चित्रण हुआ है। 'इन्दुमती' में एक सेठ का भी टिपिकल चरित्र आया है। स० ही० वात्स्यायन का विचार है कि ऐसे सफल पात्र हिन्दी में अन्यत्र मिलना सम्भव नहीं। मारवाड़ी सेठ की प्रकृति की सफल तस्वीर उतारी गई है। सेठजी की अन्यान्य रचनाओं में भी इस प्रकार के पात्र आये हैं। सेठजी ने जिस वर्ग-विशेष में जन्म लिया और जिस परिपाइव में उनका गठन हुआ है, उसी परिप्रेक्ष्य से उभरने वाले ये चरित्र हैं। किन्तु ऐसा चरित्र-विकास गणतंत्रोत्तर चरित्रों का विकास नहीं माना जाएगा। स्वतन्त्रता-पूर्व के पात्रों की-सी प्रतिध्वनि इन पात्रों में सुनाई पड़ती है। इस युग के चरित्रों और समस्याओं को लेकर नागार्जुन का 'बलचनमा' और 'दुखमोचन' एवं रेणु का 'मैला आंचल' और 'परती परिकथा' की सृष्टि होती है। इसीलिए ये उपन्यास अधिक सफल जान पड़ते हैं। प्रेमचन्द-परम्परा की चारित्र्यिक विशेषताओं का सफल अंकन इन कृतियों में हुआ है।^१ 'गोदान' का होरी इसका प्रतिमान है, जो समस्त भारतीय कथा-साहित्य में अप्रतिम है। होरी की परम्परा में नागार्जुन का 'बलचनमा' और नागर का 'सेठ बाँकेमल' उल्लेख्य हैं। ये पात्र अपने युग की समस्त सामाजिक

१. 'आजकल, मार्च १९५३, पृ० १३।

२. आधुनिक हिन्दी कथा-साहित्य और चरित्र-विकास, पृ० २६६।

और सांस्कृतिक विशेषताओं की जीती-जागती तस्वीर पेश करते हैं। यदि जमींदारी प्रथा के उन्मूलन के साथ होरी की कहानी समाप्त होती है, तो 'वाँकेमलू' और 'बलचनमा' अपने परम्परागत संस्कारों के कारण नई सम्यता का समन्वय प्रस्तुत करते हैं। 'बलचनमा' के रूप में नागार्जुन ने प्रेमचन्द की परम्परा को आगे बढ़ाया है और होरी की वंशावली अर्थात् गोबर को चित्रित किया है। 'बलचनमा' को गोबर का विकसित रूप कहा जा सकता है।^१

'परती परिकथा' के पूर्व और 'गोदान' के बाद के कथा-साहित्य की प्रगति मूलतः व्यक्ति-चरित्र-प्रधान साहित्य-रचना का उदाहरण है। यह परम्परा 'बलचनमा' तक चलती रही, हालाँकि 'बलचनमा' में व्यक्ति का सामाजीकरण किया गया है। इस युग में रचे गए पिछली पीढ़ी के कथाकारों के अधिकांश पात्रों को चारित्रिक विश्लेषण में हिन्दी के पूर्ववर्ती एवं बंगला के कथा-चरित्रों से तुलना करने पर कोई विशेष मौलिकता परिलक्षित नहीं होती है। जैनेन्द्र, अज्ञेय, इलाचन्द्र जोशी और अश्व आदि लेखकों के अधिकांश चरित्र प्रेमचन्द एवं शरत् के पात्रों से आगे नहीं बढ़ पाए। इस युग में चित्रित उनके पात्र उन्हीं की कृतियों की पुनरावृत्ति करने लगे। शरत् के पात्रों की असीम कठुणा, विशेष रूप से नारी पात्रों की, हिन्दी कथाकारों पर अब भी हावी है। 'परती परिकथा' के नारी पात्र ताजमनी और इरावती में इसी कठुणा की छाया स्पष्ट रूप से देखी जा सकती है। देवराज और भारती के पात्रों पर जैनेन्द्र तथा अज्ञेय का स्पष्ट प्रभाव तो देखा ही जा सकता है।^२ 'बलचनमा' को पढ़ते हुए हठात् गोबर की याद आ ही जाती है। 'बलचनमा' के प्रणयन के बाद हमने आशा प्रकट की थी कि सम्भवतः शीघ्र ही प्रेमचन्द की परम्परा में नये हस्ताक्षर होंगे और इसका नेतृत्व बिहार करेगा।^३ सचमुच ऐसा हुआ भी, पर नागार्जुन 'बलचनमा' के बाद पुनः बलचनमा की ऊँचाई तक भी नहीं पहुँच पाए। किन्तु 'मैला आँचल' और 'परती परिकथा' के प्रकाशन के बाद रेणु ने वह स्थान प्राप्त कर लिया।

नागार्जुन प्रेमचन्द की अपेक्षा श्रेष्ठ चेतन, संघर्षशील वर्ग-चरित्र निर्मित करते हुए भी व्यक्ति तक ही सीमित रह जाते हैं, जिसकी पुष्टि उनके अधिकांश उपन्यासों के नामों से भी हो जाती है, जैसे 'रतिनाथ की चाची', 'बलचनमा' और 'दुखमोचन'। केवल कुछेक कृतियों में वैयक्तिकता से निकलकर वे जन-चेतना को पात्र बनाने का प्रयत्न करते हैं। परन्तु रेणु का प्रयत्न व्यापक भूखंड को मुखरित करने का रहा है, इसी लिए उन्होंने नागार्जुन की तरह केवल प्रकार-विशेष के पात्रों का ही निर्माण नहीं किया बल्कि सामूहिक चरित्र का भी निर्माण किया। विश्वविख्यात उपन्यासकारों ने इस दृष्टि का परिचय अपनी रचनाओं में दिया है। 'बीरे वही दोन रे', 'वरजिन सायल अपटर्न', 'वार एण्ड पीस' आदि उसके उल्लेख्य उदाहरण हैं। 'गोदान' और 'झूठा सच' के पूर्व के प्रेमचन्द और यशपाल में इस दृष्टि का अभाव था। इसीलिए रेणु और नागार्जुन

१. आधुनिक कथा-साहित्य और चरित्र-विकास।

२. आलोचना (१४), पृ० ४२।

३. अजन्ता, अप्रैल, १९५५, पृ० २२।

विश्वविख्यात कथाकारों की पंक्ति में श्रेष्ठ स्थान के अधिकारी हैं। किन्तु नागार्जुन 'दुखमोचन', 'वरुण के बेटे', 'उग्रतारा' और 'कुम्भीपाक' आदि का सृजन कर और रेणु 'दीर्घतपा' एवं 'जुलूस' की रचना कर विश्वकथाकार की पंक्ति में खड़े होने तक के अधिकारी नहीं हैं। किन्तु इन दोनों ने 'बलचनमा', 'मैला आँचल' और 'परती परिकथा' लिखकर और कुछ न लिखा होता तो विश्व के कथाकारों की पंक्ति में आ ही जाते। पर खेद की बात है कि अपने औपन्यासिक 'रुचि परिवर्तन' के दौरान इन दोनों कथाकारों ने अन्यान्य उपन्यासकारों की तरह एक पर एक निर्जीव और बेजान पात्रों की सृष्टि की है। हालाँकि कथा-शिल्प और जीवन-दर्शन की अभिव्यक्ति की दृष्टि से ये दोनों कथाकार गोकर्ण, इलिया इहरेनबुर्ग, एलेक्सी टालस्टाय के निकट पहुँच जाते हैं और कहीं-कहीं उनसे भी महत्त्वपूर्ण बातें कह जाते हैं। कहीं हमने नागार्जुन के उपन्यास 'बलचनमा' को हिन्दी का महाकाव्य कहा है। किन्तु 'बलचनमा' यदि चरित्र-प्रधान महाकाव्य है तो 'परती परिकथा' व्यापक धरती का महाकाव्य है जिसे शिवदान-सिंह चौहान जैसे आलोचक इस युग का महाकाव्य मानते हैं :

"कुदरत को आईना दिखाते हुए प्रेमचन्द ने बीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध के व्यापक समूह को गोदान का पात्र और विषय बनाया था, उसी प्रकार 'परती : परिकथा' में बीसवीं सदी के उत्तरार्ध के व्यापक जन-समूह को पात्र और विषय बनाया गया है। इसलिए "हर व्यक्ति, समाज का हर वर्ग, राजनीति का हर दल उसमें अपने आचरण और अपनी वर्तमान भूमिका का सही चित्र देख सकता है।^१" साथ ही यह 'गंगा मैया' और 'कोशी मैया' की गाथा है, जिसकी जमीन को मटरू और जित्तन उपजाने का प्रयत्न करते हैं। जित्तन गुलाब की खेती करना चाहता है, मटरू जुआर उपजाएगा।

अतः ऐसा कहा जा सकता है कि प्रेमचन्द की परम्परा में नागार्जुन और रेणु द्वारा महत्त्वपूर्ण चरित्रों के निर्माण हुए हैं और रेणु ने चरित्र-विकास के नये प्रतिमान स्थापित किए हैं।

१. यह कथन नागार्जुन का ही है।

२. आलोचना के मान, पृ० १४।

विश्व-साहित्य में हिन्दी

डॉ० प्रभाकर माचवे

विदेशों में हिन्दी-साहित्य

प्रास्ताविक

'आलोचना' पत्रिका ने एक मास पूर्व जब यह लेख लिखने के लिए आमन्त्रित किया, मैंने पच्चीस से अधिक पत्र देश-विदेश में राजदूतावासों, विभिन्न विश्वविद्यालयों और मित्रों को भेजे। दस-बारह पत्रों के उत्तर मिले। शायद और उत्तर अभी आते हों; यदि और देशों से कुछ सामग्री प्राप्त होगी तो वह अगले अंक में परिशिष्ट-रूप में भी भेजूंगा। यह जो जानकारी मैं दे रहा हूँ, इसमें मेरी सन् १९५६ से १९६१ के बीच संयुक्त राष्ट्र अमेरिका तथा यूरोप और मध्यपूर्व के पन्द्रह देशों की यात्रा के आधार पर कुछ संस्मरणात्मक जानकारी है; कुछ पत्रों से और पुस्तकों से प्राप्त और कुछ पत्र-व्यवहार से प्राप्त है। मेरा दावा नहीं है कि यह जानकारी सम्पूर्ण है, या यह सब त्रुटिहीन है। जितना सम्भव था, वह मैंने यह जानकारी जमा करने के लिए किया। और जानकारी और लोग देंगे, ऐसी आशा है।

इस जानकारी को मैं अकारादि क्रम से निम्न बारह देश-नामों से प्रस्तुत कर रहा हूँ : अमेरिका, इटली, चेकोस्लोवाकिया, जर्मनी (पश्चिमी, पूर्वी), जापान, पोलैंड, फ्रांस, बर्मा, ब्रिटेन, सिंहल, सोवियत रूस।

अमेरिका (संयुक्त राष्ट्र)

मैं स्वयम् विसकान्सिन विश्वविद्यालय के मैडिसन कैम्पस पर और कैलिफोर्निया के बर्कले कैम्पस पर हिन्दी पढ़ा चुका हूँ। मेरे अलावा कई हिन्दी के विद्वान, भाषा-वैज्ञानिक, लेखक, कवि, अध्यापक अमेरिका में हिन्दी-अध्यापन में निरत रहे हैं; जिनमें से कुछ नाम ये हैं : डॉ० उदयनारायण तिवारी, 'अज्ञेय', डॉ० विद्यानिवास मिश्र, डॉ० नरेन्द्र सेठी, डॉ० अमरबहादुर सिंह, सोमा क्षीरा, उषा प्रियंवदा, दीनबन्धु गुप्त, विश्व-प्रकाश 'वटुक', इंदुप्रकाश पांडेय, द्वारिकाप्रसाद 'द्वारिकेश', बालगोविन्द मिश्र, चन्दोला, सी० एम० नईम, शालिग्राम शुक्ल आदि-आदि।

२६ नवम्बर, '६४ को कार्नेल यूनिवर्सिटी, हथाका से प्राप्त श्री शालिग्राम शुक्ल के पत्र के कुछ अंश उद्धृत करता हूँ :

"यहाँ हिन्दी की पढ़ाई पिछले १० वर्षों से हो रही है। लेकिन विधिवत् पढ़ाई का सिलसिला १९६० से शुरू हुआ। श्री फेअर बैंक्स तथा श्री बालगोविन्द मिश्र ने मिलकर एक २५ पाठों की पाठ्य-पुस्तक तैयार की है, जिसका प्रयोग प्रारम्भिक

६६० : : भाषाविज्ञान

कक्षा में हम करते हैं। टेक्स्ट-बुक छप रही है, सम्भवतः जनवरी '६५ तक आ जाए। आपके पास एक प्रति भेजूंगा। विद्यार्थियों की संख्या पिछले साल १५ थी, इस साल १२ है। ५ प्रथम वर्ष में, ५, दूसरे वर्ष में तथा २ तीसरे वर्ष में। दूसरे वर्ष ज्यादातर 'बातचीत' तथा 'कम्पोजीशन' पर गौर दिया जाता है। तीसरे वर्ष प्रेमचन्द, सुदर्शन, अज्ञेय तथा कुछ नये कहानीकारों की कृतियाँ पढ़ाई जाती हैं। कवि की शुरुआत भी यहीं होती है, मैथिलीशरण गुप्त तथा निराला के सहज गीतों का पाठ्यक्रम में रखा गया है।

“उच्चारण की कठिनाई के अलावा, विद्यार्थियों के लिए 'लिंग' तथा 'विभक्ति' के उचित प्रयोग की कठिनाई होती है। वे अंग्रेजी के 'पैटर्न' पर हिन्दी लिखते हैं। वे बोलते हैं जो एक अलग ढंग की कठिनाई उत्पन्न करते हैं; क्योंकि यह समस्या उनकी अपनी भाषा से उत्पन्न होती है। हमारे यहाँ तीन अध्यापक हैं जो अध्ययन भी कर रहे हैं। एक हैं श्री २० वे० मिराण्डा, जो पहले गोवा में हिन्दी पढ़ाते थे, यहाँ भाषा विज्ञान में पी-एच० डी० के हेतु आये हैं। दूसरे हैं श्री प्रेमसिंहजी, जो चण्डीगढ़ पंजाबी विभाग में अध्यापक थे। ये भी भाषा-विज्ञान में पी-एच० डी० कर रहे हैं तीसरा व्यक्ति मैं हूँ।

“यहाँ हिन्दी अध्यापन की योग्यता के लिए संस्कृत या उर्दू ज्ञान की आवश्यकता बिल्कुल नहीं है। सर्वाधिक महत्त्व 'नेटिव स्पीकर' होने का है।

“हिन्दी-लेखकों का कोई अनुवाद इस देश में छपा है या नहीं, इसकी कोई जानकारी मुझे नहीं—सम्भवतः नहीं। 'अज्ञेय' के 'अपने-अपने अजनबी' का अनुवाद सुना है बर्कले से छपेगा। कब ? यह नहीं जानता।

“इस देश में हिन्दी पढ़नेवाले दो तरह के लोग हैं—(१) एन्थ्रोपोलोजिस्ट जो भारत में 'फील्ड-वर्क' के लिए जाना चाहते हैं तथा (२) भाषा-वैज्ञानिक, जिनका उद्देश्य भाषा जानना है। इसके अलावा वे विद्यार्थी हैं जो एशिया में रुचि रखते हैं। दिन-ब-दिन हिन्दी का प्रचार बढ़ता जा रहा है। भारतीय भाषाओं में हिन्दी की प्रधानता मिल रही है। हमारे यहाँ वैसे तेलुगु की भी पढ़ाई होती है। डॉ० के० उसके इन्चार्ज हैं।”

सन् '६१ में जब मैंने अमरीका छोड़ा, तब से स्थिति में, जहाँ तक हिन्दी अध्यापन, पठन-पाठन का प्रश्न है, विशेष अन्तर श्री शुक्ल की जानकारी से मुझे नहीं जान पड़ा। हाँ, प्रो० डॉ० कृष्ण बलदेव वैद के 'उसका वचन' (हिन्दी उपन्यास) का स्वयंकृत अंग्रेजी अनुवाद 'स्टेप्स इन् डाकनेस' एशिया सोसायटी ने छाप दिया है। एक और ताजा रिपोर्ट 'अमेरिका में हिन्दी' के बारे में डॉ० अमर बहादुरसिंह से मुझे मिली है, जो ढाई वर्ष बर्कले में 'अज्ञेय' और डॉ० विद्यानिवास मिश्र के साथ और पीत कोशर, आबाना में भी काम कर चुके हैं। वह उन्हीं के शब्दों में यों है :

डॉ० अमर बहादुरसिंह के शब्दों में :

“संयुक्त राज्य अमेरिका में लगभग एक दर्जन विश्वविद्यालयों में हिन्दी

अध्ययन-अध्यापन का कार्य हो रहा है। कुछ विश्वविद्यालयों में हिन्दी का अध्यापन भाषाशास्त्र-विभाग के अन्तर्गत किया जाता है, पर अधिकांश में 'साउथ एशिया सेण्टर' अथवा 'साउथ एशिया लैंग्वेज एण्ड एरिया स्टडीज' विभाग के अन्तर्गत यह कार्य सम्पन्न किया जा रहा है। कुछ विश्वविद्यालयों में हिन्दी को 'नियर ईस्टर्न लैंग्वेज' विभाग के अन्तर्गत भी रखा गया है। सामान्यतया इन सभी विश्वविद्यालयों में कम-से-कम दो वर्ष की शिक्षा—प्रारम्भिक (बेसिक) तथा उच्च (एडवान्सड) स्तर की—दी जाती है, पर लगभग आधे दर्जन विश्वविद्यालयों में तृतीय वर्ष के अध्यापन की भी व्यवस्था की गई है। लगभग पाँच विश्वविद्यालयों में हिन्दी साहित्य की भी शिक्षा का प्रबन्ध विभिन्न रूपों में किया गया है।

भाषा के अध्यापन के लिए प्रारम्भिक कक्षा में एक अमेरिकन अध्यापक के निदेशन में भारतीय सहायकों की मदद से अध्यापन किया जाता है। उच्च स्तर पर प्रायः भारतीय सहायक अथवा अध्यापक ही अध्यापन करते हैं। प्रारम्भिक स्तर पर अमेरिकन अध्यापक, जो प्रायः भाषाशास्त्रीय होता है, वह सैद्धान्तिक पक्ष, भाषा की रचना तथा व्याकरण का अंग पढ़ाता है जबकि भारतीय सहायक शेष कार्य करता है। प्रथम वर्ष में अथवा प्रारम्भिक स्तर पर बोलचाल की भाषा पढ़ाई जाती है तथा प्रायः आधे वर्ष तक देवनागरी-लिपि का प्रारम्भ न करके दृश्य-श्रव्य प्रणाली अथवा श्रव्य प्रणाली के अनुसार अध्यापन-कार्य किया जाता है तथा सामग्री रोमन लिपि में तैयार करके विद्यार्थियों को दी जाती है। सैद्धान्तिक रूप में इस प्रणाली की विशेषता और उपादेयता काफ़ी महत्वपूर्ण है, पर प्रायः भारतीय सहायक, जिसे हिन्दी बोलने वाला कहकर रखा जाता है, हिन्दी बोलने वाला नहीं होता अथवा वैसे हिन्दी नहीं बोलता जैसी हिन्दी क्षेत्र का बोलने वाला बोलता है। यहाँ हिन्दी-उर्दू की एकरूपता की भ्रान्तिमय धारणा के कारण प्रायः उर्दू बोलने वाले हिन्दी के सहायक नियुक्त किए जाते हैं जिससे विद्यार्थियों को उर्दू-उन्मुख हिन्दी का ज्ञान होता है। एकाध बार अहिन्दी प्रदेश के हिन्दी जानने वालों को भी हिन्दी अध्यापक के रूप में रखा गया है और परिणाम विशेषकर उच्चारण के क्षेत्र में—भयंकर-सा रहा है। मातृभाषा बोलने वाले की नियुक्ति केवल इस दृष्टि से की जाती है कि वह विद्यार्थियों को सही उच्चारण दे सके, पर यह मुख्य उद्देश्य ही लगभग असफल-सा हो जाता है जब हम किसी विद्यार्थी को 'नेहर' 'बेहन' 'बौत' आदि शब्दों का उच्चारण करते हुए पाते हैं। खैर, यहाँ इसके विस्तार में न जाकर हम संक्षेप में अन्य पहलुओं पर प्रकाश डालने की चेष्टा करेंगे।

पाठ्य-ग्रन्थों की कमी को ध्यान में रखते हुए लगभग आधे दर्जन विश्व-विद्यालयों ने अपनी पाठ्य-सामग्री तैयार की है। यों तो इस क्षेत्र में डॉ० होइंस्वाल्ड की 'स्पोकेन हिन्दुस्तानी' पुस्तक का प्रयोग प्रायः सभी विश्वविद्यालयों में प्रारम्भ में होता रहा है, पर उक्त पुस्तक में बहुत-सी कमियाँ हैं जिनके कारण कुछ नई पुस्तकों का प्रणयन किया गया। 'स्पोकेन हिन्दुस्तानी' की रचना द्वितीय महायुद्ध के समय की गई थी तथा इसका उद्देश्य अमरीकी सिपाहियों को 'कामचलाऊ हिन्दुस्तानी' का ज्ञान

६५ : आलोचना

कराना था। अब इस पुस्तक का प्रयोग प्रायः न के बराबर होता है, परन्तु प्रत्येक अध्यापक सन्दर्भ-ग्रन्थ के रूप में यदाकदा इसका प्रयोग अवश्य करता है। डॉ० गांज फेयरबैंक्स तथा डॉ० जान गम्पज़ और चौधरी ने भी एक पुस्तक तैयार की थी, जिसका भी प्रचलन अब प्रायः न के बराबर ही है। फ़ोरन सर्विसेज़ रिसर्च इन्स्टीट्यूट ने जोसेफ़ हर्टर, बुधराज आदि के सहयोग से एक 'बेसिक कोर्स इन हिन्दी' पुस्तक १९६० में निकाली थी, पर यह पुस्तक सामान्य विद्यार्थी के लिए ज्यादा उपयोगी नहीं है, क्योंकि अधिकांश पाठ 'अमेरिकी दूतावास', 'सोडा ह्विस्की' आदि तक ही सीमित हैं। १९६२-६३ में डॉ० जान गम्पज़, कु० जून रमरी, डॉ० अमर बहादुर सिंह तथा श्री चौधरी मुहम्मद नईम के सम्मिलित प्रयास के फलस्वरूप 'कन्वर्सेशनल हिन्दी-उर्दू' नाम की पुस्तक दो खण्डों में प्रकाशित हुई। इसका प्रकाशन ए० एस० यू० सी० स्टोस बर्कले, कैलीफ़ोर्निया ने किया है। प्रथम खण्ड के दो भाग हैं तथा द्वितीय खण्ड में कोई भाग नहीं है। सम्प्रति इसी पुस्तक का सर्वाधिक प्रयोग हो रहा है। इसमें पाठों की रचना वास्तविक भारतीय स्थितियों के सन्दर्भ में की गई तथा समस्त पुस्तक के साथ भारत में ली गई तस्वीरों का प्रयोग विषय की सुधोघता के लिए कक्षा में किया जाता है। तस्वीरों को प्रोजेक्टर के सहारे पर्दे पर दिखाया जाता है तथा तत्सम्बद्ध वाक्य का उच्चारण किया जाता है। यह पुस्तक अभ्यास, व्याकरण तथा बातचीत की दृष्टि से अब तक की प्रकाशित पुस्तकों में सर्वोत्कृष्ट है। प्रत्येक पाठ का कक्षा में विधिवत् प्रयोग करके तथा उसकी वास्तविक कठिनाइयों को दृष्टि में रखकर अन्तिम रूप निर्धारित किया गया है। इन सामग्रियों के अतिरिक्त विस्कान्सिन में अपनी सामग्री का ही प्रयोग किया जाता है। अधिकांश विश्वविद्यालय इन्हीं का प्रयोग कुछ अपनी कमोवेश विशिष्टता के साथ करते हैं।

उच्चारण पर अधिकार प्राप्त करने के लिए प्रत्येक विद्यार्थी को काफ़ी समय लैब्वेज लैबोरेटरी में देना पड़ता है, जहाँ वह पाठों को टेप पर सुनता है, उन्हें दुहराता है, रेकार्ड करता है तथा भूलें सुधारता है। इससे विद्यार्थी को भाषा के उच्चारण में काफ़ी सहजता का अनुभव होता है। इस पद्धति का प्रयोग प्रायः सभी विश्वविद्यालयों में किया जाता है।

द्वितीय वर्ष अथवा एडवान्सड कक्षा के लिए प्रत्येक विश्वविद्यालय ने अपना पाठ्य-क्रम बना रखा है, जिसमें प्रायः कुछ कहानियाँ तथा निबन्ध रखे गए हैं। तृतीय वर्ष के विद्यार्थियों को उनके मुख्य विषय और रुचि के अनुसार अलग-अलग सामग्री दी जाती है। तृतीय वर्ष के अध्यापन तथा पाठ्य-क्रम की प्रणाली में एकरूपता नहीं है। प्रत्येक विश्वविद्यालय, सपलब्ध अध्यापक की क्षमता तथा योजना के अनुसार पाठ्य-क्रम निर्धारित करता है।

नीचे हम प्रत्येक विश्वविद्यालय, के विषय में संक्षिप्त परिचयात्मक टिप्पणियाँ प्रस्तुत करेंगे—

यूनिवर्सिटी ऑफ़ कैलीफ़ोर्निया बर्कले, कैलीफ़ोर्निया : नीयर ईस्टर्न लैब्वेज के अन्तर्गत हिन्दी का अध्यापन होता है। डॉ० जान गम्पज़ इसके इन्चार्ज

हैं। भारतीय सहायकों के अतिरिक्त यहाँ विजिटिंग अध्यापकों के रूप में डॉ० प्रभाकर माचवे (ग्रीष्म १९६०), श्री (डॉ०) विद्यानिवास मिश्र (१९६०-६१ दिसम्बर तक), श्री सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन (१९६१—१९६३-६४ वसन्त), डॉ० अमर वहादुरसिंह (१९६१ मई से १९६३ ग्रीष्म) रहे हैं। यहाँ तीन वर्षों के अध्यापन का कार्यक्रम है। १९६२ के शरदकालीन सत्र में यहाँ सभी स्तरों के हिन्दी विद्यार्थियों की संख्या ४४ थी। एक विद्यार्थी ने एम० ए० में 'मेजर सब्जेक्ट' के रूप में हिन्दी ली थी तथा दूसरा विद्यार्थी हिन्दी में पी-एच० डी० कर रहा है। डॉ० विद्यानिवास मिश्र के सम्पादकत्व में 'आधुनिक हिन्दी कविता' का एक अनुवाद मूद्रणाधीन है, जो उन्होंने अपने बर्कले प्रवास-काल में अंग्रेजी के विभिन्न तरुण कवियों के सहयोग से किया था। अज्ञेय के उपन्यास 'अपने-अपने अजनबी' का अंग्रेजी अनुवाद भी एक विद्यार्थी ने अपनी एम० ए० परीक्षा के लिए किया था। यहाँ भारतीय साहित्य और संस्कृति के अन्तर्गत हिन्दी साहित्य का भी अध्यापन किया जाता है।

शिकागो विश्वविद्यालय, शिकागो, इलीनॉय : भाषाशास्त्र विभाग के अन्तर्गत अध्यापन होता है। डॉ० नार्मन जॉइड इसके इन्चार्ज हैं। दो वर्ष के स्तर तक भाषा का अध्यापन किया जाता है। डॉ० इयाममनोहर पाण्डेय (वसन्त १९६२ से) भारतीय भक्ति-काव्य पढ़ा रहे हैं। हिन्दी सहायकों में द्वारिकेश (सम्भवतः १९५६ शरद से) सबसे पुराने हैं। हिन्दी के कुछ भक्त कवियों—सूर और मीरा विशेषतया के कुछ पदों का अंग्रेजी अनुवाद तैयार किया जा रहा है। श्री कालीचरन बहल हिन्दी व्याकरण पर कुछ कार्य कर रहे हैं।

विस्कान्सिन विश्वविद्यालय, मंडिसन विस्कान्सिन : साउथ एशिया लैंग्वेज एण्ड एरिया सेण्टर के अन्तर्गत अध्यापन होता है। सम्भवतः दो वर्ष के कोर्स दिए जाते हैं। विजिटिंग अध्यापक के रूप में डॉ० प्रभाकर माचवे (१९५६-६१) यहाँ थे।

कानॉल विश्वविद्यालय, इथाका, न्यूयार्क : भाषाशास्त्र विभाग के अन्तर्गत अध्यापन किया जाता है। डॉ० गार्डन फेयरबैंक्स इन्चार्ज हैं। श्री बालगोविन्द मिश्र (१९६६ शरद से) यहाँ सहायक हैं। सम्भवतः दो वर्ष का पाठ्यक्रम रखा गया है।

कोलम्बिया विश्वविद्यालय, न्यूयार्क : नीयर ईस्टर्न लैंग्वेजेज विभाग में हिन्दी पढ़ाई जाती है। यहाँ दो वर्ष का पाठ्यक्रम है। यहाँ कार्यक्रम को विस्तृत करने की योजना चल रही है।

यूनिवर्सिटी ऑफ़ टेक्सास, ऑस्टिन, टेक्सास : साउथ एशिया सेन्टर में डॉ० एडगर पालोमे के निदेशन में हिन्दी पढ़ाई जाती है। यहाँ तृतीय वर्ष के पाठ्यक्रम का प्रवृत्ति भी शायद आगामी सत्र से हो जाए। श्री एच० एस० अनन्तनारायण (१९५६-६२) तथा श्री रामप्रकाश दीक्षित (१९६० से) हिन्दी पढ़ाते रहे हैं।

सिराक्यूज विश्वविद्यालय, रॉचेस्टर, न्यूयार्क में श्री अगेहानन्द भारती के निदेशन में १९६३ से (सम्भवतः) हिन्दी का अध्यापन प्रारम्भ किया गया है।

इसके अतिरिक्त पेन्सिलवानिया विश्वविद्यालय फिलाडेल्फिया में, मिचिगन

१०० : आलोचना

विश्वविद्यालय ऐनअर्बर, अगीजोना विश्वविद्यालय तथा ड्यूक विश्वविद्यालय और हाटफोर्ड सेमिनरी फाउन्डेशन में भी हिन्दी की पढ़ाई किन्हीं-न-किन्हीं रूपों में और स्तरों पर की जाती है।

संयुक्त राज्य में हिन्दी पढ़ने वाले प्रायः वे विद्यार्थी होते हैं जिन्हें भारतीय भाषाओं अथवा क्षेत्रीय अध्ययन (एरिया स्टडी) में रुचि होती है। इस प्रकार भाषाशास्त्र, नृशास्त्र, समाजशास्त्र, राजनीतिशास्त्र तथा भारतीय इतिहास विषयों के विद्यार्थी सामान्यतया हिन्दी का अध्ययन करते हैं। कुछ विश्वविद्यालयों में क्षेत्रीय अध्ययन करने के लिए देश-विशेष की भाषा का ज्ञान आवश्यक माना जाता है। अधिकांश विद्यार्थियों को हिन्दी अध्ययन के लिए 'नेशनल डिफेंस फ़ेलोशिप' भी मिलती है।

हवाई विश्वविद्यालय, होनोलूलू, में 'डिपार्टमेंट ऑफ़ एशियन एण्ड पैसिफ़िक लैंग्वेजेज' में हिन्दी अध्यापन की व्यवस्था १९६३ से होने वाली थी। इस सम्बन्ध में इससे अधिक नहीं ज्ञात है।

इटली

इटली में जब मैं रोम में 'इस्मिओ', प्रो० तुच्ची की संस्था में गया था, तब अन्तामारिया से हिन्दी सुनकर बहुत प्रभावित हुआ था। उन्होंने हिन्दी में एक दस मिनट का रोम-वर्णन मुझे टेप-रेकार्ड भी करा लिया था। डॉ० रामसिंह तोमर और प्रो० मोहनलाल वाजपेयी, जो वहाँ बहुत वर्षों तक हिन्दी-प्रेम-प्रसार का कार्य कर रहे थे, भारत में शान्तिनिकेतन लौट आए थे; और कोई भारतीय स्टाफ़ पर नहीं थे। अब जो दो पत्र मुझे इटैलियन राजदूतावास, दिल्ली की कृपा से प्राप्त हुए हैं, उनका अविकल अनुवाद नीचे उद्धृत कर रहा हूँ :

'इन्स्टीट्यूटो इटैलियानो—पेर इल मीडियो एड एस्त्रीमो ओरिएण्टे, रोम से २१ नवम्बर को प्रो० आन्तोनियो गार्गिनो लिखते हैं : "(१) विश्वविद्यालयों स्कूलों/कॉलेजों में हिन्दी पढ़ाने की व्यवस्था : (अ) यूनीवर्सिटी ऑफ़ रोम, फ़ैकल्टी ऑफ़ लैट्स; इन्स्टीट्यूटो दि स्टुडिओ ओरिएन्ताली; (ब) 'इस्मिओ' की रोम में शालाएँ। तीन वर्ष का हिन्दी भाषा और संस्कृति में पाठ्यक्रम—दो वर्ष हिन्दी का उच्चतर अध्ययन; (स) मिलान और तूरिन में 'इस्मिओ' द्वारा चालित शाखाएँ शालाएँ—तूरिन की शाखा इस वर्ष बन्द हो रही है; (द) नेपल्स में 'इन्स्टीट्यूटो यूनिवर्सिटैरियो ओरिएण्टे'।

(२) विद्यार्थियों तथा अध्यापकों की संख्या : ५ से ६ अध्यापक कुल हैं। इनमें से कुछ भारतीय हैं, जोकि विश्वविद्यालय में पढ़ानेवाले लेक्चरर हैं और 'इस्मिओ' में अध्यापक हैं। इनके अलावा स्थानीय शिक्षकों को भी हम लेते हैं। 'इस्मिओ' की सब शालाओं में मिलाकर ५० विद्यार्थी कुल हैं। विश्वविद्यालयों में इस पाठ्यक्रम को सीखनेवालों की संख्या निर्धारित नहीं की जा सकती, चूँकि वहाँ उस स्थिति ऐच्छिक है। उनकी संख्या अदलती-बदलती रहती है।

(३) पाठ्य-पुस्तकें, इत्यादि : पढ़ाई 'इस्मिओ' के अध्यापक स्वयं

विदेशों में हिन्दी-साहित्य : १०१

पाठादि तैयार करके बाँटते हैं, उसी के आधार पर होती है। इसमें व्याकरण, साहित्यिक खंड, संकलन आदि होते हैं। कुछ अध्यापक केलाग के 'हिन्दी ग्रामर' का उपयोग करते हैं।

(४) हिन्दी साहित्यिक कृतियों का इटली में अनुवाद : कुछ अनुवाद उपलब्ध हैं, प्राचीन लेखकों की कृतियों के अंश, और कुछ आधुनिक कथा-साहित्य भी। अब प्रेमचंद की चुनी हुई कहानियों का एक संग्रह प्रेस में है। समकालीन हिन्दी-कवियों का एक संग्रह तैयार हो रहा है। प्रो० ग्युसेप्पे तुच्ची के निर्देशन में हमारी संस्था से 'सिविल्ला देल्ला ओरिएना' के दूसरे खण्ड में भारतीय साहित्य का एक सर्वेक्षण प्रकाशित हुआ है। प्रकाशन-संस्था है गेहरार्ड कासिनी, रोम, १९५७। पुस्तक का नाम है :

'स्टोरिया देल्ला लित्रात्युरा मेदिवाली इ मादरने देल सुवकांतिनेन्ते इन्दिआनो', लेखक सुनीतिकुमार चैटर्जी (इस ग्रन्थ में भारतीय प्रायद्वीप के मध्ययुगीन और आधुनिक साहित्य का इतिहास दिया गया है)।

(५) एक आधुनिक इटालियन-हिन्दी और हिन्दी-इटालियन कोश तैयार किया जा रहा है। सम्पादक : प्रो० एल० पी० मिश्र। वे भारत के आधुनिक साहित्य का एक इतिहास तैयार कर रहे हैं।

दूसरा पत्र इटली से नेपल्स से प्रो० ए० बीसानी, फ़ारसी के प्रोफ़ेसर से दिसम्बर ४ का लिखा हुआ प्राप्त हुआ है जिसका सारांश यों है :

"दो इटालियन यूनिवर्सिटियों में हिन्दी के 'लेटोरैटो' (विभाग) हैं। रोम में डॉ० मिश्रा और नेपल्स में डॉ० इकतिदा हसन 'लेटोरे' (प्राध्यापक) हैं। 'लेटोरे' ब्रिटिश पद्धति की शिक्षा में नहीं होते। वे विदेशी अध्यापक होते हैं, जो भाषा विभाग से संलग्न रहते हैं और उनका कार्य है भाषा का व्यावहारिक रूप सिखाना, जिससे कि विद्यार्थी वह भाषा शुद्ध रूप से बोल और लिख सकें। आधुनिक भारतीय आर्य-भाषाओं के विभाग में ही हिन्दी पढ़ाई जाती है। नेपल्स में इसे 'हिन्दी-उर्दू' विभाग कहते हैं। वस्तुतः नेपल्स के 'लेटोरैटो' (विद्यार्थी) सम्प्रति उर्दू में अधिक रुचि रखते हैं। दोनों ही 'लेटोरैटो' वर्षों में व्यक्तियों के अन्तराल और भेद को छोड़ दें तो द्वितीय महायुद्ध के बाद शुरू हुए। नेपल्स में 'हिन्दुस्तानी' विभाग (यही उसका पहले नाम था) काफ़ी पुराना है : गत शताब्दी के अन्त में तारिलियाव्यू नामक एक भूतपूर्व मिशनरी द्वारा शुरू किया गया था। वह भारत में बहुत समय तक रहा था। हिन्दुस्तानी से मतलब उर्दू और हिन्दी दोनों से था।

"इन दो यूनिवर्सिटियों के अलावा हिन्दी इस्मियो में हिन्दी एक दूसरे स्तर पर पढ़ाई जाती है, रोम और नेपल्स में, प्रो० तुच्ची के निर्देशन में। तीन वर्ष का कोर्स होता है जिसके बाद डिप्लोमा दिया जाता है। इस पदवी का महत्त्व दूतावासों की और अन्य वाणिज्य-सम्बन्धी सेवाओं से होता है। यह यूनिवर्सिटी डिग्री नहीं है। द्वितीय महायुद्ध से पहले रोम में हिन्दी अध्यापन शुरू हो गया था, मिलान शाखा में बाद में।

"अध्यापक साधारणतया भारतीय होते हैं; श्रीमती दि एंजेलिए का अपवाद

१०२ : आलोचना

छोड़कर, जो रोम के 'इस्मिओ' में हिन्दी पढ़ाती हैं। दोनों उपरिलिखित यूनिवर्सिटी प्रोफेसर पदों पर इटैलियन व्यक्ति हैं (प्रो० गार्गानो रोम में, नेपल्स में मैं हिन्दी बजाय उर्दू में अधिक दिलचस्पी रखता हूँ)।

"पाठ्य-पुस्तकों में बड़ी कठिनाइयाँ हैं। इतालवी भाषा में कोई अच्छे हिन्दी व्याकरण नहीं। सामान्यतः, विभिन्न अध्यापक अपने साइक्लोस्टाइल किये हुए व्याकरण चलाते हैं। पाठों के लिए, भारत की प्राथमिक शालाओं की पाठ्य-पुस्तकें चलाई जाती हैं (साथ ही समाचारपत्र या साहित्यिक पत्र-पत्रिकाएँ हिन्दी में चलाते हैं, उच्चतर कक्षाओं के विद्यार्थियों के लिए)। विद्यार्थियों की संख्या कुछ विरल ही है (यह बात प्रायः सभी पूर्वी भाषाओं के बारे में, हमारे देश में, कही जा सकती है)। रोम और नेपल्स यूनिवर्सिटियों में दो-तीन व्यक्तियों से अधिक हिन्दी-उर्दू नहीं पढ़ते। यह मुख्यतः प्राचीन विद्यालयीन पूर्वाग्रह का परिणाम है कि शास्त्रीय अध्ययन के योग्य यदि कोई भाषा है तो केवल पवित्र संस्कृत वाणी ही है। इस्मिओ में विद्यार्थी बड़ी संख्या में हैं (किसी-किसी वर्ष तो २०-३० से अधिक), परन्तु अधिकांश उनमें ऐसे होते हैं, जो तीसरे वर्ष तक नहीं टिकते।

'सीधे हिन्दी से इतालवी में अनुवादित ग्रन्थ बहुत थोड़े हैं : डॉ० मिश्रा द्वारा तैयार किये गए इतालवी अनुवाद के रूप में प्रेमचन्द की कहानियों का एक संग्रह शीघ्र ही प्रकाशित होगा। एशियाई साहित्यों के विविध सामान्य इतिहासों में हिन्दी साहित्य के कई अंश अनुवादित किये जा चुके हैं (मेरे 'पाकिस्तान के साहित्यों के इतिहास' में प्रेमचन्द की 'कफ़न' का अनुवाद छपा है, पर वह उर्दू में है, हिन्दी में नहीं), साथ ही 'पूर्व की संस्कृति' (ल सिविल्टा देल्लोयेन्ते) में जो चार खण्डों में रोम में छपा है, इस्मिओ के निर्देशन में, प्रकाशक कासिनी ने १९५६ से १९६० में छपा है—उसमें हिन्दी के प्राचीन साहित्य से कई अंश दिये गए हैं। हिन्दी विभाग में

"जैसे कि आप देखेंगे, यह विशेष नहीं है। यदि मैं कुछ विवरण भूल रहा हूँ तो कृपया प्रो० ए० गार्गानो को भी लिखें।"

(प्रो० गार्गानो का पत्र आरम्भ में दिया गया है।)

चेकोस्लोवाकिया

डॉ० ओदोलेन स्मेकल, (विनोहरादस्का २१, प्राग २, चेकोस्लोवाकिया) 'फिलोसोफ़िका फैकुल्टा यूनिवर्सिटी कार्लोवी-कैतेद्रा वेद ओजेमिच एसीई ए अफ्रीका' के लेटर-पैड पर शुद्ध हिन्दी में १५ नवम्बर को मुझे जो पत्र भेजा है, उसके अंश इस प्रकार से हैं :

"पहले तो मेरे एक लेख का उल्लेख करने दें—वह 'राष्ट्रभारती' (जुलै १९६४, २९६-२९८) में प्रकाशित हुआ है। उसे अवश्य देखिए। आपके प्रश्नों उत्तर—

"(१) हिन्दी शिक्षा :

(अ) C-प्राग P-विनोहरादस्का G-ब्रुक्स K-गार्गानो E-प्राग K-द्वारा छात्र और

छात्राएँ हैं। प्राग विदेशी भाषाओं के विद्यालय में १३ छात्र और १७ छात्राएँ हैं।

(ब) विश्वविद्यालय में १९४८ से हिन्दी पढ़ाई जा रही है, विद्यालय में १९२५ से। विश्वविद्यालय में भाषा और साहित्य दोनों की पढ़ाई हो रही है, विद्यालय में केवल भाषा। विश्वविद्यालय में हिन्दी के पाठ्यक्रम में उर्दू और संस्कृत भी सम्मिलित हैं, पर केवल एक वर्ष तक।

(स) पाठ्य-क्रम पाँच वर्ष का है। व्यौरवार सूचना उपरोक्त लेख में। पाठ्य-क्रम के अन्तर्गत हिन्दी का व्याकरण, ऐतिहासिक व्याकरण, पुराना साहित्य, नया साहित्य, एक और भारतीय भाषा। एक वर्ष तक, प्रायः बंगला या मराठी होती है। भारत का इतिहास, आधुनिक सांस्कृतिक और धार्मिक जीवन के लक्षण, ऐतिहासिक यादगार, भारत का भूगोल और मुख्य भारतीय लेखकों से परिचय।

(द) पढ़ाने वालों में अब तक चेक ही रहे थे। कभी-न-कभी भारतीय विद्यार्थी लोग, जो चेकोस्लोविया में एक-दो वर्ष के लिए तकनीकी शिक्षा प्राप्त करने आया करते हैं, बोलचाल की हिन्दी सिखाते हैं। इन दोनों अरविन्दकुमार, श्री ओम-प्रकाश (राजकमल प्रकाशन) के सुपुत्र हमारे विभाग में हिन्दी पढ़ाते हैं। विदेशी शिक्षक हमारे यहाँ नहीं हैं।

(२) मैं हिन्दी भाषा १९५४ से पढ़ाता हूँ। डॉ० वि० पोरीज्का १९४५ से और प्राध्यापक पेटोल्द १९२५ से हिन्दी पढ़ाते हैं। विश्वविद्यालय के भारतीय विभाग में १९४८ से हिन्दी पढ़ाते हैं। इससे पहले हिन्दी उच्च व्यापार महाविद्यालय में या विशिष्ट स्कूलों में पढ़ाई जाती थी।

ग्रन्थालय में हिन्दी की शायद १५०० पुस्तकें होंगी। हो सके इसमें २००० के लगभग होंगी। मुझे ठीक मालूम नहीं। जो पुस्तकें मुझे भारत में दी गई थीं उन्हें मैंने भी विभाग में दे दिया था। पुस्तकों में से बहुत-सी उच्चकोटि की नहीं हैं। 'प्रसाद' की कामायनी आदि आधार मूलग्रन्थ हमारे पास नहीं हैं। कुछ हिन्दी पुस्तकें 'ओरिएण्टल इन्स्टिट्यूट' के पुस्तकालय में हैं, पर बहुत संख्या में नहीं।

(३) हिन्दी साहित्य के अनुवाद : (अ) प्रेमचन्द : गोदान, अनुवादक स्मेकल १९५७; अमृतराय : तिरंगे कफन; हर्षनाथ : शैतान नहीं आदमी, १९५३, अनु-स्मेकल; चन्द्रकिरण सोनरिक्सा : गृहस्थी का सुख, १९६१; पत्रिकाओं में मेरे अनेक अनुवाद : लेखक : वच्चन, 'अज्ञेय', गिरिजाकुमार माथुर, महेन्द्र भटनागर, दिनकर आदि। प्रेमचन्द : निर्मला, अनुवादिका पुत्सकोवा, १९६३; अयोध्याप्रसाद उपाध्याय : देवबाला, अनुवादक वेलेस्नी, १९११।

आगे का कार्यक्रम : जायसी : पटुमावती, हिन्दी कहानियों का संकलन, हिन्दी भाषा का व्याकरण चेक में है : वि० पोरीज्का, हिन्दी व्याकरण, १९५२; प्राइमर व पाठ्य-पुस्तकें (दो) : प्रो० पेटोल्द, १९३६, १९४७, वि० पोरीज्का, हिन्दी-लैंग्वेज-कोर्स १९६३ स्मेकल हिन्दी साहित्य का संक्षिप्त इतिहास लिख रहे हैं।

डॉ० स्मेकल द्वारा उल्लिखित लेख के अंश इस प्रकार हैं :

"अपनी अनुभूति से मुझे पता चला है और भारत में रहते समय मुझे पग-

१०४ : आलोचना

पग पर इस बात का प्रमाण मिलता रहा था कि अधिकतर भारतवासी विदेशियों के सम्पर्क में अंग्रेजी में बातें करना मिथ्या गौरव समझते हैं। अतः संसार-भर में प्रचलित मत यह हो गया है कि भारतवासियों के सम्पर्क में किसी भारतीय भाषा की जानकारी विशेष आवश्यक नहीं है, क्योंकि स्वयं भारतीय अपनी भाषा का विदेशियों के सम्पर्क में प्रयोग नहीं करते हैं और अपनी भाषा बोलते समय संस्कृत में और उच्च विचारों के लिए अपने शब्दों का प्रयोग न करके अंग्रेजी शब्दों का प्रयोग करते हैं। सच्ची और एकदम स्वाभाविकता से सारे संसार में स्वीकृत मत है कि अपनी भाषा का आदर तथा गौरव सब भाषाओं की तुलना में अधिक होना चाहिये। भारतवासियों को विदेशी लोगों को इस बात का विश्वास दिलाना होगा कि वे भारतीय भाषाओं की जानकारी राष्ट्र की कार्रवाई के लिए उपयुक्त, लाभकारी और परम आवश्यक समझें।

प्राग विश्वविद्यालय के पूर्वी विभाग में कई उपविभाग हैं। एक विभाग में अरबी, फारसी, तुर्की आदि भाषाएँ सिखाई जा रही हैं, दूसरा भारत का विभाग है। अगले उपविभाग में चीनी, जापानी आदि भाषाओं का शिक्षण-प्रबन्ध है। चौथा विभाग अर्मेनी-गुजनी भाषाओं का है और इसके अतिरिक्त हिन्देशियायी, अफ्रीकी भाषाओं तथा प्राचीन लिपियों के अध्ययन के लिए भी अलग विभाग है। चेकवासियों को प्राच्य भाषाएँ सीखने में अभिरुचि बहुत कम है। जहाँ तक भारतीय भाषाओं का प्रश्न है, यह अभिरुचि अधिक उत्कट प्रतीत होती है। यह कहना उचित है कि हमारे छात्रों का अनुराग विशेष रूप से आधुनिक भाषाओं के प्रति प्रवृत्त हो गया है। नवीन पूर्वी भाषाओं के प्रति झुकाव—आधुनिक चेक प्राच्यविद्या का प्रधान लक्षण है। हम इसे एक आमूल परिवर्तन कह सकते हैं, क्योंकि पहले अध्ययन का ध्यान प्रायः प्राचीन भाषाओं और विद्याओं तक ही सीमित था। नवीन भाषाओं और साहित्यों की शिक्षा पिछले समय तक अवहेलित रही। यह परिस्थिति आज तक कई यूरोपीय देशों में विद्यमान है। यूरोप के प्रधान विश्वविद्यालयों में पुरानी भाषाओं का अच्छा गवेषणा-कार्य हो रहा है और पुस्तकालय अनेक दुर्लभ ग्रन्थों से सुसज्जित हैं, पर नवीन प्राच्य भाषाओं के केवल व्यावहारिक भाषा के पाठ्यक्रम हैं। हमें इस बात पर गौरव है कि चेकोस्लोवाकिया में हम प्राचीन प्राच्य भाषाओं के साथ ही आधुनिक पूर्वी भाषाएँ तथा साहित्यों का खोजपूर्ण अध्ययन करने लगे हैं और उनके विस्तारपूर्ण अध्यापन-कार्य पर विशेष ध्यान दे रहे हैं।

इस समय विश्वविद्यालय के भारतीय विभाग में हिन्दी और उर्दू के अतिरिक्त संस्कृत, बंगला और तमिल भाषाओं की शिक्षा दी जा रही है। हिन्दी का पाठ्यक्रम पाँच वर्ष का है। उसमें इस प्रकार के पाठ, भाषण और पाठ्यक्रम हैं : (१) व्यावहारिक हिन्दी अथवा बोलचाल का अभ्यास, (२) सरल हिन्दी व्याकरण, (३) हिन्दी व्याकरण का गहरा अध्ययन, (४) हिन्दी में अनुवाद करने का अभ्यास, (५) हिन्दी और उर्दू शैली, (६) संस्कृत भाषा और साहित्य, (७) अन्य भारतीय भाषा से परिचय (वैकल्पिक भाषा), (८) अन्य भारतीय साहित्यों से परिचय, (९) भारत का इतिहास, (१०) भारत के धर्म और दर्शनशास्त्र और (११) आधुनिक भारतीय

विदेशों में हिन्दी-साहित्य : १०५

जीवन के प्रधान लक्षण। विद्यार्थी को प्रत्येक विषय की परीक्षा देनी पड़ती है। पाँचवें शिक्षण वर्ष के अन्त में इन सब विषयों की फिर से एक संयुक्त परीक्षा देनी होती है। अन्तिम दो वर्षों में विद्यार्थी अपना उपाधि-निबन्ध तैयार करता है। अपना शोध-कार्य पेश करके उसे इस बात का प्रमाण देना आवश्यक होता है कि वह अपने विषय में पर्याप्त प्रवीण तथा हिन्दी में गवेषणा-कार्य करने योग्य है। इस समय तक हमारे विभाग में ११ विद्यार्थियों ने हिन्दी की शिक्षा समाप्त करके इसमें उपाधि प्राप्त की है। हिन्दी की शिक्षा चेकोस्लोवाकिया में विश्वविद्यालयीन स्तर पर सन् १९४८ में पहली बार दी जाने लगी।

प्राग विश्वविद्यालय के अतिरिक्त हमारे देश में प्राग में एक और विद्यालय है, जहाँ हिन्दी भाषा की पढ़ाई हो रही है। वह विदेशी भाषाओं का विद्यालय है। उसका उद्देश्य विश्वविद्यालय की तुलना में कुछ दूसरा है। विश्वविद्यालयीन शिक्षा का लक्ष्य, जैसे हम पहले देख चुके हैं, विद्यार्थियों को अधिक-से-अधिक गहरी बहुमुखी और व्यापक हिन्दी की जानकारी प्रदान करता है। विदेशी भाषाओं का विद्यालय ऐसी संस्था है जहाँ अपनी इच्छानुसार छोटे या बड़े सभी, जिनको प्राच्य भाषाओं में रुचि है, उपयुक्त जानकारी प्राप्त कर सकते हैं। इसके छात्र, कर्मचारी, वाणिज्य अधिकारी, श्रमिक, इंजीनियर लोग, युवक और युवतियाँ जो शिक्षा ज्ञानवर्धन और विनोद दोनों के लिए सप्ताह में दो बार शाम को हिन्दी भाषा दो घण्टों के पाठ्यकाल में सीख लेते हैं। पूरा पाठ्यक्रम ६ वर्ष तक होता है। सारी शिक्षा विशेषकर व्यावहारिक अथवा बोलचाल की हिन्दी पर केन्द्रित है। आजकल हिन्दी की तीन कक्षाएँ हैं। पढ़ने वालों की संख्या मिलाकर पन्द्रह है। प्रचलित वर्ष तक ६ शिक्षार्थियों ने हिन्दी का पूरा पाठ्यक्रम समाप्त किया है।

इन हिन्दी के चेक प्राध्यापकों में से, जो साथ ही हिन्दी पाठ्य-पुस्तकें तैयार करते हैं, तीन हैं : प्राध्यापक ओताकार पेट्रोल्द, जिनको हमारे देश में हिन्दी के प्रचार के लिए अधिक श्रेय प्राप्त है। उनके प्रयत्नों से चेकोस्लोवाकिया में हिन्दी सबसे पहले आई। डॉ० पेट्रोल्द ने सन् १९२५ में उच्च वाणिज्य महाविद्यालय में हिन्दी की शिक्षा देनी आरम्भ की। उन्होंने चेकोस्लोवाकिया में हिन्दी की पहली पाठ्य-पुस्तक सन् १९३० में प्रकाशित की थी। इस पुस्तक के अनुसार दो दशकों तक हिन्दी पढ़ाई गई। दूसरे प्राध्यापक का नाम डॉ० वि० पोरीज्का है। वे विशेषकर हिन्दी व्याकरण तथा ऐतिहासिक व्याकरण में खोज-कार्य कर रहे हैं। अब तक उन्होंने 'हिन्दी का व्याकरण' और पिछले वर्ष 'हिन्दी' नामक एक शोधपूर्ण पाठ्य-पुस्तक लिखकर प्रकाशित कर दी थी। तीसरा हिन्दी का एक प्राध्यापक प्रस्तुत लेख का लेखक है। दस वर्ष पूर्व मैंने हिन्दी-प्रेमियों के लिए पाठ्य-पुस्तक तैयार की थी। वह तो मेरा केवल प्राथमिक प्रयास था। इसके अनुसार हम अब भी पढ़ा रहे हैं। दस-वर्षीय हिन्दी अध्यापन-कार्य से अनुभव प्राप्त करके इससे अब पूर्णतया संतुष्ट नहीं हूँ और दूसरी एकदम नई पाठ्य-पुस्तक के कार्य में संलग्न हूँ।

पिछले सात वर्षों के प्रयत्न से मैंने हिन्दी के अध्ययन के विकास के लिए

१०६ : जालोचना

‘हिन्दी वार्तालाप’ नामक पाठ्य-पुस्तक को प्रकाशनार्थ तैयार किया है। वह के विचारों में न केवल चेक हिन्दी-प्रेमियों के लिए बल्कि सारे यूरोपवासी हिन्दी-हितैषियों के लिए सहायक होगी। यह इसलिए कि उसमें हिन्दी और चेक वाक्यों के साथ-साथ अंग्रेजी के भी वाक्य दिये गए हैं। भारत में रहते समय मैंने इस पुस्तक के लिए सामग्री का संचय किया था। ऊपर उल्लिखित पुस्तक में दैनिक जीवन के प्रत्येक आवश्यक विषय की चर्चा है। उसमें न केवल प्रचलित सुगम वातचीत के वाक्यों का अधिक प्रयोग में होने वाले शब्द, बोलचाल के ढंग पर सामाजिक जीवन के सम्पर्क में प्रयुक्त होने वाले शिष्ट वाक्य और प्राविधिक तथा औद्योगिक क्षेत्र के लिए विशिष्ट वाक्यों की सामग्री भी मिलती है। ऐसी पाठ्य-पुस्तक की मेरे विचार में हमारे शिक्षार्थियों को प्रोत्साहन तथा हिन्दी बोलने में सिद्धहस्तता प्राप्त करने के लिए आवश्यकता है। पुस्तक अगले वर्ष के प्रारम्भ में ही प्रकाशित होने वाली है।”

(राष्ट्रभारती, जून, १९६४)

जर्मनी (पश्चिमी)

कुमारी मादालिन डकविज, जो भारत के जर्मन दूतावास में उप-सांस्कृतिक सलाहकार हैं, आठ वर्ष पूर्व हमसे हिन्दी सीखती थीं। आपने सूचना दी है अपने अक्टूबर ३०, १९६४ के पत्र में : “जब मैं यूनीवर्सिटी में हिन्दी पढ़ती थी, १०-१५ वर्ष पहले, स्पाइस-बैनट की ‘हिन्दुस्तानी ग्रामर’ प्रयोग में लाई जाती थी। शोलवेर्ग की हिन्दुस्तानी व्याकरण का भी काफ़ी व्यापक प्रयोग होता था। अब शायद भारत में प्रकाशित और उच्चतर प्रकाशन प्रयोग में लाये जाते होंगे, इसका मुझे विश्वास है। नवोन्मत्त हिन्दी व्याकरण, जो जर्मनी में प्रकाशित हुआ है वह है, डॉ० एच० जे० वेरमीर तथा डॉ० आर्येन्द्र शर्मा द्वारा रचित ‘आइन फ्युह्रुंग इन डाइ ग्रामाटिक् डेर मॉडर्न हिन्दी’ (आधुनिक हिन्दी के व्याकरण की प्रवेशिका)। यह एक अत्यन्त सुन्दर व्याकरण है, परन्तु यह अधिक शास्त्रीय है; विद्वान भाषावैज्ञानिकों के ही काम की अधिक है। सर्वसाधारण भाषा के विद्यार्थियों के सरल उपयोग के लिए यह उतर्ना काम की नहीं। मैं आपको इस पुस्तक की एक प्रति, सन्दर्भ के लिए, भेज रही हूँ।”

“जहाँ तक हिन्दी पुस्तकों के जर्मन अनुवाद का प्रश्न है, दुर्भाग्य से, सम्प्रति मेरे पास कोई पुस्तक नहीं। आप मैक्समुल्लर भवन नामक जर्मन सांस्कृतिक केन्द्र के पुस्तकालय से पता लगाएँ (कर्जन रोड, नई दिल्ली में)। वहाँ के ग्रन्थालयाध्यक्ष आपकी सहायता करेंगे। ३, कर्जन रोड, नई दिल्ली-१ में डॉ० पी० एल० अनेजा जर्मन भाषा के लेक्चरर हैं, जो हमारे विश्वविद्यालयों में हिन्दी अध्यापन के सम्बन्ध में अधिक जानकारी रखते हैं।”

मेरे और पता लगाने पर यह सूचना मिली कि निम्न भारतीय सम्प्रति पश्चिम जर्मनी में हिन्दी के अध्यापक हैं; नाम और पते दे रहा हूँ :

१. जेड० ए० हनफ्री, ओरिएण्टलेशन सेमिनार डेर यूनीवर्सिटेट राइम्स-फ्राइबर्ग।

२. प्रो० ताराचंद राय, इंडोलौजिसेस सेमिनार डेर यूनिवर्सिटी वोन, वोन ।
३. डॉ० एस० विश्वास, इंडोजर्मनिसेस सेमिनार, बर्लिन-डाइलेम ।
४. डॉ० सी० त्रिपाठी, इंडोलौजिसेस सेमिनार, गोईटिंगेन ।
५. श्री एस० ए० श्रीनिवासन, सेमिनार फूर कुलदूर उण्ड गैशिश्टे इण्डियेन्स, यूनिवर्सिटी हैम्बुर्ग
६. प्रो० डॉ० डब्ल्यू० राज और मि० शर्मा, इण्डिय-ओस्टाशियाटियासेस सेमिनार, यूनिवर्सिटी, मारबुर्ग ।
७. श्री योगेश यादव, सेमिनार फूर वेरग्लाइशेण्डे स्प्राख विस्सेन्सशाफ्ट डेर यूनिवर्सिटी, वूर्जबेर्ग ।

जर्मनी संस्कृत अध्ययन की पुरानी भूमि रहा है। वीस जर्मन प्रोफेसरों के नाम-पते कुमारी डकवित्स ने भेजे हैं, जिससे पता चलता है कि १५ यूनिवर्सिटियों में संस्कृत पढ़ाने की व्यवस्था है। १९६१ में जब मैं 'डॉइशलैण्ड एकेडेमी' के अतिथि के नाते जर्मनी में गया था, तब फ्रांकफुर्ट में गोइटे यूनिवर्सिटी में 'कुमारसम्भव' की भाषा पर शोधकार्य करनेवाले विद्यार्थी मिले थे; हैम्बुर्ग और म्युनिखेन में भी कई संस्कृत-प्रेमियों से भेंट हुई थी।

हाइडेलबेर्ग यूनिवर्सिटी के साउथ एशिया इंस्टिट्यूट का १९६४ का बुलेटिन मुझे मिला है। सुमुद्रित पुस्तिका के आरम्भ में विजया लक्ष्मी पंडित के साथ डॉ० फ्रिट्ज अर्नेस्ट का चित्र है। 'डिपार्टमेण्ट ऑफ़ माडर्न लैंग्वेजेज़' में लिखा है : "प्राध्यापक : डॉ० एज० जे० वेरमीर, मि० इंदुप्रकाश पांडेय एम० ए०, श्रीमती हमीदा तैयब अली बी० ए०; विजिटिंग प्रोफेसर : डॉ० आर्येन्द्र शर्मा। इस विभाग में हिन्दी और उर्दू इस कार्यक्रम के आरम्भ में पढ़ाये जाते हैं, गुजराती और तमिल बाद में पढ़ाये जाएंगे—१९६४-६५ में। यहाँ से हिन्दी व्याकरण प्रकाशित हुआ है। हिन्दुस्तानी ध्वनिशास्त्र पर और जर्मन-हिन्दी, हिन्दी-जर्मन कोशों पर कार्य चल रहा है।

"डॉ० आर्येन्द्र शर्मा, उस्मानिया यूनिवर्सिटी हैदराबाद से १९६३-६४ में यहाँ आए। मि० इंदुप्रकाश पांडेय १९६३ के ग्रीष्म में थे। श्रीमती हमीदा तैयब अली १९६२-६३ के शिशिर से उर्दू और ध्वनिशास्त्र की अध्यापिका हैं। वे १९६४-६५ में गुजराती भी पढ़ाएँगी और मि० जेसिया तमिल के लेक्चरर बनकर १९६४-६५ में आएँगे।"

श्रीमती हमीदा तैयबजी के परिचय में पृ० २० पर लिखा है : 'भारत और पाकिस्तान की उर्दू साहित्य संस्था अंजुमन तरक्की-ए-उर्दू की उपाध्यक्षा, बम्बई में फॉरेन लैंग्वेज इंस्टीट्यूट में लेक्चरर थीं।

मेरी एक अन्य जर्मन विद्यार्थिनी (जो अमरीका में मेरी छात्रा थीं; बाद में भारत में सुभाषचन्द्र बोस पर शोधकार्य करने गत वर्ष आई थीं, और मेरे घर पर एक सप्ताह ठहरीं) इनीस ब्यूर्न के एक-दो वर्ष पूर्व के पत्र के अनुसार—"हमारे कुछ अध्यापक कहते हैं : हिन्दी में कोई साहित्य विकसित नहीं है। क्या यह सच है?"

जर्मन में जहाँ तक मेरी जानकारी है, आधुनिक हिन्दी साहित्य से बहुत कम

१०८ : आलोचना

रचनाओं का अनुवाद हुआ है। डॉ० शार्लोट क्राडजे ने लाइप्सिग से लल्लू लालजी के 'प्रेमसागर' का अनुवाद प्रकाशित किया था; हाल में बिहारीलाल की 'सतसई' के कुछ दोहों का पद्यानुवाद जर्मन दूतावास के एक अधिकारी ने किया। पर आधुनिक हिन्दी से जैनेन्द्रकुमार के 'त्यागपत्र' और प्रेमचंद की कुछ कहानियों के अनुवाद के सिवा और किसी रचना की बात नहीं सुनी। कुछ नये कवियों की रचनाओं के अनुवाद कराने की योजना मैक्समुल्लर भवन ने बनाई थी। पर एक पुस्तिका से अधिक कुछ देखने में नहीं आया।

जर्मनी (पूर्व)

भारत में दो वर्ष रहकर हिन्दी व्याकरण पर अनुसन्धान करनेवाली कुमारी मार्गोत् हेल्सिग ने इस सम्बन्ध में लिखा है :

"जर्मन जनवादी गणतन्त्र में भारत-सम्बन्धी अनुसन्धान में हिन्दी का विशेष स्थान है। हिन्दी भारत की वह भाषा है जिसे सबसे अधिक लोग बोलते और समझते हैं। इसलिए हमारे देश में हिन्दी के अध्ययन-अध्यापन पर विशेष ध्यान दिया जाना स्वाभाविक ही है। हिन्दी की वैज्ञानिक शिक्षा प्रदान करने के मुख्य केन्द्र बर्लिन में हुम्बोल्ट विश्वविद्यालय और लाइप्सिग के कार्ल मार्क्स विश्वविद्यालय हैं। हाले के मार्तिनलूथर विश्वविद्यालय के भाषावैज्ञानिक संस्थान में भी हिन्दी पढ़ाई जाती है। बर्लिन के हुम्बोल्ट विश्वविद्यालय में कई वर्षों से भारतीय विद्वान डॉ० अनसारी अपनी चेक पत्नी दगमार अनसारी के साथ हिन्दी पढ़ाते हैं। इसी संस्थान में एक साल से कुमारी बारबारा वेस्टफाल हिन्दी व्याकरण पढ़ाती हैं। मैं भी वहीं पढ़ाती हूँ।

"बोलचाल की हिन्दी जर्मनी आने वाले भारतीय छात्रों से सीखी जाती है। लाइप्सिग में उन जर्मन छात्रों को हिन्दी सिखाते हैं, जो हिन्दी के साथ-साथ अंग्रेजी भी सीखकर दुभाषिये का काम कर सकते हैं। लाइप्सिग के कार्ल मार्क्स विश्वविद्यालय में पंडित शास्त्री नामक भारतीय कई वर्षों तक पढ़ाते थे। वे ब्रज भाषा के विद्वान थे। उनकी एक शिष्या कुमारी एरिका मेकल हाले में हिन्दी पढ़ाती हैं। दूसरी छात्रा कुमारी इरेनेवित्रिग मास्को में हिन्दी साहित्य के इतिहास का विशेष अध्ययन कर रही है।

"पिछले दो वर्षों से जर्मन जनवादी गणतन्त्र और भारतीय गणराज्य के बीच विद्यार्थियों और विद्वानों का आदान-प्रदान बढ़ गया है। परन्तु हमारे सामने हिन्दी पढ़ने के कार्य में कई कठिनाइयाँ हैं : शिक्षकों की कमी और जर्मन भाषा में हिन्दी पाठ्य-सामग्री की न्यूनता है। अतः रूसी और अंग्रेजी पाठ्य-सामग्री को ही काम में लाया जाता है। कुमारी एरिका मेकल हिन्दी-जर्मन शब्दकोश तैयार करने का काम कर रही हैं। अनसारी दम्पति पाठ्य-पुस्तकों और व्याकरण तैयार कर रहा है। नेस्पितल व्याकरणांश लिख रहे हैं।

"भारतीय लेखकों की श्रेष्ठ कृतियों का जर्मन में अनुवाद एक कठिन किन्तु आवश्यक कार्य है। हाल ही में एक जर्मन अनुवाद 'पंजाब का देश' नाम से छपा है।

इसमें प्रेमचन्द, यशपाल और दूसरे हिन्दी लेखकों की कहानियाँ संकलित हैं। दूसरे अनुवादित संकलन में, जिसका नाम 'ठाकुर का कुआँ' है, प्रेमचन्द, यशपाल, अजेय और कमला चौधरी की कहानियाँ छपी हैं। 'गोदान' का जर्मन अनुवाद छप रहा है। जर्मन जनवादी गणतन्त्र में बराबर कई हिन्दी अखबार और पुस्तकें मँगवाई जाती हैं। फिर भी यह सारा काम अभी अपने प्राथमिक चरण में ही है। यह बहुत महत्त्वपूर्ण कार्य, हमें आशा है कि हमारी सरकार की सहायता से और आगे बढ़ेगा और हम अपने अभीष्ट ध्येय तक जल्दी ही पहुँच सकेंगे।"

जर्मन गणवादी जनतन्त्र में वाल्टर रुवेन आदि संस्कृतज्ञ भी बहुत-सा शोध-कार्य कर रहे हैं। उनकी कालिदास पर पुस्तक प्रसिद्ध है।

जापान

काका साहब कालेलकर के यहाँ ठहरे हुए हिन्दी छात्र श्री कोकिनागा को मैंने दो पत्र भेजे, पर कोई उत्तर नहीं मिला। पता चला है कि तोकियो यूनिवर्सिटी में इलाहाबाद विश्वविद्यालय में पढ़े हुए के० दोई सम्प्रति हिन्दी पढ़ाते हैं। किसी भारतीय अध्यापक को वहाँ भेजे जानें की भी योजना इण्डियन काउन्सिल फार कल्चरल रिलेशन्स (आज़ाद भवन) के सामने है। वैसे वहाँ कई वर्षों तक रहकर अच्छी जापानी जानने वाली एक भारतीय महिला ने मुझे बताया है कि हिन्दी और जापानी में बड़ा व्याकरण-साम्य है—वाक्य-रचना में, क्रिया के स्थान आदि में। जापानी में रवीन्द्रनाथ, गांधी, नेहरू की पुस्तकें अनुवादित हैं। प्रेमचन्द का 'गोदान' और कुछ कहानियाँ जापानी में हैं। बौद्ध-धर्म-सम्बन्धी साहित्य अनुवादित हुआ है। राहुलजी की जापान-यात्रा और भदन्त आनन्द कौसल्यायन के 'जापान' से भी कुछ जानकारी मिलती है।

पोलैंड

आग्नेशका कोवालस्का-सोनी से हमें पता लगा कि पोलैंड में बहुत वर्षों से संस्कृत की भाँति हिन्दी अध्ययन-अध्यापन की व्यवस्था है। आग्नेशका भारत में आधुनिक हिन्दी कविता पर शोध करने आई थीं, और शांतिनिकेतन और इलाहाबाद में उन्होंने यह कार्य किया। कई आधुनिक हिन्दी कवियों से वे मिलीं। स्वर्गीय गजानन माधव मुक्तिबोध से मिलने के लिए वह राजनांदगाँव गई। उनकी मृत्यु के बाद उनसे प्राप्त सन्देश के अनुसार वह मुक्तिबोधजी की कविताओं के अनुवाद पोलिश भाषा में कर रही हैं।

पोलैंड या अन्य देशों के विषय में हमारी जानकारी बहुत सीमित है। यूगो-स्लाविया की सर्वो-क्रोटन भाषा में जैनेन्द्रकुमार के 'त्यागपत्र' का अनुवाद हुआ है, ऐसी सूचना मिली है।

फ्रांस

मैं दिल्ली के फ्रेंच दूतावास का आभारी हूँ कि सांस्कृतिक सलाहकार बेनार्डि

११० : आत्मज्ञान

क्लेजरी ने मुझे पैरिस के दो पते दिये और जिलेस फिलिवेर्त नामक आधुनिक भारतीय भाषाओं के प्राध्यापक का नवम्बर २५ का एक पत्र मुझे मिला। उसके अनुसार :

“इकोल नातिसियोनाल द्यु लांगे ओरिएन्ताल विवैन्ते” में दो अध्यापक हिन्दी के हैं; एक फ्रेंच और दूसरे भारतीय। पहले वर्ष में हम व्याकरण के प्रारम्भिक तत्त्व पढ़ाते हैं और फिर आसान पाठ पढ़ते हैं; दूसरे और तीसरे वर्षों में हम उच्चतर पाठ्य-पुस्तकें पढ़ते हैं, और अनुवाद का अभ्यास कराते हैं। अनुवाद हिन्दी से फ्रेंच में और फ्रेंच से हिन्दी में सिखाया जाता है। भारतीय अध्यापक हिन्दी में विद्यार्थियों के साथ एक घंटा सम्भाषण भी करते हैं।

“इस वर्ष निम्न पाठ्य-पुस्तकें हम काम में ला रहे हैं (या लायेंगे) :

“पहले वर्ष के लिए, भारती रीडर नं० ३, हिन्दी प्रचार सोसायटी, मद्रास की।

“दूसरे वर्ष के लिए, कहानियाँ मनोरंजक कथाएँ (आनन्द कुमार) आरम्भ में और बहुत जल्दी ‘तोता मैना’ (पाकेट बुक संस्करण) से कहानियाँ।

“तीसरे वर्ष के लिए यशपाल की गीता।

“इसके अतिरिक्त, भारतीय संस्कृति तथा सभ्यता के प्रोफ़ेसर मस्यू शांभार, सप्ताह में एक घंटा हिन्दी अखबारों को समझाने में बिताते हैं (यह उनके पाठ्यक्रम का अंश है)।

“जहाँ तक प्राइमरें, व्याकरण-पुस्तकें, कोश आदि का प्रश्न है, हमारे यहाँ फ्रेंच में कुछ भी नहीं है (एक पुरानी प्राइमर के सिवा जो अब हम काम में नहीं ला सकते) और इसलिए अन्य भाषाओं में पुस्तकों पर हमें अवलम्बित होना पड़ता है (अधिकतर अंग्रेजी में हैं, अर्थात्, और उच्चतर विद्यार्थियों के लिए हिन्दी में पुस्तकें चलती हैं)।

“आपके पत्र के तीसरे प्रश्न के उत्तर में निवेदन है कि फ्रेंच में हिन्दी से अनुवादित बहुत थोड़ी पुस्तकें हैं। जहाँ तक मैं जानता हूँ, अब तक एक ही प्रकाशित हुई है : कवीर की कविताओं का एक संकलन (कई किताबों से) माद्योजेल वादविल द्वारा अनुवादित और गैलियार द्वारा १९५९ में प्रकाशित। दो और पुस्तकें तैयार हो रही हैं : ‘गोदान’, स्वर्गीय पियरे मेल द्वारा अनुवादित; और युनेस्को की सीरीज़ में ‘कामायनी’। इनमें से प्रथम, अगले साल प्रकाशित हो जाएगी। प्रो० मेल ने ‘कर्म-भूमि’ (प्रेमचंद) का भी अंश अनुवादित किया था, पर वह अब तक अप्रकाशित है।”

बर्मा

चिकित्सक डॉ० ओम्प्रकाश बर्मा हिन्दी साहित्य सम्मेलन के प्राण हैं। उनके द्वारा दी गई जानकारी इस प्रकार है : “सन् १८८५ में बिहार के आरा जिले से करीब २००० परिवार जियावाडी और चौतगा ग्राण्ट के ज़मींदारों द्वारा लाये गए। उन्होंने वहाँ जंगल काटकर खेती शुरू की। उनके वंशज अब ४० हजार की संख्या में वहाँ बसे हुए हैं। सन् १९०९ में पं० हरिवदनजी शर्मा बर्मा में गये। बर्मा में हिन्दी-प्रचार का इतिहास शर्माजी का इतिहास है। १९२३ में हिन्दी प्रचार को सुगठित रूप

देने के लिए वर्मा हिन्दी साहित्य सम्मेलन की स्थापना की गई। १९२५ ई० में वर्मा सरकार द्वारा हिन्दी को मान्यता मिली और हाई स्कूल फ़ाइनल परीक्षा में द्वितीय भाषा का उसे स्थान मिला। तब देश में ३६० छोटे-बड़े ऐसे विद्यालय स्थापित हुए, जिनमें हिन्दी पढ़ाई जाती थी। जियावाडी में वर्तमान गांधी हिन्दी महाविद्यालय की स्थापना १९२१ में हुई। डी० ए० बी० स्कूल रंगून में एक ट्रेनिंग क्लास सन् १९३८ में प्रारम्भ किया गया। प्रतिवर्ष २० अध्यापक इसमें प्रशिक्षित किए गये। इसके प्राध्यापक गोपालदासजी बी० ए० 'विशारद' थे।

"सन् १९२५ से युद्धारम्भ तक १५ वर्षों में हिन्दी प्रसार ने विशेष प्रगति की। सन् १९४१ से '४६ तक महायुद्ध के कारण हिन्दी में प्रचार-प्रसार एवं शिक्षा-दीक्षा का कार्य अवरुद्ध-सा हो गया, फिर भी जियावाडी और रंगून में विश्वभारती एकेडेमी में यह कार्य चलता रहा। सन् १९४८ में वर्मा हिन्दी साहित्य सम्मेलन का पुनर्गठन हुआ। रंगून और जियावाडी के दोनों केन्द्रों से प्रयाग के हिन्दी साहित्य सम्मेलन की परीक्षाओं में ५०-६० के लगभग परीक्षार्थी प्रतिवर्ष परीक्षा में बैठने लगे। वर्मा में जाकर भारतीय हिन्दी और अहिन्दी-भाषी का भेद भूल जाते हैं और वहाँ अहिन्दी-भाषी भी खूब हिन्दी सीखते हैं।"

"प्रतिवर्ष वर्मा हिन्दी साहित्य सम्मेलन का महाधिवेशन होता है, जिसमें गण्यमाण्य भारतीय नेता और साहित्यकार आ चुके हैं : भिक्खु जगदीश कस्सप, आर० आर० दिवाकर, जयप्रकाश नारायण, लोहियाजी, 'राहुल' जी, दिनकर, भदन्त आनन्द कौसल्यायन, सेठ गोविन्ददास, विष्णु प्रभाकर, यशपाल जैन और श्यामनारायण पांडेय आ चुके हैं।

"रंगून में २२-५-१९३४ से दैनिक हिन्दी 'प्राची-प्रकाश' प्रकाशित होता आ रहा है। 'प्रवासी' भी दो वर्ष चला। 'ब्रह्म-भूमि' मासिक पत्रिका ४ वर्ष से चल रही है। पत्र-पत्रिकाओं की तरह से साहित्य-प्रकाशन भी कुछ हिन्दी में हुआ है। पं० हरिवदन शर्मा ने 'हिन्दी-वर्मी बोध', 'वर्मा का भूगोल' आदि छपाया। मास्टर पलटू-सिंह ने वीर सावरकर की पुस्तक 'हिन्दू-पद-पादशाही' का सुन्दर हिन्दी अनुवाद प्रकाशित किया। श्री श्यामचरण मिश्र का 'वर्मा—कल और आज' छपा है। श्री रामप्रदेश यादव साहित्यरत्न ने 'गांधी-दर्शन' खंड-काव्य १९६१ में एवं 'क्रांति' उपन्यास सन् १९६३ में प्रकाशित किया। कुछ लेखकों ने हिन्दी पुस्तकों के वर्मी में अनुवाद किए : ऊ० पारमू और स्वर्गीय धर्मदूत ने राहुलजी के 'सिंह सेनापति' का वर्मी अनुवाद प्रकाशित किया। आर्य-समाज द्वारा 'सत्यार्थ-प्रकाश' का वर्मी अनुवाद सन् १९६० में प्रकाशित किया गया और वाल्मीकीय रामायण का भी एक अनुवाद हुआ है। श्री चन्द्रप्रकाश 'प्रभाकर' ने 'गोदान' का वर्मी अनुवाद किया है जो धारावाहिक रूप से 'ब्रह्म-भूमि' में छपा।

"सम्प्रति सरकारी स्कूलों में हिन्दी को कोई स्थान नहीं है। अगस्त, १९६३ से रंगून यूनिवर्सिटी में बी० ए० और बी० ए० (ऑनर्स) में हिन्दी को स्थान दिया गया है। प्रोफ़ेसर हैं ऊ थॉम्या। अब जबकि अनेक भारतीय व्यापारी वर्मा छोड़कर

११२ : आलोचना

भारत वापस आ रहे हैं, हिन्दी का भविष्य वहाँ अन्धकारमय नहीं तो बहुत उज्ज्वल भी नहीं है।

ब्रिटेन

ब्रिटेन में बी० बी० सी० के हिन्दी-उर्दू प्रोग्राम के माध्यम से गत महायुद्ध काल से हिन्दी काफ़ी प्रचलित हुई। बलराज साहनी, आले हसन, हरिश्चन्द्र खन्ना लुम्बा आदि कई व्यक्तियों ने वहाँ कार्य किया। हिन्दी नाटक ('अश्क' का छठा बेत आदि) भी वहाँ स्टेज पर खेले गए। मुझे भी दो बार वहाँ बोलने का अवसर मिला।

दूसरा महत्त्वपूर्ण स्थान, जहाँ हिन्दी पठन-पाठन का कार्य अधिक शास्त्रीय रूप से होता है, वह है लन्दन स्कूल ऑफ़ ओरिएण्टल एण्ड अफ़िकन स्टडीज़ (एस-ओ-ए-एस०)। वहाँ प्रो० जान बर्टन पेज (जो नेपाल में रह चुके हैं, उर्दू बड़ी अच्छी जानते हैं, और हिन्दी खूब बोल लेते हैं) की अध्यक्षता में एक हिन्दी विभाग कार्य करता है। उसमें प्रो० मैकग्रेगर, श्रीमती यमुना केसकर आदि हिन्दी पढ़ाते हैं और भाषा-सम्बन्धी शोध-कार्य भी करते हैं। वहीं अर्धमागधी-प्राकृत का विभाग है, जिसके अध्यक्ष हैं प्रो० पद्मानाभ जैनी। भारत-इतिहास विभाग के प्रो० बैरल बहुत अच्छी संस्कृत और हिन्दी जानते हैं। मिस लैम्बर्ट ने 'मराठी व्याकरण' पुस्तक लिखी है। कई भारतीय विद्यार्थी वहाँ पढ़ते और शोध करते हैं। अभी प्रो० ईश्वर बंसल, जो नेपाली विभाग के अध्यक्ष हैं, सप्रू हाउस की 'इंटरनैशनल स्टडीज़ इन्स्टिट्यूट' में, वे, उसी संस्था में दो वर्ष रहकर लौटे हैं। और प्रो० हरनामसिंह 'शान' वहाँ पंजाबी में कार्य कर रहे हैं। इस संस्था की शोध-पत्रिका में हिन्दी भाषा विज्ञान-विषयक बहुमूल्य सामग्री प्रकाशित हुई है।

यद्यपि ब्रिटेनवासियों का हिन्दी के प्रति रुख कोई बहुत प्रेम या सम्मान का नहीं है, फिर भी हिन्दी-उर्दू के तुलनात्मक अध्ययन को उस संस्था में बहुत बढ़ावा दिया गया है और लन्दन के काउण्टी स्कूल में भी अब हिन्दी एक ऐच्छिक विषय के रूप में पढ़ाई जा रही है, ऐसी जानकारी ब्रिटिश काउन्सिल के के० सिंग देते हैं।

सिंहल

गत वर्ष १९६३ में सिंहल की चार यूनिवर्सिटियों में 'आधुनिक भारतीय साहित्य' पर व्याख्यान देने के लिए मुझे आमन्त्रित किया गया था। वहाँ केलानामा में विद्यालंकार यूनिवर्सिटी में भदन्त आनन्द कौसल्यायन हिन्दी पढ़ाते हैं। विद्योदय यूनिवर्सिटी में भी उज्जैन के एक मेरे विद्यार्थी मिले, जिन्होंने बनारस में बौद्ध दर्शन में विशेष कार्य किया था और वे भी हिन्दी पढ़ा रहे थे।

भदन्तजी ने बताया कि सिंहली विद्यार्थियों को हिन्दी में काफ़ी रुचि है। संस्कृत, पालि के साथ-साथ वे आधुनिक हिन्दी से भी परिचित होना चाहते हैं। पर वहाँ भी उपयुक्त पाठ्य-सामग्री की कमी, जैसे और देशों में पाई जाती है। हिन्दी के प्रसार-प्रचार के लिए जैसे उत्तम स्वयंसेवक, मिशनरी उत्साह से हिन्दी पढ़ाने और

उसमें रुचि पैदा करने वाले अनेक अध्यापकों की आवश्यकता है, वैसे ही निम्न भौतिक साधनों की बहुत आवश्यकता है :

१. पाठ्य-पुस्तकें : प्राइमर और क्रमशः बढ़ते हुए उच्चतर संकलनादि ।
२. सामान्य वाचन के लिए सरल पुस्तकें, जो कि साहित्य में रुचि पैदा कर सकें ।
३. पत्र-पत्रिकाएँ ।
४. ध्वनि सीखने के लिए रेकार्ड (ध्वनि-मुद्रिकाएँ) ।
५. रेडियो से हिन्दी पाठ तत्तत्भाषा में प्रसारण की सुविधा ।
६. अच्छी हिन्दी फ़िल्में ।
७. अच्छे वक्ता, गायक कवि आदि विद्वानों, साहित्यिकों, मनीषियों का परस्पर आदान-प्रदान ।

इन सब दिशाओं में हिन्दी संस्थाओं, प्रकाशकों, सम्पादकों, अध्यापकों, भाषा-शास्त्रियों, विद्वान् समीक्षकों तथा सृजनशील लेखकों आदि को बढ़ना होगा । सरकार के सहयोग की तो अपेक्षा है ही ।

सोवियत रूस

लेनिनग्राद में स्वर्गीय राहुल सांकृत्यायन ने दो वर्ष सन् ४६-४७ में हिन्दी पढ़ाई । श्री प्योत्र वारान्निनकोव अकादेमीशियन अलेक्सान्द्र वारान्निनकोव के पुत्र हैं । भारत में सोवियत दूतावास के सांस्कृतिक सचिव के नाते जब वे कार्य करते थे तब उनसे और उनकी पत्नी रोमा से काफ़ी परिचय हुआ था । वे सम्प्रति लेनिनग्राद में हिन्दी के अध्यापक हैं । उनसे प्राप्त जानकारी इस प्रकार है :

“लेनिनग्राद में विज्ञान अकादेमी की एशिया जनता अनुसन्धान संस्था की शाखा में कई हिन्दी-प्रेमी काम करते हैं । इसी संस्था में मेरे पूज्य पिताजी ने तुलसी-कृत ‘रामायण’ का रूसी पद्यानुवाद किया । इसी संस्था ने सोवियत संघ में प्रथम हिन्दी-रूसी शब्दकोश तैयार किया । हिन्दी-रूसी विशाल शब्दसागर की यहाँ तैयारी हो रही है । प्रसाद के ऐतिहासिक नाटकों का अनुशीलन, आधुनिक हिन्दी साहित्य का वर्णन, भारत की भाषा-विषयक समस्याएँ आदि विषयों पर इस संस्था में खोज हो रही है ।

“लेनिनग्राद विश्वविद्यालय की ओरिएण्टल फ़ैकल्टी में अनेक वर्षों से हिन्दी की शिक्षा दी जाती है । वहाँ से पढ़े हुए स्नातक मास्को और ताशकन्द में हिन्दी का प्रचार-कार्य कर रहे हैं । लेनिनग्राद विश्वविद्यालय के छात्र-छात्राओं की आयु अठारह-बीस वर्ष की होती है; पर लेनिनग्राद में ऐसे भी हिन्दी के शिक्षा-केन्द्र हैं जहाँ हिन्दी अध्यापन सात साल से शुरू होता है । इनमें बोर्डिंग स्कूल नंबर चार है, जिसमें तीन सौ लड़के और लड़कियाँ हिन्दी पढ़ते हैं । छोटे बच्चे हिन्दी में न केवल बोलना और लिखना सीखते हैं, बल्कि हिन्दी के गीत गाना भी पसन्द करते हैं । इन गीतों में ‘हम पंछी एक डाल के’ शामिल है । इस स्कूल का एक लड़का कोल्य निकनोव है, जो जानीवाकर के अनेक गाने सफलता से प्रस्तुत करता है ।

११४ : आलोचना

“बालकों के लिए एक और हिन्दी शिक्षा-केन्द्र नगर के ‘पायोनियर प्रासाद’ के अन्तर्गत है। भिन्न-भिन्न स्कूलों के छात्र यहाँ पर शाम के वक्त आ जाते हैं और हिन्दी पढ़ते हैं। लेनिनग्राद में सोवियत-भारत सांस्कृतिक संस्था की एक शाखा हिन्दी के कई लेखक अतिथि बनकर पधारे। इनमें सर्वश्री सुमित्रानन्दन पन्त, दिनकर जैनेन्द्रकुमार, बनारसीदास चतुर्वेदी, शंकर शैलेन्द्र, डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी आदि हैं। इस संस्था के अन्तर्गत हिन्दी-लेखकों की जयन्तियाँ मनाई जाती हैं, यथा प्रेमचन्द जयन्ती, उपेन्द्रनाथ ‘अश्क’ जयन्ती, बनारसीदास चतुर्वेदी जयन्ती आदि। लेनिनग्राद के हिन्दी-प्रेमी आधुनिक हिन्दी-लेखकों की रचनाओं का रूसी अनुवाद करते जाते हैं। अनूदित कृतियों में यशपाल-कृत ‘दिव्या’ और ‘झूठा सच’, उपेन्द्रनाथ ‘अश्क’ ‘गिरती दीवारें’, विष्णु प्रभाकर की कहानियाँ, वचन की कविताएँ आदि हैं।

“लेनिनग्राद में अनेक ऐसे पुस्तकालय हैं, जिनमें हिन्दी-पुस्तकें (हिन्दी भाषा में) संग्रहीत हैं। इनमें मुख्य हैं लेनिनग्राद पब्लिक लाइब्रेरी, विज्ञान अकादेमी का पुस्तकालय, एशियाई जनता के अनुसन्धान केन्द्र का पुस्तकालय और विश्वविद्यालय की ओरिएण्टल फ़ैकल्टी की लाइब्रेरी। इन सभी पुस्तकालयों में हजारों की संख्या में अनेक हिन्दी-पुस्तकें सम्मिलित हैं; ‘पृथ्वीराजरासो’ से ‘मैला आँचल’ तक। बहुतों पुस्तकें ‘राजपाल एण्ड सन्स’ और ‘हिन्दी प्रचारक’ से आ जाती हैं। जो लोग हिन्दी भाषा नहीं समझते, वे हिन्दी साहित्य के रूसी अनुवादों को पढ़ते हैं। लेनिनग्राद नगर में हजारों पुस्तकालय हैं, लाखों नागरिक इनसे लाभ उठाते हैं।

“हिन्दी व्याकरण, हिन्दी-रूसी शब्दकोश, रूसी-हिन्दी शब्दकोश, ‘हिन्दी-रूसी बातचीत’, हिन्दी साहित्य के रूसी अनुवाद, रूसी साहित्य के हिन्दी अनुवादों की किताबें दुकानों पर उपलब्ध हैं।”

मैंने कई लोगों को पत्र भेजे थे। श्री चेलिशेव और कुमारी स्वेत्लाता हमारा परिचय था, पर उनसे पत्रोत्तर अभी तक नहीं मिले। भारत में सोवियत दूतवास के एल० ड्यूएनकोव ने लिखा है ११ नवम्बर के पत्र में कि—

“हिन्दी मास्को, लेनिनग्राद, कीव, ताशकन्द और थिलिस विश्वविद्यालयों में पढ़ाई जाती है। मास्को और लेनिनग्राद के कई बोर्डिंग स्कूलों में हिन्दी पढ़ाई जाती है।

“इस समय करीब ५०० विद्यार्थी हिन्दी पढ़ रहे हैं। अध्यापकों में भारतीय और रूसी दोनों ही हैं। पाठ्य-पुस्तकें सोवियत शिक्षाशास्त्रज्ञ तैयार कराते हैं।”

डॉ० भोलानाथ तिवारी ताशकन्द में हिन्दी पढ़ाने के लिए एक-दो वर्ष के लिए रहे। उनके २७ नवंबर के पत्र से यह जानकारी मिली—

“सोवियत संघ में हिन्दी का अध्यापन अकादेमीशियन श्री वारान्निक्कोव के समय में आज से प्रायः २५ वर्ष पूर्व प्रारम्भ हुआ। आजकल हिन्दी पढ़ाई का प्रबल मास्को, लेनिनग्राद एवं ताशकन्द में है। अब हिन्दी केवल विश्वविद्यालय स्तर पर नहीं पढ़ाई जाती, अपितु स्कूलों में भी है। ताशकन्द के एक स्कूल में ही, जहाँ मैं था, लगभग १५०० विद्यार्थी हिन्दी पढ़ रहे हैं। पूरे सोवियत संघ में स्कूलों

चार-पाँच हजार विद्यार्थी हिन्दी पढ़ रहे हैं। विश्वविद्यालयों में ३०० के लगभग होंगे। वहाँ हिन्दी के अच्छे अध्यापकों में वारान्निकोफ़, दीमजिन, चेलिगोफ़, रहमान बोर्दी, आउलवा आदि प्रसिद्ध हैं। प्रारम्भिक पाठ्य-पुस्तकें तो वहीं की बनी हैं। ताशकन्द में, ताशकन्द के ही रहमान बोर्दी तथा कुछ और लोगों के सहयोग से तैयार पाठ्य-पुस्तक आरम्भिक कक्षाओं में पढ़ाई जाती है। उच्च कक्षाओं के लिए पाठ्य-पुस्तकें नहीं हैं। समाचारपत्रों एवं पत्रिकाओं के अतिरिक्त कहानी, उपन्यास, निबन्ध एवं कुछ आधुनिक कविता विभिन्न पुस्तकों से पढ़ाई जाती है। कोश, वहीं के बने हिन्दी-रूसी और रूसी-हिन्दी चलते हैं। व्याकरण वारान्निकोफ़ का चलता है। यों ताशकन्द में आउलवा नामक महिला ने एक व्याकरण लिखा है, उससे पढ़ाते हैं। कामताप्रसाद गुरु के व्याकरण का रूसी अनुवाद भी छप गया है, उससे भी लोग सहायता लेते हैं। उनके पढ़ाने में सबसे बड़ी कठिनाई यह थी कि विदेशी लोगों को ध्यान में रखकर हिन्दी का कोई अच्छा व्याकरण लिखा नहीं गया है, जो व्यावहारिक दृष्टि से उसकी समस्याओं का समाधान कर सके। तुलसीदास, प्रेमचन्द, कामताप्रसाद गुरु, सुमित्रानन्दन पंत, कृष्णचन्द्र, शिवदानसिंह चौहान, हुंहराज रहवर, विष्णु प्रभाकर, अश्वजी आदि की पुस्तकें अनूदित हो चुकी हैं। इस समय कोई भी भारतीय वहाँ हिन्दी पढ़ाने के लिए नहीं है।”

हिन्दी-शैव की प्रमुख भाषाओं का नया साहित्य

डॉ० कृष्णदेव उपाध्याय

भोजपुरी लोक-साहित्य

भोजपुरी भाषा उत्तर प्रदेश के पूर्वी जिलों तथा बिहार के पश्चिमी जिलों के अतिरिक्त राँची, पलामू, सरगुजा और बस्तर आदि जिलों में भी बोली जाती है। कलकत्ता और बम्बई की मिलों में काम करने वाले लाखों आदमी इसे मातृभाषा के रूप में व्यवहार करते हैं। सब मिलाकर भोजपुरी भाषाभाषियों की संख्या तीन करोड़ से भी अधिक है। भोजपुरी प्रदेश भारतीय संघ का राजनीतिक भाग नहीं है बल्कि यह एक सांस्कृतिक इकाई है। इस प्रदेश के रहने वाले 'भोजपुरिया' कहे जाते हैं, जो अपनी वीरता और स्पष्टवादिता के लिए विख्यात हैं।

भोजपुरी साहित्य प्रधानतया तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है : (१) सन्त-साहित्य, (२) लोक-साहित्य तथा (३) आधुनिक साहित्य। भोजपुरी प्रदेश में निवास करने वाले अनेक सन्त कवियों ने अपने हृदय की धार्मिक भावनाओं को अभिव्यक्त करने के लिए इसी भाषा के माध्यम को ग्रहण किया है। महात्मा कबीर, धरमदास, शिवनारायण, धरनीदास और लक्ष्मी सखी आदि अनेक सन्तों ने इस भाषा में मधुर तथा सरस पदों की रचना की है।^१ इनके अतिरिक्त बिहार के चम्पारन जिले के सरभंग सम्प्रदाय के सन्तों की तो भोजपुरी काव्य की भाषा रही है, जिसमें उन्होंने हठयोग तथा अध्यात्मवाद के अनेक गूढ़ रहस्यों का उद्घाटन किया है।

भोजपुरी का लोक-साहित्य बड़ा समृद्ध है। इसमें लोग-गीतों, लोक-गाथाओं तथा लोग-कथाओं का अनन्त भण्डार भरा पड़ा है। इस विशाल राशि को संकलित करने के लिए अनेक लोक-साहित्य-सेवियों की आवश्यकता है। विषय के प्रतिपादन की सुविधा के लिए भोजपुरी के क्षेत्र में किये गए कार्य को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है—(१) संग्रह-कार्य और (२) शोध-कार्य।

भोजपुरी लोकगीतों के सर्वप्रथम संग्रह करने का श्रेय अंग्रेज सिविलियन को प्राप्त है, जिनमें डॉ० ग्रियर्सन का नाम सर्वश्रेष्ठ है। गत शताब्दी के उत्तरार्ध में डॉ० ग्रियर्सन ने भोजपुरी के गीतों का संग्रह करना प्रारम्भ किया। इस सम्बन्ध में इनका एक लेख 'सम बिहारी फोक सांग्स' शीर्षक से प्रकाशित हुआ; जिसमें उन्होंने भोजपुरी के ही गीतों को प्रधान स्थान दिया।^२ इसके अनन्तर उन्होंने 'सम भोजपुरी

१. डॉ० कृष्णदेव उपाध्याय, भोजपुरी लोक-साहित्य का अध्ययन, पृ० ४८-५८।

२. जर्नल ऑफ दि रायल एशियाटिक सोसाइटी, लन्दन, भाग १६ (१८८४), पृ० १६६।

फ़ोक सांग्स' शीर्षक एक बहुत बड़ा लेख लिखा, जो अनेक दृष्टियों से बहुत महत्वपूर्ण है।^१ इस लेख में जैतसार, सोहर, कजरी आदि अनेक प्रकार के गीत संकलित किये गए हैं, परन्तु अहीरों के राष्ट्रीय गान 'विरहा' की इसमें प्रधानता है। मूल गीतों के अतिरिक्त इनके अंग्रेजी अनुवाद के साथ ही भाषा-शास्त्र-सम्बन्धी अनेक बहुमूल्य टिप्पणियाँ दी गई हैं। गोपीचन्द की सुप्रसिद्ध लोक-गाथा के भोजपुरी तथा मगही में उपलब्ध पाठों की तुलनात्मक विवेचना भी आपने प्रस्तुत की है।^२ इसी प्रकार विजयमल नामक वीर की गाथा के उद्धार करने का श्रेय इन्हें प्राप्त है।^३ बुन्देलखण्ड के सुप्रसिद्ध वीर आल्हा और ऊदल की गाथा उत्तर भारत में बहुत प्रसिद्ध है। डॉ० ग्रियर्सन ने आल्हा के विवाह-सम्बन्धी गीतों का संग्रह किया है।^४ इसके अतिरिक्त इन्होंने 'दि ले ऑफ़ आल्हा' नामक ग्रन्थ का सम्पादन बड़ी योग्यता से कर लोक-साहित्य के प्रेमियों का बड़ा उपकार किया है।^५ 'विहार पीजेण्ट लाइफ़' में कृषक जीवन से सम्बन्धित पारिभाषिक पदावली का विशाल संग्रह प्रस्तुत है। इस ग्रन्थ में भोजपुरी की अनेक लोकोक्तियाँ और ऋतु-सम्बन्धी कहावतें संकलित की गई हैं।^६ ह्यूज फ्रेजर के द्वारा गोरखपुर ज़िले के पूर्वी भाग से कुछ लोक-गीतों का संग्रह किया गया था, जिसका सम्पादन डॉ० ग्रियर्सन ने किया है।^७ जे० बीम्स भोजपुरी भाषा के प्रकाण्ड विद्वान् थे। इन्होंने इस भाषा के सम्बन्ध में बहुमूल्य टिप्पणियाँ लिखी हैं, जिनमें उदाहरण के रूप में कुछ गीत भी उद्धृत हैं।^८ ए० जी० शिरेफ़ ने भोजपुरी के कुछ गीतों का मूल के साथ अंग्रेजी में अनुवाद प्रस्तुत किया है।^९

डॉ० उदयनारायण तिवारी, अध्यक्ष हिन्दी विभाग, जबलपुर विश्वविद्यालय ने भोजपुरी भाषा और साहित्य के शोध-कार्य में बड़ा योगदान दिया है। इन्होंने 'भोजपुरी भाषा की उत्पत्ति तथा विकास' नामक अपने अंग्रेजी के शोध-प्रबन्ध में इस भाषा के व्याकरण का वैज्ञानिक पद्धति से सांगोपांग विवेचन किया है।^{१०} इनका दूसरा ग्रन्थ 'भोजपुरी भाषा और साहित्य' है, जिसमें भाषा के साथ ही इसके साहित्य का भी परिचय प्राप्त होता है।^{११} डॉ० कृष्णदेव उपाध्याय ने भोजपुरी लोक-साहित्य के संकलन तथा इसके आलोचनात्मक विवेचन को बड़े परिश्रम के साथ प्रस्तुत किया है।

१. जे० आर० ए० एस०, भाग १८ (१८८६), पृ० २०७।

२. जे० ए० एस० बी०, भाग ५४ (१८८५), पार्ट १, पृ० ३५।

३. दि साँग ऑफ़ विजयमल (जे० ए० एस० बी०, भाग ५३ (१८८४) पार्ट ३, पृ० ६४)।

४. दि साँग ऑफ़ आल्हाज मैरिज, (इण्डियन एन्टीक्वेरी, भाग १४ (१८८५), पृ० २०६)।

५. ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, लन्दन।

६. विहार सरकार द्वारा प्रकाशित, द्वितीय संस्करण, सन् १९२६।

७. फ़ोकलोर फ़्रॉम ईस्टर्न गोरखपुर (जे० ए० एस० बी०, भाग ५२ (१८८३), पृ० १-३२)।

८. नोट्स ऑन दि भोजपुरी डाइलेक्ट ऑफ़ हिन्दी (जे० ए० एस० बी०, भाग ३, एन० एस० (१८६८)।

९. हिन्दी मन्दिर, इलाहाबाद, पृ० ४८३।

१०. एशियाटिक सोसाइटी ऑफ़ बंगाल, कलकत्ता।

११. राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना (विहार)।

११८ : भाषाशास्त्र

स्थानाभाव' के कारण इनके ग्रन्थों के सम्बन्ध में विशेष विवरण न लिखकर केवल सूची-भेद्य दी जाती है—

- (१) भोजपुरी लोक-गीत^१, भाग १
- (२) भोजपुरी ग्राम-गीत^२, भाग २
- (३) भोजपुरी और उसका^३ साहित्य
- (४) भोजपुरी लोक-साहित्य का अध्ययन^४
- (५) भोजपुरी लोक-संगीत^५
- (६) हिन्दी-साहित्य का बृहत् इतिहास^६

भाग १६ (हिन्दी का लोक साहित्य) में 'भोजपुरी लोक-साहित्य' सम्बन्ध में लेख ।

श्री दुर्गाशंकर प्रसाद सिंह ने 'भोजपुरी लोकगीतों में करुण रस' नामक पुस्तक में करुण रस-सम्बन्धी लोकगीतों का बड़ा ही सुन्दर संग्रह प्रस्तुत किया है ।^७ इन्होंने 'भोजपुरी के कवि और काव्य' में ऐसे अनेक कवियों की कृतियों को प्रकाशित किया है जो अतीत की गोद में सोये हुए थे ।^८ इधर श्री सिंह का भोजपुरी लोक-कथाओं का विशाल संकलन तैयार है जो अभी प्रेस में है । श्री डब्ल्यू० जी० आर्चर के द्वारा संकटाप्रसाद की सहायता से बिहार के आरा जिले से किये गए 'भोजपुरी ग्राम्य-गीतों' के संग्रह में संस्कार-सम्बन्धी गीतों की ही प्रधानता है ।^९ भोजपुरी लोक-कथाओं का कोई वैज्ञानिक संग्रह अभी प्रकाश में नहीं आया है । हाँ, हाल ही में 'खरवा पीत कबहू ना डोले' नामक एक छोटा-सा संकलन वाराणसी से छपा है ।^{१०} भोजपुरी लोक-लोकोक्तियों, पहेलियों और मुहावरों का संग्रह डॉ० उदयनारायण तिवारी ने बहुत पहले किया था ।^{११}

भोजपुरी भाषा और इसके लोक-साहित्य के सम्बन्ध में जितना शोध-कार्य हुआ है, उतना हिन्दी की अन्य किसी बोली में नहीं पाया जाता । भोजपुरी भाषा का सांगोपांग वैज्ञानिक विवेचन डॉ० उदयनारायण तिवारी ने किया है, जिसकी कड़ी प्रशंसा पहले की जा चुकी है । डॉ० सत्यव्रत सिन्हा ने अपने पी-एच० डी० के शोध-प्रबंध में

१. हिन्दी साहित्य सम्मेलन, इलाहाबाद, १९४३ ।
२. बही, १९४८ ।
३. राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, १९५७ ।
४. हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, वाराणसी, १९६१ ।
५. शर्मा एण्ड कम्पनी (प्रा०), इलाहाबाद ।
६. नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, १९६० ।
७. हिन्दी साहित्य सम्मेलन, इलाहाबाद, १९४४ ।
८. राष्ट्रभाषा परिषद, पटना (बिहार) ।
९. पुस्तक भण्डार, लहेरियासराय, दरभंगा ।
१०. भोजपुरी संसद, वाराणसी, १९६४ ।
११. हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद की 'हिन्दुस्तानी' पत्रिका में सन् १९३९, ४०, ४१ के विभिन्न अंकों में प्रकाशित ।

‘भोजपुरी लोकगाथाओं’ की विशद मीमांसा की है।^१

डॉ० कृष्णदेव उपाध्याय की थीसिस ‘भोजपुरी लोक-साहित्य का अध्ययन’ में लोक-साहित्य के विभिन्न अंगों—लोक-गीत, लोक-गाथा और लोक-कथा आदि—का वैज्ञानिक विवेचन उपलब्ध होता है।^२ इन्होंने भोजपुरी जनता के जीवन, धर्म तथा संस्कृति पर भी प्रकाश डाला है। डॉ० सत्यदेव ओझा (जमदेशपुर, बिहार) के शोध-प्रबन्ध का विषय ‘भोजपुरी लोकोक्तियाँ’ हैं, जिसमें विद्वान् लेखक के द्वारा इन कहावतों में निहित भोजपुरी समाज की सांस्कृतिक अवस्था का चित्रण बड़ी सुन्दर भाषा में प्रस्तुत है। डॉ० श्रीधर मिश्र (खालसा कालेज, मम्बई) ने भोजपुरी लोकगीतों में चित्रित भोजपुरी जन-जीवन तथा लोक-संस्कृति का विशद विवेचन पाठकों के सामने रखा है। अभी तक भोजपुरी की लोक-कथाओं को किसी अधिकारी विद्वान ने अपने शोध-प्रबन्ध का विषय नहीं बनाया है।

आधुनिक काल में अनेक कवियों ने भोजपुरी में काव्य-रचना की है, जिनमें पं० दूधनाथ उपाध्याय, विसराम, तेग अली, बाबू रामकृष्ण वर्मा, बाबू अम्बिका शरण आदि के नाम प्रसिद्ध हैं। उपाध्यायजी ने सन् १९१४ ई० में ‘भरती के गीत’ नामक पुस्तक में बड़े ही जोरदार शब्दों में प्रथम महायुद्ध में भरती होने के लिए अपने देशवासियों से अपील की है। ‘विसराम’ के विरहों में विरही हृदय की कसक पाई जाती है जो बड़ी ही सरस तथा हृदयद्रावक है। तेग अली के ‘बदमाश दर्पण’ में बनारसी बोली का उदाहरण देते हुए बनारसी जीवन की बाँकी झाँकी प्रस्तुत की गई है।

रामकृष्ण वर्मा ने ‘विरहा नायिका भेद’ नामक ग्रन्थ लिखा है, जिसमें नायिकाओं के विभिन्न भेदों का वर्णन भोजपुरी की सरस पदावली में पाया जाता है। अम्बिकाशरणजी के ‘बटोहिया’ गीत भोजपुरी प्रदेश में अत्यन्त प्रचलित हैं, जिनमें अखण्ड-भारत का चित्रण मिलता है।

इन स्वर्गीय कवियों के अतिरिक्त अनेक जनकवि अपनी मधुर रचनाओं के द्वारा भोजपुरी के भण्डार को भर रहे हैं। इन वर्तमान कवियों में कुछ प्रसिद्ध व्यक्तियों के नाम निम्नांकित हैं : (१) पं० रामविचार पाण्डेय, (२) प्रिन्सिपल मनोरंजन प्रसाद सिन्हा, (३) पं० महेन्द्र शास्त्री, (४) श्री रामनाथ पाठक ‘प्रणयी’, (५) श्री प्रसिद्ध नारायण सिंह, (६) श्री मोती बी० ए०, (७) प्रो० रामेश्वरप्रसाद काश्यप, (८) चतुरी चाचा, (९) भिखारी ठाकुर, (१०) पं० चन्द्रशेखर मिश्र, (११) दुर्गाशंकर प्रसाद सिंह आदि। पं० रामविचार पाण्डेय की कविता के अनेक संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं, जिनमें ‘विनिया बिछिया’ प्रसिद्ध है। पं० महेन्द्र शास्त्री के ‘चोखा’ नामक संकलन में व्यंग्य, हास्य और विनोद का पुट पाया जाता है। पं० रामनाथ पाठक ‘प्रणयी’ ने प्रणय के गीत गाए हैं, परन्तु ग्रामीण प्रकृति का चित्रण इनकी कविता में विशेष सुन्दर बन पड़ा है। इनकी कविता के अनेक संग्रह ‘सितार’, ‘कोइलिया’ आदि

१. हिन्दुस्तानी एकेडमी, इलाहाबाद।

२. इस पुस्तक का नवीन संस्करण ‘तेग अली और काशिका’ के नाम से रुद्रकाशिकेय के सम्पादकत्व में भोजपुरी संसद, वाराणसी से सन् १९६४ में प्रकाशित हुआ है।

१२० : आलोचना

के नाम से प्रकाश में आ चुके हैं। श्री प्रसिद्ध नारायणसिंह वीर रस की कविता लिखने में प्रसिद्ध हैं। 'बलिदानी बलिया' आपकी सुन्दर रचना है। श्री मोती वी० ए० की कविता सरस और पदशय्या चुनी हुई होती है। 'महुआ वारी' आपके कविताओं का सुन्दर संकलन है। 'काश्यप' जी ने 'लोहासिंह' नाटक लिखने के अतिरिक्त वीररस की कविता भी लिखी है। भिखारी ठाकुर का विदेसिया नाटक प्रसिद्ध है, जिसमें विदेसिया नामक कविता हृदय-स्पर्शनी है। चन्द्रशेखर मिश्र ने 'कुंवरसिंह' नामक वीर-रसपूर्ण महाकाव्य की रचना की है। दुर्गाशंकर प्रसाद सिंह ने 'साहित्य रामायण' लिखकर रामकथा को भोजपुरी में निबद्ध करने का सफल प्रयास किया है।

प्रो० कृष्णनारायण प्रसाद मागधी

मगही का स्वातंत्र्योत्तर साहित्य

भाषा-विज्ञान की दृष्टि से मागधी समुदाय की तीनों भाषाओं (बोलियों ?) — मगही, मैथिली और भोजपुरी का क्षेत्र मूलतः बिहार ही है। साहित्य (मुद्रित और अमुद्रित) की दृष्टि से इनमें मैथिली सबसे जेठी पड़ती है। भोजपुरी और मगही में 'को बड़ छोट कहत अपराधू' की स्थिति ही है। हाँ, इतना तो सत्य है कि भोजपुरी में साहित्य-सृजन की चेतना (केन्द्रीय हिन्दी से पृथक्करण की प्रवृत्ति ?) मगही से पहले ही लक्षित हुई थी।

मगही में प्राचीन साहित्य का सृजन विपुल रूप में हुआ था। यह इतिहास-सिद्ध है कि मगही कभी राजभाषा और साहित्य-सृजन की केन्द्रीय भाषा रही है। इसे से इसे 'सा मागधी मूलभाषा...' (कच्चान) और 'सब्वेपां मूलभाषायां मागधाय निरुत्तिया' (चलवंश) से गौरवान्वित किया गया था। सरहपा को आदिकवि स्वीकारे वाली हिन्दी मगही से उद्भूत नहीं हो सकती। नालन्दा, ओदन्तपुरी, विक्रमशिला आदि के संग्रहालयों के नष्ट हो जाने से मगही का प्राचीन साहित्य तो नष्ट हुआ ही। राजनीतिक क्रियाशीलता को मगध से मिथिला, लखनावती, कान्यकुब्ज आदि में स्थानान्तरित हो जाने से मगही के कवियों को राजकीय संरक्षण का भी अभाव हो गया। मुस्लिम और अंग्रेजी शासनकाल में भी इसे पोषण न मिला। लोक-कंठ में यह साहित्य जो पलता रहा, उसके वास्तविक रूप को खोज निकालना आज दुष्कर-सा है। इससे इसका अखण्डित क्रम अप्राप्य है।

अद्यतन समय में मगही अपने विभिन्न क्षेत्रीय रूपों में मूलतः पटना, गया, हजारीबाग के अधिकांश हिस्से, पश्चिम-दक्षिणी मुंगेर, राँची की तलहटी, सिन्धुभूम और मानभूम जिले में बोली जाती है। इसका परिनिष्ठित रूप राजगृह के चारों ओर से लेकर गया तक के क्षेत्र में ही प्रचलित है। इस युग में साहित्य-सृजन का कार्य पूर्वा-

पेक्षया अधिक हुआ है। सन् १९४३ ई० का वर्ष मगही भाषा और साहित्य के लिए बड़े महत्त्व का माना जाना चाहिए, क्योंकि इसी वर्ष पटना विश्वविद्यालय ने मैट्रिकलेशन परीक्षा पाठ्य-पुस्तक 'पद्य-संग्रह' में प्रथम बार 'जगउनी' और 'चाँद' (श्रीकृष्णदेव प्रसाद-लिखित) शीर्षक कविताओं को स्थान देकर मगही को स्वतंत्र रूप से साहित्यिक मान्यता दी थी।

स्वातंत्र्योत्तर-युग में मगही का जो साहित्य सामने आया है, उसे दो वर्गों में रखा जाएगा—लोक-साहित्य और उच्चतर साहित्य। लोक-साहित्य के सम्बन्ध में दो प्रकार के प्रयत्न किये गए हैं—मगही-मानस में प्रचलित लोक-गीतों, लोक-गाथाओं, लोक-कथाओं आदि का संकलन और उनका सर्वथा नवीन रूप में सृजन। संकलन-कार्य में जहाँ एक ओर कतिपय उत्साही जन स्वेच्छा से प्रेरित हो मुड़े हैं, वहाँ राजकीय स्तर पर बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् की ओर से भी काम कराए गए हैं। 'मगही लोकगीत' (सं० डॉ० धर्मेंद्र ब्रह्मचारी और आनन्द), 'मगही संस्कार गीत' (सं० डॉ० विश्वनाथ प्रसाद), 'मगही लोकगीत' (सं० श्रीकान्त शास्त्री और प्रो० रामानन्दन), 'मगही कहानी संग्रह' (सं० श्रीकान्त शास्त्री और प्रो० रामनन्दन) आदि इसी उत्साह के परिणाम हैं। परिषद् द्वारा भी गीतों, गाथाओं आदि का एक अच्छा-खासा संग्रह तैयार कराया गया है। सर्वथा नवीन रूप में लोक-साहित्य के सृजन की ओर भी अनेक कलाकार दत्त-चित्त हैं, जिनमें सर्वाधिक चर्चित और प्रशंसित नाम है श्रीधर पाठक का। इन्होंने 'गिरिजा-गिरीश-चरित', 'उमा-शंकर-विवाह-कीर्तन', 'गांधी-विरह-लहरी', 'लंकादहन', 'राम-वन-गमन' आदि बीसियों पुस्तिकाओं की रचना की है। मगही मानस में इनके गीत आज सर्वाधिक लोकप्रिय हैं। भोजपुरी लोक-साहित्य में भिखारी ठाकुर द्वारा किये गए प्रयत्नों से इनके कार्यों की तुलना की जा सकती है।

मुद्रण, प्रकाशन आदि की दृष्टि से उच्चतर साहित्य मूलतः दो खातों में खति-याए जाएँगे—हिन्दी के माध्यम से प्रकाशित साहित्य और मूल मगही के माध्यम से प्रकाशित साहित्य। हिन्दी के माध्यम से प्रकाशित महत्त्वपूर्ण कृतियों में 'मगही भाषा और साहित्य' (श्री कृष्णदेव प्रसाद), 'मगही' (श्री रमाशंकर शास्त्री) और 'हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास' (ना० प्र० सभा) के लोक-साहित्यवाले खंड में मगही का अंश विशेष महत्त्व का है। ज्ञात तथ्यों से विदित है कि इसी मास में 'मगही लोक-साहित्य' (डॉ० सम्पत्ति आर्याणी) नामक ग्रन्थ भी प्रकाशित हो जाएगा। इसी क्रम में कतिपय महत्त्वपूर्ण अप्रकाशित शोध-ग्रन्थ की चर्चा भी अनिवार्य है। मगही भाषा और साहित्य पर सर्वप्रथम वैज्ञानिक रीति से अनुसंधान करनेवालों में श्री युगेश्वर पाण्डेय का नाम आता है, जिन्होंने सन् १९६१ ई० में काशी हिन्दू विश्व-विद्यालय में एम० ए० परीक्षा के दो पत्रों के स्थान पर 'मगही भाषा और साहित्य' नामक शोध-प्रबन्ध प्रस्तुत किया था। पटना विश्वविद्यालय में भी अब तक तीन शोध-प्रबन्ध आ चुके हैं—'मगही भाषा और साहित्य' (सम्पत्ति आर्याणी, डी० लिट्० की उपाधि हेतु, १९६४ ई०), 'मगही लोकगीतों का शास्त्रीय अध्ययन' (कल्याणेश्वरी

१२२ : 

वर्मा, पी-एच० डी० उपाधि हेतु, १९६५ ई०) और 'पटना और गया जिले में बोखानेवाली मगही का ऐतिहासिक और विकासात्मक अध्ययन' (श्रीकांत शास्त्री, पी-एच० डी० उपाधि हेतु, १९६५ ई०)। निश्चय ही ये शोध-प्रबन्ध मगही भाषा और साहित्य के अध्ययन की दिशा में महत्वपूर्ण उपलब्धियाँ हैं। वहीं मगही ध्वनि-विज्ञान, मगही कहावत और मगही लोकगाथा पर भी कार्य कराए जा रहे हैं।

अब विचारणीय है मगही का मूल साहित्य। मगही साहित्य की विकास-यात्रा मगही की पत्र-पत्रिकाओं के साथ जुड़ी हुई है; पत्र-पत्रिकाओं के संचालन और सम्पादन में श्रीकांत शास्त्री (अब डॉ० श्रीकांत शास्त्री) का नाम अग्रगण्य है। उनके सम्पादकत्व में 'मगही' कभी बढ़ती, कभी रुकती हुई सन् १९५८ ई० तक चलती रही है। श्री रामवृक्षसिंह 'दिव्य', ठाकुर रामवालकसिंह, शिवाराम योगी आदि ने भी सह-सम्पादकत्व द्वारा उसका काफ़ी साज-सँवार किया था। 'मगही' का ऐतिहासिक और साहित्यिक महत्व सदा बना रहेगा। 'महान् मगध' नामक दूसरी मासिक पत्रिका का प्रकाशन श्री गोपाल मिश्र केशरी के सम्पादन में औरंगाबाद (गया) से सन् १९५५-५६ ई० में हुआ था। इसके कुछ ही अंक निकल सके थे। बिहार मगही मंडल की ओर से सन् १९५८ ई० में श्रीकांत शास्त्री और प्रो० रामनन्दन के सम्पादकत्व में 'विहान' नामक मासिक पत्रिका का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ। यह पत्रिका जनवरी '६४ ई० के पश्चात् बन्द हो गई थी, पर इस मास से उसका पुनर्प्रकाशन प्रारम्भ हो गया है। जनवरी '६४ ई० से 'मगही सनेस' नामक एक और मासिक पत्रिका का प्रकाशन नालन्दा से हो रहा है। यह साहित्यिक रचनाओं की अपेक्षा धार्मिक रचनाओं के प्रकाशन में ही योग देता है। मूल रूप में यह आनन्दमार्गी लोगों की पत्रिका है, जिसका उद्देश्य है धर्म-प्रचार। सब ले-देकर 'विहान' ही एकमात्र ऐसी पत्रिका है, जिसकी ओर साहित्यिकों की आँखें लगी रहती हैं। उपर्युक्त पत्रिकाओं के माध्यम से ही मगही ने अपने साहित्य का शाखामयी विस्तार किया है।

अद्यतन मगही साहित्य का विस्तार-प्रस्तार पद्य और गद्य दोनों रूपों में हुआ है। कविता के क्षेत्र में सर्वप्रथम श्रीकृष्णदेव प्रसादजी का नाम लिया जाएगा। मगही की आधुनिक कविता को लोक-मंच से साहित्यिक मंच पर सर्वथा शास्त्रीय रूप में उतारने का सफल प्रयास इन्होंने ही किया था। इनकी अधिकांश रचनाएँ आज भी अप्रकाशित ही हैं। प्रकृति के प्राकृत रूप को निखारने में ये काफ़ी सफल हुए हैं। 'फागुन के अकड़आ' से यहाँ वसंत का यह रूप दर्शनीय है—

आइ गेल मास फगुनवाँ, निरसल स्वच्छ अकास ।

सिमर के लाल-लाल लुलुआ सोहावन, महुआ के पसरे सुवास ॥

श्री रामप्रसाद 'पुंडरीक' जी पुराने खेवे के कवियों में हैं। इनकी कविता लोक-साहित्य और उच्चतर साहित्य की सम्मिलित रेखा पर खड़ी है। हाँ, लोक-रुचि की पहचान इन्हें सर्वाधिक है। सोहर, झूमर, चैता, कजरी आदि लोक-धुनों को इन्होंने मगही कविता के लिए चुन लिया है। 'पुण्डरीक रत्नावली' और 'पुण्डरीक रत्नमालिका' में

इनकी रचनाएँ संकलित भी हुई हैं।

नवीन काव्य-सर्जकों में कुछ ऐसे भी हैं जो मगही में हिन्दी से आए हैं। कुछ लोग निरन्तर रूप से मगही में ही लिखते रहे हैं। मगही कविता अभी तक मूलतः गीतात्मक ही है। कथात्मक काव्य नहीं के बराबर ही लिखे गए हैं। श्री जागेशदत्त पाठकजी का 'जरासंध' नामक खंडकाव्य भाव, भाषा, शिल्प आदि सभी दृष्टियों से उत्तम बन पड़ा है। प्रयोग की नवीनता, कल्पना की सामिकता, जड़ता में मानवी आरोप आदि की दृष्टि से श्री गोवर्द्धन प्रसाद सद्य, श्री रामनरेश पाठक, श्री जगदीश नारायण चौबे, श्री रामगोपाल 'रुद्र', श्री सत्यदेव शांतिप्रिय की रचनाएँ उत्तम होती हैं। आनेवाले प्रकाश की तस्वीर दिखाने की पद्धति श्री सद्यजी की अपनी है—

कोनो साथ न संगी साथी, बुझल हाथ के अपने बाती ।

ई रतिया पर भी दिनवाँ के, छूट चुकल है तीर देखइओ ॥

आवउ कुछ तस्वीर देखइओ ॥

प्रकाश की इसी तस्वीर को श्री चौबेजी 'गाँव किरिंग के' में छायावादी कल्पना द्वारा इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं—

मिल-मिल जाँत लहर पर बिछुलल,

अंगुआनी में आज कमलदल,

झाँक रहल घूँघा उधार के,

होले-होले परे लगल अब, सगरो पाँव किरिंग के ।

श्री सत्यदेव शांतिप्रियजी मुक्त छन्दों में सदा नवीन उपमान की टोह ही लगाते दिखते हैं—

गरम हवा,

रंगीन हो रहल—

जइसे,

प्रोषित पतिका के अँचरा,

हरा मेल हे,

मिलन घड़ी में ।

शिल्प, तथ्य, विद्या, प्रवृत्ति आदि की दृष्टि से सर्वथा नवीन प्रयोगों को लेकर आगे बढ़ रहे हैं श्रीकांत शास्त्री । 'बरबरिका', 'जतकट्टी', 'जेठ के दुपहरिया' आदि उनकी उत्तम रचनाएँ हैं।

लोक-गीतों की धुन पर भी आज खूब लिखे जा रहे हैं। हरिश्चन्द्र प्रियदर्शी, श्री रामचन्द्र शर्मा 'किशोर', श्री सुरेश दुबे 'सरस' आदि की कविताएँ इसी कोटि की हैं। मगही मानस ही मानो इनकी कविता में कूक उठी है। प्रकृति-वर्णन के समय लता-वृक्षों, खेत-खलिहानों, पशु-पक्षियों आदि के साथ 'मानव को भी प्राकृतिक लैण्ड-स्केप का एक आवश्यक अंग' मानकर ही इन लोगों ने कविताएँ लिखी हैं। तभी तो श्री रामनरेश पाठकजी 'अगहन के भोर' में 'अमवाँ महइआ के डहुँगी से कमलकइ चिरईं डुगुन्नी अनोर' गाते-गाते गा उठते हैं—

१२४ : आलोचना

‘मिसकइ उ डोली में बइठल कनइआ, आगे चलल जाइ कहार ।

छुटलइ लड़कइयाँ के सखिया सहेलर, छुटलइ जे बाबा दुआर ।

रूपवा में गुनवाँ में गइआ लोभयलइ, कइलकइ बिदइआ इ मोर ।

हो मइया, उतरलइ अगहन के मोर ॥

श्री किशोरजी के गीतों में प्रेमी-प्रेमिकाओं की मनोदशाओं का सादा किन्तु सशक्त रूप व्यंजित मिलता है। इनके गीतों पर सिनेमा के गीतों की धुनों का पर्याप्त प्रभाव दिखता है। श्री राजेन्द्र यौधेय पर लगता है मानो छायावादी भावना हावी हो गई है। कुमारी राधा, धर्मशीला देवी आदि के गीत भी इसी प्रकार के हैं। लाल धुआँ की कविताओं में शोषण की करुण और उससे उत्पन्न घुमड़न अधिक पाई जाती है। श्री श्याम-नन्दन शास्त्री के गीतों में यत्र-तत्र रहस्यात्मक संकेत पाए जाते हैं। प्रो० रामनन्दन और योगेश्वर प्रसाद ‘योगेश’ जी के गीतों में सामाजिक, राजनीतिक आदि अतिचारों पर हास्य-व्यंग्य उभरकर सामने आया दिखता है। हास्य-व्यंग्य की दृष्टि से श्री योगेशजी का व्यक्तित्व अधिक गत्वर है। ‘अपन कि कहेऊँ कहानी हम’ से ये पंक्तियाँ देखी जा सकती हैं—

हम डगरा के बंगन भेलूँ, पढ़-लिख के बुढ़ू बन गेलूँ ।

वहतोनी देकरके भी तो, हाँकलूँ कोल्हू के घानी हम ॥

अपन कि कहेऊँ कहानी हम ॥

यहाँ समाज की बेकारी और सम-सामयिक शिक्षा-पद्धति पर करारा व्यंग्य किया गया है। इन्होंने पैरोडियाँ भी लिखी हैं। प्रसादजी के प्रसिद्ध गीत की पैरोडी यहाँ देखी जा सकती है—

बीती बिभावरी जाग री ।

अँगना में कउआ बोल रहल,

कनमा कम बनिया तऊल रहल,

तू अब का सूतल हँउ पगली,

अइसन पसार ले टांग री ।

बीती बिभावरी जाग री ॥

वस्तुतः चाहे गोष्ठी या सभा-सम्मेलन, श्री योगेशजी लोगों को हँसा-हँसाकर मारते ही नहीं, उनमें जान भी फूँकते हैं।

शाखामयी विस्तार की दृष्टि से गद्य-साहित्य अधिक विकासोन्मुख है। कथा-साहित्य को रवीन्द्र कुमार, पं० तारकेश्वर भारती, सुरेश प्रसाद सिन्हा, लक्ष्मण प्रसाद ‘दीन’, शिवेश्वर प्रसाद अंबष्ट, जयेन्द्र, रामानन्दसिंह, श्री शालिग्रामसिंह, सूर्य नारायण शर्मा, प्रो० रामनन्दन, प्रो० रामनरेश मिश्र, राधाकांत आदि बना-बिगाड़ रहे हैं। ‘दुरवा’, ‘मन के पंछी’ (रवीन्द्र कुमार), ‘मैना काजर’ (तारकेश्वर भारती), ‘तीज के त्योहार’ (सुरेश प्र० सिन्हा), ‘ठार-कनकन’ (रामनरेश पाठक), ‘भद्दा या भला’, ‘उपसर्प मातरं भूमि’ (प्रो० रामनरेश मिश्र) आदि उत्तम उपलब्धियाँ हैं। लक्ष्मण प्रसाद ‘दीन’ कहानीकार की अपेक्षा सुन्दर शब्द-चित्रकार हैं। ‘वित्तन दादा’ इनकी अकेले

प्रकार की रचना है। इस अवधि में उपन्यास न के बराबर देखने को मिले हैं। सूर्य-नारायण शर्माजी का 'हलवाहा' मजदूर वर्ग का चित्रण करने में काफी सशक्त है। कई दृष्टियों से उत्तम रचना है। इन्हीं का 'सिद्धार्थ' अपेक्षाकृत कमजोर रचना है। प्रो० रामनन्दनजी का 'अदमी ओ देउता' का नाम भी सुनने को मिला है, पर अभी तक वह अप्रकाशित ही पड़ा है। हास्य-व्यंग्य के लेखकों की अपेक्षाकृत कमी है। श्री रामनरेश पाठक और प्रो० रामनन्दन इस दिशा में प्रयत्नशील दिखते हैं। 'लुट गेलियो' (प्रो० रामनन्दन) सुन्दर बन पड़ा है।

नाटकों में 'नया गाँव' (श्रीकांत शास्त्री), 'कौमुदी महोत्सव' (प्रो० रामनन्दन), 'मँगरू महतो' (प्रो० रामनरेश मिश्र) विशेष महत्त्व के हैं। प्रथम में ग्राम्य-जीवन को नवीन युगबोध के परिप्रेक्ष्य में देखने का प्रयत्न है, और द्वितीय संस्कृत नाटक के आधार पर लिखा गया है। तीसरा नाटक भोजपुरी के 'लोहा सिंह' के समान ही सीरीज रूप में लिखा गया है, जिसके कई सीरीज (मँगरू महतो ने पढ़ना सीखा, ...कोआंपरेटिव कायम किया, ...मुखियागिरी किया) अभिनीत हो चुके हैं। अभिनय की मुख्य भूमिका स्वयं मिश्रजी ने ही निवाही है। 'धारी परसाल हड़' (श्री विप्लव) और 'सेनुरादान' जैसे एकांकियों में दहेज प्रथा का मुँहफट रूप में विरोध किया गया है। मगध जनपद की अनेक समस्याओं को झकझोरकर उपस्थित करनेवाले एकांकियों में 'खइनी' और 'तिलक के कराह' (प्रो० रामनन्दन) अधिक सुन्दर हैं। इनका प्रसारण आकाशवाणी के पटना केन्द्र से भी हो चुका है। इनका 'अतिथि' भी उत्तम है। इसी प्रकार 'गुरु-दक्षिणा' (प्रो० शत्रुघ्न शर्मा), 'कुबेर के भंडार', 'ओकील के परवाना' (मुन्नी प्रसाद), 'चलनी दुसलक बड़नी के' (शंभुनाथ जायसवाल) आदि प्रहसन भी उल्लेखनीय हैं।

इसी क्रम में मगही फ़िल्म 'भैया' की चर्चा भी अपेक्षित है। हिट की दृष्टि से यह फ़िल्म भले ही विफल हो, पर मगही साहित्य की उत्तरोत्तर विकसित स्थिति का यह ऐतिहासिक माप अवश्य बनेगा।

मगही साहित्य में निबन्ध, आलोचना आदि के क्षेत्र में अपेक्षाकृत कम प्रगति दीखती है। वैयक्तिक निबन्धकारों में डॉ० शिवनन्दन और प्रो० रामनन्दन के नाम ही लिये जा सकते हैं। आलोचनात्मक और गवेषणात्मक निबन्धों में 'मगही के पुरान कवि', 'पुरबी मगही', 'विचार के किरन' (राजेन्द्र योधेय), 'बौध धरम के सामाजिक महातम' (ठाकुर धरमदेव सिंह), 'मगही ककहरा' (प्रो० रामनन्दन), 'भारती काव्य में वसंत बरनन' (श्री अमरनाथ), 'मगध के मूर्तिकला' (डॉ० एस० ए० मजीद), 'मगही हिन्दी के विरोधी. न' (श्री वियोगी) आदि उत्तम हैं। 'विहान' के जून '५६ वाले अंक में प्रकाशित 'मगही महोत्सव' पर रिपोर्टाज का सिसमोग्राफ से कम महत्त्व तनिक भी नहीं कहा जाएगा। श्री प्रेमेश्वरजी ने इस लेख से मगही में एक नई विधा को जन्म दिया है। मगही व्याकरण की इधर दो महत्त्वपूर्ण पुस्तकें सामने आई हैं—'मगही के वेआकरण' (राजेन्द्र योधेय) और 'मगही व्याकरण कोश' (डॉ० सम्पत्ति आर्याणी)। दूसरा ग्रन्थ 'मगही की कौन कहें' समस्त रूप में हिन्दी के लिए विशेष महत्त्व का है।

१२६ : आलोचना

मौलिक साहित्य-सर्जन के साथ-साथ अनुवाद-कार्य भी आगे बढ़ रहा है। अनुवादकों में श्री पुण्डरीक और श्रीकांत शास्त्री के नाम अधिक उल्लेखनीय हैं। श्री पुण्डरीकजी ने 'गीता' और 'मेघदूत' का बड़े सरस और सटीक रूप में अनुवाद प्रस्तुत किया है।

इस चर्चा को यहीं समाप्त करते हुए यह कहना आवश्यक है कि इस अवधि में इसकी जितनी प्रगति अपेक्षित थी, उतनी नहीं हो सकी है। इसके कारण तो अनेक हैं, पर सर्वाधिक अखरनेवाली बात है संगठित प्रयास और प्रकाशकों का अभाव। बिहार का मगही मंडल भी इसके निमित्त कोई ठोस कदम उठाता नहीं दीखता है। यदि लेखकों और पाठकों के प्रयास से कोई सहयोगी प्रकाशन-जैसी संस्था कायम हो सके, तो शायद कुछ अधिक आशाप्रद परिणाम मिल सकते हैं। फिर भी सब मिलकर प्रयास उत्तम ही कहा जाएगा।

डॉ० सावित्री शुक्ल

सन् सैंतालीस के बाद का छत्तीसगढ़ी साहित्य

छत्तीसगढ़ी प्रदेश अन्य हिन्दीभाषी प्रांतों या प्रदेशों की तुलना में अपेक्षाकृत पिछड़ा है। पिछड़ेपन का जो प्रभाव जन-जीवन और संस्कृति पर पड़ा वही प्रभाव भाषा पर भी। छत्तीसगढ़ी बोली या भाषा का स्वरूप आज भी उतना समुन्नत नहीं है, जितना अवधी या ब्रज भाषा का है। परन्तु छत्तीसगढ़ी विकासशील, प्रगतिशील और उन्नतिशील बोली है। जहाँ छत्तीसगढ़ी का अतीत अन्य बोलियों की तुलना में शून्य-वत् है, वहीं छत्तीसगढ़ी का वर्तमान रूप बहुत-सी बोलियों की तुलना में अधिक श्रेयस्कर और प्रगतिशील है। सन् १९४७ ई० के अनन्तर छत्तीसगढ़ी ने जो उन्नति की है, वह अवधी, ब्रज, मैथिली, राजस्थानी आदि की तुलना में महत्त्वपूर्ण और स्पृहणीय है। विगत १५-१७ वर्षों में छत्तीसगढ़ी ने समर्थ कवियों, कुशल गद्यकारों एवं सफल नाटककारों को जन्म दिया। इधर के साहित्यकारों में विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं : द्वारिकाप्रसाद तिवारी, प्यारेलाल गुप्त, नारायणलाल परमार, हरि ठाकुर, श्यामलाल चतुर्वेदी, बच्चू जाज गीरी, विमलकुमार पाठक, सरयूप्रसाद त्रिपाठी, चन्द्र किशोर दीवान, शशी तिवारी आदि। ये सभी प्रतिभासम्पन्न कवि हैं, जो काव्य-साधना में सत्त संलग्न हैं। नारायणलाल परमार-जैसे लेखक किसी भाषा या बोली के गौरव को सम्बन्धित करने में समर्थ हो सकते हैं। काव्य, नाटक, कहानी, सभी क्षेत्रों में प्रतिभा विकसित करने में संलग्न हैं।

यह प्रसन्नता का विषय है कि छत्तीसगढ़ी के लेखक और कवि साहित्य-जगत् में प्राचीन एवं नवीन दोनों ही विषयों का सर्जन कर रहे हैं। जहाँ एक ओर वे शांति रस, प्रकृति-वर्णन जैसे विषयों पर काव्य लिख रहे हैं; वहीं कृषक, दीन, ग्रामीण

बालक, स
में हो रही
हैं। वे म
नीतिक व
तथा महा
उपजाओ
जागृत बन
पिछड़ा अ
प्रिय है।
है। 'सुवा

इन पंक्ति
प्रेरणा-भ
गया है।
वृद्ध मान
सम्मान
लिखा ग

है। इस
गढ़ी कवि
वह सम

बालक, सामाजिक कुरीतियाँ तथा राष्ट्रीयता-सम्बन्धी कविता की रचना भी छत्तीसगढ़ी में हो रही है। इतना ही नहीं, छत्तीसगढ़ी के कवि जागरूक और सचेत साहित्यकार हैं। वे समय की प्रवृत्तियों एवं परिस्थितियों से अछूते नहीं हैं। उनका ध्यान राज-नीतिक वादों, चुनाव की घिसी-पिटी प्रथाओं, नेहरू, गांधी, सुभाष बोस, जैसे विषयों तथा महापुरुषों की ओर भी जाता है। देश की महत्त्वपूर्ण समस्याओं—अधिक अन्न उपजाओ योजना, साक्षरता-वृद्धि आदि विषयों में भी इनकी लेखनी सक्रिय और जागृत बनी रहती है। तात्पर्य यह है कि छत्तीसगढ़ी प्रदेश का कवि या लेखक किसी से पिछड़ा और हीन नहीं है। छत्तीसगढ़ी प्रदेश में 'सुवा गीत' बहुत लोकप्रिय और जन-प्रिय है। पारिवारिक और सामाजिक त्यौहारों पर यह गीत बड़े चाव से गाया जाता है। 'सुवा गीत' में राष्ट्रीय भाव गूँथे गए हैं।

चला दी दी देखे जाओ झंडा तिरंगा ला

सुवा भोर पाए है देस सुराज। सुवा भोर

अब तो सुतंत्र भये तें सुवा भोर—

तोरेच है अब राज।

सुवा भोर पाये हैं देस सुराज। सुवा भोर०

पिंजरा के बाहिर बईठ के गावा रे सुवा भोर गांधी के जै जै कार।

पर वश ले तोला जऊन छोड़ा इस सुवा भोर—तारे करिस उद्धार।

सुवा भोर पाये हैं देस सुराज

आज सुतंत्र भये तंय सुवा भोर, पांखीला अपन पसार।

कतेक जबर अब हैं तोर पिंजरा रेसुवा भोर देख ले ओखो उधार।

पर के भरोसा मा का तय जाने रे सुवा तोर पिंजरा हिस संसार

गांधी बबा तोला बाहिर लानिस सुवा भोर तेकरेच कर परचार।

सुवा भोर...

उत्तीसे बड़तो गांह खुसहूँ रे सुवा भोर चारों डदर तोर राज

उड़ि जारे सुवना तय दिल्ली द्वारी मां सुवा भोर छत्र धरे तोर ताज

सुवा भोर...

इन पंक्तियों में स्वराज्य-प्राप्ति के अनन्तर स्त्रियों में राष्ट्रीय ध्वज के प्रति श्रद्धा एवं प्रेरणा-भाव व्यक्त किया गया है। पाँचवीं पंक्ति विशेष ध्यान देने योग्य है। इसमें कहा गया है कि पिंजरे से उन्मुक्त होकर सुवा गांधीजी की जय-जयकार कर रहा है। गांधी वृद्ध मानव-समाज को परबसता से छुड़ाने वाले हैं। इन पंक्तियों में तिरंगे झंडे के प्रति सम्मान की भावना व्यक्त हुई है। यह सुवा-गीत द्वारिकाप्रसाद तिवारी विप्र द्वारा लिखा गया है।

आज देश के सम्मुख अनेक समस्याएँ हैं जिनमें बेकारी की बहुत बड़ी समस्या है। इसी कारण नेता-वर्ग 'ग्राम वापस जाओ' का नारा लगा रहे हैं। छत्तीसगढ़ी कवि भी जागरूक हैं। वह अपने देश के कृषक वर्ग को ऊपर उठाना चाहता है। वह समझाने की चेष्टा करता है कि खेती करना, नौकरी की अपेक्षा अधिक कल्याण-

१२८ : आलोचना

कारी है । प्रतिभासम्पन्न, उदीयमान, उदय होता हुआ कवि गा उठता है :

रे भैया, अब हम खेती करबो ।

हारगयेन नौकरी सरेखत

कहाँ-कहाँ अब सरबो

अब ये दिन है खेती करके

खेत ला सुधर कमाबो

देस ला पोढ करे खातिर हम

सब अन्न, उपजाओ

गांव अउ खेत तरत तारन अंच

ये मा हम सब तरबो

रे भैया अब हम खेती करबो ।

—श्री विमलकुमार

प्रस्तुत पंक्तियों में कवि जीवन की यथार्थता की ओर संकेत करता हुआ पद-प्रदर्शन करता है कि जन-कल्याण व देश-कल्याण के लिए खेती ही श्रेयस्कर है । साधु ही उत्साहित भी करता है कि देस ला पोढ करै खातिर हम ।

छत्तीसगढ़ी कविता को वर्तमान रूप में ढालने का श्रेय स्वर्गीय कुञ्जबिहारी चौबेजी को है । ग्रामीण समस्याओं को लेकर आपने कुछ कविताओं का सर्जन किया है जिनमें कृषक व कृषक स्त्री का चित्रण सजीव हो उठा है । कृषक की आत्मानुभूति का वास्तविक एवं सजीव चित्रण देखिए :

पहिरे बर दू बीता केपागी जी

पिये ला चोंगी घरे लाआगी जी

खाये ला बासी पीये ला पेज पसिया

करे बर दिन रात खेत मां तपसिया

साधू जो गीले बड़के दरजा हमार ॥

प्रस्तुत उद्धरण से स्पष्ट हो जाता है कि कृषक का पद साधु व योगी से बड़का है । वह एक तपस्वी है, साधक है, जो दूसरे के लिए स्वयं बासी खाकर तपस्या में लीन रहता है ।

छत्तीसगढ़ी साहित्य में माननीय कृषक स्त्री का चित्रण भी चौबे की सशक्त भाषा में हुआ है । कृषक-पत्नी अपने पति से प्रेम-कलह करती है और स्वयं रूठकर अपना शृंगार उतारकर फेंक देती है । पति स्वयं रूठी पत्नी को मनाने नहीं जाता है वरन् एक सहेली भेजता है उसे मनाने के लिए । ग्रामीण स्त्री सहेली से कहती है :

चल ओ उठ ओ चरिहा घर के ,

हम गोबर बीने ला जातिन ओ,

बिन लेतन गोबर पातेन तो

और साँझ के घर चलि आतेन ओ ।

तैं हर बोलत काबर नाहि ओ बहिनी

सन् सैंतालीस के बाद का छत्तीसगढ़ी-साहित्य : १२६

तैं हर काबर आज रिसाये हवस
चुटकी मुंदरी सब के दिहे
अँगना माँ परे खिसियाये हवस ।

भारत स्वतन्त्र हुआ पर निर्धन वर्ग की समस्याएँ कम नहीं हुई । रोटी, मकान व वस्त्र की चिन्ता उन्हें सदैव घेरे रहती है । खाने के लिए अन्न नहीं, पहनने के लिए वस्त्र नहीं और रहने के लिए स्थान नहीं । श्री रामविलास साहू ने बनिहार कविता में मजदूरों की दुर्दशा का मर्मस्पर्शी चित्र व्यक्त किया है ।

एक डहर से हाथ पसारे मनखे बने भिखारी
एक डहर तो रहसरचावन मगन महल और अटारी हवय
चिथुरा कथरी फरिया ला ओढ़े कंगाली हाँ गोहार करय
कहँ करा दसरहा देवारी निहर-निहर के जोहार करय
कहँ पेट के आगी में जर के तजत है पल-छिन में परान
अरे टांक-मसि बता, लिखन सकबे का बैसने सुघर तान ?

प्रस्तुत पंक्तियों में यथार्थ का सजीव चित्रण है जिनमें कोई आवरण नहीं है । सत्य, सत्य है चाहे वह कितना कुरूप हो । अनुभूति एक-एक पंक्ति में दृष्टिगत होती है ।

छत्तीसगढ़ी कवि को वहाँ के गाँव, कृषक व पुष्पों से भी अत्यधिक प्रेम है । वह ग्रामीण वातावरण से प्रभावित है । एक ओर समाज की समस्याएँ उसे व्यथित करती हैं तो दूसरी ओर सरस, सरल, सुन्दर वातावरण उसे मुग्ध कर लेता है ।

गाँव माँ फूलधलो गोड़ियायें
जब सब किसान सो जाएँ ।
झाँई झूँई लाल गुलाली
देख चाँद मुस्काये
खो खमां खिल-खिल हासे लगायें
कमल फूल सकुचायें ।

छत्तीसगढ़ी कवि जागरूक है कि उस पर नवीन भारत के निर्माण का भार है । प्रस्तुत पंक्तियों में ग्राम का सजीव यथार्थ चित्रण हुआ है ।

हमर कतका सुन्दर गाँव
जइस लक्ष्मीजी के पाँव
घर उज्जर लीपे-पोते
जिला देख हवेली रोये
सुघर चिकनाई मुइया
चाहे भात परस ला गुँइया
अँगना में तुलसी धरुवाँ
कोठा माँ बैली गरुवा
लकठा में कोला बारी
जहाँ बोथन साग तरकारी

१३० : आलोचना

चेहर अनपूरनाक ठाँव

हमर कतका सुन्दर गाँव

प्रस्तुत उद्धरण में अपने गाँव का सुन्दर चित्रण कवि ने किया है। साथ-ही-साथ कवि ने यह चेष्टा भी की है कि छत्तीसगढ़ी परिष्कृत व परिमार्जित हो। उसने ठेठ छत्तीसगढ़ी शब्दों का प्रयोग न करके सरल, स्वाभाविक व मधुर शब्दों का प्रयोग किया है।

छत्तीसगढ़ी कवियों में शृंगार रस के भी दर्शन होते हैं। परन्तु इतना अवश्य है कि शब्द-सौष्ठव व अभिव्यक्तियों में वे नये मार्ग पर चलने वाले हैं। श्री नारायण लाल परमार के शब्दों में विरही नायक का चित्रण देखिये—

तुहिँच ला जानेव मैं

मति अपन मानेव मैं

जरे अस लागे भोला चन्दा के अंजीर

रहि-रहि के तोर सुरता भोला गुदगुदावे

हरर पावन चलै दुहँ ला देजावै

आँसू ला विलमावै मैं

उहर चलत गामेव मैं

छत्तीसगढ़ी के गीतों में भी शृंगार रस विद्यमान है। विरहणी नायिका का चित्रण देखिए—

आधी रात चढ़ेनी मन जब

खेलत रहिन होरी

तैं हर अपन हाथ लमा के

भोर माँग लगाये रोरी।

ग्राम-बन्धुओं के सौन्दर्य व शृंगार के साथ-ही-साथ प्राकृतिक सौन्दर्य भी छत्तीसगढ़ी कविता में कम नहीं है। छत्तीसगढ़ी कवि ने प्राकृतिक वर्णन में नवीन मान्यताओं एवं नवीन कल्पनाओं का प्रयोग किया है।

(१)

भरगै ताल तरैया, भैया भरगै ताल तरैया

झिमिर झिमिर जस पानी बरसै

महकै खेत रबार के माटी

धुडुर धुडुर जस बाहर गरजै

डोलै नदिया परबत घाटी

(२)

सुरज के खिलती माँ सोना बरस थे

चन्दा हर चांदी लुटा थे गा।

आमा के डारा मा मौडर के पास माँ

करिया कोइलफाता पाये लामे

सन् सैंतालीस के बाद का छत्तीसगढ़ी-साहित्य : १३१

खाले में हावेससान जिहाँ जाके
जिनगी के जिवरा जरे है।

हनुमंतराव 'राजदीप'

- (३) चन्दा झाँके संग चनेनी
लरजत लरजत रात माँ
धान के हरियर लगरा पहिरय
घरती हर चौमास माँ

विमलकुमार पाठक

छत्तीसगढ़ी कविता में हास्य-व्यंग्य-लेखक श्री ऊधोराम जो तथा ध्रुवराम जी की गणना हास्य-व्यंग्य के कवियों में आदर के साथ की जाती है।

उदाहरणार्थ—

- (१) छइयाँ मारे न मरै, मरै न बाँधे धार
तिरिया मन के सजन बिना पुरुष होत नई पार
पुरुष होत नई पार, बिना सुग्घर तिरिया के
रख लो डउकी चार निते दिन आवे जाके
कहै कवि झकमार बात मानो गौकी
कइसनौ करके यार फटाफट लानो डौकी।

ऊधोराम 'झकमार'

- (२) बाहान अउ बैरागी बंदव, दुनो हाथ ला जोरे,
अपन मेहरिया पुनि पुनि बंदव, बत्तीस दाँत निपोरे
नरक सरग के देवता बंदव माई-बाप के छोड़े
ससुर सास अउ सारी बंदव, सुग्घर नाता जोड़े

ध्रुवराम जी

व्यंग्यात्मक काव्य-रचयिताओं में द्वारकाप्रसाद तिवारी अत्यधिक प्रसिद्ध हैं। नवा बहरिया कविता में एक कर्कशा नववधू का बहुत ही विनोदपूर्ण चित्रण हुआ है।

शृंगार एवं हास्य के अतिरिक्त शान्त रस भी छत्तीसगढ़ी काव्य में विद्यमान है। उदाहरणार्थ कतिपय पंक्तियाँ देखिए—

चला भजन करी भगवान के,
ये संसार मलगे बजरिया, डेरा बने दूँ दिन के
उठगे बजरिया टूट गये डेरा, पंछी उड़िस जस बन के
बाग लगे हैं बगीचा लगे हैं, फूले हैं फूल सुधर के,
उजर ने बगिया, सुखगे फुलवा, भौरा उड़िस बन बन के
चला भजन करी भगवान के।

आज का छत्तीसगढ़ी भाषा का साहित्यकार सजग है। वह कविता की भाँति ही गद्य में, एकांकी लेखन, संवाद, कहानी आदि की भी रचना कर रहा है।

इधर छत्तीसगढ़ी के साहित्यकारों ने सुन्दर रचनाओं द्वारा साहित्य में नवीन

१३२ : आलोचना

रचनाओं का सर्जन किया है जिनमें विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं—श्री राधाकृष्ण विहार, श्री रामकेवट संवाद, श्री माता सेवा, श्री शिवरी अउ राम संवाद, श्री सुसत गाथा, श्री सुदामा अउ किसन चरित्र, श्री त्रिनाथ मेला माहात्म, सुखरा चरित्र के बिहाव, छत्तीसगढ़ी दहरिया अउ करगा गीत, प्रह्लाद चरित्र, छत्तीसगढ़ी दान लीला, भरत अउ राम के मिलाप, रामायन धुन आरती विसर्जन सहिता गीता सार राजा भरथरी गीत, तड़वा सुजान के गीत, लक्ष्मी पुराण, अंगद-रावण संवाद, भक्त ध्रुव, परीक्षित मोक्ष, श्याम सन्देश आरती माला, शंकर पारवती विवाह, तुलसी के विरवा लगाये, पंडवानी गीत आदि ।

इस प्रकार हम यह विश्वास के साथ कह सकते हैं कि छत्तीसगढ़ी का कवि और छत्तीसगढ़ी का साहित्य बड़ा उन्नतिशील है । वह दिन दूर नहीं है कि जहाँ छत्तीसगढ़ी में महाकाव्यों और उपन्यासों की रचना होने लगेगी, वह समय दूर नहीं है जब छत्तीसगढ़ी का कवि पूर्ण तन्मयता के साथ देश की गरीबी, बीमारी, अशिक्षा को दूर करने के लिए और जनता-जनार्दन को प्रबुद्ध करने के लिए अधिक शक्ति के साथ लेखन-कार्य में प्रवृत्त होगा ।

हिन्दू

असमिया
शास्त्रीय

महत्व क

जहाँ तीन

प्रा चीनी

वार का

बादि का

पार्वत्य-म

धीरे-धीरे

प्रदान की

असमिया

धर्म भार

से ही ची

रही । अ

रहा है ।

ग

जाल से य

रूपकं न

है । असमि

इ

स्पष्ट हो

ऐसा अभा

आवश्यक

उ

कई क्षेत्रों

नहीं कर

हैं, अवि

शोधन से

हिन्दी में भारतीय साहित्य

नवारुण

हिन्दी में असमिया साहित्य

असमिया भाषा सच्चे अर्थ में भारतवर्ष के पूर्वांचल की समन्वय-सूत्रधारिणी है। समाज-शास्त्रीय तथा भाषा-शास्त्रीय दृष्टिकोण से भी यह अंचल बहुविचित्र और परम महत्व का है। इस भाषा-भाषी भू-खंड की सीमा एक ओर बंगाल को छूती है, जहाँ तीन ओर से उन भाषायी अंचलों से परिवेष्टित है जिनका उद्गम तिब्बती-बर्मी भाषा-चीनी-तिब्बती भाषा-गोष्ठियों से हुआ है। इसीलिए मूल उद्गम आर्य भाषा-परिवार का होने पर भी इस भाषा में पूर्वी एशिया के मंगोल-भाषा गोष्ठी के शब्द, शैली आदि का पर्याप्त समन्वय हुआ है। कोच, कछारी आहोम, भोट आदि जातियाँ पूर्वीय पारवत्य-मार्गों से यहाँ आई, जिनकी अपनी विशिष्ट बोलियाँ, संस्कृति आदि थीं। धीरे-धीरे असमिया भाषा की शक्ति से वे उसमें विलीन हो गई और आम आदान-प्रदान की भाषा के रूप में इसी भाषा को सबने अपना लिया परन्तु उनके अवशेषों से असमिया भाषा आज भी मण्डित है। इसके अतिरिक्त असम-घाटी से होकर ही बौद्ध-धर्म भारत से एशिया के पूर्वीय देशों में पहुँचा था यानी यह भूमि प्राचीन काल से ही चीन, बर्मा, तिब्बत आदि देशों के साथ भारतीय संस्कृति की सम्पर्क-साधिका रही। आज भी पूर्वीय देशों का प्रभाव इस अंचल तथा भाषा पर भी पड़े बिना नहीं रहा है।

गारो, भोट, खासी, मिरी, मिसमी, नागा, मिजो आदि भाषाओं के एक ऐसे जाल से यह समूचा अंचल घिरा हुआ है जिनका शेष भारत की आर्य-भाषाओं से कोई सम्पर्क नहीं है। और तो और इन भाषाओं में भी आपसी समानता नहीं के बराबर है। असमिया भाषा इनके बीच भी सम्पर्क-सूत्र का काम करती आई है।

इन सभी दृष्टियों से विचार करने पर असमिया-भाषा-साहित्य का महत्व स्वयं स्पष्ट हो उठता है तथा राष्ट्र-भाषा हिन्दी में इसके उच्च साहित्य का न होना एक ऐसा अभाव है जिसकी शीघ्र पूर्ति के लिए व्यापक कार्यक्रम अपनाने की अनिवार्य आवश्यकता है।

असमिया साहित्य पुराना है। प्राचीन असमिया साहित्य इतना समृद्ध है कि कई क्षेत्रों में इसकी समानता भारत की अन्य आधुनिक भाषाओं का प्राचीन साहित्य नहीं कर सकता। उसी काल में जब बंगला आदि आधुनिक समृद्ध भाषाएँ भी पिछड़ी हुई, अविकसित अवस्था में थीं असमिया में कोयवंशी और कछारी राजाओं के पृष्ठ-रोपण से रामायण, महाभारत, भागवत आदि ग्रन्थों का निर्माण हो चुका था। ये

प्राचीन ग्रन्थ यद्यपि संस्कृत ग्रन्थों के मूल-आधार पर ही रचित हैं तथापि इस असमिया जीवन की अपनी विशिष्टताएँ उभर उठी हैं तथा कवियों ने अपनी मौखिक उद्भोवनाओं द्वारा नई-नई घटनाओं व चरित्रों का सर्जन किया है। राष्ट्रभाषा हिन्दी में कम-से-कम संक्षिप्त रूप से भी हो, इन ग्रन्थों का होना आवश्यक है।

असम के धार्मिक क्रान्ति-दूत श्री शंकरदेव ने तो प्राचीन असमिया साहित्य को वह वैभव प्रदान किया है जिसका सानी नहीं। शंकरदेव के वरगीत, कीर्तनगीत आदि के पद सूर, तुलसी और कबीरदास के पदों के साथ एक ही पंक्ति में रखे जा सकते हैं। भाव, भाषा तथा आध्यात्मिकता की सामान्य भावभूमि पर भारतीय संस्कृति की कितनी एकता थी, इनसे यही प्रमाणित होता है। शंकरदेव के अंकिया (एकांकी नाटक तो आज भी विद्वानों को मुग्ध कर देते हैं। हाल ही में अध्यापक डॉ० लाल शुक्ल ने शंकरदेव के अंकिया नाटकों पर एक शोध-प्रबन्ध लिखा है परन्तु अब तक उसका प्रकाशन नहीं हो पाया है। श्री शंकरदेव तथा उनके शिष्य माधवदेव के ग्रन्थों की भाषा हिन्दी से इतनी समानता रखती है कि केवल लिप्यन्तर से ही हिन्दी-पाठकों को उन्हें समझने में कोई दिक्कत नहीं होती। डॉ० दशरथ ओझा ने अपने शोध-प्रबन्ध 'हिन्दी नाटक : उद्भव और विकास' में अंकिया नाटकों के कुछ उद्धरण भर दिए हैं हिन्दी में अंकिया नाटकों को प्रकाशित न करने से वस्तुतः उनकी छटा से राष्ट्रभाषा वंचित ही रहेगी।

इधर असम राष्ट्रभाषा प्रचार समिति ने माधवदेव का बहुप्रसिद्ध ग्रन्थ 'नाम-घोषा' का हिन्दी में लिप्यन्तरण-सहित अनुवाद प्रकाशित किया है। विनोबा ने अपनी असम पद-यात्रा में भी इस ग्रन्थ की आध्यात्मिकता से मुग्ध होकर प्रबन्धों में इसके विभिन्न पदों पर भाष्य किया तथा एक संक्षिप्त 'नाम-घोषा-सार' का सम्पादन भी किया। परन्तु असम के इन दोनों धर्म-प्रतिष्ठापकों का विशाल ग्रन्थ-भण्डार अब हिन्दी के लिये अछूता ही है।

यह बहुत कम लोगों को ज्ञात है कि असमिया में ही सर्वप्रथम गद्य का नमूना भट्टदेव की 'कथा-गीता' में मिलता है। यह ग्रन्थ गीता पर गद्यात्मक भाष्य होने के साथ ही वर्णन-शैली और दृष्टान्तों की दृष्टि से अनुपम है। हिन्दी में इस ग्रन्थ का हिन्दी रूपान्तर वांछनीय है।

प्राचीन असमिया साहित्य को छोड़ भी दिया जाय तो आधुनिक साहित्य में भी यह पर्याप्त समृद्ध है। असमिया साहित्य के कुछ विद्वान् शोधकों ने विदेशों में प्रसिद्धि अर्जित की है। स्व० डॉ० वाणीकांत काकति के भाषा-तत्त्व-सम्बन्धी शोध-पूर्वाचल की भाषा-विषयक नवीन पृष्ठभूमि तैयार कर दी। आपका 'असमिया भाषा उद्भव और विकास' एक बहुचर्चित कृति है। डॉ० सूर्यकुमार भूयां ने विस्मृत असम इतिहास पर बहुत अधिक काम किया है, आपका 'असम बुरंजी' असम इतिहास सम्बन्धी मनन से भरपूर है। स्व० डॉ० विरिंची कुमार बरुवा भी एक बड़े गवेषणार्थी थे। आपकी 'असम लोक-संस्कृति' असम की जनकला और प्रगतिशील संस्कृति का प्राञ्जल विश्लेषण करने वाला ग्रन्थ है। इसे अकादेमी पुरस्कार भी प्राप्त हो चुका है।

हिन्दी में इन विद्वानों के ग्रन्थों का शीघ्र रूपान्तर आवश्यक है। स्व० बरुवा का उपन्यास 'जीवतर वाट' असमिया उपन्यासों में सर्वश्रेष्ठ माना जाता है जिसमें असमिया ग्रामीण तथा नगर-जीवन को उभारा गया है।

जन-जातीय लोगों के सम्बन्ध में रचित साहित्य असमिया आधुनिक साहित्य का वैभव है। जन-जातीय जीवन की प्रांजल अभिव्यक्ति काव्य, नाटक, उपन्यास, कहानी आदि सभी साहित्य-विधाओं में हुई है। आजकल असमिया-भाषी साहित्यकारों के अलावा जन-जातीय साहित्यकार भी अपनी कृतियाँ असमिया में प्रकट करने लगे हैं, यह भी असमिया-साहित्य के लिए कम गौरव का विषय नहीं है।

असमिया साहित्य के सर्वश्रेष्ठ उपन्यासकार स्व० रजनीकांत बरदलै ने सबसे पहले जन-जातीय जीवन को लेकर 'मिरि जीयरी' उपन्यास की रचना की थी। इसका हिन्दी-रूपान्तर युगजीत नवलपुरी ने किया है। स्व० बरदलै के अन्य उपन्यास बर्मी-आक्रमण की पृष्ठभूमि पर रचित हैं। आपके 'मनोमती' उपन्यास का हिन्दी-अनुवाद लोकनाथ भराली और 'निर्मल-भक्त' का अनुवाद श्रीचित्र महंत ने किया है।

श्री बीरेन्द्र कुमार भट्टाचार्य ने नागा जीवन और समस्याओं के बारे में कई कहानियाँ और उपन्यास लिखे हैं। आपके 'इया-रुइंगम' उपन्यास को अकादेमी पुरस्कार प्राप्त है। इसका हिन्दी-रूपान्तर भी श्रीचित्र महंत ने किया है परन्तु वह प्रकाशित नहीं हो पाया है। श्री भट्टाचार्य का दूसरा उपन्यास 'माँ' का हिन्दी-रूपान्तर लोकनाथ भराली ने किया है जो हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय द्वारा प्रकाशित हुआ है।

श्री योगेश दास ने भी कई उत्तम उपन्यासों की रचना की है। दूसरे महायुद्ध पर आधारित 'डावर आरु नाइ' का अनुवाद भारतीय ज्ञानपीठ की ओर से करवाने की चर्चा सुनने में आई है।

हाल में ऐसे कई महत्वपूर्ण उपन्यास असमिया में निकले हैं जो यहाँ की अनेक-विध समस्याओं के यथार्थ रूप को उभारते हैं। इनमें तीन खण्डों में प्रकाशित हितेश डेका का 'एयेतो जीवन', रवीन काकति का वृहद् उपन्यास 'दिशहारा' युगान्तकारी कृतियाँ हैं। चाय बागान के जीवन को रास्ता बरुवा के 'सेउजी पातर काहिनी' उपन्यास में बड़े ही मार्मिक ढंग से चित्रित किया गया है।

जन-जातीय लेखक श्री लुम्मेर दाइ ने अपनी रचनाओं में जन-जातीय परंपराओं का विवर्तन प्रस्तुत किया है। आपकी कला-कृति 'पृथिवीर हाँहि' असमिया साहित्य में नवीन दिशा की सूचक है, उत्तर-पूर्वी सीमान्त अंचल के जन-जातीय आवर समाज को इसमें उभारा गया है। इन सभी ग्रन्थों का हिन्दी में अनुवाद करने का प्रयत्न होना चाहिए।

हिन्दी में असमिया के कुछ प्रख्यात कवियों की काव्य-कृतियाँ आई हैं। श्री परेशचन्द्र देव शर्मा ने 'कविश्री माला' के अन्तर्गत नलिनी बाला देवी और रघुनाथ चौधरी की कविताओं का संकलन (हिन्दी-रूपान्तर सहित) किया है। साहित्य अकादेमी द्वारा प्रकाशित भारतीय कविता में भी कुछ असमिया कविताओं के रूपान्तर निकले हैं। प्रस्तुत निबन्ध के लेखक ने आकाशवाणी के लिये भी अनेक असमिया-कविताओं का हिन्दी-रूपान्तर किया है। श्री नवकान्त बरुवा की प्रतीक-मूलक काव्य-

१३६ :; आलोचना

कृति 'धृतराष्ट्र' का हिन्दी-रूपान्तर शीघ्र ही प्रकाशित होने वाला है। श्री चन्द्रभूषण शर्मा 'भूषण' ने नलिनी बाला देवी के कविता-संग्रह 'युग देवता' का हिन्दी-अनुवाद प्रस्तुत किया है।

हिन्दी में असम पर आधारित कुछ मौलिक ग्रन्थ भी इस बीच प्रकाशित हुए हैं, प्रस्तुत लेखक का 'लाचित बरफुकन' असम पर मुगल-आक्रमण की पृष्ठभूमि पर रचित खण्ड-काव्य है। श्री हरिहर प्रसाद द्विवेदी ने इसी पृष्ठभूमि पर 'शराई घाटी' काव्य की रचना की है। असम की सतीनारी 'जयमती' पर आधारित प्रस्तुत निबन्ध के लेखक का एक वृहद् काव्य प्रकाशन की प्रतीक्षा में है। इसी लेखक का 'युग देवता शंकर देव' काव्य भी अप्रकाशित है। श्री देवेन्द्र सत्यार्थी ने असम के नदी-द्वीप माझुली पर 'ब्रह्मपुत्र' नामक उपन्यास की रचना की है। श्री रजनीकान्त चक्रवर्ती ने शंकरदेव की जीवनी-मूलक एक पुस्तक की रचना की है। श्री शंकरलाल शर्मा ने 'जयमती' पर एक नाटक 'हुतात्मा जयमती' भी बहुत दिन पहले प्रकाशित किया था।

श्री सीता देवी ने असम के ख्यात उपन्यासकार प्रेमनारायण दत्त के बाल-उपन्यास 'पोहरर बाटट' का हिन्दी-रूपान्तर 'रोशनी की राह में' नाम से किया है। वाग्मी कवि नीलमणि फुकन की मौलिक रचनाओं का संग्रह श्री सुमति तालुकदार द्वारा अनूदित होकर प्रकाशित हुआ है। श्री दीननाथ शर्मा रचित उपन्यास 'नदाइ' का हिन्दी-रूपान्तर शीघ्र ही प्रकाशित होने को है।

असमिया साहित्य का विशाल भण्डार देखते हुए यह कहने को बाध्य होना पड़ता है कि इसका बहुत कम अंश अभी हिन्दी में आ पाया है। हालाँकि कुछ पत्र-पत्रिकाओं में कहानियों, निबन्धों और कविताओं के अनुवाद प्रकाशित होते हैं और असम का एकमात्र हिन्दी मासिक 'राष्ट्र सेवक' भी इसमें कुछ-कुछ हाथ बँटा रहा है फिर भी यह काम बहुत बड़ा है। हिन्दी के विद्वानों और प्रकाशकों को इस ओर अधिक ध्यान देने की आवश्यकता है।

असम में अच्छे अनुवादकों की बड़ी ही कमी है। साहित्यिक रुचि वाले निष्ठावान अनुवादक यहाँ इने-गिने हैं और उन्हें भी प्रकाशकों की ओर से कोई खास प्रोत्साहन नहीं मिलता। यहाँ ऐसी संस्था की भी कमी है जो असमिया साहित्य के अनुवाद-प्रकाशन को अपना ध्येय मानकर इस काम में हाथ बँटावे। सरकार की ओर से भी इस ओर कोई खास दिलचस्पी नहीं दिखाई जा रही है। इसीका नतीजा है कि असम तथा उसका साहित्य आज भी नजरो से ओझल और उपेक्षित है।

असम राष्ट्रभाषा प्रचार समिति एक सीमित परिधि में कुछ काम कर रही है। समिति की रजत-जयन्ती के अवसर पर प्रकाशित 'स्मृति ग्रन्थ' में असम की कला, संस्कृति और साहित्य-विषयक अनेक मननीय लेख छपे हैं। कई दृष्टियों से यह स्मृति-ग्रन्थ उपादेय तथा संग्रहणीय है। हाल ही में शंकरदेव व माधवदेव के 'बर-गीतों' का एक लघु संग्रह भी समिति ने प्रकाशित किया है।

सभी ओर से विचार करने पर यही प्रतीत होता है कि हिन्दी में असमिया साहित्य का और अधिक तेजी से प्रकाशन आवश्यक है।

डॉ० महावीर सरन जैन

भाषा का प्रश्न और भारत की एकता :

कुछ प्रश्न एवं दिशाबोध

इस लेख के माध्यम से, मैं देश के प्रबुद्ध विद्वानों एवं चिन्तकों का ध्यान दिल्ली से प्रकाशित 'आलोचना' (जुलाई, १९६५) के सम्पादकीय की ओर दिलाना चाहता हूँ। इसके सम्पादक ने अपने इस सम्पादकीय में हिन्दी भाषा से सम्बन्धित जो विचार प्रस्तुत किए हैं, उनमें से कुछ विचार अनेक भ्रामक धारणाओं को जन्म दे सकते हैं। एक स्थान पर सम्पादक ने लिखा है :

“हिन्दी को मातृभाषा बताना चूँकि देशभक्ति का पर्याय बताया जाता है, इसलिए हमारे यहाँ हिन्दी से जीविका कमाने वाले या 'हिन्दी भक्त' के नाम से वोट माँगने वाले और बदले में हिन्दी को अपनी मातृभाषा घोषित करने वाले ऐसे देश-भक्तों की संख्या नित्य बढ़ती जाती है, यद्यपि उनकी मातृभाषा हिन्दी नहीं है—पंजाबी, राजस्थानी, मैथिली, भोजपुरी, अवधी, ब्रज, छत्तीसगढ़ी, हरियाणी, कुमायूनी, डोगरी, गढ़वाली आदि, और चाहे कोई हो, पर हिन्दी (खड़ी बोली) नहीं है।”

अपने इस वक्तव्य द्वारा सम्पादक ने हिन्दी को खड़ी बोली की सीमाओं में आवद्ध कर, हिन्दी की अन्य समस्त बोलियों को हिन्दी भाषा से पृथक् करने का अद्भुत प्रयास किया है।

यदि ब्रज, अवधी, छत्तीसगढ़ी इत्यादि विभिन्न बोली-रूपों को कोई हिन्दी से अलग करके देखता है, तो वह न केवल हिन्दी के प्रति अन्याय करता है, प्रत्युत भाषा-विज्ञान के बारे में अपने अज्ञान का स्वयं ही सहज परिचय भी दे देता है। अगर ब्रज एवं अवधी 'हिन्दी' नहीं है, तो इसका यह अर्थ होगा कि इंग्लैंड एवं अमेरिका में अंग्रेजी के जितने बहुसंख्यक-रूप बोले जाते हैं, वे समस्त रूप अंग्रेजी नहीं हैं तथा केवल लन्दन के राजवंश के सदस्यों द्वारा जो कुछ बोला जाता है, केवल एकमात्र वही रूप अंग्रेजी है। ऐसा प्रतीत होता है कि ब्रज, अवधी, इत्यादि को हिन्दी न मानने का जो भ्रम है, वह भाषा और बोलियों के सम्बन्ध को न समझने के कारण उद्भूत है। यह सत्य है कि एक भाषा के रूप थोड़ी दूर पर निश्चय ही बदल जाते हैं। जैसे-जैसे सीमा की दूरी बढ़ती जाती है, वैसे-ही-वैसे एक क्षेत्र एवं दूसरे क्षेत्र की बोलियों का अन्तर भी अधिकाधिक बढ़ता जाता है। “चार कोस पर बदले पानी, आठ कोस पर बानी” कहावत प्रसिद्ध है, जो भाषा की क्षेत्रीय विभिन्नताओं की ओर संकेत करती है। केवल सीमागत दूरी के आधार पर ही बोलियाँ विकसित नहीं होतीं, अपितु एक

निश्चित क्षेत्रगत सीमा में (यहाँ तक कि एक नगर में भी) सामाजिक स्तर के विभिन्नताओं के कारण भाषा-वैभिन्न्य होते हैं, जिन्हें वर्गगत बोलियों के नाम से पुकारा जाता है ।

यदि इससे जरा और बारीक दृष्टि से देखें तो व्यक्तिगत बोली (Idiolect) के स्तर पर इस संसार में एक व्यक्ति जिस प्रकार बोलता है, ठीक उसी प्रकार संसार का कोई दूसरा व्यक्ति नहीं बोलता । प्रत्येक दो व्यक्तियों की व्यक्तिगत बोलियों (Idiolects) में कुछ-न-कुछ अन्तर होते हैं । यदि भिन्नताओं को ही देखने की बात है, तब तो स्वनिक (Phonic) स्तर पर यह भी कहा जा सकता है कि कोई भी व्यक्ति एक ध्वनि को ठीक उसी प्रकार दोबारा उच्चारित नहीं कर सकता । यदि एक व्यक्ति 'पू' ध्वनि को सौ बार उच्चारित करता है, तो वे 'पू' ध्वनि के सौ बार उच्चारण, १०० स्वन (Phones) हैं, जिनमें परस्पर यत्किञ्चित् भिन्नताएँ विद्यमान हैं । (यह बात दूसरी है कि हमारे कान इन समस्त भिन्नताओं का पता नहीं लगा पाते, किन्तु भौतिक ध्वनिविज्ञान (Acoustic Phonetics) के अन्तर्गत जब मशीनों पर कार्य किया जाता है तो इन सूक्ष्म अन्तरों को पहचाना जा सकता है) । इस प्रकार स्वनिक स्तर पर एक ध्वनि का प्रत्येक उच्चारण एक अलग स्वन (Phone) है । प्रश्न यह है कि कोई व्यक्ति किस धरातल से बातें करता है ? बोलियों के स्तर पर बाँगूरू, कन्नौड़, खड़ी बोली, ब्रज, बुन्देलखण्डी, अवधी, भोजपुरी, छत्तीसगढ़ी इत्यादि सब अलग-अलग बोलियाँ हैं, किन्तु भाषा के स्तर पर ये समस्त बोलियाँ हिन्दी भाषा की क्षेत्रीय भिन्नताएँ हैं ।

भाषा और बोली का सम्बन्ध बोली विज्ञान (Dialectology) का विषय है तथा इसे वैज्ञानिक दृष्टिकोण से अध्ययन करने पर ही समझा जा सकता है । संसार की किसी भी भाषा में अनेक बोलियाँ होती हैं । इन सब में परस्पर बहुत-सी बातों में भिन्नता हो सकती है । यह भिन्नता शब्दावली, पदरूपों एवं ध्वनिप्रक्रियात्मक पद्धति में देखी जा सकती है । मेरा विचार है कि शायद ऐसी ही भिन्नताओं के कारण, सम्पादक महोदय ने हिन्दी की बोलियों को अलग-अलग भाषा मान लिया है ।

एक भाषा के अन्दर जो विभिन्न बोलियाँ रखी जाती हैं, उनका कारण यह होता है कि उन समस्त बोलियों में विविध विभिन्नताओं के होते हुए भी गठन का एक समान ढाँचा (Common Core of Structure) होता है, इसके कारण 'भाषा' की एक बोली का बोलने वाला व्यक्ति उसी भाषा की किसी दूसरी बोली के बोलने वाले से परस्पर किसी-न-किसी मात्रा में (पूर्णतया तो प्रायः सम्भव ही नहीं है) विचारों का आदान-प्रदान करने में समर्थ हो जाता है । यह अवबोधन-शक्ति सापेक्ष होती है, जो बोलियों की सीमाओं की दूरी एवं निकटता के आधार पर घटती-बढ़ती रहती है ।

इसी आधार पर ब्रज, अवधी, बुन्देली, छत्तीसगढ़ी इत्यादि समस्त रूप 'हिन्दी भाषा' की बोलियाँ हैं ।

इस तथ्य को इस दृष्टि से समझा जा सकता है कि जब तमिल-भाषी को

व्यक्ति हिन्दी-भाषी ऐसे व्यक्ति से जिसे तमिल का ज्ञान नहीं है, तमिल में बातें करता है, तो हिन्दी-भाषी तमिल भाषा को किसी भी मात्रा में नहीं समझ पाता (संकेतों के माध्यम से भले ही समझ जाए, भाषा के माध्यम से नहीं समझ पाता) इसके विपरीत यदि 'ब्रज' बोलने वाला व्यक्ति 'अवधी' बोलने वाले से बातें करता है, तो दोनों को परस्पर विचारों के आदान-प्रदान करने में कठिनाइयाँ चाहे कितनी ही हों, किन्तु वे दोनों किसी-न-किसी मात्रा में परस्पर विचारों का आदान-प्रदान करने में अवश्य समर्थ हो जाते हैं।

सम्पादक ने संविधान में हिन्दी के खड़ी बोली के संस्कृतनिष्ठ साहित्यिक रूप को (दे० पृ० ३) ही, केवल हिन्दी मान लिया है। इसका कारण यह लगता है कि सम्पादक ने 'भाषा' तथा भाषा के परिनिष्ठित या मानक रूप (Prestige or standard form of language) के अन्तर को स्पष्टतया समझने का प्रयास नहीं किया है। संविधान में हिन्दी का जो रूप स्वीकृत है, केवल वही 'हिन्दी भाषा' नहीं है, अपितु 'हिन्दी भाषा' का वह परिनिष्ठित रूप है जिसे अन्तःप्रान्तीय या सार्वदेशीय व्यवहार के लिए उपयुक्त समझा गया है।

'हिन्दी भाषा' का अर्थ तो सम्पूर्ण हिन्दी प्रदेश में बोले जाने वाले प्रत्येक भाषायी रूप से है, जो उत्तर प्रदेश, राजस्थान, विहार, मध्यप्रदेश, पंजाब के हरियाणा भाग, दिल्ली इत्यादि भागों में व्यवहृत होता है। इस तथ्य को केवल हिन्दी-भाषी क्षेत्रों के ही भाषा-वैज्ञानिकों ने स्वीकार नहीं किया है, देश तथा विदेश के प्रत्येक भाषा-शास्त्री ने (जिसने वैज्ञानिक दृष्टि से तत्सम्बन्धित कार्य किया है) एक स्वर से यह स्वीकार किया है। उदाहरणार्थ, इस दृष्टि से हिन्दी-भाषी विद्वानों में डाक्टर धीरेन्द्र वर्मा के 'हिन्दी भाषा का इतिहास' एवं डाक्टर उदयनारायण तिवारी के 'हिन्दी भाषा : उद्गम और विकास' ग्रन्थों की ओर संकेत किया जा सकता है। अहिन्दी-भाषी विद्वानों में, विश्वप्रख्यात डाक्टर सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या रचित 'भारतीय आर्यभाषा और हिन्दी' ग्रन्थ को देखा जा सकता है। यदि अंग्रेजी ग्रन्थों के प्रति किसी का अधिक मोह हो, तथा किसी की मान्यता यह हो कि जो बात अंग्रेजी के माध्यम से कही जाती है वही चरम सत्य है, तो अभी हाल में प्रकाशित अमेरिका के जान गम्पर्ज एवं जून रूमरी कृत 'Conversational Hindi-Urdu' ग्रन्थ को पढ़ा जा सकता है, जिसकी कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार हैं :

"It is spoken in the greater part of North India, in the states of Delhi, Uttar Pradesh, Rajasthan, Madhya Pradesh, Bihar and parts of East Punjab, as well as in large North and Central Indian cities."

अगर किसी व्यक्ति को भाषा-वैज्ञानिकों के मतों से चिढ़ हो, तो वह आलोचक डॉ० रामविलास शर्मा की 'भाषा और समाज' के पृ० २०७ को पढ़ सकता है। इससे कम-से-कम भाषा और बोली का अन्तर तो स्पष्ट हो ही जाएगा।

जैसा पहले कहा जा चुका है प्रत्येक भाषा का एक परिनिष्ठित स्वरूप होता

१४० : आलोचना

है। (यह परिनिष्ठित रूप अंग्रेजी, रूसी, जर्मन, फ्रेंच, आदि प्रत्येक भाषा का है तथा प्रत्येक भाषा में इस परिनिष्ठित भाषा-रूप के अतिरिक्त अनेक क्षेत्रीय एवं वर्गगत बोलियाँ भी हैं) संस्कृत के भी अनेक रूप थे, पाणिनी ने संस्कृत के मानक रूप का ही विश्लेषण किया था। भाषा के परिनिष्ठित या मानक-रूप का व्यवहार प्रायः उस भाषा के गण्यमान्य एवं शिक्षित व्यक्ति करते हैं। भाषा का यह रूप कलात्मक, सांस्कृतिक एवं शैक्षणिक अभिव्यक्ति के लिए उपयुक्त समझा जाता है। इसी अर्थ में हिन्दी का एक परिनिष्ठित रूप है (यह सत्य है कि सामान्य व्यक्ति रुढ़ि के कारण इस परिनिष्ठित-हिन्दी-रूप को केवल 'हिन्दी' के नाम से पुकारते हैं, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं हो जाता कि परिनिष्ठित हिन्दी ही 'केवल हिन्दी' है)। यह परिनिष्ठित हिन्दी आधुनिक साहित्यिक हिन्दी का आधार है तथा इस परिनिष्ठित हिन्दी का आधार हिन्दी की खड़ीबोली है। शब्दों पर ज़रा ध्यान देने की आवश्यकता है। खड़ीबोली परिनिष्ठित हिन्दी का आधार है, खड़ीबोली ही परिनिष्ठित हिन्दी नहीं है। इसी प्रकार परिनिष्ठित हिन्दी साहित्यिक हिन्दी का आधार है, परिनिष्ठित हिन्दी ही साहित्यिक हिन्दी नहीं है।

प्रत्येक बहुभाषी राज्य में अन्तःप्रान्तीय व्यवहार के रूप में किसी एक सार्वदेशीय या 'सम्पर्क भाषा' की आवश्यकता होती है। 'सम्पर्क भाषा' प्रायः एक ही होती है, अनेक नहीं होतीं। इसका कारण यह है कि अनेकों में ऐक्य की शृंखला जोड़ने के लिए ही 'सम्पर्क' भाषा की आवश्यकता होती है। यह स्थिति प्रत्येक बहुभाषी एवं बड़े राष्ट्र में होती है। सम्पादकीय में रूस से कई उदाहरण प्रस्तुत किये गए हैं तथा वहाँ के प्रति अतिशय मोह प्रदर्शित किया गया है। मैं, सम्पादक की मनोवैज्ञानिक सन्तुष्टि के लिए अपने मन्तव्य को रूस का उदाहरण देकर स्पष्ट कर रहा हूँ। रूस में लगभग ६० राष्ट्रीय भाषाएँ व्यवहृत होती हैं। १९५५-५६ में प्रकाशित रूसी सरकार के आँकड़ों के अनुसार, वहाँ उस समय दो-तिहाई प्राथमिक एवं माध्यमिक पाठशालाओं में छात्रों को सभी विषयों की शिक्षा केवल रूसी भाषा के माध्यम से दी जाती थी। केवल एक-तिहाई पाठशालाओं में शिक्षा का आरम्भ रूसी भाषा से इतर वहाँ की अन्य प्रमुख भाषाओं द्वारा कराया जाता था। इन पाठशालाओं में भी दूसरी अथवा तीसरी कक्षा से ही रूसी भाषा पढ़ाई जाने लगती थी। रूस में सदैव विशेष सम्मेलन एवं गोष्ठियाँ होती रही हैं जिनमें विवेच्य विषय यह रहा है कि जिन क्षेत्रों की भाषा रूसी नहीं है, उनमें रूसी भाषा का प्रशिक्षण द्रुत एवं प्रभावशाली ढंग से किस प्रकार कराया जाए? इसी उद्देश्य को पूरा करने के अनेक प्रयासों में एक प्रयास 'Russkig jazzyak V ne-russkog vkole' पत्रिका का प्रकाशन भी है।

इस दृष्टि से हिन्दी-भाषी क्षेत्र के स्कूलों एवं विश्वविद्यालयों में छात्रों को यदि परिनिष्ठित हिन्दी के माध्यम से शिक्षा दी जाती है, तो यह तो अत्यन्त स्वाभाविक एवं करणीय है, (कोई अपराध नहीं है, न यह मातृघात है) हमारा प्रयास तो यह होना चाहिए कि अहिन्दी-भाषी क्षेत्रों में हिन्दी-भाषा का प्रशिक्षण कम-से-कम समय

भाषा का प्रश्न और भारत की एकता : कुछ प्रश्न एवं दिशाबोध : १४१

में अधिकाधिक प्रभावशाली एवं वैज्ञानिक ढंग से किस प्रकार सम्पन्न कराया जा सकता है।

अपने इसी सम्पादकीय में सम्पादक का बल इस बात पर रहा है कि हिन्दी एवं उर्दू अलग-अलग भाषाएँ हैं तथा हिन्दी जन-जीवन से दूर तथा उर्दू जन-जीवन के अधिक निकट है।

हिन्दी एवं उर्दू को भिन्न भाषाएँ मानना भी ऊपरी सतह से ही संगत लग सकता है। पूर्वाग्रहों एवं 'अमूर्त मिथिक परिकल्पना' को दूर करने पर यह सहज ही बोधगम्य हो सकता है कि उर्दू हिन्दी भाषा की एक बोली मात्र है। उर्दू एवं हिन्दी में जो भिन्नता दिखाई देती है, वह अत्यन्त ऊपरी सतह पर है और इस दृष्टि से देखने पर निश्चय ही उर्दू हिन्दी से भिन्न भाषा प्रतीत होगी। इसका कारण लिपित अन्तर एवं शब्दावली के प्रयोग की भिन्नता में निहित है। किन्तु प्रश्न यह है कि लिपि एवं शब्दावली का भाषा की दृष्टि से क्या महत्त्व है ?

जहाँ तक लिपि का प्रश्न है, सभी विद्वान् एकमत हैं कि लिपि एवं भाषा का कोई तार्किक एवं गहरा सम्बन्ध नहीं है। इसका सबसे प्रमुख कारण यह है कि लिखना भाषा नहीं है, अपितु भाषा को दृश्य वर्णों के माध्यम से लेखबद्ध करने का एक प्रयत्न-मात्र है। जिस प्रकार एक मनुष्य के अनेक प्रकार के चित्र लेने पर भी 'मनुष्य' वही रहता है, उसी तरह एक भाषा को अनेक लिपियों में लेखबद्ध करने पर भी 'भाषा' वही रहेगी। अत्यन्त ऊपरी एवं बाहरी सतह से ही देखने पर लगेगा कि ये विविध भाषाएँ हैं, जबकि 'भाषा' वही होगी, उसको लेखबद्ध करने वाली लिपियों में अन्तर होगा। उदाहरण के रूप में जापान में लिखने की तीन प्रणालियाँ हैं तथा वहाँ चौथी का विकास हो रहा है। एक ही भाषा को चारों लिपियों में लिखा जाता है, अन्तर भाषा में नहीं आता, लिपियों के स्तर पर होता है।

इसी प्रकार शब्दावली का भी किसी भाषा में उतना महत्त्व नहीं होता, जितना उसके गठन का होता है। उसका सबसे अधिक स्थिर एवं प्राण-तत्त्व उसका व्याकरणात्मक गठन होता है। किसी भाषा में नई शब्दावली बड़ी सरलता से प्रविष्ट होती रहती है और भाषा से वह लुप्त भी होती रहती है। किसी भाषा के गठन में दूसरी भाषा के शब्दों के प्रयोग से, वह उच्चार या वाक्य दूसरी भाषा का नहीं हो जाता है। यथा—“मैं मार्केट जाऊँगा” वाक्य हिन्दी का ही कहलाएगा, यद्यपि इसमें 'मार्केट' शब्द अंग्रेजी का है। इस प्रकार शब्दावली भाषा के मूल संघटकों में सबसे कम महत्त्वपूर्ण तथा सबसे कम स्थायी होती है। (हालाँकि जनसाधारण को भाषा के नाम पर उसका सबसे महत्त्वपूर्ण अंग उसकी शब्दावली ही लगती है।)

इस प्रकार अत्यन्त बाह्य दृष्टि से देखने पर उर्दू हिन्दी से भले ही भिन्न प्रतीत होती हो, किन्तु संघटना एवं गठन की समानता होने के कारण भाषा के घरातल पर उर्दू हिन्दी की एक बोली है तथा साहित्यिक दृष्टि से यह हिन्दी की विशिष्ट शैली है। सम्पादकीय में 'शैली' के आगे आश्चर्यबोधक चिह्न (!) का प्रयोग किया गया है (दे० पृ० ३)। इस प्रकार के आश्चर्य को, भाषा और शैली के अन्तर को बोधगम्य

१४२ : आलोचना

करके दूर किया जा सकता है।

हिन्दी-क्षेत्र के मूर्धन्य भाषा-शास्त्रियों ने आज से कई वर्ष पहले यह वैज्ञानिक मत प्रतिपादित कर दिया था कि उर्दू हिन्दी से भिन्न भाषा नहीं है, वह एक बोली मात्र है।

यदि किसी को हिन्दी-भाषी क्षेत्र के भाषा-वैज्ञानिकों के मतों में संकीर्ण राष्ट्रवादी (Chauvinist) दृष्टिकोण के दर्शन होते हों, तो उसके लिए बंगाली-भाषी डॉ० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या का यह मत द्रष्टव्य है—

“...‘हिन्दुस्थानी’ एक बहुत पीछे का बना हुआ तथा विलुप्त शब्द है। एक विशुद्ध फ़ारसी शब्द के रूप में उसका मतलब धीरे-धीरे हिन्दी के मुसलमानी रूप उर्दू के सदृश ऐसी भाषा में लिया जाने लगा, जो फ़ारसी-अरबी शब्दावली से लदी हो तथा जिसमें हिन्दी एवं संस्कृत उपादानों को स्थान यथासम्भव नहीं दिया गया।”

यदि भाषा-वैज्ञानिकों के मतों की अपेक्षा किसी को प्रगतिशील आलोचक की बात ही भाती हो, तो वह डॉ० रामविलास शर्मा की ‘भाषा और समाज’ के पृ० ३०४ को पढ़ सकता है।

अन्त में हिन्दी के लेखक और आन्दोलनकारी नेताओं के अन्तःमन में क्या है, यह तो बताने का मैं दावा नहीं कर करता (हो सकता है कि मेरी अपेक्षा सम्पादक का उनसे अधिक घनिष्ठ परिचय एवं सम्पर्क हो); किन्तु इस सम्पादकीय के लेखक से यह अवश्य चाहूँगा कि वे अपने अन्तःमन को टटोलकर अवश्य देख लें। मैं ऐसा परामर्श, सम्पादकीय में अभिव्यक्त कई आपत्तिजनक अंशों को पढ़ने के बाद दे रहा हूँ। उनमें से उदाहरणार्थ एक अंश को यहाँ उद्धृत किया जा सकता है—

“देश के औद्योगीकरण के साथ-साथ विभिन्न प्रदेशों की अल्पसंख्यक जातियाँ शनैः-शनैः अपने राष्ट्रीय अस्तित्व के प्रति जागरूक होती जायँगी.....जिसका राज उसकी भाषा में विश्वास रखने वाले प्रभुतासम्पन्न हिन्दीवादी उन्हें दबाएँगे और हरे बार सड़कों पर खून बहेगा....” (पृ० ५)

डॉ० विश्वम्भरनाथ उपाध्याय

“शतरंज के मोहरे” : “बूँद और समुद्र”

‘शतरंज के मोहरे’ और ‘बूँद और समुद्र’ श्री अमृतलाल नागर की कला के उत्तमांश को प्रस्तुत करते हैं अतः उनके पुनः मूल्यांकन का कार्य महत्वपूर्ण है। पिछले दशक की औपन्यासिक रचनाओं में ‘बूँद और समुद्र’ चर्चा और प्रशंसा का विषय रहा है, एशिया के एक प्रमुख देश के एक प्रतिनिधि ने उसे पुरस्कृत भी किया है।

१. शतरंज के मोहरे—श्री अमृतलाल नागर, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, १९५६ ई०।

२. बूँद और समुद्र—श्री अमृतलाल नागर, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, १९५६ ई०।

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

“शतरंज के मोहरे” : “बूंद और समुद्र” : १४३

प्रथम उपन्यास में १८२० ई० के कुछ पूर्व-काल से १८३७ ई० तक का लखनऊ का नक्शा खींचा गया है और लखनऊ के नवाबी-युग के चित्रण के माध्यम से बट्टारह सौ सत्तावन की राजक्रान्ति के पूर्व के भारतवर्ष का एक प्रतिनिधि चित्र भी प्रस्तुत किया गया है। द्वितीय उपन्यास में लखनऊ के समसामयिक सामाजिक जीवन की झांकी सजाई गई है। इस रचना में भारतवर्ष के वास्तविक स्वरूप के उद्घाटन की प्रवृत्ति प्रमुख है अर्थात् यहाँ भी लखनऊ का यथावत् चित्रण होने पर भी वह माध्यम ही है अतः आंचलिकता के पूर्ण स्पर्श के होने पर भी लेखक के सम्मुख स्पष्टतः व्यापक प्रयोजनों और समस्याओं का समूह है, यही कारण है कि इन उपन्यासों की एकप्रदेशीयता दृष्टि को संकुचित न कर, उसे इस देश की और इसलिए एक सीमा तक सर्वदेशों की अनेक मूलभूत उलझनों और समाधानों से आविष्ट कर देती है।

नागरजी हिन्दी के एक प्रमुख उपन्यासकार हैं, उनका अपना एक विशिष्ट स्थान है, वह हिन्दी की प्रेमचन्द्रीय परम्परा को अग्रसर करके उसे बहुआयामी और समृद्ध करने वाले कलाकार हैं। साधारण जनता के विभिन्न वर्गों से प्रतिनिधि चरित्र चुनकर उनकी चेष्टाओं, हावभावों, बोल-चाल, मानसिक संघर्षों, उल्लासों और विशिष्टताओं को यथावत् प्रस्तुत करने में वे अद्वितीय कथाकार हैं। यह उपलब्धि ही वस्तुतः उन्हें दूसरे कलाकारों से अलग करती है, यही तत्त्व भेदक-तत्त्व है, जिससे पाठक अन्य रचनाकारों में उन्हें सरलता के साथ पहचान लेता है।

नागरजी की यह विशिष्टता उनके उक्त दोनों उपन्यासों में सर्वाधिक रूप से व्यक्त हुई है, विशेषकर ‘बूंद और समुद्र’ में। ‘शतरंज के मोहरे’ में नव्वू, रस्तम और घसीटे की बातचीत; शिवबरन महाराज और फतेह अली की अम्मा का रोचक संवाद और चेष्टाएँ, मुनियाँ की अदाएँ और उसका दूतीत्व; सुलखिया और बादशाह गाजी-उद्दीन के वात्सलाप; भूरे खाँ, टुण्डे; बेनीकवि; ठाकुर दिग्विजय; कुल्सुम, नईमखाँ, नत्थू खाँ, शिवनन्दन सिंह, धनियाँ, गफूरिन, दुलारी, डी-रसेट, राजा गालिब जंग और बादशाह नसीरुद्दीन के क्रियाकलाप और संलाप उन्नीसवीं शताब्दी के नवाबी जमाने का एक ऐसा सवाक् चित्र प्रस्तुत करते हैं, कि उस युग के आचार-विचार, भाषा के लहजे, आशा, आकांक्षाएँ संघर्ष-सहयोग, उन्नति-पतन—गरज कि तात्कालिक सारा जीवन हमारी आँखों के सम्मुख एक पूरा रंगमंच ही उपस्थित कर देता है।

इसी प्रकार ‘बूंद और समुद्र’ में आज के नेता-वर्ग के सालिगराम, जानकी-शरण, राजा साहब, परम्पराग्रस्त समाज के रूपदर्शन के लिए ताई, नन्दो, हिन्दू समाज में गुप्त व्यभिचार के पर्दाफाश करने के लिए ‘बड़ी’ और ‘बोरेश’ कवि; जगदम्बा और उनकी ‘बहू’; प्रगतिशील नवयुवकों के चित्रण के लिए सज्जन; कर्नल (नगीन चन्द्र जैन); और वनकन्या; बुद्धिवादियों के अन्तर्विरोध दिखाने के लिए महिपाल और सज्जन; भारतीय सन्तों की ‘पहुँच’ और सेवाभाव प्रस्तुत करने के लिए बाबा रामजी-दास; पुजारियों के प्रतिनिधि ‘भितरिया जी’; ‘सेठ-नेताओं’ के प्रतिनिधि रूपरतन; गृहिणी-वर्ग की प्रतिनिधि कल्याणी; और लखनऊ के आज के लेखकों में यशपाल,

१४४ : आलोचना

भगवतीचरण वर्मा और स्वयं नागरजी भी अंकित किये गए हैं। लखनऊ के प्रभावशाली ज्ञानते-बिगड़ते उच्च वर्ग और सामान्य जनता के अनेक व्यवसायों से 'टिपीकल चरित्रों' को चुनकर उनकी बोली-वाणी और चेष्टाओं का पूरा महासागर ही सामं लाकर लेखक ने व्यक्ति—बूंदों के सपनों और यथार्थ का; उनके परस्पर सम्बन्ध और विरोध का एक—विराट् चलचित्र ही निर्मित किया है, जिसका एक महत् उद्देश्य यह भी है कि हम अपने समाज और देश की वास्तविक छवि और कुत्सा देख लें और उससे सबक लें।

नागरजी की दूसरी उपलब्धि है; आकर्षक चरित्रों की सृष्टि। नागरजी प्रेमचन्द जी की तरह जिन्दगी की गहरी छानबीन करते हैं और बनावटी पात्रों को सृष्टि से बचते हैं। किसी पूर्वधारणा या विचार को वह पात्ररचना का मूलाधार नहीं बनाते जैसा कि अस्तित्ववादी लेखकों में प्रायः पाया जाता है। ज्यों पॉल सार्त्र के पात्र अजीबोगरीब पात्र हैं, उनका 'एज आफ रीजन' का 'मैथ्यू' लेखक की विचारधारा को मूर्त रूप देने के लिए निर्मित किया गया है, 'इंटीमेसी' की नायिका का भी यही हाल है। किसी दर्शन का यह पात्रीकरण नागरजी को नहीं रुचता। वस्तुतः यह प्रवृत्ति हिन्दी में भी अपने ढंग से प्रचलित है; अज्ञेय, जैनेन्द्र, इलाचन्द जोशी के मनोवैज्ञानिक और दार्शनिक उपन्यासों (नदी के द्वीप, अपने-अपने अजनबी, संन्यासी, सुनीता आदि) में विचार प्रमुख है, जीवन्त और वास्तविक पात्र-रचना गौण; इधर की कहानियों और उपन्यासों ('खाली कुर्सी की आत्मा') में भी यही प्रवृत्ति है किन्तु नागरजी क्लासिकल यथार्थवादी परम्परा के लेखक हैं, उनके लिए जीवन प्रमुख है, परिस्थितियाँ प्रधान हैं और उनमें जन्म लेने और विकसित होने वाले पात्र अपनी अपनी परिधि के अनुकूल अपने विचारों, भावों और कल्पनाओं का विकास करते हैं, अतः नागरजी के उपन्यासों में समाजशास्त्र का उपन्यासीकरण मिलता है जबकि 'नवीन' कहे जाने वाले उपन्यासों में उपन्यास का दार्शनिकीकरण ही प्रमुख होता जा रहा है।

पात्र के आन्तरिक जीवन में उतरकर उसकी चेतनधारा के तमाम चढ़ाव-उतारों का अंकन प्रेमचन्द और प्रसाद-युग से ही प्रारम्भ हो गया था, नागरजी में इस प्रवृत्ति का एक विशिष्ट रूप मिलता है। नागरजी पात्रों की संकटकालीन स्थितियों के कुशल चित्रकार हैं। ऐसी स्थितियों में एक वह स्थिति होती है, जब पात्र अपनी और जमाने की उलझनों में ऐसा ग्रस्त हो जाता है, कि उससे बाहर निकलने का कोई उपाय ही नज़र नहीं आता। ऐसी स्थिति में पात्रों की दूटन, घुटन, और छटपटाहट को लेखक बड़ी सावधानी और अंतर्दृष्टि के साथ चित्रित करता है। 'शतरंज के मोहरे' में गाज़ीउद्दीन हैदर और सुलखिया की बातचीत के प्रसंग में पराजित और भीतर से दूटे हुए बादशाह हैदर की अवसादग्रस्त स्थिति बड़ी पहुँची हुई नज़र से देखी गई है :—

"सुलखिया की सहज दर्द में डूबी हुई मिठास-भरी सुरीली आवाज़ में गाज़ी उद्दीन के प्राणों में सिहरन और गूँज भर गई। बाज़ के पीछा करने पर असीम आकाश को अपने नन्हें पंरों से नापते हुए एक छोटा पंछी जब घायल और चूर-चूर होकर हर

तरह से लाचार और बेसहारा हो गया और तब मानो अचानक उसे किसी के दामन की छाँव मिल गई... सहारा अजब चीज है... गहरे पाताल तक गहरे खड्डों में नुकीली चट्टानों से टकराता इनसान का मन जब बेपनाह गिरता ही चला जाता है, तब कभी-कभी, उसे यह सोचकर भी चैन मिल जाता है कि “अरे अभी पाताल मुझसे बहुत नीचे है... मैं हवा में ठहरा हूँ, सूनेपन ने मुझे थाम लिया है” (पृष्ठ ६८)।

यह टूटन और अवसाद दर्शनजन्य नहीं है, परिस्थितिजन्य है अतः लेखक विचार को पात्र पर आरोपित नहीं करता, किस दशा में मन में किस तरह के विचार और भाव पैदा होते हैं, इस बिन्दु पर उसका ध्यान रहता है। अंग्रेजों के छलकपट-भरे राजनीतिक पाश के क्रमशः कड़े पड़ते जाने वाले युग में नवाबों की इस ‘टूटन’ को गाज़ीउद्दीन और नसीरुद्दीन की टूटन के माध्यम से दिखाकर लेखक उस युग की स्थिति को पाठक के मन में उतारने में सफल हो जाता है।

वैषम्य परिस्थिति में पड़ने पर मन के अन्तर्द्वन्द्वों की यह अंकनविधि नागरजी ने ‘बूँद और समुद्र’ में भी प्रयुक्त की है। सज्जन और महिपाल के अन्तर्दाहात्मक प्रसंग इस उपन्यास में अनेक हैं और यहाँ नागरजी की अन्तरवलोकन सामर्थ्य प्रमाणित होती है किन्तु सर्वाधिक गहराई वहीं है, जहाँ वातावरण वैषम्य के कारण कोई मानसिक संकट है, नैतिक-अनैतिक, कर्तव्य-अकर्तव्य आदि की टकराहट है। ऐसी ‘क्राइसिस’ के समय ही नागरजी मानवीय मूल्यों का शोधन करते हैं। ‘शतरंज के मोहरे’ में तो एक असफल युग के पात्र हैं अतः वहाँ एकाकीपन और घुटन के क्षणों से नायक निकल नहीं पाते किन्तु ‘बूँद और समुद्र’ में ‘सज्जन’ जैसे पात्र अपनी ‘क्राइसिस’ से बड़ी ही सावधानी और सहज गति से बचा लिए गए हैं, ‘महिपाल’ की आत्म-हत्या के वावजूद वह अपने अन्तिम पत्र में अपराध-स्वीकृति के नैतिक साहस द्वारा अपने युगसंकट को परिभाषित करता हुआ मरता है :—

‘जो समाज-व्यवस्था मेरे-जैसे जागरूक व्यक्ति को अभावग्रस्त बनाकर यों जीते-जी मार सकती है, वह अधिकतर अचेतावस्था में, जड़ संस्कारों में पलने वाले समाज को क्यों न पतन के उस गर्त में गिरा दे, जिसकी भयानकता से भरे विविध समाचार आप अपने पत्रों में छापते हैं।’

इस यथार्थ को सामने लाने के लिए ही महिपाल के चरित्र की सृष्टि की गई है, तभी यह उक्त वक्तव्य आरोपित नहीं लगता न प्रचारात्मक लगता है, लगता है कि उक्त निर्णय के लिए लेखक ने धीरज के साथ परिस्थिति और मन के विविध आयामों को, विविध उत्थान-पतनों को परखा है और तब एक वैज्ञानिक की तरह अंत में उक्त निष्कर्ष को प्राप्त किया है। अतः पात्रों का अन्तःसंघर्ष भी बनावटी नहीं लगता।

नागरजी इस ‘क्राइसिस’ के ही सफल द्रष्टा नहीं हैं, वह साथ ही ऐसे कर्मठ पात्रों के भी लक्ष्य हैं जो उलझनों में न पड़कर स्वभाव से ही कर्मवादी हैं; ऐसे पात्रों में कोई मानसिक व्याधि नहीं दिखाई जाती, वे सर्वदा शुभ पक्ष के लिए संघर्ष करते हैं। मनोवैज्ञानिक शब्दों में हम इन्हें अपेक्षाकृत अधिक ‘नार्मल’ पात्र कह सकते हैं,

जैसे 'शतरंज के मोहरे' में दिग्विजयसिंह और 'बूंद और समुद्र' में कर्नल। इनमें प्रथम में प्रश्नाकुलता है साधकों-जैसी पर वह शीघ्र निर्णय में बाधक नहीं बनती और कर्नल तो इस प्रश्नाकुलता से भी मुक्त हैं, वह जैसे बुद्धिवादियों के अनिर्णय और 'मूडी' स्वभाव के विपरीत एक स्वस्थ नागरिकों का प्रतिनिधि पात्र है और विशेषता यह है कि कर्नल के सहारे ही सज्जन, कन्या, महिपाल आदि अपने को और समाज को पहचान पाते हैं। अपने को पहचानने की यह विधि नागरजी ने सफलता के साथ अंकित की है और बल इस बात पर है कि प्रत्यभिज्ञा के लिए कर्म अनिवार्य है, तभी बाबा रामजीदास सभी पर छाए लगते हैं। इस प्रकार आदर्शवाद (अध्यात्मवाद) और यथार्थवाद दोनों का श्रेष्ठांश निचोड़कर बाबा रामजीदास और कन्या-जैसे पात्र रचने में लेखक को सफलता मिली है।

तीसरी कोटि में सामान्य पात्रों को कभी सौन्दर्यबोधात्मक दृष्टि से देखकर और कभी समाजशास्त्रीय दृष्टि से देखकर चित्रित किया गया है, गली-कूचों के पात्र, हलवाई, बजाज, नौकर-चाकर, दलाल, बनियाँ-बक्काल, पुरोहित-पण्डित, आदि पात्र इसी कोटि में आते हैं। ऐसे स्थलों में दो बातों पर बल दिया गया है; प्रथम यह कि यह जनता इस प्रकार की इसलिए है कि वह परिस्थितियों की उपज है और परिस्थितियाँ बदलने के लिए ऐतिहासिक शक्तियों की पहचान आवश्यक है। दूसरी बात यह है कि सामान्य जनता में कुछ बातें ऐसी हैं जो बुद्धिजीवियों में नहीं मिलती—अगोपनीय व्यवहार; एक विशेष प्रकार का भोलापन, सहज उल्लास और ग्रन्थिहीनता। प्रमुख पात्रों की क्रियाओं के प्रति प्रतिक्रिया व्यक्त करने के लिए साधारण पात्रों की बोलचाल का उपयोग किया गया है, साथ ही स्थानीय रंग भरने का अवसर भी लेखक ने हाथ से नहीं जाने दिया और यह प्रसिद्ध तथ्य है कि साधारण व्यक्तियों को उनके स्थानीय सन्दर्भ में अंकित करने का गुण नागरजी में सबसे अधिक है।

नागरजी अपने पात्रों तक इतिहास के सहारे से भी पहुँचते हैं, 'शतरंज के मोहरे' को तो ऐतिहासिक उपन्यास भी कहा जा सकता है किन्तु 'बूंद और समुद्र' में भी प्रत्येक पग पर उनकी इतिहास और समाज-चेतना व्यक्त हुई है, यह दो प्रकार से सम्भव हुआ है। नागरजी के मन में भारतीय इतिहास को प्रगतिवादी इतिहास-दर्शन के आलोक में समझने की प्रबल आकांक्षा है अतः उनके सम्मुख सामन्तवादी भारत (शतरंज के मोहरे) और महाजनी जनतन्त्र (बूंद और समुद्र) को रूपायित करने का कार्य अति महत्वपूर्ण रहा है। अतः 'वर्ग दर्शन' के आधार पर उन्होंने पात्र रचे हैं, तभी पात्र विचारों के पुतले न बनकर विभिन्न समूहों के प्रतिनिधि बन गए हैं। दूसरे वह पात्रों के अध्ययन के माध्यम से इस देश के स्वरूप को समझना-समझाना चाहते हैं तभी महिपाल का प्रायः प्रत्येक चिन्तन मोहनजोदड़ो-हड़प्पा से प्रारम्भ होकर आज के युग तक समाप्त होता है। महिपाल की चिन्तनविधि में नागरजी की चिन्तनविधि को स्पष्ट देखा जा सकता है, यद्यपि अन्त में बुद्धिजीवियों के अन्तर्विरोध का प्रतिनिधि बनाने के लिए उसे वह दुःखद अन्त की ओर ले गए हैं यों महिपाल बिना चोगी किए हुए भी रूपरतन के साथ अवसरवादी समझौता करके 'शकुन्तला' (भांजी) के

विवाह में अपनी शान दिखा सकता था। भारतवर्ष के अन्तर्विरोधग्रस्त रूप को खोलने के लिए ‘ताई’ को ‘भारत माता’ और महिपाल को ‘भारतवर्ष’ कहा गया है और ज्ञान-अज्ञान, दया-निर्दयता, हिंसा-अहिंसा आदि द्वन्द्वों से ग्रस्त भारतीय चेतना का रूप ‘ताई’ और ‘महिपाल’ के माध्यम से प्रस्तुत करने में लेखक को प्रशंसनीय सफलता मिली है। ‘ताई’ यदि भारतीय परम्परा की पहेलीनुमा महिला है तो महिपाल आज के बुद्धिजीवी की उलझी चेतना का संघर्षकारी और सक्रिय प्रतिबिम्ब है।

कुछ चरित्र सार्वभौमिक और अत्यधिक संवेदनशीलता से ओतप्रोत हैं, जैसे शतरंज के मोहरे की कुदसिया बेगम जो वफापरस्ती की अवतार-सी लगती है। चारों ओर फैले हुए दलदल में पड़े, निकलने के प्रयत्न में डूबते, उतराते, छटपटाते युग में कुदसिया बेगम—जैसे पात्र केवल अपनी मानवीय संवेदना के बल पर ही त्याग और दोस्ती की अमर भूमिका अदा करते हैं, वस्तुतः हज़रत कौड़ीशाह और बाबा रामजी-दास इसी मानवीय सहानुभूति पर ही दिव्यदृष्टि पाने के अधिकारी बनाए गए हैं। अत्यधिक ‘संकुल’ चरित्रों के बीच सहज दृष्टि से जीवन के तत्व को पा जाने वाले ये पात्र विविधता के साथ हमें संकुलता के भार से मुक्ति दिलाते चलते हैं।

नागरजी के ‘वादशाह’ (दोनों), दुलारी, ठाकुर दिग्विजय कुलमुम; शीला, महिपाल, ताई, बोरेश, सज्जन और कन्या ही नहीं, साधारण पात्र भी पाठक के चित्त में अपनी जगह बना लेते हैं, महिपाल और ताई—विशेषकर ताई तो पिछले दशक का एक बहुत ही आकर्षक चरित्र है, अविस्मरणीय और अनुपम।

नागरजी जनब्रोलों के उस्ताद हैं किन्तु यह स्मरणीय है कि उक्त दोनों उपन्यासों में—विशेषकर ‘बूंद और समुद्र’ में लेखक इस तरह लिखता है कि जैसे वह अपनी गम्भीर चिन्तना को साधारण और सहज भाषा में व्यक्त करने का प्रयत्न कर रहा हो। पात्रों के संवादों को पढ़ते हुए ‘एकपात्री अभिनय’ जैसा वातावरण बनता है किन्तु विचार करते ही लेखक का यह गूढ़ प्रयोजन भी व्यजित होता चलता है कि संवाद किसी विशेष सामाजिक मनोदशा के वाचक हैं और यह भी कि उस मनोदशा के क्या कारण हैं, उसमें परिवर्तन के क्या उपाय हैं और उसकी प्रयत्नविधि क्या है। ‘बूंद और समुद्र’ की आयोजना चूँकि विराट् है अतः उसमें लेखक कभी पात्रों की चिन्तन-विधि के रूप में और कभी स्वयं अपनी ओर से स्थिति की सीधी व्याख्या भी करने लगता है किन्तु यदि वह ऐसी व्याख्या नहीं भी करता (और वस्तुतः उपन्यासकला की दृष्टि से ऐसे प्रसंग ऊपर से लादे गए प्रतीत होते हैं, यों वे शिक्षाप्रद हैं) तो भी यह उपन्यास अपना मन्तव्य जागरूक पाठक पर प्रकट कर देता है। वस्तुतः नागरजी जैसा सामूहिक जनमानस का कुशल शिल्पी जब गली-महल्लों की बोली के लहजे में बात करता है तब वह सर्वदा सोद्देश्य होता है, इसे न समझने के कारण ही प्रायः नागरजी के परिहासों को केवल मज़ाक समझ लेने का भ्रम हो जाता है, बहुतांश को हुआ है।

उक्त दोनों उपन्यासों को पढ़ते समय मुझे यह महसूस हुआ है कि नागरजी प्रेमप्रसंगों का गहराई के साथ वर्णन नहीं करना चाहते अथवा यह कि वह कर नहीं पाते। त्यागमय प्रेम के प्रसंग में कुदसिया बेगम की तसवीर सफल है पर उसमें

१४८ : आलोचना

शीघ्रता है। 'बूंद' और 'समुद्र' में सज्जन और कन्या के संयोगवर्णन में जल्द-जल्द बहस का प्रसंग आ जाता है; यद्यपि वनकन्या एक असाधारण साम्यवादी तेज से ओजमयी युर्वती है परन्तु फिर भी सज्जन से प्रथम दर्शन के प्रसंग में सतही घटनाओं के सन्दर्भ में सतह से नीचे उतरकर अधिक कोमलता के साथ प्रेम-प्रसंग चित्रित होना चाहिए था— इसी प्रकार महिपाल और शीला के परकीया-परकीय प्रेम के चित्रण में तभी स्वाभाविकता आती जब उनकी मृदुल भावनाओं को अधिक महत्व मिलता। कन्या और सज्जन के प्रेम में ऊँचाई तब भी है, किन्तु महिपाल और शीला के प्रेम को पढ़कर तो ऐसा लगता है, कि किसी 'नाजायज ताल्लुक' का विवरणमात्र है, यह शायद लेखक के अत्यधिक नैतिक आग्रह के कारण है।

उपन्यास के उपकरणविन्यास की दृष्टि से देखने पर 'शतरंज के मोहरे' में अधिक गठनशीलता है 'बूंद और समुद्र' में वह गठन नहीं है, बिखराव है किन्तु लेखक के सम्मुख पूरे भारतीय समाज के समुद्र को चित्रित करने का महा आयोजन है, इसलिए बिखराव से बचना यदि असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है। इसके सिवा इधर के उपन्यासों में बिखराव को गुण माना जाने लगा है। टामस मन के 'मैजिक माउन्टेन' को पढ़कर लगता है जैसे अस्पताल की रिपोर्ट हो लेकिन फिर भी सारे अनावश्यक-से लगने वाले विवरण साभिप्राय हैं, क्योंकि आधुनिक सभ्यता विशेषकर पश्चिमी योरोप की पतनशील महाजनी सभ्यता क्या एक अस्पताल-जैसी ही नहीं है? दो-दो युद्धों के रोग से विकृत यूरोपीय चेतना के लिए अस्पताल का प्रतीक सचमुच सार्थक है। 'बूंद और समुद्र' में ऐसी प्रतीकात्मकता नहीं है किन्तु इस कृति के पात्र क्या सचमुच भारतीय जीवन की कुण्ठा, कुत्सा, दरिद्रता और अज्ञान के प्रतीक नहीं हैं? यदि हैं तो बिखराव के बिना इतने अधिक पात्रों, आन्दोलनों, पार्टियों, आपाधापियों और सवाल-जवाबों को कैसे चित्रित किया जा सकता था? विराट् और व्यापक रचनाओं में बिखराव से बचना वस्तुतः एक समस्या है इसका उचित समाधान नहीं मिल पाता। दास्तावस्की के 'ब्रदर्स कारमाजोव' में, ज्यॉपाल सार्त्र की 'त्रयी' (एज आफ रीजन, रिप्रिव आदि), में ही नहीं, प्राचीन महाकाव्यों तक में बिखराव से बचना कठिन हो गया है। वाल्मीकि रामायण अधिक सुगठित रचना है किन्तु महाभारत अधिक महान् रचना है और महाभारत के बिखराव के लिए प्रसिद्ध है। फिर भी आदरणीय नागरजी से यह शिकायत की जा सकती है कि वह चाहते तो अनेक वक्तव्यों से बच सकते थे और उन्हें इस तरह खपा सकते थे कि वह लेखक की घोषणाएँ जैसी न लग पातीं (उपन्यास के अन्त तक में एक भाषण प्रस्तुत कर दिया गया है और अन्त में कहा गया है कि दोनों पति पत्नी (सज्जन : कन्या) अपनी 'आस्था' पर डटे रहेंगे)।

नागरजी स्वयं अपने शब्दों में इतिहास के 'फुटकल सीदागर' हैं, 'होलसेल विक्रेता' नहीं, पर मुझे लगता है कि उनकी तीव्र निरीक्षण-शक्ति ने भारतीय जनमानस के अध्ययन में अनेक तत्व ऐसे जोड़े हैं कि 'बूंद और समुद्र' का उपन्यास ही नहीं, भारतीय समाजशास्त्र और इतिहास की दृष्टि से भी बड़ा महत्व है। इतिहासकारों को यह उपन्यासकार नूतन दृष्टि दे सकता है, यह इस उपन्यास से प्रमाणित है; जैसे लेखक

“शतरंज के मोहरे” : “बूंद और समुद्र” : १४६

का यह निरीक्षण कि भारतवर्ष में विकास के प्रत्येक स्तर की अच्छी-बुरी रीति-रिवाजों, मान्यताओं आदि को छोड़ा नहीं गया, इसलिए सतह पर जहाँ हवाई जहाज और बेलगाड़ी एक साथ मिलते हैं, उसी तरह यहाँ उच्चतम कोटि का दर्शन और निम्नतम कोटि का अंधविश्वास एक साथ मिलता है। नागरिक संस्कृति की निर्माण-विधि पर भी ‘बूंद और समुद्र’ नवीन आलोक बिखेरता है, और साथ ही हलुआ अरबी भोजन है और यह कि हनुमान आर्य पूर्व-सभ्यता का पूजा-प्रतीक है—इस प्रकार के निरीक्षण भी इस उपन्यास में भरे पड़े हैं, लोक संस्कृति की अनूठी व्याख्या भी यहाँ है, वृद्ध-भारतवर्ष में जो भी ग्रहणीय है, वह भी यहाँ है, और वह भी जो त्याज्य है। इस तरह उच्चतम नैतिक बोध की दृष्टि से भी यह उपन्यास पठनीय है। कुछ दार्शनिक सवाल भी उठाये गए हैं, नागरजी ईश्वर, देवता और भारतीय आचारों की बुद्धिसंगत व्याख्या के लिए सर्वत्र प्रस्तुत दिखाई पड़ते हैं, इनसे प्रेरणा किस प्रकार ली जा सकती है, यह भी बताया गया है। एक भी ऐसा पात्र नहीं है जो आत्मविश्वास और अन्तः-प्रेरणा के लिए इन रहस्यमय शक्तियों के बिना उच्चकोटि की नैतिकता का विकास कर सका हो किन्तु वनकन्या अवश्य दिव्य सत्ताओं के बिना ही अपनी निष्ठा पर डटी रहती है, अतः नागरजी इस तथ्य से भी परिचित हैं कि रहस्यमय तत्व सामाजिक चेतना को यथार्थता की भूमि पर नहीं रहने देते। अतः उनके बिना यदि मनुष्य महान् बन सके तो अच्छा है अन्यथा मानव-विकास बुद्धि का पथ छोड़कर स्वयं प्रकाश्यज्ञान पर अधिकाधिक निर्भर होता जाएगा। कभी-कभी लगता है कि नागरजी इस प्रकार की चर्चाओं के द्वारा बोल-बोलकर सोच रहे हैं और अभी किसी निर्णय पर नहीं पहुँचे हैं, ऐसे सवालों के जवाब बहुत सीधे और सफल हो भी नहीं सकते।

यदि नागरजी अट्टारह सौ सत्तावन की राजक्रान्ति के सिलसिले में ‘शतरंज के मोहरे’-जैसे उपन्यास लिखकर आधुनिक युग की पृष्ठभूमि प्रस्तुत न करते तो वह भारतीय जनता की प्रगतिशील चेतना को उभारकर सम्मुख न रख पाते, उदाहरणतः ठाकुर दिग्विजयसिंह जैसे पात्र ही ‘सज्जन’ और ‘कर्नल’ का रूप धारण करते हैं और कौड़ी-शाह बाबा रामजीदास बना दिए जाते हैं। कौड़ीशाह में मानवीय चेतना है, सामाजिक चेतना कम है जब कि बाबा रामजीदास सामाजिक चेतना के माध्यम से ही अपने को पहचानते और सूक्ष्म शक्तियों (टैलीपैथी) को प्राप्त करते हैं। ठाकुर दिग्विजयसिंह कोरे कर्मवादी हैं जब कि सज्जन, कन्या, कर्नल-जैसे पात्र अधिक जागरूक हैं और आज के युग की नाड़ी को समझते हैं। इस प्रकार नागरजी के उक्त दोनों उपन्यासों में सामन्तवाद से लेकर महाजनी जनतन्त्र तक की विकास-भूमि स्पष्ट होकर सम्मुख आ जाती है। महाजनी जनतन्त्र की असंगतियों को सम्मुख लाकर नागरजी एक ऐसी

१. “पाप और पुण्य शब्दों के साथ सोचने वाला व्यक्ति अपनी विचार-शक्ति को सदा के लिए मोथरा बना देता है—इन दोनों ही शब्दों के अर्थ जनसाधारण में कुछ बड़े आउट आफ डेट चित्रों के साथ रूढ़ हो चुके हैं—पुण्य करनेवाला यानी एवज में आसमानी शक्ति से कुछ पाने के लिए सौदा करने वाला कभी भी सही स्प्रिट में परोपकार नहीं कर सकता—यह बड़ा संकीर्ण व्यक्तिवादी दृष्टिकोण है”—(पृष्ठ ५७२)।

१५० : आलोचना

सामाजिक व्यवस्था को रचना सम्भव मानते हैं जिसे हम 'स्वदेशी—समाजवाद' कह सकते हैं, जिसमें महिपाल के शब्दों में 'साम्यवाद और गांधीवाद' का समन्वय है। इस पर मतभेद हो सकता है परन्तु लेखक ने आज की फैली हुई निराशा और दमघोंट क्लिप्तव्यविमूढता के वातावरण में एक रास्ता सुझाया है; उसे संशोधित कर उस पर चलना तो पाठकों का काम है; तभी 'बूंद' इस विराट 'समुद्र' में अपना अस्तित्व को सार्थक कर सकती है और 'समुद्र' 'बूंद' की पूर्णता से महापूर्ण बनकर 'समूह' से 'समाज' की संज्ञा पा सकता है !!

लक्ष्मीकान्त शर्मा

‘सागर, लहरें और मनुष्य’ : एक पुनर्मूल्यांकन

समसामयिक कथा-साहित्य में दो प्रवृत्तियाँ स्पष्टतः परिलक्षित हो रही हैं : एक ओर जो व्यक्तिमूलक मनोविश्लेषणात्मक उपन्यास लिखे जा रहे हैं, तो दूसरी ओर आँचलिक उपन्यासों की भी बाढ़ आ रही है। इसका तात्पर्य यही है कि समसामयिक कथाका सत्य के दोनों पहलुओं को स्पर्श करके चलना चाहता है। वह मनोविज्ञान से प्रेरित होकर मानव-जीवन की गुत्थियों को सुलझाता है, तो दूसरी ओर लोक-जीवन का भी इस प्रकार का चित्रण करता है कि किसी अंचल-विशेष का जीवन पूर्णतः मुखरित हो सके। आँचलिक उपन्यासों में कुछ नाम, विशेष रूप से लोकप्रिय हुए हैं, 'रेणु' के लगाकर बलभद्र ठाकुर तक यह धारा नये-नये कूलों को स्पर्श करती हुई आगे बढ़ी है। अंग्रेजी साहित्य में जिस प्रकार बैसेक्स के उपन्यासों के रूप में टॉमस हार्डी का नाम प्रख्यात है, उसी प्रकार बिहार के कुछ जिलों के बड़े सजीव चित्र हमें नागार्जुन फणीश्वरनाथ 'रेणु' और बलभद्र ठाकुर में मिलते हैं। 'सागर, लहरें और मनुष्य' लिखकर श्री उदयशंकर भट्ट ने भी आँचलिक उपन्यास की धारा को समृद्ध किया है।

भट्टजी बहुमुखी प्रतिभा के साहित्यकार हैं; नाटक, कविता और उपन्यास इन दिशाओं में भट्टजी ने विशेष ख्याति अर्जित की है। 'वह जो मैंने देखा', 'नये मोड़', 'शिप-अशेष', 'सागर, लहरें और मनुष्य' उनकी औपन्यासिक-यात्रा के विशिष्ट स्मारक हैं। प्रस्तुत उपन्यास में उन्होंने बम्बई के मच्छीमारों के गाँव 'बरसोवा' के जीवन को विशेष रूप से चित्रित किया है। बरसोवा के आँचलिक जीवन की जाँच उस रूप में तो नहीं मिलती, जिस रूप में 'रेणु' के 'मैला आँचल' में या नागार्जुन के 'बलचनमा' में किन्तु इस कृति में हम आँचलिक प्रवृत्ति की पृष्ठभूमि में व्यक्तिमूलक जीवन-दर्शन के चित्रण की प्रवृत्ति भी पाते हैं। वस्तुतः 'सागर, लहरें और मनुष्य' की कहानी रत्ना, माणिक, यशवन्त और पांडुरंग की कहानी है।

कथा-शिल्प की दृष्टि से भट्टजी ने इस उपन्यास को कुछ प्रयोगात्मक रूप भी देने की चेष्टा की है। पहले वे रत्ना के जीवन का द्विदर्शन कराते हैं, उसके बाद

माणिक के जीवन का। इससे यही सिद्ध होता है कि वे विभिन्न पात्रों के जीवन पर अनेक कोणों से प्रकाश डालना चाहते हैं। रत्ना के प्रकरण में आया हुआ माणिक कुछ और है और उससे असंपृक्त रहकर अपने स्वतन्त्र जीवन का ताना-बाना बुनता हुआ माणिक कुछ और है। कथा-सौष्ठव की दृष्टि से परम्परागत उपन्यासों की जो प्रवृत्तियाँ होती हैं, उससे यह उपन्यास कुछ भिन्न है। इसे वर्तमान प्रयोगशील प्रवृत्ति का प्रतिबिम्ब हम कह सकते हैं। कथावस्तु पर्याप्त रोचक एवं वैविध्यपूर्ण है। जीवन के अनेक तटों को स्पर्श करती हुई यह कथा अपनी अंतिम परिणति में पाठक को विस्मय-विमुग्ध कर लेती है। बरसोवा में मच्छीमारों का जीवन अनेक प्रकार की विचित्रताएँ लेकर उभरता है। वंशी और बिठुल के परिवार में एक ऐसी लड़की उत्पन्न हुई है, जिसे आधुनिक शिक्षा प्राप्त करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। वह एक ० ए० तक शिक्षा प्राप्त करते हुए पहुँच जाती है, पर बी० ए० करने का उसका स्वप्न, स्वप्न ही बना रहता है, क्योंकि बम्बई के जीवन की चमक-दमक, ऊपरी ठाठ-बाट और विलक्षणतापूर्ण जीवन, रत्ना को इस बुरी तरह अपनी ओर खींच लेते हैं कि वह माणिक को पति-रूप में स्वीकार करने के लिये विवश होती है, क्योंकि इसी सेतु के माध्यम से वह अपने जीवन के आकांक्ष्य को प्राप्त कर सकेगी। यशवन्त, जो कि एक मच्छीमार युवक है, और शारीरिक दृष्टि से हृष्ट-पुष्ट है, वह रत्ना के आकर्षण का केन्द्र-बिन्दु नहीं बन पाता। माणिक के द्वारा ठगी जाने पर रत्ना का विद्रोही व्यक्तित्व विक्षोभ से आप्लावित होता है और वह उसका परित्याग करके नई दिशाओं की ओर उन्मुख होती है। अपनी सखी सारिका के यहाँ उसे एक ऐसे व्यक्ति की झलक मिलती है, जो सम्भवतः रत्ना को उसके स्वप्न के संसार में पहुँचा सके। यह व्यक्ति है धीरूवाला, किन्तु यह भी रत्ना के साथ छल करता है और अन्त में प्रताड़िता एवं घृणिता रत्ना को डाक्टर पांडुरंग के कर्तव्य-परायण एवं मानवीय व्यक्तित्व में अन्तिम आश्रय मिलता है, जैसे एक विक्षिप्त एवं उन्मादग्रस्त सरिता, अन्त में महासमुद्र को पा गई हो और तब हम देखते हैं कि ‘मोहग्रस्त रत्ना डाक्टर के उड़ते हुए वालों से अपने सपने बुनने लगती है।’

आंचलिक उपन्यास होते हुए भी ‘सागर, लहरें और मनुष्य’ मूलतः रत्ना के संघर्षों एवं आपदाओं की कहानी है। यह ठीक है कि प्रस्तुत उपन्यास में यत्र-तत्र-सर्वत्र आंचलिक जीवन भी झाँकता है, पर उसके आकर्षण का शीर्ष-आलोक है रत्ना का व्यक्तित्व। ऐसा प्रतीत होता है कि लेखक ने अपने युग की दो विरोधी औपन्यासिक प्रवृत्तियों में जैसे सामंजस्य ढूँढ़ने की चेष्टा की है और किसी हद तक वह अपने प्रयत्न में सफल भी हुआ है। किन्तु उभयमुखी प्रवृत्ति होने के कारण वह न तो बरसोवा के आंचलिक जीवन के प्रति ही न्याय कर पाया है और न रत्ना के मन में लरजते हुए तूफानी जीवन को ही पूर्णतः व्यक्त कर पाया है। लेखक की औपन्यासिक कला की यही इयत्ता है। उपन्यास का आरम्भ सामुद्रिक वातावरण की गहनता से परिपूर्ण है। तूफान का बड़ा माणिक वर्णन लेखक ने प्रस्तुत किया है। गिरजातुलसी और उसके किनारे लाशों से पूरे होना, बरसोवा में महिलाओं का मुखौटा पहनना, इकट्ठा

१५२ : आलोचना

किया जाना और फिर उन्हें बेचने के लिए जाना—यही प्रधान व्यवसाय है बरसोवा के निवासियों का। इन लोगों के लिए समुद्र कोई भयानक वस्तु नहीं है, जैसे कोई स्वाभाविक रूप में पृथ्वी पर विचरण करता है, वैसे ही ये लोग भी समुद्र में आते-जाते हैं। रत्ना जब समुद्री-जीवन की विचित्रताओं को अपनी सखी सारिका पर प्रकट करती है, तो वह यही कहती है, 'बड़ा जोखिम का काम है ! क्या तू भी कभी समुद्र में गई है ?' वास्तव में इसी प्रकार की जिज्ञासा और कौतूहल का निर्वाह उपन्यास के अन्त तक बना रहता है। माणिक के प्रकरण में हम दुर्गा नाम की एक ऐसी नारी से परिचित होते हैं, जो भारतीय पातिव्रत्य का उज्ज्वल उदाहरण कही जा सकती है। उसकी पीड़ा, आत्मबलिदान पाठक के मन को काफ़ी हद तक प्रभावित करते हैं और जब हम दुर्गा के मुख पर यौवन, गम्भीरता, आत्मनिर्भरता और विश्वास से परिपूर्ण एक नवीन कान्ति, नई आभा देखते हैं, तो सहज ही रत्ना से उसकी तुलना करने को जी चाहता है। रत्ना यदि बरसोवा के विद्रोही जीवन का प्रतिनिधित्व करती है, तो दुर्गा आत्मबलिदान-पूर्ण जीवन की आभा से अनुरजित है। रत्ना, दुर्गा और सारिका—यह एक ऐसी त्रिवेणी है, जिससे हम नारी-जीवन के विभिन्न पहलुओं को समझ सकते हैं। बंशी और इट्टा का जीवन-चित्रण भी कम कौतूहल-पूर्ण नहीं है। इसी प्रकार बिट्टल, जागला और यशवन्त भी बरसोवा के मच्छीमार पुरुषों का पूर्ण प्रतिनिधित्व करते हैं। इनके चित्रण को देखकर ऐसा लगता है जैसे वे वैयक्तिक पात्र न हों, बल्कि बरसोवा के आंचलिक जीवन के 'टाईप' हों। 'रेणु' के आंचलिक उपन्यासों की तरह इसमें व्यक्तियों की भीड़ तो नहीं, पर आंचलिक उपन्यास होने के कारण पात्रों की संख्या पर्याप्त है और वे विभिन्न जीवन-रूपों का प्रतिनिधित्व करते हैं। यथार्थ के पुतलों के साथ-साथ हम आदर्श के पुतलों को भी अपनी दृष्टि में समाविष्ट करते हैं। उपन्यास के अन्त में डाक्टर पांडुरंग अपने मोहक व्यक्तित्व से हमारा ध्यान रत्ना की ही तरह खींच लेते हैं और इससे पूर्व कि उनके व्यक्तित्व की विभिन्न पतें खुलें, उपन्यास समाप्त हो जाता है। पाठक के मन में कुछ इस प्रकार की प्रतिक्रिया होती है कि पांडुरंग और रत्ना को लेकर कुछ और लिखा जाना चाहिए था, पर पाठक की इसी अतृप्ति में ही उपन्यास का कलात्मक लाघव निहित है, क्योंकि इससे पाठक की कल्पना को पर्याप्त उत्तेजना मिलती है।

आंचलिक उपन्यास होने के कारण भट्टजी ने विभिन्न पात्रों से बम्बईया हिन्दी में ही बात करवाई है, जो कि बड़ी मार्मिक और पुरअसर है। इस प्रकार के सम्वादों में वक्ता का मानसिक व्यक्तित्व पूर्ण रूप से झलकता है। ऐसा प्रतीत होता है कि वे बरसोवा के निवासियों के निकट सम्पर्क में रहे हैं और उन्होंने उनकी बात-चीत के ढंग को बड़ी बारीकी से सुना है। अनेक स्थानों पर उपन्यास के पात्र ऐसी शब्दावली का प्रयोग करते हैं, जो कि बरसोवा के स्थानीय रंग की दृष्टि से बड़ी उपयुक्त है। उपर्युक्त तथ्य की पुष्टि के लिए निम्नलिखित उदाहरण पर्याप्त होंगे :—

१. "हम तेरा क्या किया दुर्गा ? घर का सारा काम छोड़कर तेरी सेवा करता

“सागर, लहरें और मनुष्य” : एक पुनर्मूल्यांकन : १५३

है। ऊपर से तू नाराज होताय। मत बोल, हम नई आयेगा।” थोड़ी देर बाद फिर बोली, “समजा, जैसे हमने इसका मालिक कूहर लिया। आखा दिन काम करता-करता कमर टूट जाताय तो रात कू खिलाता-पिलाता जरा नींद आ गया तो इसने समजा हम बदमाश हो गयाय। दुनियाँ कितना खराब है? हमारा छोकरी ई हमारा ऊपरशक करता है।” इतना कहकर गुगी फफक-फफक कर रोने लगी। (पृष्ठ-१५६)

२. पुलिस का नाम सुनकर इट्टा डर से कांपने लगी। उसने निहोरा करते हुए कहा, “तुमने मुझ कू रोग से भूखा मरने कू क्यों बचाया वंशी बाय। क्या करेगा, मग काम नई मिलताय।”

“काय जागला हे न !”

“हा, जागला एक रात कू दो रुपया दे गया था। पर उससे कितीक दिवस चलने का? आज तीन दिवस से माँ-बेटी दोनों बूकाय।” (पृष्ठ-६०)

इनसे भिन्न उन पात्रों के सम्वाद हैं, जो मध्यवर्गीय हैं और जिनकी नैतिकता की भावना एक आदर्श सोपान पर चढ़ी हुई है। ऐसे उदाहरणों में सारिका का निम्न कथन द्रष्टव्य है :—

सारिका पास आकर कहने लगी, “बुरा मत मानना, रत्ता ! जैसे नदी की मर्यादा उसके दोनों किनारे होते हैं, उसी तरह जो औरत अपने समाज की मर्यादाओं से एक बार निकल जाती है, उसका अन्त नदी की बाढ़ की तरह होता है।”

“पर तू क्या समझती है, बाढ़ से कोई फ़ायदा नहीं होता? इनमें एक भी अच्छा आदमी नहीं है, एक भी अच्छी औरत नहीं है?”

“सो में शायद कोई एक ! शायद वह भी नहीं ! फिर प्रयोग के लिए तो रास्ता खुला है।” (पृष्ठ-२६१)

उपर्युक्त उद्धरणों से यह बात स्पष्ट है कि लेखक का संवाद-कौशल यथार्थ-मूलक है। बम्बईया हिन्दी के प्रयोग में लेखक उतना ही पटु है, जितना कि ‘रेणु’ या नागार्जुन बिहारी के। उपर्युक्त संवाद पात्र की मानसिक स्थिति के शुचि दर्पण हैं।

‘सागर, लहरें और मनुष्य’ को हम वातावरण-प्रधान उपन्यास कह सकते हैं। प्रारम्भ में ही लेखक ने समुद्र के ज्वार-भाटे का सजीव वर्णन प्रस्तुत किया है। माणिक के सामुद्रिक अभियान-विवरण में भी काफ़ी रोमांच, कौतूहल-निर्वाह और रोचकता है। इसे पढ़कर हमें अर्नेस्ट हेमिंग्वे के ‘सागर और मनुष्य’ के नायक की याद हो आई, पर माणिक और उसमें ज़मीन-आसमान का अन्तर है। बूढ़े का जीवट और माणिक का छल-छद्ममय व्यक्तित्व एक पासंग पर नहीं बैठ सकते। सामुद्रिक-वर्णन की दृष्टि से भट्टजी ने एक नये क्षितिज का ही उद्घाटन किया है।

“हवा आँधी बन गई थी आँधी झंझा। आकाश के एक किनारे से दूसरे किनारे तक गड़गड़ाहट के साथ बिजली काँध जाती, उससे लगता था जैसे समुद्र और आसमान एक हो गए हैं।” (पृष्ठ—१०-११)

“समुद्र में खलबली सी मच गई। जैसे सारे समुद्र को आँधी की विशाल मथानी से कोई मथे डाल रहा हो। आकाश को घने बादलों ने ढक लिया लगता था, जैसे

१५४ : आलोचना

हमारे ऊपर एक नया सागर उमड़ रहा हो। लहरें उछल-उछलकर 'मचवे' की पट्टियों से टकरातीं अपने क्रोधी मुख से झाग फेंकने लगीं। लहरों को देखकर मालूम होता था जैसे पहाड़ दूर से उड़कर चले आ रहे हों। उस समय हवा की रफ़्तार कम-से-कम डेढ़ सौ मील प्रति घण्टा होगी।" (पृष्ठ—४६)

इस प्रकार के वर्णनों से उपन्यास भरा पड़ा है। जब मच्छीमारों के जीवन को अभिव्यक्ति देनी थी, तो यह स्वाभाविक ही था कि समुद्र अपने दोनों रूपों में—सीस और रौद्र—प्रकट हो और पाठक के कौतूहल को एक नये चित्रफलक का आधार दे। इसी दृष्टि से 'कथा के तत्व' के एक निबन्ध में डॉ० देवराज उपाध्याय आलोच्य उपन्यास की प्रथम उपलब्धि मानते हैं : (१) हिन्दी कथा-साहित्य की सामुद्रिक यात्रा, जो आगे चलकर अनेक यात्राओं, हवाई यात्रा इत्यादि का मार्ग प्रशस्त कर सकती है।" (कथा के तत्व : पृष्ठ २०६)

मच्छीमारों की बस्ती बरसोवा के भी अनेक सचित्र-सटीक वर्णन उपन्यास में बिखरे पड़े हैं। मछलियों का वर्गीकरण, उनका सुखाया जाना, उनके काँटे निकालना आदि कितनी ही बातें हैं, जो स्थानीय रंग (लोकल कलर) की दृष्टि से बड़ी मार्क की सिद्ध हुई हैं। इसके अतिरिक्त क्वारंटीन, जहाँ दुर्गा को इलाज के लिये भर्ती किया गया था, का भी बड़ा सजीव वर्णन प्रस्तुत उपन्यास में मिलता है। मृत्यु की विभीषिका, शवों का सफ़ेद कपड़ों में लिपटा होना, सम्बन्धियों की आतुरता-भरी प्रतीक्षा के संश्लिष्ट चित्र निश्चय ही बड़े प्रभावकारी हैं। अन्त में डॉ० पांडुरंग के नेत्र-क्लीनिक का भी, जहाँ उपन्यास की नायिका रत्ना, अन्तिम आश्रय पाती है, बड़ा सजीव एवं हृदयस्पर्शी वर्णन है। क्रिया-रत (मैन-इन-एक्शन) मानवों एवं नारियों के आधिक्य के कारण अनुचिन्तन-रत (मैन-इन-कन्टेम्प्लेशन) व्यक्तियों के दर्शन प्रस्तुत उपन्यास में दुर्लभ हैं, फिर भी रत्ना, दुर्गा, बंशी और सारिका, जो कि नारी-जीवन के विभिन्न पक्षों का प्रतिनिधित्व करती हैं, अधिक विचारशील रूप में चित्रित की गई हैं। इनमें नारी-मनोविज्ञान का नितान्त अभाव भी नहीं कहा जा सकता, जैसा कि डॉ० देवराज उपाध्याय प्रस्तुत उपन्यास के सन्दर्भ में सोचते हैं। मेरे विचार में इस प्रकार के उपन्यासों से हमें इस प्रकार की अपेक्षा नहीं करनी चाहिए।

आलोच्य उपन्यास की भाषा-शैली के सम्बन्ध में यही कहा जा सकता है कि आँचलिकता की आड़ में स्थानीय बोली खुलकर खेली है। यही कारण है कि अनेक बार लेखक को अपनी बात स्पष्ट करने के लिए कोष्ठकों में हिन्दी पर्याय देने पड़े हैं। इन कोष्ठक-पर्यायों से जहाँ कुछ स्थलों पर पाठक को उद्बुद्ध संकेत मिलते हैं, वहाँ कई स्थानों पर इस प्रकार के शब्द-बाहुल्य से वह थोड़ा उकता भी सकता है। कहीं-कहीं इससे कथा की प्रशान्त धारा में अवरोध की सृष्टि हुई है। मुहावरों के जीवन प्रयोग, ने भट्टजी की लेखन-शैली में चार चाँद लगा दिये हैं। जहाँ लेखक अपनी ओर से कुछ कहता है, वहाँ साहित्यिकता और कहीं-कहीं सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक विश्लेषण के भी दर्शन होते हैं। अपने कथन की पुष्टि में, मैं निम्न उदाहरण देना चाहूँगा :—

१—उसे लगा उसने दुर्गा के साथ अब तक बड़ा अन्याय किया है। क्या

“सागर, लहरें और मनुष्य” : एक पुनर्मूल्यांकन : १५५

इतना सुख और कहीं होटल में उसे मिल सकता है ? इस खाने के साथ कितना स्नेह, प्रेम मिला है ! कितनी हमदर्दी छिपी है। माणिक की ज्ञान और विवेचना की जितनी आँखें खुलती जा रही थीं, वैसे ही भीतर की तृप्ति से बाहर की आँखें बन्द हो रही थीं। (पृष्ठ १४४)

२—माणिक मानता था दुर्गा की मौत में उसका ज़रा भी हाथ नहीं था, फिर भी गुगी ने यह सब उसके सिर थोपा तो वह चुप रहा। लेकिन अब भी यह चुड़ैल डंक मारने से बाज़ नहीं आई। उसके भोले मन में दुर्गा के प्रति जो स्नेह का बीज था, वह सब अब रत्ना के ऊपर उँडेल देने को उसका मन उत्सुक हो उठा। (पृष्ठ १७८)

आलोच्य उपन्यास का उद्देश्य संघर्षशील रत्ना के जीवन का चित्रण करना है और अवान्तर प्रसंग के रूप में मच्छीमारों के जीवन-वैविध्य और समस्याओं को भी लेखक ने सफलतापूर्वक स्पर्श किया है। रत्ना की महत्वाकांक्षाएँ, जिन पर उसकी शिक्षा ने परवान चढ़ा दिया है, उसके संघर्ष को मुखरित करती हैं। वह असन्तुष्ट युवती का प्रतीक भी कही जा सकती है। वरसोवा का राजकुमार यशवन्त उसकी आँखों में नहीं चढ़ता, माणिक और धीरूवाला से वह छली जाती है, अन्ततः डॉ० पांडुरंग के सान्निध्य में उसकी महत्वाकांक्षाओं की परिपूर्ति होती है, जो कि उसके ‘कलुष’ को आच्छन्न कर पत्नीत्व का गौरव प्रदान करता है। अन्तिम चित्र के रूप में निम्न-लिखित पंक्ति बड़ी मार्मिक एवं व्यंजनाशील बन पड़ी है :

“मोहग्रस्त रत्ना डॉक्टर के उड़ते हुए बालों से अपने सपने बुनने लगी।”

(पृष्ठ—३१६)

डॉक्टर का उसके प्रति औदार्य विस्मयकारी है, सम्भवतः वह स्वयं भुक्तभोगी होने के कारण रत्ना की पीड़ा को पहचान सका है। घषिता, अपमानिता एवं अदम्य आत्मविश्वास से छलकती हुई रत्ना डॉक्टर के स्नेहांचल में अपना ‘चिरकाम्य’ पाती है। जहाँ लेखक ने रत्ना के घनीभूत संघर्षों को मुखर वाणी प्रदान की है, वहीं उसके शिक्षा-जीवन की ओर केवल अस्फुट संकेत किये हैं। यह प्रकरण केवल सूच्य ही रहा है, इसे लेखक पुनर्निमित्त नहीं कर सका। रत्ना के द्वैत के माध्यम से लेखक निम्न-मध्यवर्गीय नारी के अन्तःसंघर्ष को अभिव्यक्त करने में जहाँ सफल हुआ है, वहीं वह धीरूवाला जैसे मगरमच्छों, सेठ और सेठानी-जैसे निहित स्वार्थों को भी हल्के हाथ से स्पर्श कर सका है। ये प्रकरण कुछ अधिक विस्तार की अपेक्षा रखते थे, पर लेखक ने इन्हें चलताऊ रूप में ही छोड़ा है। उपन्यास के विस्तृत चित्रफलक में इनका विद्रूप आनुपातिक रूप से उभर नहीं सका है, भट्टजी की औपन्यासिक प्रतिभा की यही इयत्ता है। फिर भी स्वातन्त्र्योत्तर उपन्यासों में आलोच्य कृति का एक विशिष्ट स्थान है, यह निर्विवाद रूप में कहा जा सकता है।

शहर में घूमता आईना

डॉ० मन्खनलाल शर्मा

आज उपन्यासलेखक की दृष्टि पाठक को सामने रखकर चलती है। 'अदक' पर भी यह मान्यता लागू है। उन्होंने उपन्यास के समर्पण में इसे स्वीकार किया है—

“जो लोग सब-कुछ लेकर पैदा हुए हैं, अथवा कुछ भी नहीं ले सकते, उनके लिए इस उपन्यास में बहुत-कुछ नहीं है। यह केवल बीच के लोगों के लिए है, (जिनमें कि लेखक अपने-आपको भी मानता है।) और उसने पाया है कि अधिकांश पाठक उसी कोटि में आते हैं।”

इन पंक्तियों से दो बातें सामने आती हैं। पहली बात तो यह कि मध्यवर्गीय लेखक ने अपने वर्ग की अनुभूतियों का वर्णन अपने ही वर्ग के पाठकों के लिए किया है और दूसरी यह कि यथार्थवादी होने के साथ-ही-साथ यह सोद्देश्य रचना है। किन्तु यह दूसरी विशेषता ही इस उपन्यास की कमजोरी भी बन गई है। लेखक ने दावा तो यह किया है कि अच्छी कलाकृति सीधे-सीधे नहीं सिखाती (अर्थात् यह अच्छी कलाकृति है, इसमें सीख परोक्ष है और कथा ही प्रमुख है।) जो ठीक भी है, किन्तु यह बात इस उपन्यास के प्रसंग में अधिक संगत नहीं है। उद्देश्य परोक्ष न रहकर प्रत्यक्ष आ-आकर पाठकों के सामने अड़ता रहा है। उसने अनेक बार काशी की तंग गलियों में अड़े साँड़ों के समान नवलकथा का प्रवाह अवरुद्ध किया है। संभवतः उपन्यासकार को विश्वास नहीं है अपने पाठकों पर; इसीलिए बार-बार उसे अपनी बात खुलकर कहने को मजबूर होना पड़ा है। संभवतः इसके मूल में एक अन्तर्विरोध आर्थिक-सामाजिक तथा मनोवैज्ञानिक स्थितियों का संघर्ष है। लेखक दिखाना तो यह चाहता रहा है कि समाज के भीतर और बाहर चलने वाले अर्थ-सम्बन्धाधारित चेतना-प्रवाहों को विभिन्न स्थितियों तथा पात्रों की सीमाओं में इस उपन्यास द्वारा देखा जा सकता है, किन्तु उन्हें सजीवता प्रदान करने के लिए जिस व्यक्ति-निष्ठा तथा वैयक्तिक विशेषताओं की गहरी सूझ की आवश्यकता होती है, उसका काम यौन-कुण्ठाओं, विकृत अहं, हीन ग्रन्थियों तथा असाधारण मनोदशाओं वाले पात्रों के चित्रण से लिया गया है। इसका परिणाम यह हुआ है कि आर्थिक-सामाजिक तत्त्व निष्क्रिय और आरोपित बन गए हैं तथा व्यक्ति-चेतना उनसे असम्बन्धित बनकर मनोवैज्ञानिक ग्रन्थियों का परिणाम सिद्ध हो गई है। सम्भवतः उपन्यासकार को स्वयं भी बीच-बीच में इसका अहसास होता रहा है और वह अपने घोषित उद्देश्य का औचित्य सिद्ध करने के लिए ही प्रयत्नपूर्वक बार-बार सामने आकर जो चेष्टाएँ करता है, उन्होंने इस उपन्यास की शक्ति और कम की है।

परिवेश को सामाजिकता की पृष्ठभूमि तो दी गई है, किन्तु यह विशेषता केवल आरोपित है, वर्णित है, सप्रयास है और वायवी है। पात्रों की रूप-रचना में इसका जो योग होना चाहिए, नहीं है। 'चेतन' वह आईना है जिसके द्वारा हमें

जालन्धर का प्रतिबिम्ब दिखाया गया है। यह प्रतिबिम्ब ही उपन्यास का मुख्य धरातल है, किन्तु धरातल का महत्त्व आईने की सापेक्षता में है। आईना 'चेतन' की मनोदशा के रंग में रंगा हुआ तथा घूमनेवाला है। जो दृश्य सामने आते गए हैं, वे चाहे यथार्थवादी हों, अर्थ-सम्बन्धों की विषमता और वर्ग-संघर्ष के परिणाम हों, सामाजिक विकृतियों के उभार पर टिके हों, अथवा शुद्ध फोटोग्राफिक प्रतीत होते हैं; किन्तु, उन सबको देखने से पहले यह ध्यान रखना अनिवार्य है कि आईना हीनता तथा काम-ग्रन्थियों से ग्रथित एक ऐसा पात्र है, जो इन दृश्यों को एक असाधारण मनोदशा के क्षणों में ग्रहण करता जा रहा है। जो कुछ उसे ग्रहणशील तथा संवेदनीय लगता है, वह वहीं टिकता है, अन्यत्र नहीं। परिणाम वही होता है जो पहले कहा गया, कि परिवेश की प्रधानता न रहकर आईने की मनोवैज्ञानिकता ही प्रमुख बन जाती है। चित्र की वस्तुनिष्ठता का महत्त्व न होकर, यहाँ तो आईने की विशेषता ही मुख्य है। यह भी कोई बुराई न होती, यदि आईने की मनोवैज्ञानिकता नैष्ठिक अनुभूति से युक्त रही होती। चेतन की वेदना (नीला के प्रसंग में) और हीनताग्रन्थि (कैरियर निर्माण में अमीचन्द आदि की तुलना में) दोनों ही उसे पलायनवादी बनाती हैं। वह आज का 'मध्यवर्गीय शुतुरमुर्ग' होकर जीता है, जबकि पाठक की आकांक्षा उसे कम-से-कम 'जटायु' के रूप में देखने की होती है, जिसका आश्वासन उपन्यास तथा उपन्यासकार दोनों ने दिया है।

चेतन, जो इस आईने का प्रतीक है, दोहरा प्रतिबिम्ब प्रस्तुत करता है। दोनों बिम्ब एक-दूसरे से घुल-मिलकर एक रूप धारण करने लगते हैं, किन्तु उनकी व्यंजना गहरी न होने के कारण अभीष्ट-सिद्धि में समर्थ नहीं बन पाती। इतना होने पर भी स्थान-स्थान पर कुछ चित्र अत्यन्त सारवान तथा अपनी सम्पूर्ण मार्मिकता में उभरे हैं। 'बढ़ा' के रूप में हमें चेतन की असफलता और असफलता को छिपाकर अपने को सन्तुष्ट कर लेने की वृत्ति ही नहीं दिखाई देती है वरन् समाज का एक वृहद् अंश 'बढ़े' में अपना प्रतिनिधित्व पा जाने के कारण उसके चरित्र पर हँसता हुआ भी उससे सहाय-भूति रखने को मजबूर होता है। आज सभी कहीं-न-कहीं 'बढ़े' हैं। यदि 'बढ़ा'-जैसे चरित्रों को समझें तो कहना पड़ता है कि आज के युग को इन्हीं पात्रों के माध्यम से उसकी सापेक्षिक समग्रता में प्रस्तुत किया जा सकता है। यह चित्र यद्यपि यथार्थवादी है तथा विशेष परिस्थितियों वाले विशेष पात्र को समुपस्थित करता है, किन्तु, चित्र एकांगिता की सीमा पर स्थित है। चित्र का बाह्य रूप ही सामने आता है, उसका आन्तरिक ऊहापोह अदृश्य रहता है।

इस उपन्यास में कोई भी Positive पात्र नहीं है। 'अनन्त' की प्रशंसा डॉ॰ वच्चनसिंह ने इसलिए की है कि वह व्यंग्य कर सकता है, तथा समाज के पाखंड की पोल खोल देता है, किन्तु वह भी निषेधात्मक दृष्टिकोण की सीमा में আবদ্ধ है। उसमें भी हमें यथार्थ को जीते समय किसी उच्च आदर्श की आकांक्षा से उत्पन्न प्रतिक्रिया के दर्शन नहीं होते हैं। यथार्थवाद में केवल वर्तमान का अंकन नहीं होता। वर्तमान क्षण अपने भूतक्षण की अगली कड़ी है जो उसकी स्थिति को निर्धारित करता

१५८ : जीवनी

है तथा वर्तमान के गर्भ में ही भविष्य के क्षण का बीज निहित है, जो आगे चलकर पल्लवित होगा। अतः वर्तमान का अंकन कभी भी केवल वर्तमान न होकर भूत और भविष्य भी होता है। उपन्यासकार को इसका ध्यान रखकर चलना होता है। खेद है इस उपन्यास के पात्रों का अंकन यह आभास नहीं दे पाता है। यथार्थ का व्यंग्यात्मक अंकन इस उपन्यास की विशेषता मानी जा सकती है। 'अनन्त' ही व्यंग्यात्मक शैली-प्रयोग द्वारा पात्र और स्थितियों की असंगतियों को दिग्दर्शित नहीं कराता, वरन् उपन्यासकार भी जब पाठकों के सामने आकर महल्लों, गलियों, घरों और उनके निवासियों का चित्र देता है तो समाज-व्यवस्था पर व्यंग्य करता चलता है। निम्न पंक्तियाँ इसे सिद्ध कर सकती हैं:—

“गली खोसलियाँ के बाद बाईं ओर को एक मकान था, जिसमें दो परिवार रहते थे। एक विधवा थी, जिसके पाँच लड़के थे। चूँकि विधवा बड़ी लड़ाकी थी, इसलिए महल्ले वाले उसे 'गीदड़ी' और उसके बच्चों को 'गीदड़ी के बच्चे' कहते थे। दूसरी विधवा सधवा थी। बहुत बड़े घर की थी, पुनर्विवाह के बाद इस महल्ले में आ गई थी; पढ़ी-लिखी थी; गला बड़ा सुरीला पाया था; काला रंग था, इसलिए 'कोयल' कहलाती थी।”

इस भूगोल को फोटोग्राफिक मात्र नहीं कहा जा सकता। इसमें समाजदशा, व्यक्तियों की मान्यताएँ एवं प्रतिक्रियाएँ तथा कल के बनने वाले समाज के तत्त्वों की ओर स्पष्ट इंगित है, किन्तु व्यंजना उतनी तीव्र तथा मार्मिक नहीं है जो इस चित्रण को गोर्की की 'माँ' की कोटि को पहुँचा दे।

१९६३ का भारतवर्ष (इसी साल यह उपन्यास प्रकाशित हुआ है।) अपने निकट अतीत से बहुत बदल गया है और समकालीन विश्व के बहुत निकट आया है। अपने निकट अतीत (स्वातंत्र्य-आन्दोलन-काल) के गौरव को ही उसने खोया होता, उस काल का त्याग, बलिदान, उत्साह, देशभक्ति, चरित्रनिष्ठा तथा समाजसेवा आदि की भावनाएँ ही त्यागी होतीं, तो विशेष हानि नहीं थी, किन्तु आज की सर्वाधिक हानि यह है कि हमने पाश्चात्य (विशेषतः अमेरिकी) जीवन की हीनताओं तथा त्याज्य दुर्बलताओं का अन्धानुकरण प्रारम्भ कर दिया है। इससे जो दुर्बलता आई है उससे न केवल इतना कि हमारे हाथों से बंदू आने लगी है, वरन् हमें बंदू का अहसास होना बन्द हो गया है। हम जिस विपन्नता में फँसे हैं, वह कोई बहुत निराशाजनक नहीं है। (उससे यदि हम सही प्रेरणा लें तो उसको कल्याणकारी तत्त्व के रूप में भी ग्रहण कर सकते हैं।) निराशाजनक तो यह है कि हमें अपनी यह स्थिति अश्र्वेयस्कर नहीं प्रतीत होती है। आज की नयी कविता, नयी कहानी तथा उपन्यास और उनकी पिछलग्गू समीक्षा (उसे वे नयी समीक्षा कहते हैं।) इस दृष्टिकोण की गरिमा का स्तुतिगान भर है। इस मनोदशा को हम 'बढ़े' के चरित्र में रूपायित होते देखते हैं। 'बढ़े' की कमजोरी यह है कि जब चेतन उसे घवाई देता है, तो वह उसमें छिपे व्यंग्य को पहचानना नहीं चाहता। वह अपने में ही जीवित है और निरन्तर प्रयासशील है कि दूसरे भी उसी 'खोल' में समाते चले जायें। 'बढ़ा' के समान 'चेतन'

भी मिथ्या प्रतिष्ठा को ओढ़े हुए है, इसीलिए 'अनन्त' के समान उसका पर्दाफाश करने का साहस उसमें नहीं है। 'वद्दे' के समान 'चेतन' भी प्रतिद्वन्द्वितापूर्ण समाज के ताने-बाने में उलझा हुआ है। वह किसी भी प्रकार प्रतिद्वन्द्विता में टिका रहकर सफल होने के प्रयास में मिथ्या पद्धतियाँ अपनाता चला जाता है।

विशिष्ट मध्यवर्गीय शिक्षित के समान चेतन संवेदनशील बनना जानता है और कुछ समीक्षकों को ऐसा होने का धोखा भी दे देता है; किन्तु, वह केवल लेना जानता है, देने के नाम पर दर्शन देने में भी उसे संकोच है। नीला के शगुन देने से भी कतराता है। 'शेखर' के समान वह क्लीव तो है, किन्तु बौद्धिक नहीं। समाज की परम्पराओं को तोड़ने की बात उसके मस्तिष्क में आती है—अथवा बौद्धिक बनने के लिए उसका चेतन मस्तिष्क उसे ऐसा सोचने को मजबूर करता है, किन्तु कायरता उसे निष्क्रिय बनाती है। सामाजिक प्रतिष्ठा का मोह ही उसे संचालित रखता है। पत्नी के प्रति, नीला के प्रति, परिवार के साथ सभी जगह उसकी सक्रियता (जो अत्यन्त सीमित है) इसी मोह का परिणाम कही जा सकती है।

चेतन, मध्यवर्ग, जालन्धर, पंजाब, भारत तथा एक विचित्र स्थिति वाले आज के विश्व का आईना है, जो देख और दिखा रहा है; क्योंकि इसके बिना वह रह नहीं सकता है। यदि उसके सामने यह मजबूरी न होती, तो वह निश्चित ही औंघा मुँह करके अपने में सिमटा पड़ा रहता। 'रामदत्ता' के साथ मिलाकर देखें तो प्रश्न अधिक सुलझे रूप में हमारे सामने आ जाता है। 'वद्दे' के साथ-साथ 'रामदत्ता' भी अतृप्त यौन-कुण्ठाओं तथा बौद्धिक दृष्टि से अपने को श्रेष्ठ सिद्ध करने की प्रतियोगात्मक भावनाओं का प्रतीक है। इनके माध्यम से हम 'चेतन' के इन रूपों का दर्शन पाते हैं। आज का 'चेतन' इस 'चेतन' के समान यौन और अर्थ की विकृतियों का शिकार है। उसकी मुख्य समस्या अपने से संघर्ष करने की है। एक ओर उसका अहं है और दूसरी ओर उसकी प्राकृतिक माँगें हैं। प्राकृतिक माँगों को वह झुठलाने का प्रयास करता चला जाता है, किन्तु उसका वैयक्तिक अहं इतना विस्तृत नहीं है कि वह इस विष को पचा सके; और इसका कारण यह है कि उसे अपने अहं को सामाजिक अहं के साथ जोड़ने में सफलता नहीं मिल रही है। उसकी वृत्ति समस्याओं के बाह्य-रूप से परिचित होकर रह जाने की है। वह अपने मित्र के रूप में उन पर हँस सकता है (यद्यपि यह भी है उसके लिए बहुत कठिन), किन्तु, उनके भीतर के सत्य तक पहुँचने की जिज्ञासा उसमें नहीं है।

पागलों और विपन्नों की अनेक कथाएँ एक-दूसरे से जोड़कर प्रस्तुत करने का जो प्रयास इस उपन्यास में हुआ है, वह सिद्ध करता है कि उपन्यासकार मनोवैज्ञानिक यथार्थ को समाजवादी यथार्थ से अधिक महत्त्वपूर्ण ही नहीं मानता है, वरन् इलाचन्द्र जोशी के समान सामाजिकता का आधार भी अतृप्त यौन-भावना को स्वीकार करता है। इस प्रसंग में उपन्यासकार की एक टिप्पणी प्रस्तुत करना अनुचित न होगा:—

“इस अभावग्रस्त महल्ले में जहाँ अशिक्षा, सस्कृति, भूख और प्यास का राज्य था; जहाँ कई घरों में उमर-भर के भूखे पिछासे कंवारे भरे पड़े थे; अनाचारी, जुआरी,

१६० : आलोचना

व्यभिचारी और पागल न हों तो और क्या हों ? क्यों बीमारियाँ पीढ़ी-दर-पीढ़ी यहाँ घर न करें और नसलों को खोखली न बनाती चली जायँ ? कई बार जब कोई कुँवारा काफ़ी उमर गुज़र जाने पर शादी करता था तो वह पहले ही यौन-व्याधियों का शिकार हो चुका होता और कई बार जब किसी युवा रँडुवे की दोबारा शादी न होती तो वह बाद में उन रोगोंका ग्रास बन जाता या विक्षिप्त होकर गली-गली मारा-मारा फिरता।”

जगह-जगह उपन्यासकार ने यह उभारने का प्रयास किया है कि मध्यवर्गीय व्यक्तित्व यौन-तृप्ति तथा महत्त्वपूर्ण बनने की आकांक्षा से परिचालित रहता है। उसकी समग्र क्रियाओं की संचालिका शक्ति उसके अन्तर्मन की यही वृत्तियाँ हैं, फल-स्वरूप पात्र-योजना एवं घटना-संयोजन इसी बात के सामने रखकर हुए हैं। आगे बढ़ने वाले व्यक्ति चाहे असफल हकीम दीनानाथ हों, अथवा सदैव ‘फ़ेल’ हो जाने वाला ‘बढ़ा’, सबकी असफलता का दायित्व उनके अपने भीतर ही दिखाया गया है, जैसे समाज में अथ से इति तक न्याय, समान अवसर आदि का ही बोलवाला है और शोषण तथा सामाजिक विसंगतियाँ उन्हें उद्देश्य-भ्रष्ट नहीं करती हैं—ऐसा सिद्ध किया गया लगता है।

आज़ादी से पहले महात्मा गांधी की धारणा थी कि बिना राजनीतिक स्वतन्त्रता प्राप्त किए हम सच्चे अर्थ में स्वराज्य की स्थापना नहीं कर सकते हैं, इसलिए राजनीतिक संघर्ष ही हमारे सामने प्रमुख प्रश्न है। उसी प्रकार आज का समाजशास्त्री यदि आँख खोलकर सामाजिक दशा का अध्ययन करे और सोचे कि समाज-परिवर्तन की दशा में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तथा मूल प्रश्न क्या है ? तो वह इसी निर्णय पर पहुँचेगा कि जब तक देश में आर्थिक शोषण और सामाजिक अन्याय है, तब तक हम उस लोकतांत्रिक समाजवाद के घोषित उद्देश्य में सफल नहीं हो सकते हैं जो हमारे देश के सर्वोत्तम विचारकों तक का आकर्षण-केन्द्र बना हुआ है। इस सामाजिक अन्याय और शोषण को ही हम व्यक्ति और समाज की समस्त बुराइयों तथा कठिनाइयों के मूल स्रोत के रूप में देखते हैं।

‘अस्कजी’ सम्भवतः उपर्युक्त बातों से तो असहमत नहीं हैं, किन्तु, अपने उपन्यास की रूप-रचना में इस दृष्टिकोण को रखकर नहीं चल पाए हैं। उनका ‘चेतन’ अपनी साली को खोकर एक विशेष मनोदशा में सारी घटनाओं को देखता है—यह विचार ही मूलतः व्यक्तिवादी है—सामाजिक समस्याओं को व्यक्तिवाद के भीतर से देखने का प्रयास है।

इस उपन्यास के सारे पात्रों की रूप-रचना में दो बातें समान रूप से देखी जा सकती हैं—प्रथम तो यह है कि सभी पात्रों की संचालिका शक्ति उनके अपने भीतर है, वे अपने को समझने के लिए ही प्रयत्नशील हैं। दूसरी यह है कि उनके समक्ष कोई सामाजिक प्रश्न अपनी सम्पूर्ण भयंकरता में नहीं उभरता है। जो छुटपुट सामाजिक समस्याएँ उभरी भी हैं तो वे व्यक्तित्व की असंगतियाँ दिखाने भर को; न कि सामाजिक असंगतियों को उनके सम्पूर्ण परिवेशात्मक यथार्थ में प्रस्तुत करने के लिए। फलस्वरूप

शहर में घूमता आईना : १६१

किसी सामाजिक आदर्श की कल्पना तथा उसके लिए पात्रों का संघर्ष आदि बातें भी उपस्थित नहीं होती हैं।

इस उपन्यास की व्यंग्यात्मक शैली अत्यन्त प्रभावशाली कही जा सकती है। भाषा, पात्र-योजना (यथेष्ट सीमा तक), विवरण, स्थिति-विश्लेषण, कथोपकथन, वातावरण-अंकन, घटना-संयोजन आदि तत्त्वों में इस व्यंग्य-शक्ति को खोजा जा सकता है। इन व्यंग्य-चित्रों में से कतिपय उदाहरण निम्न अवतरणों में हैं—

“चेतन ने देखा, चिराग रंगरेज और मोघड़ फटफेरा खेल रहे थे—यानी उस समय खेलते हुए झगड़ रहे थे—और दोप उनके गिर्द दायरा बनाए बैठे अथवा खड़े थे। इन्हीं में उसने ज्योतिषी दौलतराम को अपनी लम्बी चोटी में गाँठ दिए, नंगे शरीर पर रामनामी ओढ़े और पैरों में खड़ाऊँ पहने बैठे देखा—चन्दा की बड़ी-बड़ी आँखें मुँदी थीं; रूखे बाल मस्तक पर बिखरे थे, होंठों पर सूखी पपड़ियाँ जमी थीं; गोल-गोल गोथने गाल बन्नों से मुरझाए थे और होंठों के बाएँ कोने पर हलकी-सी लार जमी थी—उसकी आँखों में आँगन की नाली पर अपनी पतली गोरी बाँह बढ़ाए हुए नीला आ जाती है, जिसकी कलाई पर लगी हुई जोंकों ने उसका रक्त चूस लिया है—पहले से दुबली-पतली किंचित् पीली—कुएँ के पास ही चौधरियों का दीसा (जगदीश) बड़ी मूर्खता से मुँह चयारे आते मिल गया—चेतन के सामने शिमले के स्केण्डलप्वाइंट पर अभीचन्द से भेंट का दृश्य घूम गया, जब उसके व्यवहार से लगा था कि रिजल्ट निकलने से पहले ही वह डिप्टी हो गया है—रंडी का पूत सौदागर का घोड़ा, खाएगा बहुत चलेगा थोड़ा—इन आठ वर्षों में उसके (हकीम दीनानाथ के) पाँच बच्चे हो चुके थे और न केवल उसका पहलवानों का-सा शरीर दुबला हो गया था, बल्कि उसकी बड़ी-बड़ी मूँछें भी छँटते-छँटते मक्खी-जैसी रह गई थीं। अनन्त कहा करता था कि उसके घर एक बच्चा और हुआ तो उसकी मूँछें सफाचट हो जाएँगी और फिर तो कटाने के लिए सिर्फ कान ही रह जाएँगे—दीनानाथ के पिता ग्लूराम और चाचा दालचन्द बाकायदा अखाड़े जाते थे। उनके नामों से जिस ढीले-ढालेपन का आभास मिलता था, उसे कम-से-कम शारीरिक रूप से उन्होंने दूर कर दिया था। मँझोला कद, गोरा-गठा बदन, बड़ी-बड़ी आँखें और नीवू टिकाऊ मूँछें—हाँ, मस्तिष्क की बात दूसरी है, पर सुनारों से बुद्धिजीवियों के मस्तिष्क की अपेक्षा भी तो नहीं की जा सकती। दीनानाथ भी कसरत करता था, लेकिन बुद्धि उसने पिता अथवा चाचा की अपेक्षा कुशाग्र पाई थी।—अब वह चाहता है फ्राँड से पैसा कमाना। अनन्त बोला, फ्राँड से प्रेक्टिस तो क्या चलेगी? एक दिन जेल में चला जाय तो बड़ी बात नहीं।—” इस प्रकार की शैली ही इस उपन्यास का आधार है।

दीनानाथ के माध्यम से अशक ने यह दिखाने की चेष्टा की है कि मिथ्या प्रतिष्ठा के पीछे दीनानाथ दौड़ता रहा और उसे उसमें अन्त तक सफलता न मिली। समाज में प्रत्येक व्यक्ति जब तक शारीरिक परिश्रम से बचकर केवल बौद्धिक प्रयास की ओर अग्रसर रहेगा, तब तक वह ईमानदारी, शोषण-मुक्ति और समान अवसर

१. बही: पृष्ठ १३७-३८।

१६२ : आलोचना

वाली बराबरी की ओर नहीं बढ़ पाएगा। चेतन हो या दीनानाथ, यदि वह सामाजिक मूल्यों को बदलने के लिए आगे आता तो उसका चरित्र इससे बिलकुल भिन्न होता। जिस समीज का यहाँ चित्र दिया है, वह यौन-भुक्खड़ी, दंभियों, बौनों, कायरों, मिथ्या-भिमानियों, पलायनवादियों, शोएकों, अनुतरदायियों, जनखों, पागलों, दिमागी ऐयाशों, धोखेबाजों, जादूगरों तथा अवसरवादियों आदि का है। उनमें कोई भी तो ऐसी नहीं है जो परिस्थिति को उसकी यथार्थ स्थिति में स्वीकार करके आगे बढ़े और संघर्ष का जोखिम उठाए। यदि इसे समाज का एकांगी चित्र कहें तो आशा है, अनुचित न होगा। यदि हम गोरों के पात्रों से इन पात्रों की तुलना करें तो इनकी ह्लासशीलता आसानी से सिद्ध हो जाती है।

सारे उपन्यास की घटनाएँ जिस धुरी पर घूमती हैं वह निम्न पंक्तियों से स्पष्ट है—

“वह (चेतन) तो चाहता था कहीं ऐसी जगह जाए, जहाँ उसका मन नीला के विरह, अपनी पीड़ा, अमीचन्द की डिप्टी-कलकटरी और उसके सन्दर्भ में अपनी हीनता के अहसास को एकदम भूल जाय।”

उपन्यासकार अथ से इति तक इसी धुरी पर घटनाचक्र तथा पात्रों को घुमाता रहा है। इस अंकन को सजीव बनाने तथा ‘मिथ्या का भ्रम’ उत्पन्न करने के लिए आवश्यक था कि परिवेश का यथार्थवादी चित्र दिया जाता। कुछ पात्र जो इस उद्देश्य से प्रेरित होकर अपना क्षणिक परिचय देकर अदृश्य हो जाते हैं, अधिक विश्वसनीय तथा व्यावहारिक हैं। वे जीवन को अधिक व्यावहारिक रूप में ग्रहण करके सन्तुलित दृष्टिकोण अपनाते-से लगते हैं। उनसे यह सम्भावना हो सकती है कि यदि उन्हें अधिक अवसर मिलता तो वे सत्य को उसकी अधिकाधिक समग्रता में पकड़ सकते थे।

यदि इसे दुःसाहस न माना जाए तो एक बार यशपाल के ‘झूठा सच’ को सामने रखकर इस उपन्यास पर विचार करना आवश्यक लगता है। नारी के सम्बन्ध में अश्व की धारणा है—

“जाने नियति ने उसके भाल पर नीला का भाग्य लिखा है, या चन्दा का ?

...क्योंकि इससे अलग भाग्य निम्न-मध्यवर्ग की लड़कियों का नहीं है। जाने कब होगा ? शायद तब, जब वे सचमुच आज़ाद होंगी और भेड़-बकरियों की अपेक्षा उनकी स्थिति भिन्न होगी। एक झटका—एक पुरजोर झटका और निम्न-मध्यवर्ग को इस तंग घेरे में बाँध रखनेवाली दीवारें ढह जायेंगी।”

नारी पात्र-रचना में अश्व का दृष्टिकोण इस सीमा के भीतर घूमता रहा है, अतः उनके समस्त नारी पात्र इस सीमा के उदाहरण बनकर पीछे हट जाते हैं। प्रत्येक नारी उपन्यासकार द्वारा उसके चारों ओर खींची हुई लक्ष्मण-रेखा से घिरी रहने के कारण परवश होकर जीती है। उसकी यह सीमारेखा एक हद तक स्वीकार भी की जा सकती है, किन्तु उसे कोई भी पाठक नहीं हजम कर पाता कि उसके मन में इस स्थिति से कोई असन्तोष उत्पन्न नहीं होता है। वह परिस्थितियों से झुझने की बात भी नहीं सोच पाती है। यह आश्चर्यजनक है कि इस समस्त परिवेश में एक भी नारी तो ऐसी नहीं है, जो खलकर सामने आने का साहस दिखा सके (और यदि कोई ऐसी

रही होती तो उपन्यासकार का ध्यान उसकी ओर अवश्य गया होता)। असाधारण मनोवृत्ति वाली नारियाँ कुछ भिन्न दिखाई देती हैं, जिन्हें देखकर और निराशा होती है।

यशपाल के 'झूठा-सच' की नारी इससे भिन्न है। वह चरित्रहीन पति से संघर्ष करती है। चली आती हुई मान्यताओं से जब उसे कार्य चलता दिखाई नहीं देता तो वह बदलते हुए समाज के नए कानूनों की सहायता लेती है। विभाजन की मारी मर नहीं जाती, जूझती हुई अपना भाग्य बनाती है। साहस के साथ आगे बढ़ती हुई वीभत्स वर्तमान को बदलने में समर्थ सिद्ध होती है। यह महत्त्वपूर्ण नहीं है कि वह भविष्य को अपने अनुकूल बना लेती है; महत्त्वपूर्ण तो यह है कि वह आस्थावान है और आस्था रखकर संघर्षरत होती है। क्या ही अच्छा होता, अश्व ने ऐसे एक भी पात्र का दर्शन जालंधर के सारे समाज में किया होता। यह हो नहीं सकता कि वहाँ कोई उचित साधनों का उपयोग करके संघर्ष न कर रहा हो।

यह सब न दिखा पाने का कारण है चेतन के माध्यम से उपन्यासकार का यह सोचना कि "लोग अपने गम से सन्तुष्ट हैं। दुःख को अनिवार्य जान, हथियार डालकर वे अपनी नियति को निर्विकार रूप से स्वीकार कर लेना ही श्रेयष्कर समझते हैं।" १

अन्त में, शैली-शिल्प के सम्बन्ध में एक बात कहनी है। कुछ समीक्षकों ने इसे उपन्यास नहीं माना है, कहानियों का संकलन मात्र कहा है। उनका आरोप है कि इसमें उस प्रभावान्विति का अभाव है जो किसी कृति को उपन्यास की संज्ञा दिलाती है। इस सम्बन्ध में यह विचारणीय है कि प्रत्येक श्रेष्ठ उपन्यास परम्परा से जुड़ा रहकर भी उससे भिन्न होता है। यह भिन्नता सामान्य समीक्षक को चींकाती है। सम्भवतः यही भिन्नता उसकी श्रेष्ठता का प्रतिपादन है। विवेच्य उपन्यास की शैली नवीन है और यही उसकी विशेषता तथा शक्तिमत्ता है। अनेक पात्र, अनेक स्थितियाँ, अनेक घटनाएँ, अनेक गलियाँ तथा मुहल्ले, अतीत और वर्तमान इसी शिल्प से जुड़ सकते थे और जुड़े हुए हैं। उपन्यास के क्षेत्र में इसे एक नवीन प्रयोग—सफल प्रयोग कहा जाना चाहिए। यदि उपन्यास मानव-जीवन का चित्र देता है तो उस शिल्प की खोज को, जो उसे उसकी अधिकाधिक पूर्णता तथा वैविध्य में प्रस्तुत करने का प्रयास करे स्तुत्य ही कहा जायगा। इतने अल्पकाल में इतना देखना और दिखाना इस 'आईने' की सफलता है। इसमें ऐतिहासिक, आत्मकथात्मक, विवरणात्मक आदि परम्परा-प्राप्त पद्धतियों का ही नहीं, वरन् रिपोर्ताज, संस्मरण, रेखाचित्र, डॉकुमेण्ट्री, दिवास्वप्न, पूर्वस्मृति, फ्लैश बैक, प्रतीकात्मक आदि अनेक नव्यतम शैलियों का भी आवश्यकतानुसार प्रयोग है। इससे उपन्यास का क्षितिज तो विकसित हुआ है और सम्भावनाएँ बढ़ी हैं, किन्तु पाठक को सत्यशोधन की दिशा में अधिक प्रेरणा नहीं मिलती है। सब मिलाकर उपन्यासकार को बधाई देना उचित होगा।

१. वही, पृष्ठ १२१।

‘कब तक पुकारूँ’

‘मुदों का टीला’ के उपरान्त रांगेय राघव का सर्वाधिक चर्चित और लोकप्रिय उपन्यास ‘कब तक पुकारूँ’ है। रांगेय राघव के समूचे कृतित्व के खोफनाक ह्रादसे ने इस कृति पर सत्यापेक्षित समीक्षा-मुलम्मा चढ़ने से कुण्ठित कर दिया। आज यह अपेक्षित है कि नये आयामों में इस कृति का पुनर्मूल्यांकन किया जाए।

: १ :

‘कब तक पुकारूँ’ की आंचलिकता पर हास्यास्पद निष्कर्ष, विभिन्न शोध-ग्रन्थों एवं इतर समीक्षात्मक निबन्धों में दिये गए हैं। आंचलिकता, जिसकी संज्ञा किसी एक अंचल अथवा क्षेत्र, उसके भाग या किसी गाँव के प्रतिपाद्य या विवेच्य सामग्री से दी जा सकती है, उस प्रदेश या अंचल के रीति-रिवाजों, लोकाचारों, परिवेश-संज्ञा, प्राकृतिक परिपाश्वर्य, नैतिक-सामाजिक मान्यताएँ आदि तत्त्वों से समन्वित होती है।

राजस्थान और ब्रज प्रदेश के सीमान्त पर बसा हुआ वैर नामक ग्राम और उसके परिवेश में खानाबदोश जीवनयापन करने वाले जरायमपेशा नट ही ‘कब तक पुकारूँ’ की कथा के उपजीव्य रहे हैं। आज झील भी वहीं है, अधूरा किला भी, करनटों के डेरे भी। यहाँ तक कि आज से चार वर्ष पूर्व कथानायक सुखराम भी जीवित था। इन करनटों के लोक-जीवन, लोकगीतों, आचार-विचार, जनपदीय संस्कृति, उनके मध्यकालीन अन्धविश्वास, भाषा, सामाजिक भीरुता और शोषण, अनैतिकता आदि का वर्णन आंचलिकता का अंश है। इन जरायमपेशा करनटों में यौन स्वच्छन्दता है। उनकी स्त्रियाँ परायों के साथ रात काटती हैं। ‘सेक्स’ के आधार पर उनके यहाँ कोई बुराई नहीं। पुलिस और उच्चवर्ग द्वारा भोग्या होने पर उनका कथन होता है ‘औरत का काम तो औरत को ही करना पड़ता है।’ इन्हीं करनटों के समाज का प्रतिबिम्ब ‘कब तक पुकारूँ’ में है।

रांगेय राघव की आंचलिकता बिछलती है, जबकि नृतत्व-शास्त्र का ज्ञान उस पर हावी हो जाता है। सुखराम ने उस कथा को ‘भय्याजी’ (रांगेय राघव) को जड़ी-बूटी के साथ ही नहीं पिलाया, अपितु रांगेय राघव ने न जाने कितनी शामें उनके रीति-रिवाज, व्यवहार और संस्कृति के अध्ययनार्थ फुलवाड़ी में पड़े उनके तम्बुओं के पास व्यतीत की थीं। यही कारण है कि ‘कब तक पुकारूँ’ का वह सशक्त माहौल प्रत्यक्षा-नुभूति की गहरी पतों पर उतरता चला गया है।

भाषा, उस आंचलिकता की सबल अभिव्यक्ति रही है। उस भाषा में जहाँ एक ओर प्रेमचन्द की भाषा की तरह स्वाभाविकता है, दूसरी ओर करनटों की समीपी भाषा का गहन-बोध। लेखक के स्वयं के उद्बोधन को छोड़कर, शेष भाषा खड़ी बोली की ओर किंचित् कोण बनाती हुई विकृत ब्रज भाषा है, जिसमें ब्रज की ओकारान्त संज्ञाएँ भी हैं। ण के स्थान न और ष तथा श के स्थान पर स का प्रयोग भी, जिसमें

जुआरा, ढाँढीनों, गचक, जापा, छेंड, सिलिया, पारसा, दारी, धुकाए, लुगाई, बैय्यर, दोच, मुट्ट, दासा, किच्चा, कण्टान, गाँस, मलूक, मट्ट, साँसत जैसे देशज हैं तो परजा, सुपना, जोवन कोसिस, आसिक, नैक, दगरा, वासन, सौक, मसामूँद, परायना, मनी, जगार, सूका, न्याव, चामड़, औतार, डौर, डांगर, बनैनी, दुवाई, सरग जैसे विकृत और तद्भव शब्द हैं। विदेशी शब्दों में अंग्रेजी और उर्दू के प्रचलित एवं ग्राह्य शब्दों का प्रयोग हुआ है। अपशब्दों में दारी, चमको, चौदिस, साला, भंगी, परमेसुरी, रंडी, नासपीटे, दईमारी, कड़ीखाया, चुड़ैल, छिनाल, उल्लू का पट्टा आदि ऐसे शब्द हैं जो ब्रज प्रदेश में प्रचलित हैं। इस भाषा में स्थानीय कहावत और मुहावरों का इतना अधिक प्रयोग हुआ है कि एक कोश तैयार किया जा सकता है।

नाद-व्यंजना के साथ-साथ भाषा में सहज-प्रवाह और एकान्विति का अपूर्व सामंजस्य है। इस भाषा में ‘मैला आँचल’ की भाँति अनगढ़, तुकीली टोरियों की चुभन नहीं है, यही कारण है कि विवेच्य उपन्यास में भाषा-सम्बन्धी सम्प्रेषणीयता और आंचलिकता अधिक है, यहाँ तक कि इसके प्रतीक और दृष्टान्त भी आंचलिक हैं— ‘मेरा मन घुमड़ आया था। आज बहुत दिन में वह फिर मेरे पास आ गई थी। आज हम दोनों खेतों के बीच की डीर ढह गई थी और खेतों में ढाने से ढेर-ढेर पानी बहकर इकट्ठा हो रहा था। आज मेरा और उसका प्यार उस गेहूँ की तरह से निकल आया था, जो बँलों के खुरों से दायें में चिर-चिरकर ऊपर की जाली फाड़कर निकल आता है। अभी तक मैं बाँस पर नाच रहा था और जान के खतरे में झूल रहा था, पर अब मैं उसके पास घरती पर उतर आया था, जहाँ कोई साँसत और जोखम नहीं दिखाई देती थी। आज के वूकरा के बरसाने पर तूरा अलग गेहूँ अलग हो गया था।’

रांगेय राघव शिल्पगत प्रयोगों में अपनी विशिष्टता रखते थे। ‘काका’ को स्थानीय वातावरण (local colour) में रंगकर, उन्होंने नये प्रयोग को ‘कब तक पुकाहूँ’ में रूपायित किया। अतः यह समझना निर्मूल है कि ‘कब तक पुकाहूँ’ ‘मैला आँचल’ की लोकप्रियता से अभिभूत होकर लिखा गया था। सम्भवतया ऐसा कहने वालों को यह ज्ञात नहीं है कि ‘कब तक पुकाहूँ’, ‘मैला आँचल’ से पूर्व लिखा गया था, छपा वाद में था।

इन दोनों उपन्यासों की आंचलिकता में बहुत बड़ा अन्तर कथा-तत्त्व का है। ‘मैला आँचल’ में जहाँ खण्ड-चित्रों से प्रभाव-ऐक्य और पात्रीय संवेदना उरेहती नहीं है, वहाँ ‘कब तक पुकाहूँ’ की एकान्विति और पात्रीय संवेदना अधिक उजागर है। यह बात दूसरी है कि रांगेय राघव का कथा-गुम्फन उस अहसास को एक झटका देकर विघटित कर देता है।

विवेच्य उपन्यास की आंचलिकता इतिहास, पुरातत्त्व और नृतत्वशास्त्र के ज्ञान से परिपुष्ट तथा कल्पना, अनुभूति और चिन्तन से समन्वित है। एक ओर जहाँ लेखक ने ‘कब तक पुकाहूँ’ में स्वतन्त्रता-पूर्व के सामाजिक, आर्थिक, नैतिक और राजनीतिक परिवेश में नट-जीवन का चित्रण किया है, दूसरी ओर स्वातन्त्र्योत्तर भारत के बदलते मूल्यों में उनके जीवन को आँकने का भी प्रयास किया है।

‘कब तक पुकारूँ’ को किसी भी आयाम में परखने से पूर्व लेखक के स्वयं के परिवेश और उसी स्थापनाओं को ध्यान में रखना आवश्यक है। इस उपन्यास पर ‘गोरखनाथ’ के परिप्रेक्ष्य में किये गए मध्यकालीन चिन्तन का प्रभाव है। इसी कारण मध्यकालीन अन्धविश्वास और मान्यताएँ बीच-बीच में मुखर हुई हैं। वह समस्त माहौल पितृसत्तात्मक परिवार का है, जहाँ चन्दन भंगी पाँच बीवियाँ रखता है। वह दिन-भर बैठा रहता है। औरतें मैला साफ़ करती हैं। काम न करने पर वह उन्हें अपशब्द भी कहता है। जहाँ सुखराम दरोगा से बदला लेने के लिए हाँडी चलवाता है। मरघट जगाने के लिए गुह्य साधना, मद्यपान, बलि आदि प्रकरणों को जुटाने का उपक्रम करता है। जहाँ यह विश्वास किया जाता है कि चुड़ैल नंगी होकर अमावस की रात को अंधियारी में जरख पर बैठकर मरघट जाया करती है। जहाँ करनट अकाल पड़ने पर अपने पति और बच्चे के लिए गाँव में जाकर परायों के संग रातें काटकर कमाकर लाती थी। जहाँ प्यारी कहती है कि कड़्यों के साथ सोने पर मेरा क्या बिगड़ गया है। जहाँ नट राजा को बाप और भगवान् का ‘औतार’ मानते हैं। जहाँ माली मन्त्रों से सर्प के विष को थाली पर उतार देता है। ठकुरानी के पुनर्जन्म की कल्पना भी उस मध्यकालीन अन्धविश्वास का ही एक रूप है। ये समस्त विश्वास मध्यकालीन आर्थिक व्यवस्था से नियन्त्रित हैं, जिन पर मध्यकालीन सामन्ती प्रभाव भी है। उस माहौल में चमार, करनट को अपने घर घुसने नहीं देते, परन्तु करनट मेहतर का हुक्का नहीं पीते हैं। मेहतर भी करनटों की पत्तल नहीं उठाते हैं। लेकिन ठाकुर करनटनियों के साथ एक ही प्याले में शराब पीते हैं। उनका उत्तर होता है— हम उनमें लीन हो जाते हैं। भला-बुरा काम करते हैं। लेकिन यौन-परिकल्पनाएँ निस्सन्देह आदिम समाज की हैं।

रांगेय राघव पर दूसरा प्रभाव बाबू देवकीनन्दन खत्री के तिलिस्मी उपन्यासों और ‘ऐयाश मुर्दे’ में संकलित रहस्य और रोमांच से परिपूर्ण उन कहानियों का जो रांगेय राघव द्वारा अनूदित हुई हैं। अधूरे किले के परिवेश की भयानकता में उपन्यास का प्रारम्भ भय, रोमांच और बीभत्स के साथ होता है। जैसा कि तिलिस्मी उपन्यासों में औत्सुक्यता का तत्त्व पाया जाता है, वह ‘कब तक पुकारूँ’ के प्रारम्भ में है। झील के माध्यम से जो राह अधूरे किले तक बताई और चित्रित की गई है, वह निश्चित ही ‘भूतनाथ’ और ‘चन्द्रकान्ता’ के किसी भी तिलिस्मी मार्ग से कम नहीं है।^१ फिर हड्डियों की ठठरी ‘ऐयाश मुर्दे’ की कहानियों में वर्णित मुर्दों की ठठरी से भिन्न नहीं है। औत्सुक्यता के प्रशंसक रांगेय राघव अपने उपन्यास में भी उसे अनिवार्य तत्त्व समझ बैठे हैं।

१. वस्तुतः इस प्रकार के मार्ग का अस्तित्व उस झील और बावड़ी में होकर कहीं नहीं है। रांगेय राघव का अवचेतन मन बाबू देवकीनन्दन खत्री से अवश्य ही अभिभूत रहा होगा क्योंकि डॉ० रांगेय राघव लेखन की थकान इन्हीं उपन्यासों को पढ़कर मिटाते थे। उनका कथन था कि कल्पना-वैभव में खत्री से बढ़कर कोई उपन्यासकार नहीं है। ‘कब तक पुकारूँ’ के पृ० ३१६ पर ‘भूतनाथ’ उपन्यास का उल्लेख इस कथन का साक्ष्य है।

प्रगतिशील विचारधारा का प्रच्छन्न रूप भी कयानक परछाया हुआ है। एक ओर सामंती व्यवस्था का भूत पुकार रहा है। लहू से जिसकी नीवें तक रंगी हुई हैं। दूसरी ओर करनटों का खानाबदोश समाज है, जो घोर उत्पीड़ित है, जिनकी स्त्रियों को पुलिस की वासना का शिकार होना पड़ता है, जिन्हें अकारण ही बन्दी बना लिया जाता है। बड़ी जाति के लोग जिनसे नाजायज ताल्लुक रखते हैं।

वर्ग-संघर्ष का केवल आर्थिक पहलू प्रस्तुत करना रांगेय राघव का अभीष्ट नहीं रहा। उस प्रगतिवाद में मानवतावाद के वे स्वर हैं जो किसी कृतिकार को संकुचित सीमाओं की परिधि से मुक्त कर वृहत् लक्ष्य की ओर उन्मुख कर देते हैं। रांगेय राघव का यह प्रगतिवादी दृष्टिकोण ध्वंसात्मक न होकर सृजनात्मक है। शोषण के प्रति आक्रोश होते हुए उसकी चरम परिणति मानवतावाद में है—“शोषण की घुटन सदैव नहीं रहेगी। वह मिट जायेगी। सत्य सूर्य है। वह सदैव मेघों से घिरा नहीं रहेगा। मानवता पर से यह बरसात एक दिन अवश्य दूर होगी और तब नई शरद् में नये फूल खिलेंगे, नया आनन्द व्याप्त हो जाएगा।”

रांगेय राघव के स्वयं के परिवेश का एक विचारणीय पक्ष उनका कवित्व भी है। प्रकृति-परिवेश और ग्रामीण अंचल के परिवेश में नयनगोचर, भव्य, संश्लिष्ट चित्र कविजन्य कल्पना से अनुप्रेरित हैं। रांगेय राघव मूलतः कवि थे। उदर-भरण के लिए अन्य विधाओं में रचित साहित्य ने उनकी सजग और स्फुरणशील चेतना को कुण्ठित कर डाला। इसमें कोई सन्देह नहीं कि रांगेय राघव को वर्णन-शक्ति की अद्भुत क्षमता प्राप्त थी। अनेक स्थलों पर लेखक की अतिशय भावुकता और रूमानी प्रकृति इसकी साक्षी है। यही कारण है कि वह स्थल चाहे चमरखोर का हो, चाहे सुखराम के घायल होने पर कंजरी का करुण क्रन्दन हो, चाहे रुस्तमखाँ की सुजाक-वेदना का हो, चाहे कजरी और प्यारी का व्यंग्य-विलास हो, सर्वत्र वर्णन-चमत्कार और लेखनी की प्रखरता परिलक्षित होती है। बाँके द्वारा धूपो के साथ किये गए बलात्कार का माहौल और उसके विलाप का जो संवेदनशील वर्णन हुआ है, वह वस्तुतः श्लाघनीय होने के साथ-साथ उपन्यास का श्रेष्ठ अंश है। परन्तु वर्णन करते-करते रांगेयराघव इतने भावुक हो उठते हैं कि अचेतन में परिव्याप्त नाटकीयता से अपने को असम्पृक्त नहीं कर पाते। यही कारण है कि धूपो के विलाप और भीड़-प्रतिक्रिया में अबूझी, अवाचित नाटकीयता है। कहीं-कहीं संवेदना को इतना गहरा रंग दिया है कि प्रकृति भी संवेदित हो उठती है। धूपो को बलात्कार के लिए विवश कर दिया गया है, उस समय का वर्णन है :—

“अँघियारा और घना हो गया और कोई भी तारा जैसे उसकी पतंगों को हटाने और काटने में असमर्थ हो गया। खेतों में हवा सनसनाने लगी और दूर-दूर तक आकाश में भागती फिरती यातना-सी कर उठती। और फिर जैसे आत्मीयता का चीत्कार करती हुई रोने लगती। उनकी अपनी सत्ता आप लज्जा से झूब रही। कुएँ की उदासी निकलकर अब उसकी जगत पर पड़े चरस में भर गई।”

रुस्तमखाँ के घर में हुए अग्निकांड के वर्णन से पाठकों को पुनः चमत्कृत होना

१६८. : 

पड़ता है—“अगर अब कभी भालों की दीवार की तरह सीधी खड़ी हो जाती, और फिर हवा के विरुद्ध अपने हजारों हाथों में तलवारें लेकर दाएँ-बाएँ चलाती और कभी-कभी जब हवा कहीं हटने का उपक्रम करती तो तीरों की बौछार की तरह उस जगह टूटती और फिर वहाँ सिंह की भाँति शिकार को फाड़कर उसके लाल-लाल रक्त को बहा देती।”

ऐसे स्थलों पर रांगेय राघव की भाषा प्रसंगानुकूल ओज, माधुर्य और प्रसार में पैगें भरने लगती है।”

: ३ :

कथा-संरचना की दृष्टि से रांगेय राघव ने चार पीढ़ियों की कथा को एक साथ समाहित करने का प्रयास किया है। इससे कथानक इतना बोझिल हो गया है कि कथा-सूत्रों में बिखराव आ गया है। जहाँ एक ओर संवेदनात्मक, हृदयग्राही और मार्मिक स्थल हैं, दूसरी ओर अनावश्यक विस्तार से लेखक अपने को बचा नहीं सका है। ६२८ पृष्ठों के इस उपन्यास को यदि ३४७ पृष्ठों में ही समाप्त कर दिया जाता तो कथानक का कसाव मोहक बन जाता। ‘चन्दा’ के आविर्भाव की ३०० पृष्ठों की जो कथा गढ़ी गई है,^२ वह उपन्यास के ठहराव और शैथिल्य की द्योतक है। लेखक ने जिस क्षिप्रता और विस्फोट के साथ कथा का प्रारम्भ किया है, अन्त तक उसका निर्वाह नहीं कर पाया है।

: ४ :

विवेच्य उपन्यास में त्रिकोणात्मक प्रमुख पात्र-विधान किया गया है। सुखराम, प्यारी और कजरी के चारों ओर कथा घूमती है। सुखराम अपने को अभिजात्य वर्ग का समझता हुआ, अभिजात्य के संस्कारों के अस्तित्व को बनाये रखने का प्रयास करता है। परन्तु परिवेश और संस्कारों के संघर्ष में परिवेश विजयी होता है। कजरी द्वारा भ्रष्ट प्यारी से उसका विवाह हो जाता है। अपने को ठाकुर कहने पर (यह उसकी मानसिक विकृति समझी जाती है) उसे ‘नटी का जाया’ आदि व्यंग्य-वाणों को सहन करना पड़ता है। परिवेश-जन्य वैषम्य होने पर भी उसकी इच्छा-शक्ति कुण्ठित नहीं होती है। वह लौ उसके हृदय में निरन्तर जलती रहती है। अधूरा किला, मानो उसके कुण्ठित और टूटे हृदय में अभिजात्य गौरव पाने का प्रतीक है। पुलिस, समाज (उच्चवर्ग) और उसके स्वयं का परिवेश वे अवरोध हैं, जिनके प्रति सुखराम के हृदय में तीव्र विद्रोह है, अनास्था है। विद्रोही हृदय की विफलता उसे और भी विकल

१. कजरी-सुखराम, कजरी-प्यारी की जुहल और निस्सार बतियाने में, दीना द्वारा कही गई दीर्घ कथा में और डाकू प्रसंग में यह अनावश्यक विस्तार है।

२. अ—इसके परिपार्श्व में, सम्भवतया, बदलते मूल्यों में करनटीय जीवन को दिखाने का उद्देश्य रहा है। यह भी सम्भव है कि मानवतावादी दृष्टिकोण की व्यंजना को इस कथा-सूत्र को पकड़ना पड़ा हो।

आ—परवर्ती कथा के शैथिल्य होने के दो कारण रहे हैं :

(१) एक ही बैठक में उपन्यास की परिसमाप्ति का संकल्प।

(२) अपनी लिखी हुई कृति को दुबारा पढ़ने और चिन्ता न करने की प्रवृत्ति का अभाव।

कर देती है। उसके हृदय की सम्पूर्ण अनिच्छाओं के बावजूद भी जब समाज के प्रति-शोध की प्यासी प्यारी रस्तमखाँ सिपाही की रखैल बन जाती है तो मुखराम का हृदय टूट जाता है। मुखराम उस टूटने के बाद भी पत्नी का गुलाम नहीं बनना चाहता है। उसके अभिजात्य होने का बंध विफर पड़ता है। लाचारी, विवशता और कुण्ठा भी उसके अहं को कुचल नहीं पाते हैं। प्यारी जब उससे कहती है तू नहीं जा सकता, तो मुखराम शोध से कहता है—‘तो क्या मैं तेरी चाकरी करूँगा हरामजादी !’ लेकिन परिवेश से कुचला हुआ निरीह मुखराम, प्यारी के सामने हथियार डाल देता है। वह रस्तमखाँ से कहता है—‘सरकार ! आप मुझे दो दिन को थाने भेज दो। फिर रहम करके मेरी बोली लगवा दो। रोज़ हाजिरी दे जाया करूँगा। आपकी भी रह जायगी, प्यारी की भी रह जायगी। सरकार ! मुझ पर से भी बोझ उतर जाएगा।’

बघेर से निहत्था लड़नेवाला, डाकुओं को अपनी शक्ति से आक्रान्त करनेवाला, बाँके और उसके बीसों गुण्डों के छक्के छुड़ाने वाला, वीर और निडर मुखराम, समाज, सामन्तवर्ग और पुलिस के सामने भोगी-विल्ली बन जाता है। अपनी समस्त कमजोरियों के बावजूद भी वह मानवतावादी भावनाओं से ओत-प्रोत है। अपने प्रतिद्वन्द्वी रस्तमखाँ के सूजाक की चिकित्सा, समस्त दुर्भावनाओं के बाद भी प्यारी की चिकित्सा, पशुत्व के उन्नयन के झीने पर्दे को हटाकर प्यारी में देवीत्व के दर्शन, धूपों की रक्षा, कजरी को आश्रय और सूसन की प्राण-रक्षा के मूल में वही भावना निहित है। प्यारी की मृत्यु पर उसका मानसिक आघात उसके तीव्रतम प्रेम का परिचायक है।

प्यारी जिस परिवेश में जन्म लेती है, उसकी समस्त विसंगतियाँ उसके चरित्र का अंग बन जाती हैं। मुखराम से विवाह होने पर भी वह कंजरो के यहाँ पड़ी रहती है, शराब पीती है। दरोगा की भोग्या होने पर वह मुखराम से कहती है—मेरा क्या बिगड़ गया है ? उन ठाकुरों से बदला लेने के लिए, जिन्होंने अपना काम साधकर उसे दुश्मनी के स्थान पर इकननी प्रदान की थी, उस निरोती ब्राह्मण से प्रतिशोध लेने के लिए, जो अपना काम निकालकर पूरी गुड़ की भेली देने को कहकर मुकर गया था, और हुकूमत करने की उद्दाम लालसा लेकर, वह रस्तमखाँ की रखैल बन जाती है। उसकी नैतिकता का मापदण्ड है—‘नाता जोड़ना और बात है, मन की होकर रहना और बात है।’ वह दूसरों से नाता जोड़ती हुई भी मुखराम के मन की होकर रहना चाहती है। उसकी आँखें खुलती हैं, जबकि रस्तमखाँ को सूजाक का रोग हो जाता है और उसका वास्तविक रूप उसके सामने आ जाता है। कजरी का बढ़ता हुआ अबाध अधिकार भी उसकी आँखों में खटक जाता है। अन्त में कजरी से इतना स्नेह हो जाता है कि उसके लिए पेट में लात खाती है, रस्तमखाँ से, और इहलीला समाप्त कर देती है।

कजरी भोगायित होते हुए भी, मुखराम से विवाह करने के उपरान्त, प्रति-निष्ठ बनने में पूर्ण सफल होती है, यहाँ तक कि बाँके द्वारा मुखराम के घायल होने पर, उसका करुण-क्रन्दन अत्यन्त संवेदनशील हो उठता है। वह बाँके से प्रतिशोध लेने की प्रतिज्ञा करती है, जिसे अन्त में पूर्ण कर लेती है। उसमें नारीमुलभ ईर्ष्या,

१७० : आलोचना

पति पर अधिकार की अबाध लालसा, ममता और मोह भी है। सूसन की रक्षा के गर्भवती होते हुए भी, लारेंस की लात सहती है।

विवेच्य उपन्यास में मानवीय संवेदनाओं को उभारने में रांगेय राघव को सफलता प्राप्त हुई है। यथार्थवादी दृष्टिकोण के साथ पैनी सूझ, चिन्तन की गरिमा और लौकिकानुभूति की गरिमा अपने सम्यक् रूप में निखरकर इस उपन्यास में आये हैं। कथा-संरचनाओं के शैथिल्य होने और नाटकीयता से युक्त होने के बाद भी उपन्यास ग्रामीण अंचल की अभिव्यक्ति में अपने ढंग का सशक्त और अनुठा उपन्यास है।

डॉ० लक्ष्मीधर मालवीय

यह पथ बंधु था

इस देश के पिछले पचास वर्षों का इतिहास अत्यन्त घटनासंकुल रहा है, हालाँकि इनमें से अधिकतर घटनाएँ राजनीतिक थीं। भले ही यह सम्भव है कि आने वाले पीढ़ियों की दृष्टि में यह काल-खण्ड केवल रोचक घटनाओं का पुंज मात्र माना जाए, हमें इन पचास वर्षों का लेखा-जोखा प्रामाणिक इतिहास-ग्रन्थों में और कदाचित् उससे भी अधिक, राजनेताओं की प्रसिद्ध आत्म-कथाओं में अवश्य मिल सकता है, लेकिन कोई भी या सभी दृष्टियाँ एक सामान्य व्यक्ति की दृष्टि से इस समय के सामाजिक इतिहास को रिकार्ड नहीं कर पातीं। अतः श्री नरेश मेहता का लक्ष्य 'यह पथ बंधु था' में 'उस काल के मानव को प्रतीक रूप में प्रस्तुत करना' रहा है। यह कृति, मीन तौर पर कहें तो, छायावाद-काल के राजनीतिक-सामाजिक परिप्रेक्ष्य में व्यक्ति-मन का आकलन करती है।

भारतीय स्वभाव के निकट सबसे बड़ा गुण माना गया है—मौन सहनशीलता। चुपचाप झेलते जाना। शायद यह विशेषता इस सीमा तक किसी भी अन्य देश में नहीं पाई जाएगी। क्रमशः यह मौन और सहनशीलता हमारे न केवल स्वभाव और हमारे जीवन-पद्धति का हिस्सा हो गया है बल्कि हमने इसे विराग के रूप में एक दार्शनिक ऊँचाई भी दे दी है। (इस सम्बन्ध में उल्लेख्य श्री अज्ञेय की २६-७-६५ को आकाशवाणी दिल्ली से प्रसारित वार्ता।) पिछले कुछ दशकों का राजनीतिक इतिहास इस मौन सहनशीलता की बाह्य अभिव्यक्ति है—और भारतीय विभिन्न साहित्यिक क्षेत्रों में छायावादी दृष्टिकोण (कविता नहीं, दृष्टिकोण) उसकी साहित्यिक परिणति या निष्पत्ति ! इस मौन सहनशीलता का सबसे अधिक सशक्त रूप में, और विस्तार से, वर्णन किया है श्री नरेश मेहता ने अपने इस उपन्यास 'यह पथ बंधु था' में। उपन्यास को पढ़ते हुए बहुधा तो यह सन्देह होता है कि क्या पात्रों की अपेक्षा इस व्यापक मौन के पड्यन्त्र का चित्रण करना ही उपन्यासकार का प्रमुख लक्ष्य तो नहीं ? लेकिन नहीं, उपन्यासकार की दृष्टि में वह प्रासंगिक ही है।

वस्तुतः यह मौन सहते जाने की दारुण यन्त्रणा एक प्रकार से काल का पड्यन्त्र ही है, हालांकि इस बीच के युग की पीढ़ियों का निर्माण इस मौन सहनशीलता के बारीक तारों से हुआ था और (यदि कोई कह सके कि वे पीढ़ियाँ असफल थीं तो) उसकी असफलता का कारण भी इन्हीं तत्त्वों में निहित था । 'यह पथ बंधु था' में श्रीधर ठाकुर का प्रतीकरूप चरित्र इसका सबसे अच्छा उदाहरण है ।

श्रीधर का व्यक्तित्व सदा दूसरों के हाथों आकार पाता है । बाल्यावस्था में श्रीधर का अधिकतर समय आभिजात्य गुणसम्पन्ना इंदु दीदी के पास बीतता है—एक तरह से श्रीधर की मानसिक संरचना में उन्हीं का सबसे प्रमुख हाथ था । श्रीधर सचमुच 'दीदी के आँचल में बँधा बोलता खरगोश' (पृ० १३०) था । शायद उसे जीवन के लिए इतना थोड़ा-सा पाथेय देकर इंदु दीदी व्याहता हो अपनी ससुराल चली जाती हैं । इसके बाद श्रीधर को पूरा जीवन निःसंग भाव से समय को झेलते जाना है । 'दीदी के जाने के बाद वह चुप्पा ही होता चला गया ।' (पृ० १४६) 'अब श्रीधर के लिए दीदी भी क्रमशः दूरागत ध्वनि होती जा रही थीं । दीदी ही उसके लिए घटना थीं और अब वह निश्चय ही घटनाहीन था ।' (पृ० १५५) 'सबमें जैसे कोई अज्ञात प्रतीक्षा थी जिसे वे अज्ञात रूप से जिये जा रहे थे ।' (पृ० १५६) उसके आसपास अनेक घटनाएँ घटित हुईं, लेकिन जैसे वे घटनाएँ उसके लिए नहीं थीं—इन्दु दीदी विधवा हो गई, श्रीधर विवाहित हुए, मिडिल पास होकर उसी स्कूल में अध्यापक हो गए और तीन सन्तानों के पिता भी बन गए । लेकिन रहे वे वैसे ही अनिर्णीत—राज्य के इतिहास में श्रीमन्तों को आदरसूचक सम्बोधन देने की अपेक्षा 'कल जब वे त्यागपत्र दे देंगे उसके बाद क्या होगा ? कौन जाने ?' (पृ० १६१) वह इसी मनःस्थिति में एक दिन मुँह-अँधेरे नियति-चालित-से, सिद्धार्थ की तरह पत्नी-बच्चों, माता-पिता, घर-परिवार और अपनी जन्म-भूमि छोड़ देते हैं—वह स्वयं नहीं जानते, जाने कब तक के लिए ! उज्जैन पहुँचते हैं, लेकिन वहाँ भी उन्हें लगता है कि 'यहाँ से भी आगे, कहीं दूर जाना होगा । लेकिन कहाँ ?' (पृ० १८१) जाड़े की उस रात को वह स्टेशन की बेंच पर काटते हैं, लेकिन अगली सुबह होते ही गाँव से खोजने के लिए आए किसी व्यक्ति द्वारा देख न लिए जाएँ, इसलिए सामने खड़ी इन्दौर वाली ट्रेन पर चढ़ जाते हैं । इन्दौर में जिस सराय में वह ठहरते हैं उसके सामने से नारे लगाता एक जुलूस गुजरता है । यह जानकर कि यह स्वराजियों का जुलूस है, श्रीधर बावू अनायास ही साथ हो लेते हैं । वह बिशन बाबू के सम्पर्क में आते हैं, जो सर्वहारा कोटि के राजनीतिक कार्यकर्ता हैं । वह मजदूरों के जीवन से भी निकट से परिचित होते हैं—सायंकाल के समय वह मजदूर बस्ती की पाठशाला में पढ़ाने जाते हैं ।

ये घटनाएँ श्रीधर के ऊपर से बिना उस पर कोई छाप छोड़े गुजरती जाती हैं । श्रीधर अभी से ही बहुत-कुछ निरीह-से व्यक्ति हो गए हैं । बिशन इसका कारण समझता है; वह श्रीधर के साथ घूमते हुए इन्दु के लिए कहता है—'दीदियाँ अपने भाइयों को ऐसा ही बना जाती हैं... अपने जैसा निरीह । जैसा कि श्रीधर है !' (पृ० २३४)

इन्दौर आने के पश्चात् बिशन से भेंट, उसके जीवन में थोड़ा अपने को शामिल

१७२ : आलोचना

करने के अलावा श्रीधर के यायावरी जीवन की उल्लेख्य-उपलब्धि (!) है मालिनी—दूसरी दीदी ! इससे आगे उपन्यास का बड़ा भाग विशन, मालिनी और 'दीदीत्व' (पृ० २७८) को अर्पित है । दीदी श्रीधर के ही पास नहीं है, विशन के पास भी एक है । विशन आगरा से भागकर इन्दौर आये थे और श्रीधर की ही भाँति लक्ष्यहीन, समय व्यतीत करने के लिए पीपल्या टैंक पर बैठे थे । तभी वहाँ एक स्त्री आई और अंधेरा होने के बाद आत्महत्या करने के लिये ताल में कूद पड़ी । विशन ने उसकी प्राणरक्षा की । वह वेश्या थी और अपना घृणित जीवन समाप्त करना चाहती थी । वेहोशी टूटने के बाद वह कहती है—'विशन बाबू, कभी वेश्या का भाई बनने की कामना हो तो यह मालिनी, दीदी बनने को उत्सुक रहेगी ।' क्यों नहीं—और वह दीदी बना ले जाती है । कुछ दिनों बाद जब सराफा-बाज़ार से होकर जाते हुए विशन को मालिनी का नौकर घर बुला ले आता है तो मालिनी उसे भोजन कराती है; 'वेश्या के यहाँ का नहीं खिलाऊँगी । दीदी होकर छोटे भाई का ब्राह्मणत्व नहीं लूँगी ।' (पृ० २४८) इस प्रकार हम देखते हैं कि दोनों की एक-एक दीदियाँ हैं, हालाँकि दोनों दीदियों में अन्तर है, जिसमें 'सबसे बड़ी बात तो यह कि इन्दु श्रीधर की दीदी थी जबकि मालिनी विशन की दीदी है ।' (पृ० २७८) इससे बड़ी बात दूसरी हो भी सकती है । हालाँकि 'सबसे बड़ी बात तो यह' है कि लेखक इस 'दीदीत्व' की संगति, सायंकता या मात्र-उपयोगिता ही सही, पात्रों के जीवन में कहीं भी स्थापित करने में सफल नहीं हो पाता—यह विशेषकर विशन-मालिनी के सम्बन्ध में अधिक सही है : यदि मालिनी को कथा से बिलकुल हटा लें तो भी कोई विशेष अन्तर नहीं पड़ता ।

यह दीदीवाद पिछली पीढ़ी के लिए एक अनिवार्य-सी मानसिक आवश्यकता बन गई मालूम देती है । वही दीदीवाद इस उपन्यास का एक महत्वपूर्ण अंग है । यह दीदीवाद अन्यत्र भी है । दीदी 'बाणभट्ट की आत्मकथा' में भी है, लेकिन दृष्टि को मुक्त रखने के कारण खटकती नहीं । दीदीवाद शरत में भी खूब है, लेकिन उसे शरत के पात्रों और बंगाल की मिट्टी की बास का हिस्सा होने के कारण नज़रदाज़ कर दिया जाता है । लेकिन आधुनिक भावबोध के साथ दीदीवाद की संगति बिठाना कठिन लगता है, इसी कारण समसामयिक भावबोध वाले पाठक को सबसे बड़ी कठिनाई है इस दीदी-वादी दर्शन की कोई, कैसी भी व्याख्या करने की ! मनोविज्ञान की आधुनिक व्याख्याओं के आधार पर इसे किसी एक खाने में डालकर भी चलता नहीं किया जा सकता । जो भी हो, यह तो निश्चित है कि उपन्यासकार द्वारा इच्छित प्रभाव पाठकों तक नहीं पहुँचता है—'क्या यहाँ ऐसे ही हमेशा-हमेशा के लिए हम-तुम नहीं बैठे रह सकते ?' उत्तर में हँसती हुई इन्दु किंचित ज़ोर से उसके कान उमेट देती है ।' (पृ० १२७) थोड़ी देर बाद—'आज उसे दीदी जैसे बहुत बड़ी लग रही थीं । सम्भवतः पूर्ण युवती । दीदी ने उसे अपने से चिपटाते हुए कहा—'क्यों, तेरी दीदी को कहीं किसी के यहाँ जाना नहीं है क्या ?' (पृ० १२८) इसकी मनोवैज्ञानिक व्याख्या में उलझने की आवश्यकता नहीं—क्योंकि आज भी अनेक व्यक्तियों के लिए यह बड़ा 'डेलीकेट' विषय है—परन्तु है यह अवश्य ही एक मनोग्रन्थि—ठीक वैसे ही जैसे एक युवती का अपने युवक प्रेमी को पाँच

वर्ष का बालक मानकर उसका माथा चूम लेने का अस्वाभाविक आर्ष ! इस दीदीवाद की परिणति, स्वाभाविक है, सहज नारी को माँ-पद पर लाकर ही होती है—'विशन रे, किसी जन्म में तुझे अपने पेट से उत्पन्न देखना चाहती हूँ...' (पृ० २७५) रतना कहती है, 'दीदी ! 'माँ' कहने को मन करता है।' (पृ० ३०२)

विशन वास्तव में आतंकवादी दल का सदस्य है, यह श्रीधर को बाद में ज्ञात होता है। विशन ही वह छद्मनामधारी पड़यन्त्रकारी शक्तीकुल्ला है जिसकी खोज में पुलिस बड़ी सरगर्मी से लगी है। श्रीधर इन्दौर से बाहर जा रहा है, तभी स्टेशन पर अत्यन्त रहस्य-रोमांचक स्थिति में एक लँगड़े भिखारी के छद्मवेश में विशन से भेंट होती है और वे दोनों लौटते हैं। इन्दौर में विशन और मालती का विवाह मालती के पिता पुस्तके साहब की इच्छा के विरुद्ध चुपचाप हो जाता है। पुस्तके साहब विशन पर अपहरण का मुकदमा दायर करते हैं और उसकी गिरफ्तारी का वारंट निकलवाते हैं। अतः विशन को और उसके साथ श्रीधर को भी इन्दौर छोड़कर बनारस भागने का निर्णय लेना पड़ता है। बनारस आकर विशन श्रीधर का परिचय अपने दल की एक युवती रतना से कराकर गायब हो जाता है। बाद में रतना से ही श्रीधर को सूचना मिलती है कि विशन इन्दौर में मालवा हाउस में एक अंग्रेज अधिकारी की हत्या करने के प्रयत्न में मारा गया।

विशन हमें 'पथेरदावी' के सव्यसाची का स्मरण दिलाता है। परन्तु सव्यसाची के लिए क्रान्ति मन-मस्तिष्क में गहरे पैठकर चेतना में ही समाहित हो गया जीवन का एकमात्र लक्ष्य है, लेकिन विशन के निकट क्रान्ति महज एक वक्ती चीज है। सभी देशों में आतंकवादियों की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता समान देखी गई है : उनका 'फ़नेटेसिज़्म', यही उनके जीवन में, यही उनके व्यवहार में—लेकिन यह गुण न विशन में मिलता है और न रतना में। इसी कारण विशन क्रान्तिकारियों की मुद्रा धारण करते हुए भी उनकी एनिमिक प्रतिच्छवि ही मालूम देता है। यही कारण है कि मालवा हाउस पर आक्रमण करते हुए पुलिस की गोली खाकर उसका प्राण देना बहुत प्रभावित नहीं करता। रतना का क्रान्तिकारी आन्दोलन से सम्पर्क भी संयोग से हो गया था—अपने एक निकटस्थ सम्बन्धी शुभदा द्वारा वह आतंकवादियों के सम्पर्क में आई 'और आज तक क्रान्तिकारी है, निश्चै' (पृ० ४४२) इसी कारण जब वह आतंकवादी कार्यों से सम्बन्धित होने के कारण फाँसी पाती है तो लगता है कि बेचारी ने व्यर्थ ही जान गंवाई !

श्रीधर के लिए उपलब्ध करने को कुछ नहीं है—प्रभावित तक होने को भी नहीं ! बनारस में वह सात रुपये माहवार पर प्रूकरीडरी का काम पाते हैं। फिर एक पत्रिका के अवैतनिक सम्पादक होकर सारे बनारस का पैदल चक्कर काटते फिरते हैं। 'उन्हें न दुख होता है न अपमान होता है, न परित्याप होता है—बस वे केवल उन सबको एकान्त में भोगते हैं।' (पृ० ४२७) कांग्रेस आन्दोलन में भाग लेने के कारण उन्हें तीन वर्ष की सजा होती है। जेल से निकलकर वह एक राष्ट्रवादी साप्ताहिक निकालने की योजना तैयार करते हैं और अब उसके लिए पूरे नगर का चक्कर काटते हैं। अब

१७४ : आत्मिका

उन्हें प्रत्यक्ष अनुभव होता है कि तथाकथित उच्चवर्ग वास्तव में कितनी अधम वृत्ति का है। रूतना का एक थैला, जिसमें बम रखा है, रामनगर पहुँचाने की चेष्टा में वह पकड़े जाते हैं और इस बार दस वर्ष जेल के सीखच्चों के पीछे काटते हैं। जेल से छूटते हैं तो फिर पहले की तरह अजनबी और उखड़े हुए। राष्ट्रीय साप्ताहिक की योजना उन्होंने त्यागी नहीं है। उन्हें एक प्रकाशक मिल जाता है और 'शंखनाद' का प्रवेशांक निकलता है। उसकी प्रतियाँ वह अपने देश, अपने पिता के नाम, नारायणबाबू और गाडगिल हेडमास्टर के नाम भेजते हैं—घर से दूटा सम्पर्क यों पचीसों वर्षों के बाद जुड़ता है। घटनाएँ और तेज़ी से गुज़रती हैं—सन् सैंतीस, महायुद्ध और बयालीस का आन्दोलन। पुराने क्रान्तिकारियों से सम्बद्ध होने कारण कहीं काम नहीं मिलता। घोर आर्थिक संकट और उपेक्षा। वह निर्णय करते हैं, 'घंटों शहतीरें ताकने के बाद...कि घर लौट जाएँगे। यह एक ऐसा निर्णय था जैसे कि आत्महत्या का निर्णय किया हो। लेकिन कई बार आत्महत्या का निर्णय भी तो मनुष्य करता ही है।' (पृ० ५६४) वह घर लौटते हैं। 'इसी कल को होले से निःशब्द बन्द करके एक दिन किननी सवेरे चुपचाप गये थे और आज अपनी समस्त आयु, उत्साह सब-कुछ बाहर को सौंपकर दूटे पराजित व्यक्तित्व के साथ घर लौटकर फिर उसी घर का दरवाज़ा...' (पृ० ५७३)। माता-पिता कभी के दिवंगत हो गए, पुत्री गुणी ससुराल में मिली यन्त्रणाओं से अपाहिज हो घर लौटकर घिसट रही है, पत्नी सरो यक्ष्मा से तिल-तिल घुल रही है। यहाँ भी वह पाते हैं कि राजनीति के लिए वह अनुपयुक्त हैं; वह अपने को सारी सामाजिकताओं से काट लेते हैं। सरो का देहान्त होता है—जो 'वस्ती के इस एकमात्र पथ को साक्षी बना पालकी में बैठकर आई थी...अपनी देह से उत्पन्न प्रजा के बीच उसी पथ से सबको बन्धु बनाकर लौट गई।' (पृ० ५६१) तेरहवीं के बाद छोटी लड़की सुशीला अपनी ससुराल लौट जाती है, सरो के माता-पिता अपाहिज गुणी को अपने साथ ले जाते हैं, पुत्र देवव्रत भी अपनी पढ़ाई पूरी करने उन्हीं के साथ वापस लौट जाता है। अकेले घर में साँझ, कहीं कोई शब्द नहीं। तेज़ बरखा हो रही है। छत टपक रही है। श्रीधर बाबू हाथ में लालटेन लिये पूरे घर में दो हाथ सूखी जमीन खोज रहे हैं। वह निर्णय करते हैं कि इस बार वे मनुष्य का इतिहास लिखेंगे। अकेली लालटेन का पीला मद्धिम आलोक और मूसलाधार वृष्टि। वह मनुष्य का इतिहास लिखते हैं।

श्रीधर ही नहीं उपन्यास के अन्य पात्र भी जीवन को आदि से लेकर अन्त तक इसी प्रकार मौन होकर झेलते जाते हैं। पिता श्रीनाथ ठाकुर—इस पीढ़ी से भी पिछली पीढ़ी के व्यक्ति, 'जिनके सम्पूर्ण व्यक्तित्व, सभी में आवेशहीन शान्ति या असंग भाव ही रहता है' (पृ० ३४६) श्रीधर ने किसी राज्य का इतिहास लिखा श्रीमन्तों को विशेष सम्मानसूचक सम्बोधन अधिकारियों और मित्रों की प्रेरणा पर भी नहीं दिये। वह झुकने के बजाय नौकरी से त्यागपत्र देने का निर्णय करते हैं। पिता श्रीनाथ ठाकुर झूले पर लेटे हुए 'विष्णुसहस्रनाम' का पाठ करते रहते हैं; श्रीधर का निर्णय सुनकर 'पिता एक क्षण को हतप्रभ अवश्य हुए, लेकिन वे पुनः पाठ में लग गए।' (पृ० ३४) श्रीधर के गायब होने पर उनके मित्र नारायण बाबू और पेमेन उन्हें ढूँढ़ने बैजनाथ

जाते हैं; उसे वहाँ न पाकर आधी रात में पिता को खबर करने आते हैं। खोज का परिणाम जानने की 'पता नहीं क्यों पिता ने उत्सुकता नहीं दिखाई।' (पृ० ३१८) यह निर्वेद या उदासीनता नहीं है; यह स्थिति का यथावत मौन-स्वीकार है। सरो के सामने भी मौन-स्वीकार के अतिरिक्त वरण करने को दूसरा मार्ग नहीं—'न खाना, न पीना, न रोना, न धोना—वस जैसे घिघी बंध गई हो।' (पृ० ३२०) वह तो एक प्रकार से पति को समर्पिता, उनके साथ तदाकार हो गई है—'वह त्यागपत्र दे रहा हूँ... तुम्हें कुछ नहीं कहना?—मैं क्या आपसे अलग हूँ? आप अपने को एकाकी मानते हैं मानें...' (पृ० १७३) 'मेरा तो स्वत्व, व्यक्तित्व, लोक-परलोक सब उसी दिन आपमें लीन हो गया।' (पृ० ३६) गुणी कहती है, 'असल में मुझे बोलना आता ही नहीं। रोज जाने कितना, कैसा-कैसा देखते-देखते वस, देखने की आदत पड़ गई है।' (पृ० ३६६) यह कथन न केवल उपन्यास के अन्य पात्रों के लिए सही है बल्कि फैलकर आज के अवश, निर्णय के भागीदार होने में असमर्थ असंख्य 'अंधेरे से अंधेरे तक यात्रा करने वालों हज़ारों-लाखों साधारण कमजोरों' (पृ० ५१३) पर भी चरितार्थ होता है। गुणी समुदाय से अपाहिज बनाकर लौटा दी गई है, 'उसे दिनों नहीं महीनों हो जाते हैं बोले। सारी बातों का उत्तर वह फटी-फटी आँखों के अबोलपन से दिया करती थी।' (पृ० ४७१) एक प्रकार से यह स्थिति पूर्णतया अस्तित्ववादी है—जहाँ व्यक्ति जीवित है, जीवित रहने की चेतना से रहित और इसी चेतना को पकड़ पाना उसके लिए सबसे कठिन चेष्टा है। लेकिन इस चेतना को पकड़ पाने में आड़े आ जाती है उपन्यासकार की आस्था।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, श्रीधर तथा उपन्यास के अन्य सभी प्रमुख पात्र त्रिशंकु की तरह आस्था और अनास्था के बीच झूलती पिछली पीढ़ी के जीवन को जीते हैं। अपना आकार पाने में वे सर्वथा असमर्थ हैं। उनके जीवन को एक लक्ष्य की खोज है—हालाँकि इस खोज में भी वे दिशाहीन आगे बढ़ते जा रहे हैं। जीवन की खोज रोम्याँ रोलाँ के 'ज्याँ क्रिस्तोव' में भी मिलती है। श्रीधर की ही समकालीन पीढ़ी का ज्याँ क्रिस्तोव अपने पूरे जीवन-भर उस स्थान को पाने की कोशिश करता है जहाँ वह अपने पैर टिका सके—श्रीधर की ही भाँति बार-बार उसे वह आधार मिलता है और प्रत्येक बार उसके पैर बिछल जाते हैं। रोलाँ उसे धर्म और भविष्य के प्रति आस्था का आधार देते हैं—अन्त में उसे यह आधार मिलता है—या शायद यह भी मृगमरीचिका ही है—विराट के महदाकार में अपने पृथक् अस्तित्व के विलय का परमानन्द : महाप्रयाण के समय ज्वर की अर्धचेतनावस्था में बजती हुई घाँट, 'द्वार खुल गया है।' 'तुम कौन हो?' 'मैं आने वाला कल हूँ।' ज्याँ क्रिस्तोव का पूरा जीवन-विस्तार जैसे धुन्ध में लिपटी समुद्र की पारे-सी झिलमिलाती क्षितिज-रेखा है। श्री नरेश मेहता अन्त में इतना ही देख पाते हैं कि 'युद्ध ही मानव-जाति का इतिहास रहा है।' (पृ० ५६४) (कितना अच्छा होता कि उपन्यासकार '...वह आया जल प्रतिश्रुत था—वे लिख रहे थे...' के आगे केवल 'इति' लिख देता!) अज्ञेय के पात्र भी जीवन में सत्य के खोजी हैं, लेकिन वे इस खोज में मिशनरियों के लम्बे चोगे पहनकर नहीं

१७६ : आलोचना

चलते—उनके सुष्ठु होने का यह कारण और परिणाम दोनों हैं। 'यह पथ बन्धु था' में घटनाएँ श्रीधर तथा अन्य सभी पात्रों को धकेलती हुई चलती हैं। श्रीधर अनुभव करता है कि 'कैसा सम्बन्धहीन सम्बन्ध इस पूरे व्यापार में है।' (पृ० १६६)—लेकिन यही सम्बन्धहीनता उसकी पूरी जीवन-दृष्टि में भी मिलती है। आश्चर्य है कि स्थितियाँ पूरी तौर से अस्तित्ववादी हैं, लेकिन न तो श्रीधर, न ही उपन्यासकार किसी भी स्थिति में जीवन के प्रति उपयुक्त रवैया अपना पाते हैं। इसी कारण श्रीधर या अन्य पात्रों का मौन विराग उनकी उदासीनता या असमर्थता का परिणाम मालूम होता है। (तुलना के लिए, 'अजनबी' में म्योर सॉल का मुकदमे में अपने को बचाने की चेष्टा न करना जीवन के प्रति उसके अपने दृष्टिकोण के कारण घनात्मक है।) विचारणीय है कि श्रीधर यह जानकर भी कि 'वे केवल एकान्त में भोगते हैं', कि 'वे न जाने किस प्रतीक्षा को जिये जा रहे हैं', या कि जीवन को अपाहिज की तरह 'वे बस देखते रहते हैं', एक बार भी आत्महत्या की बात मन में क्यों नहीं सोच पाते—जैसे कि, ऐसी ही मनःस्थिति में आकर 'द सेटिंग सन' का नाओजी निर्णय करता है 'इससे कोई लाभ नहीं। मैं जा रहा हूँ। मैं ऐसा कोई कारण नहीं सोच पाता जिसके लिए मुझे जीवित रहना चाहिए।' शायद इसलिए कि श्रीधर की आस्था अभी निराकार-निराधार होने पर भी खण्डित नहीं हुई है। काश, कि वह घटनाओं के इधर से गुजर सकता, लेकिन यह माँग करना शायद उसे पीड़ा पहुँचाना है।

श्रीधर द्वारा साक्षात्कृत जीवन के इस विशाल विस्तार को—उसके बड़े अंश को भी—लगभग छः सौ पृष्ठों में भी पूरी तरह से भरना असम्भव था, इसलिए उपन्यासकार ने इन्हें चित्र-खण्डों के रूप में दिखलाया है। इनके अन्तराल पाठक की 'कैलिडास्कोपिक' कल्पना द्वारा भरे जाने के लिए छोड़ दिये गए हैं। सांकेतिकता पर आधारित यह वर्णन-शैली निःस्संदेह कथाशिल्प का उत्कृष्टतर प्रमाण मानी जा सकती है। इसका एक दूसरा अच्छा उदाहरण श्री विनोदचन्द्र पांडे का १३६ पृष्ठों का उपन्यास 'रेत, शून्य, हवा' है—'मैंने सिगरेट केस निकाला तो ड्राइवर ने जीप रोक दी। ऐसी तत्पर 'कर्टसी' राजस्थानी कर्मचारियों की विशेषता है—हालाँकि उनमें एक गम्भीर गर्व होता है—हुकुम दुहराने के बावजूद...' (पृ० ८२) 'यह पथ बन्धु था' में, अपने भाषा-वैभव के साथ, यदि उपन्यासकार ने ऐसी संक्षिप्ति की ओर ध्यान रखा होता तो निस्संदेह यह उपन्यास हिन्दी-कथा-साहित्य की अन्यतम कृति कही जा सकती थी। लगता है कि कहीं-कहीं खण्ड-दृश्यों का आनयन केवल एक अन्तिम कथोपकथन का लोभ संवरण न कर पाने के कारण किया गया है। उदाहरण के लिए (पृ० १३३-३४) श्रीधर और इन्दु घूमने जाते हैं, श्रीधर तार के खम्भे पर कान रखकर तारों में बजने वाली हवा सुनता है और इन्दु को भी सुनाता है—केवल इतने के लिए यह दृश्य। व्यापक रूप में यही आपत्ति उपन्यास के मध्य भाग 'उत्तर पथ' में विशन और मालती आदि से सम्बन्धित अंश पर भी की जा सकती है। मालती दीदी से भेंट होने के बाद का अंश अधिक विस्तृत हो जाने के कारण बिखर गया है। दृश्य से एक केन्द्रीय व्यक्तित्व के गायब हो जाने के कारण यह बिखराव असंगत लगता है। संयोग से,

दीदी, विशन आदि पात्र ऐसे प्रवल हो जाते हैं कि वे रोशनी अपने इधर कर लेते हैं और श्रीधर धुंधलके में खोया खड़ा रह जाता है। इसे दोष के रूप में इसलिए लिया जाएगा, क्योंकि इन मुख्यतर पात्रों का जमघट, उनका अपनी कहानी कहने लगना, श्रीधर चरित्र के विकास में—प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में भी—सहायक नहीं होता। वे श्रीधर के साथ घटनाओं के साथी हैं, सहभोक्ता नहीं। इसी कारण जब पृष्ठ ३०६ पर यह सूचना मिलती है कि नारायण बाबू श्रीधर को खोजने गाँव से आए थे, तब जैसे कथा का टूटा हुआ सूत्र पुनः जुड़ता है, जैसे कथा-प्रवाह घूमते हुए पाठक को हिलाकर जग जाता है। यह शायद इसलिए कि पाठक की जैसी संपृक्ति बाल्यकाल के खण्ड-चित्रों की प्रभावात्मकता के कारण 'पूर्वपथ' के साथ थी वैसे 'उत्तरपथ' में विशन आदि से नहीं।

खण्डों को जोड़ते हुए कथा कहने का प्रयास करते हुए कुछ सुन्दर चित्रों का अंकन भी हुआ है—ऐसे दृश्य जो सहज ही विस्मृत नहीं किए जा सकते। 'उन्होंने अपने कपड़े निकाले और तालाब में कूद पड़े। पानी एकदम ठंडा था। वहाँ से लहरें काटते एक अजीब तुष्टि मिल रही थी। तट पीछे झूटता जा रहा था। छतरी दूर से जितनी छोटी लगती थी उतनी छोटी वह थी नहीं। उन्होंने एक बार तट की ओर देखा। तट पर लोग रेंगते हुए दीख रहे थे। लोगों के बोलने की, डाकने की आवाज़ पानी पर उड़ती हुई आ रही थी। सूखती हुई धोतियाँ, कागज की पट्टियाँ लग रही थीं। बाला साहब की कोठी, खिड़कियाँ और गुम्बद...' (पृ० ५६) 'दौड़ती हुई ट्राली के साथ जैसे वर्षा भी भाग रही थी, पेड़ भाग रहे थे और पहली बार इन्दु के पास सटे बैठकर श्रीधर का मन भी न जाने कहाँ भाग रहा था, जैसे एकाकी सारस सहसा खुले आकाश में वर्षा से घिर जाए और तब वह अपने पंखों को अनजान दिशा में चपेटें सहता हुआ चलाने लगे। चारों ओर भीगती दिशाएँ...कोसों कोई गाछ न हो...उस नील वर्षा के झरते रहस्य को चीरकर कोई गाता हो।...वे वैसे ही भीगते हुए स्टेशन पहुँचे थे।' (पृ० ६२) श्रीधर के गृह-त्याग की भोर में घर से बाहर गली का दृश्य अप्रतिम—किसी निर्जन ऊँची पहाड़ी पर स्थित जाड़े में ठिठुरती एक ग्रीक गाँव की सूनी गली का स्मरण दिलाता है... 'सेरी में घर की अपेक्षा अधिक खुला आलोक था। फिर भी अंधेरा घरों के बारजों, बन्द दरवाजों पर पोस्टरों-सा चिपका था। खपरैलों पर अंधेरा आलोक फैला था। पतली-पतली बासी गलियों में आधार-आलोक का मटमैला जल भरा हुआ था। गोबर लिये चबूतरे ठाँपे हुए ऊँघ रहे थे। इतने सवेरे अपना ही महल्ला अनजान लग रहा था। सड़कें...श्रीधर बाबू की इस एकांत-यात्रा का स्वागत करने कुत्ते तक न तो जागे और न भौंके ही, क्योंकि वे जानते हैं कि इसे वेला का एकांत यात्री और कुछ हो सकता है, चोर तो नहीं ही।' (पृ० १७४-७५)।

श्री नरेश मेहता की भाषा-नीति पर कुछ कहना पिष्ट-पेषण करना होगा। 'प्रवेशते' (पृ० ६०); 'विश्रामने लगी' (पृ० १४४); 'प्रवेशा' (पृ० ३००)—हालाँकि पृष्ठ ३११ पर 'प्रवेश किया' जैसे प्रयोग 'यह पथ बन्धु था' में भी कम नहीं। ऐसा लगता

१७८ : आलोचना

है कि-लेखक ने पांडुलिपि दोहराते समय भी कहीं-कहीं समुचित ध्यान नहीं दिया है—
 'श्रीधर बाबू से कोई दस वर्ष आयु में बड़ी इन्दु को वे दीदी कहते थे' (पृ० ५६) । वे,
 अर्थात् श्रीधर ही तो ! 'बारों मास गंगा नहाने वाली धार्मिक बुढ़ियाएँ' (पृ० ६३)—
 लेकिन मालवा में कैसे ! 'वेश्या, भयंकर व्याधियों से ग्रस्त रमणी के प्रति लोभ हो ही
 क्या सकता है' (पृ० २६७) । यदि इसे बाल की खाल निकालना न माना जाए तो
 कहूँ कि यहाँ 'रमणी' शब्द अच्छा-खासा जुगुप्साजनक है । श्री नरेश मेहता के भाषा-
 सम्बन्धी दृष्टिकोण पर दो बातें विशेषतः कथनीय हैं । पहली तो यह कि उनका दृष्टि-
 कोण काफ़ी स्वप्निल और छायावादी है । इसका एक कारण बंगला भाषा—अथवा
 बंगला शब्दों की ध्वनि का उनकी भाषा पर प्रभाव माना जा सकता है । कुछ उदाहरण
 हैं 'श्रीधर हल्के-से हँसासित हो उठा ।' (पृ० १११) 'चरवाहूँ की फूहड़ बांशी-स्वर'
 (पृ० १२७)—भक्त कवि चंडीदास का पद तुलनीय है । 'जैसे बरज रही हो, बिना काजल
 हमें न देखो' (पृ० ११७) । या पृष्ठ २०७ पर 'रोज़ी सफ़ेद बुराक सुन्दर-सी साड़ी पहने
 थी । बालों की एक लट उसके कपोलों पर हल्की झूल आई थी । गेहुँए वर्ण की रोज़ी
 भली चमक रही थी । लगान की हरी पृष्ठभूमि में रोज़ी की उड़ती हुई साड़ी टाँगों के
 पास पंखिल लग रही थी ।' इसके साथ तुलनीय है 'कामायनी' में श्रद्धा का रूप-वर्णन
 'घिर रहे थे घुँघराले बाल, अंस अवलम्बित मुख के पास !' दूसरी कि श्री नरेश मेहता
 ने पदों को समासित करके शब्दों में संक्षिप्ति लाने का प्रयास तो किया है, किन्तु कदा-
 चित् वह भूल गए हैं कि यह संक्षिप्ति इने-गिने शब्दों में न होकर जब शैली का आन्त-
 रिक गुण होती है तभी वह कारगर होती है । श्री निर्मल वर्मा का गद्य इसका
 प्रमाण है ।

समय के विस्तृत फैलाव में रेंगते हुए एक अन्धे कीड़े की तरह ठहर गया—
 वह है वर्तमान । शायद कभी, अर्द्धशताब्दी बाद, तीसरी-चौथी पीढ़ी जब समय की
 गर्द के नीचे दबे हुए अतीत को खोजने में संलग्न होगी, तब नई पौध की मिट्टी के नीचे
 तार-तार कोमल जड़-तन्तुओं की तरह अवश्य पहुँचेगी इस कृति तक ! क्योंकि इस
 उपन्यास में चित्रित वह जीवन, जो अभी भी 'स्मृति अधिक है, इतिहास कम', तब अधिक
 दूरगत अतीत का इतिहास ही होगा । दास्तोएवस्की या ज़ोला को पढ़कर हम उस पूरे
 युग के जीवन को ही तो प्रत्यक्ष करते हैं । इसी प्रकार आने वाले समयों में, 'यह पथ
 बन्धु था' प्रत्यवलोकन का एक सशक्त माध्यम हो सकेगा, यह निश्चयपूर्वक कहा जा
 सकता है ।

आप

श्री मो
की एक्
उसमें
जिनमें
उत्कृष्ट
जटिल
प्रत्येक
अर्थवत्
घेरे हुए
पात्रों
तथा
अधिक
देने में
सफल

है । ३
हासि
नहीं ह
उन्हें
पर्याप्त
का व
सर्वत्र
के ह
ने लि
कालि
ललित
क्या
की ज
है ।
'अभि
लेखक
को म

आषाढ़ का एक दिन

श्री मोहन राकेश-विरचित 'आषाढ़ का एक दिन' स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी-नाट्य-साहित्य की एक महत्वपूर्ण उपलब्धि है। जहाँ तक नाटक के बाह्य कलेवर का सम्बन्ध है, उसमें लगभग समान विस्तार के तीन अंक हैं तथा पात्रों की संख्या कुल बारह है, जिनमें प्रमुख पात्र मात्र तीन हैं। अंकों का विभाजन दृश्यों में नहीं किया गया है, जो उत्कृष्ट कला-कृति के अनुरूप ही है। नाटक का शिल्प आधुनिक है। रंगमंच-विधान जटिल नहीं है और न उसमें अनावश्यक रंगमंचीय साज-सज्जा ही है। रंगमंचीय प्रत्येक वस्तु की अपनी सार्थकता है, जहाँ छोटी-से-छोटी वस्तु तक अपनी विशिष्ट अर्थवत्ता रखती है। समय के अन्तराल की दृष्टि से सम्पूर्ण नाटक यद्यपि पर्याप्त काल घेरे हुए है, पर इतना नहीं कि प्रथम अंक से लेकर अंतिम अंक तक पहुँचते-पहुँचते पात्रों की शारीरिक अवस्था में अन्तर आ जाय। नाटककार ने 'कुछ वर्षों के अनन्तर' तथा 'कुछ और वर्षों के अनन्तर' लिखकर ही काम चला लिया है। नाटक रंगमंच पर अधिक सफलतापूर्वक खेला जा सकता है। मेघ-गर्जन तथा वर्षा के शब्दों का प्रभाव देने में भले ही किंचित् कठिनाई अनुभव हो। आकाशवाणी पर भी प्रस्तुत नाटक सफलतापूर्वक प्रसारित हो चुका है।

'आषाढ़ का एक दिन' का कथानक कालिदास के अन्तरंग जीवन से सम्बद्ध है। अपने उदात्त कलात्मक परिधान में प्रस्तुत नाटक कालिदास-विषयक अनेक ऐतिहासिक विवादों को भी स्पर्श करता है। ये विवाद यद्यपि नाटक में कहीं भी मुखरित नहीं हुए हैं, तथापि नाटककार ने प्रचलित अनेक प्रवादों का उचित समन्वय किया है; उन्हें संगति प्रदान की है। इस प्रकार साहित्याचार्यों के लिए भी प्रस्तुत नाटक में पर्याप्त सामग्री विचारार्थ है। इसमें सन्देह नहीं, एक रचनाकार के हृदय की विशालता का बोध ही नाटककार के निष्कर्षों में निहित है। उसमें एक मानवीय उदार-दृष्टि सर्वत्र लक्षित होती है, जो कालिदास के साथ न्याय करती है एवं प्रेक्षक अथवा पाठक के हृदय में विश्वस्त-भाव को स्थिर करती है। कालिदास के विषय में राजशेखर कवि ने लिखा है, "एकोऽपि जीयन्ते हन्त ! कालिदासो न केनचित् ! शृंगारे ललितोद्गारे कालिदास-त्रयी किमु ?" अर्थात् जहाँ शृंगार में एक कालिदास ही अपराजेय है, वहाँ ललित भावों की अभिव्यक्ति करने वाले तीन कालिदास उत्पन्न हो जायें तो कहना ही क्या ? कहने का अभिप्राय यह है कि कालिदास नाम के तीन कवियों की चर्चा प्रायः की जाती है। कुछ विद्वान् कवि कालिदास को नाटककार कालिदास से भिन्न मानते हैं। 'रघुवंश', 'मेघदूत' और 'कुमारसम्भव' नामक काव्यों का रचयिता कालिदास 'अभिज्ञान शाकुन्तल', 'विक्रमोर्वशीय' और 'मालविकाग्निमित्र' नामक नाटकों के लेखक कालिदास से भिन्न है। मुक्तक काव्य 'ऋतु-संहार' का रचयिता किस कालिदास को माना जाय, यह भी अंतिम रूप से नहीं कहा जा सकता। 'ज्योतिर्विदाभरणम्'

१८० : आलोचना

आदि ग्रन्थों का लेखक तो निश्चय ही कोई तीसरा कालिदास है। प्रस्तुत नाटक में 'ऋतु-संहार' तथा अन्य काव्यों और नाटकों का लेखक एक ही व्यक्ति माना गया है। नाटक के प्रारम्भ में कालिदास मात्र 'ऋतु-संहार' के लेखक के रूप में आते हैं। उज्जयिनी का राजपुरुष दन्तुल कालिदास के सम्बन्ध में, कालिदास की प्रेयसी मल्लिका से कहता है, "उज्जयिनी राज्य-सभा से सम्बद्ध प्रत्येक व्यक्ति 'ऋतु-संहार' के लेखक कवि कालिदास को जानता है।...सम्राट् ने स्वयं 'ऋतु-संहार' पढ़ा और उसकी प्रशंसा की है। इसलिए आज उज्जयिनी का राज्य 'ऋतु-संहार' के लेखक का सम्मान करना और उन्हें राजकवि का आसन देना चाहता है। आचार्य वररुचि आज इसी उद्देश्य से उज्जयिनी से यहाँ आये हैं।" नाटककार के अनुसार इसी कालिदास ने उज्जयिनी पहुँचकर 'मेघदूत', 'कुमारसम्भव', 'रघुवंश', 'शाकुन्तलम्' एवं कुछ अन्य नाटक लिखे। इसी कालिदास का दूसरा नाम मातृगुप्त है। मातृगुप्त नाम से कालिदास ने कश्मीर का शासन किया। अन्त में, लोगों का यह विश्वास दिलाया गया है कि उसने संन्यास ले लिया और काशी चला गया; जबकि नाटक में वस्तुस्थिति ऐसी नहीं बताई गई है। पर, यह सब लिखकर नाटककार ने तीन-तीन कालिदासों, कालिदास और मातृगुप्त, एवं कालिदास के कश्मीर, उज्जयिनी और काशी से सम्बद्ध होने के अनेक परस्पर-विरोधी एवं विवादास्पद तत्त्वों का समन्वय कर दिया।

'आषाढ़ का एक दिन' का कालिदास ख्याति-प्राप्त कालिदास के समान असाधारण व्यक्तित्व-सम्पन्न है। नाटक में सर्वप्रथम वह एक आहत हरिण-शावक की प्राण-रक्षा करता बताया गया है। पशुओं तक के प्रति उसके हृदय में ममता का भाव उसकी अत्यधिक भावुकता का परिचायक है। वह राजकीय सम्मान का भूखा नहीं है, अतः उज्जयिनी का राज्याश्रय स्वीकार करना नहीं चाहता। मल्लिका से उसका यह कथन—"मैं अनुभव करता हूँ कि यह ग्राम-प्रान्तर मेरी वास्तविक भूमि है। मैं कई सूत्रों से इस भूमि से जुड़ा हूँ।...यहाँ से जाकर मैं अपनी भूमि से उखड़ जाऊँगा।" उसके कश्मीर-भूमि के प्रति प्रगाढ़ मोह को प्रकट करता है, तभी तो उसकी कृतियों में कश्मीर-प्रदेश का स्वर्गिक सौन्दर्य रूपायित हुआ है। अपनी प्रेयसी मल्लिका के आग्रह पर वह उज्जयिनी जाना स्वीकार कर लेता है। वहाँ पहुँचकर, कुछ समय बाद, उसका विवाह गुप्तवंश-दुहिता परमविदुषी देवी प्रियगुमंजरी से हो जाता है एवं कश्मीर का शासक बनकर वह पुनः अपनी मातृभूमि लौट आता है। पर, मल्लिका से उसका मिलन तभी होता है जब कश्मीर में विद्रोही शक्तियाँ सिर उठाने लगती हैं। कालिदास भागकर मल्लिका के पास चला आता है। वह कहता है, "कश्मीर में लोग समझते हैं कि मैंने संन्यास ले लिया, परन्तु मैंने संन्यास नहीं लिया। मैं केवल मातृगुप्त के कलेवर से मुक्त हुआ हूँ, जिससे पुनः कालिदास के कलेवर में जी सकूँ।" राज्याश्रय में रहकर कालिदास ने जो-कुछ लिखा उसके बारे में उसका मल्लिका से कथन है, "लोग सोचते हैं, मैंने उस जीवन और वातावरण में रहकर बहुत-कुछ लिखा है। परन्तु मैं जानता हूँ कि मैंने वहाँ रहकर कुछ नहीं लिखा। जो कुछ लिखा है वह यहाँ के जीवन का ही संचय था। 'कुमारसम्भव' की पृष्ठभूमि यह हिमालय है और

तपस्विनी उमा तुम हो। मेघदूत के यक्ष की पीड़ा मेरी पीड़ा है और विग्रह-विमदिता यक्षिणी तुम हो, यद्यपि मैंने स्वयं यहाँ होने और तुम्हें उज्जयिनी में देखने की कल्पना की। 'अभिज्ञान शाकुन्तल' में शाकुन्तला के रूप में तुम्हीं मेरे सामने थीं। मैंने जब-जब लिखने का प्रयत्न किया, तुम्हारे और अपने जीवन के इतिहास को फिर-फिर दोहराया। 'रघुवंश' में अज का विलाप भी मेरी ही वेदना की अभिव्यक्ति थी।" पर, अपनी प्रेयसी मल्लिका का वर्तमान देखकर उसे अपने जीवन की व्यर्थता का बोध होता है और वर्षा की उस रात में ही, मल्लिका के कक्ष से, बिना कुछ कहे, वह बाहर निकल जाता है। अपने प्रेम की स्थूल असफलता अथवा विनष्टि देखकर, जीवन के प्रति उसका दृष्टिकोण इन शब्दों में आकार पाता है—“...समय अधिक शक्तिशाली है क्योंकि... वह प्रतीक्षा नहीं करता।”

यही सूत्र मल्लिका की माँ अम्बिका के यथार्थवादी दृष्टिकोण की सार्थकता घोषित करता है। कालिदास अन्त में अम्बिका के दृष्टिकोण को सही बताता हुआ कहता है, “मैंने बहुत बार अपने सम्बन्ध में सोचा है मल्लिका, और बहुधा इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि अम्बिका ठीक कहती थी।” अम्बिका कालिदास को सन्देह और वितृष्णा की दृष्टि से देखती है, घृणा करती है। उसे यह पसन्द नहीं कि वह उसकी पुत्री मल्लिका से मात्र प्रेम करे। उनके प्रेम-सम्बन्धों को देखकर उसे अपवाद की चिन्ता होने लगती है। वह मल्लिका को वैवाहिक-सूत्र में बँधा देखना चाहती है। उसका स्पष्ट कथन है, “...यदि वास्तव में उसका तुमसे भावना का सम्बन्ध है तो वह क्यों तुमसे विवाह नहीं करना चाहता?” मल्लिका की भावनाओं को वह मात्र छलना और आत्म-प्रवंचना समझती है तथा जीवन की आवश्यकताओं को ही सर्वोच्च प्राथमिकता देती है। उसका जीवन, भावना नहीं, कर्म है। वह जीवन के यथार्थ से आँख मूँदकर नहीं जीती।

कालिदास की प्रेयसी मल्लिका, ठीक इसके विपरीत, भावना-लोक में विचरण करने वाली नारी है। वह एक आदर्श प्रेमिका है। कालिदास के सम्बन्ध में वह कोई भी अनुचित बात सुनना नहीं चाहती। कालिदास को कालिदास बनाने में उसी का प्रमुख हाथ है। कालिदास के कवि-हृदय में कोमल भावनाओं को जगाने वाली तथा अत्यधिक सुसंस्कृत और उदात्त भावना-सम्पन्न मल्लिका प्रस्तुत नाटक की नायिका है—जो अद्वितीय है, अविस्मरणीय है। उसका व्यक्तित्व सर्वाधिक आकर्षक है और वही प्रेक्षकों की समूची सहानुभूति का एकमात्र आलम्बन बनती है। वस्तुतः ‘आषाढ़ का एक दिन’ नारी-प्रधान रचना है। मल्लिका के माध्यम से नाटककार ने मानव-जीवन-सम्बन्धी अनेक मौलिक प्रश्न उठाये हैं। आदि से अन्त तक मल्लिका कालिदास के प्रति प्रेम-विभोर रहती है। वह कालिदास की कविता और उसके यश से परिचित है। तभी तो वह कालिदास को व्यक्तिगत स्वार्थ-वश अपने प्रेम-पाश में न बाँधकर उसे उज्जयिनी जाने के लिए राजी करती है। कालिदास की, अन्यो की तरह, वह सामान्य की कसौटी पर परीक्षा नहीं करती। आगे चलकर परिस्थितियों ने उसे भले ही वीरांगना बना दिया हो, पर वह कहीं भी उच्चतर भाव-भूमि से नीचे नहीं उतरती।

१८२ : आलोचना

कालिदास की कल्पना और भावना के विपरीत जब वह वारांगना और एक पुत्री की माँ के रूप में सामने आती है तब कालिदास उसे छोड़कर चला जाता है; पर मल्लिका के जीवन का विश्लेषण करने वाला प्रेक्षक उसे एक प्रेमिका के रूप में सर्वथा उज्ज्वल और पवित्र अनुभव करता है। नाटक के प्रारम्भ में उसका यह कथन, “... फिर भी मुझे अपराध का अनुभव नहीं होता। मैंने भावना में एक भावना का वरण किया है। मेरे लिए वह सम्बन्ध और सब सम्बन्धों से बड़ा है। मैं वास्तव में अपनी भावना से ही प्रेम करती हूँ जो पवित्र है, कोमल है, अनश्वर है...” नाटक के अन्त में भी उतना ही सत्य है। उसने अपने जीवन की सार्थकता इसी में समझी, “मैं यद्यपि तुम्हारे जीवन में नहीं रही, परन्तु तुम मेरे जीवन में सदा विद्यमान रहे हो। मैंने कभी तुम्हें अपने पास से हटने नहीं दिया। तुम रचना करते रहे और मैं समझती रही कि मैं सार्थक हूँ, मेरे जीवन की भी कुछ उपलब्धि है।”

अन्य पात्रों में प्रतिनायक की भूमिका में विलोम नायक एक ग्राम-पुरुष है जो मल्लिका को तो उतना नहीं चाहता, जितना कि यह चाहता है कि मल्लिका कालिदास से प्रेम न करे। कालिदास की अव्यावहारिकता एवं अन्य बदलती परिस्थितियों के कारण विलोम कालान्तर में मल्लिका से शरीर-सम्बन्ध स्थापित करने में सफल जरूर होता है; पर उस समय तक मल्लिका वारांगना बन चुकी होती है। सबसे बड़ी विडम्बना यह है कि प्राप्त धन से वह उज्जयिनी से आने वाले व्यापारियों से बड़ा अनुनय-विनय करके कालिदास-रचित नये-नये काव्य-ग्रन्थ मँगवाती है। कालिदास और उसके काव्य के प्रति प्रेम की यह पराकाष्ठा है। पर स्थूल जीवन को चलाने के लिए, शारीरिक अस्तित्व बनाये रखने के लिए, अम्बिका के निधन के पश्चात्, उसे वारांगना का जीवन मानो विवश होकर वरण करना पड़ा। कवि-पत्नी प्रियंगुमंजरी भी मल्लिका के जीवन के व्यंग्य को बेतहाशा प्रकट करती है। उसका प्रत्येक सहयोग मल्लिका की जीवन-विडम्बना को गहराता चलता है, जिसमें अनुस्वार और अनुनासिक जैसे मूर्ख अधिकारियों से विवाह का प्रस्ताव तो सर्वाधिक कटु है। प्रस्तुत नाटक में रंगिणी और संगिनी नामक उज्जयिनी की दो शोधकर्त्री भी आई हैं, पर उनका कोई औचित्य सिद्ध नहीं होता। यही नहीं, उनकी अतिसाधारण बुद्धि का प्रदर्शन कालिदास के व्यक्तित्व को आघात तक पहुँचाता है। यदि उज्जयिनी के ऐसे लोगों ने कालिदास का सम्मान किया तो उससे कालिदास की महत्ता का बोध कठिनाई से ही होगा। मात्र ‘ऋतु-संहार’ ही उज्जयिनी के विद्वानों का उसके प्रति प्रथम आकर्षण का विषय रहा; तदुपरान्त उसने ‘ऋतु-संहार’ की तुलना में कहीं श्रेष्ठ ग्रन्थों का प्रणयन किया। पर उनके पढ़ने और समझने वालों की इतनी स्थूल दृष्टि, रंगिणी और संगिनी के माध्यम से जो बताई गई है, वह कालिदास के महत्त्व पर प्रश्न-चिह्न तक लगा देती है। हास्य-रस की आयोजना के लिए निक्षेप-मातुल तथा अनुस्वार-अनुनासिक के वार्तालाप ही पर्याप्त थे। वैसे मातुल का वार्तालाप एवं व्यवहार अपना मनोवैज्ञानिक पहलू भी रखता है, तथापि उसके द्वारा हास्य की भी सृष्टि होती है। वस्तुतः नाटक करुण-रस से परिपूर्ण है। शृंगार और हास्य नितान्त गौण। सम्पूर्ण नाटक आपाढ़

की वर्षा की तरह आँसुओं से सिक्त है। यह वातावरण एवं भाव-साम्य, नाटक को अत्यधिक प्रभावशाली बना देता है। बादलों से घिरे हुए दिन और मूक वेदना से भरा हुआ मल्लिका का जीवन ! सभी प्रधान पात्रों का अन्तर्द्वन्द्व उत्कृष्ट कला-सौष्ठव एवं मनोवैज्ञानिक दक्षता के साथ रूपायित हुआ है। भावाभिव्यक्ति का यह सौन्दर्य 'आपाढ़ का एक दिन' को अप्रतिम बना देता है। कालिदास के काव्य के अनुलनीय शृंगार, विशेषकर उसमें निहित तीव्र विरह-व्यंजना का आधार 'आपाढ़ का एक दिन' देखने-पढ़ने से स्पष्ट विदित होता है। कोई भी व्यक्ति किसी विशिष्ट क्षेत्र में इतना महान् क्यों बन जाता है—इस तथ्य का समाधान प्रस्तुत नाटक में द्रष्टव्य है। कालिदास को महान् बनाने में किन-किन जीवन-स्थितियों ने योग दिया—उनको तथा उस मूल प्रेरणा को, जिसने कालिदास के हृदय का वशीकरण किया एवं उसे सुसंस्कृत जीवन-दृष्टि दी तथा जिससे इतिहास आज तक अपरिचित है—प्रकाश में लाया गया है; जो वास्तविक न होते हुए भी ऐतिहासिक सम्भावनाओं की परिधि में है। और, वस्तुतः यही साहित्यकार का मुख्य लक्ष्य होता है। श्री मोहन राकेश अपने उद्देश्य में सफल हुए हैं। जिस नाजुक और महान् विषय-वस्तु का उन्होंने स्पर्श किया, उसका कलात्मक निर्वाह भी उतनी ही सरसता, गहराई, तीव्रता एवं उदात्तता के साथ हुआ है।



(पृष्ठ ८ का शेष)

दायरे से बहिष्कृत करके उन्हें बराबरी का दर्जा देने से इन्कार कर दिया था।

सात : पाकिस्तान के शासकों ने पागलपन में भरकर भारत पर आक्रमण करने का साहस न किया होता, अगर अमरीकी साम्राज्यवाद ने 'साम्यवाद से रक्षा करने' के नाम पर किन्तु दरअसल भारत की विश्व-शान्ति और गुटों से निरपेक्ष रहने की नीतियों और हमारी स्वतन्त्रता की ही जड़ें खोदने के लिए पाकिस्तान को अरबों डालर के अस्त्र-शस्त्रों से लैस न किया होता, और अगर ब्रिटिश साम्राज्यवाद ने भारत का विभाजन करने के बाद से लगातार पाकिस्तान को कश्मीर के बहाने भारत

पर आक्रमण करने के लिए न उकसाया होता और अन्त में, अगर चीन के वाम-पक्षी नेताओं ने भारत-विरोध की अन्व-भावना से प्रेरित होकर पाकिस्तानी शासकों को शीघ्र-विजय के सब्ज बाग न दिखाये होते।

ये सब तथ्य सर्व-विदित हैं, लेकिन उनको दोहराने की जरूरत इसलिए पड़ी कि साम्प्रदायिक प्रचारवादी उनको अपने रंग में पेश करके जनता को गुमराह करते हैं। इस प्रचार के प्रभाव से या सामयिक उत्तेजना में पड़कर लेखक यदि इन सुन्दरों में से किसी एक को भी भूल जाय तो निश्चय ही वह वर्तमान हिन्द-पाकिस्तान युद्ध के बारे में सही दृष्टिकोण का विकास

नहीं कर सकता । ०

निस्सन्देह, लेखक एक स्वतन्त्र अभि-
कर्ता है । किसी को यह अधिकार नहीं
है कि वह युद्ध-कथानकों पर लिखने या
युद्ध में भाग लेने के लिए आदेश दे । यदि
लेखक वर्तमान युद्ध से उत्पन्न जटिल
मानवीय स्थितियों पर लिखने का चुनाव
करता है, तो किसी को भी उसे सेन्सर
करने का अधिकार नहीं है कि वह क्यों
युद्ध का प्रशस्ति-गान न करके केवल युद्ध
की ट्रैजेडी को, उसकी यातना को, उसकी
अग्नि-परीक्षा को ही जो अनगिनत लोगों
को भोगनी और झेलनी पड़ती है, चित्रित
करता है । वर्तमान युद्ध में शायद लेखक
और कुछ कर भी नहीं सकता ।

यह लेखक का जन्म-सिद्ध अधिकार
है, यह मानकर भी मैं इस बात पर जोर
देना चाहूंगा कि लेखक के पास एक प्रति-
बद्धता भी जो है समान रूप से उसके लेखन-
कर्म का अभिन्न अंग है । यह प्रतिबद्धता
सत्य और मानवीय मूल्यों के प्रति है ।
फलतः न तो वह सिनिकल तौर से सही
को गलत, अच्छे को बुरा, शान्ति को युद्ध

और मानवीय को पाशविक के साथ एक
ही तराजू पर रख सकता है न अपनी
आँखों को वास्तविकता से मूँदकर या
इतिहास को तोड़-मरोड़ कर सस्ते गौरव
के लिए अपनी कला को विकृत कर
सकता है ।

इन दोनों प्रकार के भ्रामक दृष्टि-
कोणों का परित्याग करके हर लेखक को
स्वयं ही निर्णय करना चाहिए कि उसे
दो भाइयों के इस पीड़ाजनक और
निरर्थक युद्ध में एक लेखक की हैसियत से
क्या करना है । बिना अपने साहित्यिक
स्तर को नीचे गिराये उसे न्यायोचित और
जनतान्त्रिक उद्देश्यों की विजय में सहायक
बनना चाहिए । और चूँकि वर्तमान युद्ध
में भारत का पक्ष न्यायोचित और जन-
तान्त्रिक है, लेखक की प्रतिबद्धता यह है
कि वह शान्ति की खातिर इन उद्देश्यों
को अपना समर्थन दे, उन पर 'थूके' नहीं
बावजूद इसके कि इस संघर्ष की स्थायी
शान्ति में परिणति के लिए भी तत्काल
कुर्बानियाँ देनी पड़ेंगी और यातनाएँ झेलनी
पड़ेंगी ।



१९६५ के मुख्य प्रकाशन

कलम का मजदूर : प्रेमचन्द	मदनगोपाल	₹ ११.००
योग-वियोग	शंकर	₹ ६.००
यही सच है	मधुकर गंगाधर	₹ ३.००
चौरंगी (पुन०)	शंकर	₹ ११.००
चार-चन्द्रलेख (पुन०)	डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी	₹ १२.००
धीरे बहे दोन रे (प्रथम भाग)	शोलोखोव	₹ ८.००
मीरा की प्रेम-साधना	डॉ० भुवनेश्वरनाथ मिश्र 'माधव'	₹ १०.००
युग-वाणी (पुन०)	श्री सुमित्रानन्दन पन्त	₹ ३.५०
स्वर्ण-धूलि (पुन०)	" " "	₹ ५.००
सामर्थ्य और सीमा (पुन०)	भगवती चरण वर्मा	₹ ७.५०
वह फिर नहीं आई (पुन०)	" " "	₹ २.५०
सम्पर्क भाषा हिन्दी	डॉ० लक्ष्मीनारायण 'सुधांशु'	₹ २.५०
विषेला अमृत	नानकसिंह	₹ ४.५०
पहला प्यार	मिन्दारोविच	₹ २.५०
हिरोशिमा के फूल	एदिता मॉरिस	₹ ३.५०
भग्न सीमाएं	बालशौरि रेड्डी	₹ ४.००
कोहबर की शक्ति	केशवप्रसाद मिश्र	₹ ५.००
एक पंखड़ी की तेज धार	शमशेरसिंह नरुला	₹ ५.००
मुझे टिकट दो	डॉ० सत्यप्रकाश संगर	₹ ५.००
कल्प वृक्ष	रबीन्द्र नाथ त्यागी	₹ ४.००
कृष्ण पक्ष	विनोदचन्द्र पाण्डे	₹ ४.००
अंग्रेजी हिन्दी पर्यायवाची कोश	डॉ० बन्नीनाथ कपूर	₹ ६.००
भारतीय दर्शन : सरल परिचय	देवीप्रसाद चट्टोपाध्याय	₹ ६.००
भारतीय दर्शन की रूपरेखा	एम० हिरियन्ना	₹ १२.००
आपेक्षिकता की मूल संकल्पनाएं	बर्टेण्ड रसेल	₹ ६.००
आदिवासी भारत	योगेन्द्र अटल	₹ ३.००
भारत परिचय नक्शों में	आदर्श	₹ ०.७५
महान वैज्ञानिक	गुणाकर मुले	₹ ३.००



राजकमल प्रकाशन

दिल्ली-६

पटना-६

चार-खण्डीय
स्वातन्त्र्योत्तर-हिन्दी-साहित्य-
विशेषांक

के लिए विशेष रियायत
१८ रुपये की जगह केवल
१४ रुपये में प्राप्य

आलोचना

शिवदानसिंह चौहान

इन खण्डों का फुटकर मूल्य इस प्रकार होगा

स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी साहित्य विशेषांक-१	: जून	'६५ का अंक : ६ रुपये
"	" २ : जुलाई	'६५ का अंक : ४ रुपये
"	" ३ : जनवरी	'६६ का अंक : ४ रुपये
"	" ४ : मार्च	'६६ का अंक : ४ रुपये

स्वातन्त्र्योत्तर-हिन्दी-साहित्य-विशेषांक

में लगभग १२० निबन्ध होंगे

हिन्दी आलोचना पर
हिन्दी कविता पर
हिन्दी उपन्यास पर
हिन्दी नाटक, एकांकी, रेडियो
तथा रंगमंच पर
हिन्दी कहानी पर
हिन्दी निबन्ध पर
हिन्दी में बाल-साहित्य, समाज-
शास्त्रीय साहित्य तथा वैज्ञानिक
साहित्य पर
हिन्दी में हिन्दीतर भारतीय तथा
विदेशी साहित्य पर, एवं विदेशों
में हिन्दी साहित्य पर

हिन्दी में शोधकार्य पर
साहित्य के नये मानमूल्यों, आधु-
निकता और सामयिकता, पर-
म्परा और प्रयोग, लेखक और
व्यक्ति-स्वातन्त्र्य, लेखक और
मानववाद, लेखक और युग के
केन्द्रीय प्रश्न, सौन्दर्यशास्त्र के
नये आधार, इत्यादि सामयिक
प्रश्नों पर

साहित्यिकों के रेखाचित्र
श्रेष्ठतम कृतियों के पुनर्मूल्यांकन
जनपदीय भाषाओं का नया
साहित्य

प्रत्येक अंक को रजिस्टरी से पाने के लिए
१४ रुपये का मनीआर्डर आज ही भेजिए !



राजकमल प्रकाशन

दिल्ली-६

पटना-६

श्रीमती शोला संधू, मैनेजिंग डाइरेक्टर, राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लि०,

८ मध्य बाजार, दिल्ली के उपत्यका क्षेत्र, दिल्ली, में मुद्रित।

विशेषांक

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भाग : ३

सम्पादक शिवदानसिंह चौहान

आर्य समाज

तंत्रांतर

हिन्दी साहित्य

राजकमल प्रकाशन

हिन्दी साहित्य का आलोचना

नवांक ९.

जनवरी, १९६६

क मूल्य १२)

अंक का ४)

प्रत्येक अंक रजिस्ट्री
से पाने के लिए १४)

सम्पादकीय

लेखक और युद्ध

१

स्वातन्त्र्योत्तर सिद्धान्त चर्चा

विषय युद्ध और कविता

रामधारीसिंह 'दिनकर' ६

पुस्तक स्वातन्त्र्योत्तर नाटक-एकांकी-

आगत मंच

स्वातन्त्र्योत्तर के पश्चात् हिन्दी

क : विकास की भूमिका

लगाना सुरेश भवस्थी १५

समय स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी एकांकी

रेडियो नाटक

रंजीत २४

—हिन्दी रंगमंच : राष्ट्रीय

रंगमंच का सूत्रपात

वीरेन्द्र नारायण ३५

● स्वातन्त्र्योत्तर निबन्ध-साहित्य

—हिन्दी निबन्ध : प्रेरणा,

प्रयास और उपलब्धि

डॉ० रामखेलावन पाण्डेय ४६

● स्वातन्त्र्योत्तर बाल-साहित्य

—स्वातन्त्र्योत्तर के बाद का हिन्दी

बाल-साहित्य

मन्मथनाथ गुप्त ५६

● स्वातन्त्र्योत्तर कथा-साहित्य

हिन्दी में आंचलिक उपन्यास

मधुकर गंगाधर ७३

—स्वातन्त्र्योत्तर कथा-साहित्य

और चरित्र-विकास

डॉ० बेचन ८७

● विश्व-साहित्य में हिन्दी

—विदेशों में हिन्दी-साहित्य

डॉ० प्रभाकर साचवे ६५

● हिन्दी-क्षेत्र की प्रमुख भाषाओं

का नया साहित्य

—भोजपुरी लोक-साहित्य

डॉ० कृष्णदेव उपाध्याय ११६

—मगही का स्वातन्त्र्योत्तर-साहित्य

प्रो० कृष्णनारायणप्रसाद सागध १२०

—सन् सैतालीस के बाद का

छत्तीसगढ़ी साहित्य

डॉ० सावित्री शुक्ल १२६

● हिन्दी में भारतीय साहित्य

—हिन्दी में असमिया साहित्य

नवारुण १३२

● परिचर्चा

—भाषा का प्रश्न और भारत की

एकता : कुछ प्रश्न एवं दिशाबोध

डॉ० महावीरसरन जैन १३६

—“शतरंज के मोहरे” : “बूंद

और समुद्र”

डॉ० विश्वनाथ उपाध्याय १४२

—‘सागर, लहरें और मनुष्य’ :

एक पुनर्मूल्यांकन

लक्ष्मीकान्त शर्मा १५०

—शहर में धूमता आईना

डॉ० मखनलाल शर्मा १५६

—‘कब तक पुकारूँ’

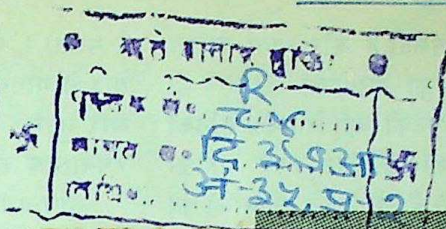
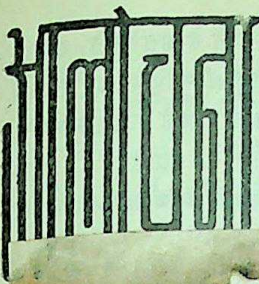
गोविन्द रजनीश १६४

—यह पथ बन्धु था

डॉ० लक्ष्मीधर मालवीय १७०

—आषाढ़ का एक दिन

महेन्द्र भूतनागर १७६



लेखक और युद्ध

युद्ध के प्रति लेखक का दृष्टिकोण क्या हो, यह प्रश्न नया नहीं है, लेकिन उतना पुराना भी नहीं है, जितना कुछ लोग कल्पना करते हैं। वाल्मीकि, व्यास, होमर या शेक्सपियर को भी इस प्रश्न पर उन व्यापक सन्दर्भों में विचार करने की जरूरत नहीं महसूस हुई थी, जिन व्यापक सन्दर्भों में विचार करने के लिए बीसवीं सदी के लेखकों को बाध्य होना पड़ा है। दरअसल, बीसवीं सदी से पहले जब युद्ध छिड़ते थे तो उनका दुष्प्रभाव केवल उन देशों को ही भोगना पड़ता था, जिनकी धरती पर दोनों पक्षों की सेनाएँ लड़ती थीं। लेकिन बीसवीं सदी में विश्व-साम्राज्यवाद के उदय होने के साथ ही ऐसे महायुद्धों का सूत्रपात हुआ जिनकी लपेट में सारा विश्व खिंच आता है। इस सदी के पूर्वार्ध में जो युद्ध और महायुद्ध लड़े गए, वे साम्राज्य-विस्तार की खातिर ही। पहल महायुद्ध में अगर एक करोड़ व्यक्तियों के करीब हताहत हुए तो दूसरे महायुद्ध में लगभग पाँच करोड़ सैनिक और नागरिक मौत के घाट उतरे और इससे कहीं अधिक बेघरवार और बेरोजगार होकर असह्य यातनाएँ झेलने के लिए विवश हुए।

युद्ध के इन दुष्परिणामों से सभी परिचित हैं। लेखक भी। इसी कारण सदी

के आरम्भ से ही जागरूक और मानव-प्रेमी लेखकों ने सामान्य रूप से युद्ध के प्रति अपने दृष्टिकोण का स्पष्टीकरण करने की कोशिश की है। तॉलस्टॉय ने युद्ध और युद्ध का आयोजन करने वाले सभी साम्राज्यवादी राजनीतिज्ञों, पूंजीपतियों और फौजी जनरलों की कठोर शब्दों में भर्त्सना की और अपनी मृत्यु से पहले सन् १८१० में अपने एक निबन्ध में घोषणा की कि युद्ध एक बुराई है, इसलिए हर लेखक का कर्तव्य है कि वह विश्व-शान्ति के लिए संघर्ष करे। तॉलस्टॉय ने अपने समय के नीत्शे, माल्थुस और बीजमान-जैसे दार्शनिकों और विचारकों के सिद्धान्तों का भी खण्डन किया जो बढ़ती हुई जन-संख्या को कम करने के लिए दुर्बल और पुरुषार्थहीन, बीमार और असमर्थ व्यक्तियों की तादाद घटाने के लिए और समर्थ और पौरुषवान की विजय के लिए युद्ध को समाज के विकास का एक मंगलकारी प्राकृतिक नियम मानते थे या सिद्ध करते थे कि युद्ध अनिवार्य है क्योंकि मनुष्य स्वभाव से ही हिंस्र, स्वार्थी और पाशविक है। इन विचारकों और दार्शनिकों की मानवद्रोही मान्यताओं पर प्रहार करते हुए तॉलस्टॉय ने सिद्ध किया कि युद्ध अनिवार्यता नहीं है, मनुष्य सहिष्णुता, सहयोग और शान्ति के वाता-

वरण में रह सकता है और रहना चाहता है और युद्धों का आयोजन केवल वे ही करते हैं, जो उनकी भट्टी में गरीब सैनिकों और जनता को झोंककर स्वयं मुनाफ़ा कमाना चाहते हैं या अपने साम्राज्य का विस्तार करना चाहते हैं ।

तॉलस्टॉय से पहले किसी महान् लेखक ने आधुनिक युद्ध के विरुद्ध लेखक के दृष्टि-कोण का इतने खुले शब्दों में स्पष्टीकरण नहीं किया था । तब से विश्व-साम्राज्यवाद ने जितनी बार युद्धों और महायुद्धों का आयोजन किया है, उनको उचित और अनिवार्य सिद्ध करने के लिए उसके वकील दार्शनिकों ने जितने भी तर्क दिए हैं (और मूलतः उनके तर्कों में कोई नवीनता नहीं रही, केवल भयों और आशंकाओं का सन्दर्भ बदलता रहा है । पहले राष्ट्रीय गौरव की रक्षा के लिए प्रतिस्पर्धी साम्राज्यवाद के विरुद्ध अभियान होता था, अब साम्यवाद या गुलाम देशों के स्वातन्त्र्य आन्दोलनों से 'फ्री-वर्ल्ड' और 'डिमाँक्रेसी' की रक्षा की खातिर युद्ध छेड़े जाते हैं ।) उनके प्रति विश्व के सभी मानववादी लेखकों की सामान्यतः वही प्रतिक्रिया रही है जो तॉलस्टॉय की थी । यानी युद्ध एक बुराई है और लेखक का कर्तव्य है कि वह युद्ध का विरोध करे और शान्ति का समर्थन करे, क्योंकि स्थायी शान्ति ही आज के युग में मानवीय प्रगति की रक्षा कर सकती है और मानवता को सम्पूर्ण विनाश से बचा सकती है । यह बात पहले भी सही थी, लेकिन बीसवीं सदी का कोई भी लेखक जो जीवन से प्रेम करता है और मानवद्रोही नहीं है, अपने लेखन में रक्त और नरसंहार की मध्यकालीन पिपासा को अभिव्यक्ति नहीं

दे सकता । संस्कृति से असंस्कृति, मानव-वाद से मानवद्रोह और हिंसा बर्बरता की ओर मुड़कर जाना लेखक के स्वभाव और रचनात्मक कार्य के विरुद्ध है ।

अणु-बम तथा अन्य ताप-नाभिकीय अस्त्रों की ईजाद के बाद से युद्ध अब एक आत्म-विनाशकारी हकीकत बन गया है । यह सभी जानते हैं कि अगला महा-युद्ध ताप-नाभिकीय अस्त्रों से लड़ा जायगा और उसमें न कोई जीतेगा न हारेगा क्योंकि शायद सारी मानव-जाति ही नष्ट हो जायगी, मानवीय सभ्यता और संस्कृति के सभी उपादान बर्बाद हो जायेंगे और जली-झुलसी वीरान धरती पर जो कुछ बचेगा, उसे लेकर फिर कभी सभ्यता का उदय हो सकेगा, यह सन्दिग्ध है । इसी-लिए आज हर विचारशील व्यक्ति (जिनमें लेखक भी है) सोचता है कि आखिर किस उपलब्धि की खातिर यह इतना विराट् संहार-आयोजन हो रहा है, किस लिए आणुविक और ताप-नाभिकीय अस्त्रों के गोदाम भरे जा रहे हैं ? अन्य मनुष्यों की तरह लेखक भी शान्ति चाहते हैं, लेकिन सारी कोशिशों के बावजूद युद्ध का खतरा बढ़ता जा रहा है, क्योंकि विश्व-साम्राज्यवाद की रक्षा के आकांक्षी मानव-सभ्यता और संस्कृति के प्रेमी नहीं हैं और अपने स्वार्थों की पूर्ति के लिए मानवता को तीसरे महायुद्ध की आग में धकेल रहे हैं जिसमें सब के साथ वे स्वयं भी नष्ट हो जायेंगे ।

एक भयंकर अन्तर्विरोध की स्थिति है यह । परिणामतः कुछ संवेदनशील व्यक्तियों और लेखकों में नितांत सिन-सिज़म (अनास्था) का मूड पैदा हो गया है । उनको लगता है कि युद्ध को रोक

सकना सम्भव नहीं है, इसलिए कौन सही है, कौन गलत है, क्या सच है, क्या झूठ है, क्या शुभ है, क्या अशुभ है—ये सारे सवाल जिनमें मूल्य-निर्णय निहित रहते हैं, आसन्न खतरे के सन्दर्भ में वेमानी और अप्रासंगिक हो गए हैं। वे महसूस करते हैं—और साम्राज्यवादी विचारक इस अहसास को और गहरा करने के लिए इसके पक्ष में लगातार दार्शनिक तर्क पेश करते रहते हैं—कि अन्तिम विनाश से अस्थायी तौर पर ही बचा जा सकता है, परन्तु उसे हमेशा के लिए रोका नहीं जा सकता। इसलिए साम्राज्यवाद और साम्यवाद, उपनिवेशवादी हस्तक्षेप और राष्ट्रीय आजादी के संघर्ष या हमलावर और गैर-हमलावर में भेद करना अनावश्यक है। यह दृष्टिकोण युद्धों का आयोजन करने वाले उस साम्राज्यवाद को मुआफ़ कर देता है, जिसे रोकना ज़रूरी है और रोका जा सकता है, ताकि वह सारी दुनिया को ताप-नाभिकीय हत्याकाण्ड में न डुबो दे।

यह सिनिसिज़्म, यह अनास्था दर-असल यथार्थ ढंग से सोच पाने की सामर्थ्य की कमी के कारण पैदा होती है। युद्ध चाहे छोटे हों या बड़े, उनमें रक्तपात और हिंसा तो होती ही है। और यह सच है कि 'युद्ध में सबसे पहले अगर किसी की हत्या होती है तो सत्य की।' पर साथ ही यह भी सच है कि सिनिसिज़्म और अनास्था से तो युद्ध के बिना ही सत्य की हत्या हो जाती है और सत्य की रक्षा की सभी सम्भावनाएँ भी मिट जाती हैं। सबसे पहले तो इस सत्य की हत्या हो जाती है कि युद्ध अनिवार्य नहीं है। इसलिए राष्ट्रों के जीवन से जब तक युद्ध का पूर्ण निष्कासन नहीं हो जाता, तब तक अन्य

लोगों के साथ मिलकर, लेखक को भी युद्धों का बहिष्कार करने के लिए अपने शब्दों से या आवश्यकता पड़ने पर उनमें स्वयं भाग लेकर अपना योग देना पड़ेगा—युद्ध को गौरवान्वित करने के लिए नहीं, बल्कि व्यर्थता, कुरूपता, अमानवीयता का चित्रण करने के लिए ही, ताकि परस्पर सहयोग, भ्रातृत्व और शान्ति के मानवीय मूल्यों की घोषणा की जा सके जिस तरह रामायण, महाभारत, ओडिसी और तॉलस्टॉय के 'युद्ध और शान्ति'—जैसे महाकाव्यों में युद्ध की भर्त्सना की गई है और सहयोग और भाईचारे के मूल्यों को सर्वोच्च मानव-मूल्य घोषित किया गया है—जीवन के व्यापक सत्यों को उद्घाटित किया गया है।

सिनिसिज़्म और अनास्था के मूड में यह सब करना निश्चय ही सम्भव नहीं है। मूल्य-बोध खोकर कोई भी लेखक आज युद्ध और शान्ति के प्रश्नों पर वस्तु-परक दृष्टि से नहीं सोच सकता। यह तभी सम्भव है जब लेखक इस हकीकत के प्रति सचेत हो कि युद्ध दो प्रकार के होते हैं—साम्राज्यवादी युद्ध और देशभक्तिपूर्ण युद्ध—जिनका एक-दूसरे से फ़र्क़ करना ज़रूरी है। यद्यपि लोगों को यातनाएँ दोनों में झेलनी पड़ती हैं और विध्वंस भी दोनों में होता है, फिर भी उनके उद्देश्यों में परस्पर-विरोध होता है और एक या दूसरे की सफलता विरोधी परिणामों की ओर ले जाती है, जैसे उपनिवेशी गुलामी या राष्ट्रीय स्वाधीनता। और ये परिणाम अन्ततः विश्व-शान्ति और जनता की सांस्कृतिक और आर्थिक प्रगति के लिए काम करने वाली उन ताकतों को जिनका मूल्य मानववादी लेखक की दृष्टि में सबसे

४ : आलोचना

ज्यादा होता है, या तो खतरे में डाल देते हैं या उनको मजबूत करते हैं। इन दोनों प्रकार के युद्धों में सत् और असत् के परस्पर-विरोधी पक्ष होते हैं। साम्राज्यवादी युद्ध में साम्राज्यवाद का पक्ष असत् का पक्ष है और जिस देश की जनता को गुलाम बनाने के लिए यह नरसंहार रचा जाता है, उसका पक्ष सत् का होता है, जैसे वियतनाम के युद्ध में संयुक्तराष्ट्र अमरीका का पक्ष असत् का और दक्षिण वियतनामी जनता का पक्ष सत् का है। इसी तरह मोजाम्बीक और अंगोला की जनता का देशभक्तिपूर्ण संघर्ष सत् का पक्ष है और पुर्तगाली साम्राज्यवाद की दमन-कारवाइयाँ असत् पक्ष की हैं। संभव है कि युद्ध और संघर्ष की तात्कालिक उत्तेजना या आवश्यकता के कारण सत्-पक्ष में भी अनेक अतिवाद और क्रूरताएँ देखने को मिलें, लेकिन इतिहास-बोध रखने वाला मानववादी लेखक इन दोनों के प्रति न तो समान भर्त्सना का दृष्टिकोण अपना सकता है, न दोनों की हार-जीत के प्रति तटस्थता और सिनिसिज़्म का भाव रख सकता है। हमारा आग्रह केवल इतना है कि युद्ध के इन व्यापक प्रकारों का स्पष्ट अन्तर जान लेने से लेखक युद्ध की निरर्थकता और ट्रेजेडी को अभिव्यक्त करने की अपनी स्वाधीनता को बिना खोये हुए, क्षणिक उद्वेगों और युद्धवाद की संकीर्ण भावनाओं से अवश्य ही ऊपर उठ सकते हैं। महान् साहित्यकारों ने सत् और असत्, सही और गलत में भेद किया है और उस जनता को अपने हृदय की सम्पूर्ण करुणा दी है जो हमलों और धोखे-बाजी की शिकार रही है।

यही कारण है कि रूपर्ट ब्रक पहले

महायुद्ध को अपना पूरा समर्थन नहीं दे सका, क्योंकि वह दो प्रतिस्पर्धी साम्राज्यवादों का युद्ध था, जिसमें किसी महान् मानवीय आदर्श को चुनौती नहीं थी। उसने युद्ध की विभीषिका का चित्रण किया और युद्ध के प्रति उत्साह दिखाने वाले लोगों का मजाक उड़ाया। और दूसरे महायुद्ध में जब इज़रा पाउण्ड ने फासिज़्म का समर्थन किया और 'शान्ति की दुर्गन्ध' के प्रति अपनी घृणा व्यक्त की तो उसने न केवल सत्य और जीवन के प्रति विश्वासघात किया बल्कि स्वयं अपने कवि की ही हत्या कर डाली।

इसके विपरीत पहले महायुद्ध में जिन लेखकों ने इंग्लैण्ड, जर्मनी, फ्रांस और रूस में अपने-अपने देशों के साम्राज्यवादियों का विरोध किया, जैसे बर्नर्ड शॉ, बारबूज़, रोम्यां रोला, रिमार्क या गोर्की, उन्होंने ही दरअसल सत्य का दामन नहीं छोड़ा और इसी कारण वे उस युद्ध के बारे में ऐसी कृतियों की रचना कर सके जिनके लिए मानवता उनके प्रति चिर-कृतज्ञ बनी रहेगी।

दूसरे महायुद्ध के दौरान विश्व के सभी महान् लेखकों ने फासिज़्म, उसके जातिवाद के सिद्धान्तों और यहूदियों के उत्पीड़न का विरोध किया और मानवता पर होने वाले नाज़ी अत्याचार के विरुद्ध जन-प्रतिरोध का समर्थन किया। इसके अलावा, सोवियत यूनियन के लेखक—शोलोखोव, अलेक्सी तॉलस्तॉय, इलिया एहरनबर्ग, सिमोनोव आदि—नाज़ी आक्रमण के विरुद्ध लिख रहे थे और लाल फ़ौज की अगली कतारों में लड़ रहे थे। वे अपनी रचनाओं में फासिज़्म का अमानवीय और क्रूर चेहरा दिखा रहे

लेखक और युद्ध : ५

ब्रे। फ्रांस में सार्त्र, लुई अरांगा, आन्द्रे मालरो आदि प्रतिरोधी आन्दोलन में हथियार लेकर नाज़ी आधिपत्य के विरुद्ध संघर्ष कर रहे थे।

जैसा कि युद्ध में होता है, आक्रामक और आततायी भी अपने कृत्य के लिए जनता का समर्थन पाने की खातिर देश-भक्तिपूर्ण नारे लगाता है। लेकिन 'पितृ-भूमि खतरे में है' की पुकारों का जर्मनी के किसी महान् लेखक पर प्रभाव नहीं पड़ा। इससे लेखकों और कलाकारों के मन में नफ़रत और ज्यादा गहरी हो गई। टॉमस मान, अन्स्ट टोलर, स्टीफन ज़वाइग, अन्ना सेगस जैसे सभी बड़े लेखक जर्मनी छोड़कर, अपनी ही मातृभूमि के साम्राज्यवादी नाज़ी शासकों के खिलाफ़ संघर्ष करने के लिए दूसरे देशों में चले गये।

'युद्ध के प्रति लेखक का दृष्टिकोण क्या हो?' जब से यह प्रश्न ज्वलंत बना है, तब से विश्व के महान् लेखकों की यही परम्परा रही है। उन्होंने साम्राज्यवादी युद्धों का विरोध किया है और आज़ादी के युद्धों का समर्थन किया है। इतना ही नहीं, जहाँ कहीं स्वतन्त्रता और शान्ति संकट में पड़ी है, लेखकों ने स्वतन्त्रता-प्रेमी जनता के साथ मिलकर लड़ने के लिए अपना जीवन तक खतरे में डाला है। राल्फ़ फ्राक्स और कॉडवेल ने फ्रैंको फ़ासिज़्म के खिलाफ़ लड़ते हुए मेड्रिड की खन्दकों में अपना जीवोत्सर्ग कर दिया। एशिया और अफ्रीका के गुलाम देशों में लेखकों की कई पीढ़ियाँ उपनिवेशी पराधीनता के विरुद्ध संघर्ष करती हुई अपने रवीन्द्रनाथ और प्रेमचन्द पैदा करती रही हैं।

साम्राज्यवाद, फ़ासिज़्म, जातिवाद और प्रतिस्पर्धावाद ससार में कहीं भी

किसी भी महान् लेखक का समर्थन प्राप्त करने में सफल नहीं हो सका। काव्य-देवता निरन्तर मृत्यु, शोषण और दासता की ताकतों के युद्ध-रथ से बँधने से इन्कार करता रहा। वह केवल उन पर अपनी वरद मुसकानें बिखेरता रहा जो विपरीत परिस्थितियों में भी स्वतन्त्रता, प्रेम और शान्ति की मानववादी भावनाओं को संजोये रहे।

: २ :

इस व्यापक सन्दर्भ में पाकिस्तान के साथ होने वाले मौजूदा युद्ध के प्रति लेखक का दृष्टिकोण क्या होना चाहिए? क्या लेखक मूल्यों के प्रश्न को एक तरफ़ हटाकर, कौन सही है कौन ग़लत है, के निर्णय से निःसंग रहकर भारत और पाकिस्तान के शासकों पर एक साथ ही 'थूके' जिन्होंने हमारी जनता को 'एक-दूसरे की हत्या करने की पाशविकता' में धकेल दिया है (जैसा कि आकाशवाणी से प्रसारित एक कविता में सुझाया गया था) या पूर्ण उदासीनता की मुद्रा बनाकर दावा करे कि लेखक का काम लिखना है जिस तरह सिपाही का काम लड़ना है और इन दोनों कार्यों में कोई उभयनिष्ठता नहीं है (जैसा कि दिल्ली की संज्ञा-गोष्ठी में एक लेखक ने कहा), या इस युद्ध को एक 'स्थिति' मात्र मानकर जिसमें कोई भी मूल्यगत प्रश्न अन्तर्निहित नहीं है, जिससे लेखक उसमें ज़रा भी रुचि रख सके, वह उससे अपने-आपको दूर और अ-सम्बद्ध रखे (जैसा कि संज्ञा-गोष्ठी में एक और लेखक ने सुझाया) ?

इन दृष्टिकोणों को संवेदनशील लेखकों के उन ईमानदार प्रयत्नों का प्रतिनिधि माना जा सकता था जो वे अपनी अभि-

६ : आलोचना

व्यक्ति की स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए करते हैं और जिनके द्वारा वे अपनी 'प्रतिभा' को प्रचारात्मक लक्ष्यों की सिद्धि के लिए उपलक्ष्य-मात्र बनाये जाने से रोकते हैं, अगर उनकी आधारभूत धारणाएँ सही होतीं और अगर इन दृष्टि-कोणों में वर्तमान युद्ध के वास्तविक स्वरूप और उसमें अन्तर्निहित नैतिक प्रश्नों और भावी खतरों के प्रति घोर उदासीनता व्यक्त न होती।

भारत इस युद्ध में साम्राज्यवादी लक्ष्यों को लेकर सम्मिलित नहीं हुआ। भारत ने युद्ध नहीं छोड़ा, युद्ध में उसे घसीटा गया और देश की एकता, स्वतन्त्रता, धर्म-निरपेक्ष प्रजातन्त्र और गुट-निरपेक्षता की रक्षा के लिए ही उसे विवश होकर हथियार उठाने पड़े। इसलिए युद्ध 'मूल्य-निरपेक्ष' एक 'स्थिति' मात्र नहीं है।

सिनिसिज्म या अनास्था का स्वाँग रचकर लेखक अपनी कला को ही दरिद्र बना सकता है। इसके अलावा इस तरह का दृष्टिकोण ब्रिटिश और अमरीकी साम्राज्यवादियों के छिपे हाथों को और चीनी पड्यन्त्र को भी, जिन्होंने पाकिस्तान के नेताओं को भारत पर यह युद्ध थोपने के लिए प्रोत्साहित किया, नजरन्दाज कर देता है।

दूसरी तरफ़, क्या भारतीय लेखक भी 'पाकिस्तानी शासकों की तरह युद्धोन्माद को उभारने में मदद करे और देशभक्ति के नाम पर पाकिस्तान के विरुद्ध 'जिहाद' का नारा लगायें जैसा कि इस समय संकीर्ण राष्ट्रवादी और साम्प्रदायिक विचारधारा के अनेक तुकड़ कवि-समूह कर रहे हैं? पाकिस्तानी शासक और उनके नैतिक

शायर महमूद गज़नवी-जैसे मुसलमान विजेताओं की विरुद्धालियाँ गाकर पाकिस्तान की जनता को उनका वारिस घोषित कर रहे हैं, जिनका लक्ष्य एक बार फिर तलवार के जोर से भारत को गुलाम बनाना और कश्मीर के मुसलमानों को भारत की गुलामी (?) से मुक्ति दिलाना है। हमलावरों के नारों की नक़ल करके भारत के हिन्दू सम्प्रदायवादी तुकड़ भी 'पाकिस्तान को कश्मिस्तान में बदलने', 'नक्शे से पाकिस्तान का नाम मिटा देने' और 'पाकिस्तान पर अधिकार करके विभाजन के पूर्व के अखण्ड भारत को पुनःस्थापित' करने के लिए ललकार रहे हैं। ये लोग देश-भक्ति, भारत की एकता और गांधी की हत्या का प्रतिशोध लेने के नाम पर खून की नदियाँ बहाने को लालायित हैं। ये लोग अपनी कविताओं में राणा सांगा और रानी दुर्गावती-जैसे सूरमाओं के जीवन-चरितों का आह्वान करते हैं जिन्होंने किसी समय मुसलमान आक्रमणकारियों के विरुद्ध युद्ध किया था और इस प्रकार हिन्द-पाकिस्तान युद्ध की हिन्दू-मुस्लिम युद्ध में परिणति देखना चाहते हैं। इसीलिए वे अपनी कविताओं और नाटकों की भाषा में जिन प्रतीकों और रूपकों को ग्रंथते हैं, वे मूलतः मध्य-कालीन धर्मान्विता से प्रेरित और हिन्दू-परम्परावादी होते हैं।

संवेदनशील लेखक इस तरह के दृष्टिकोण को केवल इसलिए गंभीर और खतरनाक नहीं समझते कि वह जिस तरह की मानवीय संस्कारहीन, प्रचारात्मक कविता और नाटक लिखे जाने की प्रेरणा देता है, उनमें विकृत, ओछी और पाशविक भावनाओं की ही छिछली अभिव्यक्ति

होती है, बल्कि इसलिए भी यह दृष्टिकोण एक ऐसी अन्ध और क्रूर रक्त-पिपासा को भी प्रतिबिम्बित करता है जो फ्रांसिज्म और उसके द्वारा आयोजित यहूदियों के हत्याकाण्डों का स्मरण दिलाती है। इसके अलावा, यह दृष्टिकोण हमारे जीवन के समस्त मानवीय और प्रजातान्त्रिक मूल्यों, भारत की धर्म-निरपेक्षता की नीति और वर्तमान युद्ध में उन सामरिक लक्ष्यों को भी नकारता है, जो केवल देश की सुरक्षा तक ही सीमित हैं। घृणा और हिंसा को प्रोत्साहन देने वाले ये नाटक और कविताएँ इतिहास में से ऐसे ही व्यक्तियों और प्रसंगों का आह्वान करते हैं जिनको भारत के हिन्दू और मुसलमान संयुक्त रूप से अपनी समन्वित परम्परा का अंग नहीं मानते और पूर्व-इस्लामी पौराणिक हिन्दू-परम्परा या शुद्ध हिन्दूवादी दृष्टिकोण का प्रतिनिधित्व करते हैं और इस प्रकार उनका आह्वान आज के सन्दर्भ में घोर सम्प्रदायवाद का प्रतीक बन जाता है, मानो यह संघर्ष दो पड़ोसी राज्यों के बीच न होकर हिन्दू भारत और मुस्लिम पाकिस्तान के बीच हो—यही तर्क पाकिस्तान के जंग-वाज हुक्मरानों का भी है। लेकिन यह संकीर्ण हिन्दू राष्ट्रवादी दृष्टिकोण भारतीय इतिहास को झुठलाता है और भारत के छः करोड़ मुसलमानों को जैसे अपनी ही मातृभूमि में विदेशी घोषित करता है। और सबसे पीड़ाजनक बात तो यह है कि इस प्रकार की उन्मादपूर्ण रचनाएँ जो मानव-चेतना और लोगों की प्रजातान्त्रिक भावना पर नापाम बमों-जैसा काम करती है, भारतीय रेडियो तथा अन्य सरकारी प्रचार-एजेन्सियों का संरक्षण प्राप्त है।

सारी स्थिति इतनी जटिल है कि

सिनिकल उदासीनता की यह जरूरत से ज्यादा सरल दृष्टि और साम्प्रदायिक सुरों से भरी साहित्यिक उत्तेजनावीद की प्रवृत्ति ये दोनों ऊपर से परस्पर-विरोधी दिखायी देने पर भी, दरअसल एक-दूसरे की पूरक साबित हो सकती हैं, यदि लेखक स्थिति की यथार्थता और उसमें निहित गहन मानवीय परिप्रेक्षों को नज़रअन्दाज़ कर देंगे। हिन्द-पाकिस्तान युद्ध के बारे में कोई भी भारतीय लेखक निम्नलिखित तथ्यों के प्रति उदासीन रहकर एक सही दृष्टिकोण निर्धारित नहीं कर सकता :

एक : कि यह युद्ध दो भाई देशों के बीच है जो अभी कल तक एक-दूसरे के अंग थे—यानी दोनों देशों की जनता का इतिहास एक ही रहा है, उनकी संस्कृति और जातीय परम्परा भी एक ही रही है। विभाजन से चाहे जमीन बँट गई हो, इतिहास, संस्कृति और परम्परा दोनों की आज भी एक है।

दो : पाकिस्तान की राज्य-व्यवस्था चाहे जैसी हो, वह इस्लामिक राज्य हो या सैनिक डिक्टेटरशिप, जबकि भारत एक प्रजातान्त्रिक और धर्म-निरपेक्ष राज्य है, लेकिन फिर भी हमारा उद्देश्य पाकिस्तान को मिटाना नहीं बल्कि उसके साथ शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व प्राप्त करना है, क्योंकि इसी में दोनों का कल्याण है।

तीन : पाकिस्तान के शासक भारत पर अपने जारिहाना हमले को चाहे एक धर्म-युद्ध, जेहाद का रूप देना चाहते हों, लेकिन हमें पूरी सजगता से उनके जाल में फँसने से रोकना चाहिए, क्योंकि हमारी लड़ाई पाकिस्तानी की जनता से नहीं है, बल्कि उसके शासकों से है, जो साम्राज्यवाद के पिढू हैं। 'जेहाद की गुहार वे

८ : आलोचना

इसलिए लगाते हैं कि, इससे पाकिस्तान में भारत-विरोधी युद्धोन्माद पैदा किया जा सके, ताकि इसके जवाब में भारत की जनता में भी हिन्दू साम्प्रदायिकता को प्रोत्साहन मिले। भारत की धर्म-निरपेक्ष जनतान्त्रिक व्यवस्था अगर कमजोर हो जाए तो साम्राज्यवाद पर उसकी पूर्ण निर्भरता एक अनिवार्य हकीकत बन सकती है। पाकिस्तानी शासकों की आशा थी कि इस चाल में भारत के मुसलमान उनके और साम्राज्यवाद के पाँचवें दस्ते का काम करेंगे। लेकिन भारतीय मुसलमानों की देशभक्ति और वर्तमान युद्ध में उनके वीरतापूर्ण कारनामों ने उनकी आशा पर पानी फेर दिया और भारत के हिन्दू सम्प्रदायवादियों को भी पाकिस्तान का खेल खेलने से रोक दिया।

चार : भारत में छः करोड़ मुसलमान रहते हैं। वे यहाँ के वाशिन्दे हैं, नागरिक हैं, विदेशी नहीं हैं, शुद्ध भारतीय हैं। भारतीय संस्कृति के निर्माण में—भारतीय दर्शन, विचारधारा, साहित्य, कला, संगीत, स्थापत्य और दस्तकारी के विकास में उनका योगदान इतना महान् है कि हमारी संस्कृति के ताने-बाने में जो केवल हिन्दू-कालीन धागे हैं उनको ही 'भारतीय संस्कृति' का पर्याय समझना एक बर्बर और असम्य मनोवृत्ति का परिचायक है।

पाँच : पाकिस्तान के शासकों ने हम पर जो युद्ध लादा है, उससे और घमों के अनुयायियों की अपेक्षा मुसलमानों के लिए कहीं ज्यादा ट्रेजिक परिस्थिति पैदा की है क्योंकि भारत के विभाजन ने हिन्दुओं की तरह लाखों-करोड़ों मुसलमानों को अपने परम्परागत निवास-स्थानों से विस्थापित ही नहीं किया, बल्कि लाखों

परिवारों को भी बाँट दिया। फिर भी पाकिस्तान में बसे अपने सगे-सम्बन्धियों, बेटे-बेटियों के भाग्य के बारे में सहज चिन्ता के बावजूद, भारत के मुसलमानों ने इससे अपनी मातृभूमि के प्रति अपनी वफ़ादारी पर आँच नहीं आने दी। इन लाखों मुस्लिम हृदयों में एक मौन किन्तु हृदय-विदारक, पीड़ाजनक, ट्रेजिक मानवीय नाटक खेला जा रहा है, और कोई भी संवेदनशील लेखक उसकी उपेक्षा नहीं कर सकता।

छः : पाकिस्तान के सैनिक तानाशाह वहाँ की जनता के प्रतिनिधि नहीं हैं। पूर्व बंगाल, पख्तूनिस्तान, पश्चिमी पंजाब और बलोचिस्तान की जनता एक अरसे से जनतान्त्रिक अधिकारों के लिए संघर्ष करती रही है, यह सभी जानते हैं। पाकिस्तान की जनता के इन आन्दोलनों के प्रति सहानुभूति प्रदर्शित करने का तात्पर्य है कि हम पाकिस्तान की जनता को अपना मित्र समझते हैं और हमारा विश्वास है कि दोनों देशों के जनवादी आन्दोलनों का पारस्परिक सहयोग ही अन्ततः दोनों देशों के बीच स्थायी शान्ति की बुनियादी डाल सकता है और सम्भवतः भविष्य में दोनों देशों को पुनः एक होने की प्रेरणा दे सकता है। लेकिन सद्भावना का यह वातावरण तभी पैदा हो सकता है जब हर हिन्दू भारत के मुसलमानों को अपना भाई और सजातीय समझकर उनको सामाजिक व्यवहार और भावना के स्तर पर अपना लेगा। स्मरण रहे कि 'पाकिस्तान' का बीज उस दिन पड़ गया था जब हिन्दुओं ने भारत में आकर बसे मुसलमानों को 'रोटी-बेटी' के सामाजिक

(शेष पृष्ठ १८३ पर)

स्वातंत्र्योत्तर सिद्धान्त-चर्चा

श्री रामधारीसिंह 'दिनकर'

युद्ध और कविता

युद्ध कविता के लिए कहाँ तक ग्राह्य या अग्राह्य है ? मेरा ख्याल है, कविता के लिए युद्ध को उतना ही ग्राह्य या अग्राह्य होना चाहिए जितनी ग्राह्य या अग्राह्य नैतिकता या अनैतिकता हो सकती है। युद्ध बर्बर क्रृत्य है और कविता सभ्यता की वाणी है, इस आधार पर कविता को युद्ध से अलग नहीं रखा जा सकता। युद्ध वह जन्तु है जो अपनी सेवा सभ्यता के अग्रणी लोगों से करवाता है। और कविता को भी असभ्यता से परहेज नहीं है। वह अनाचार, दुराचार, कदाचार—यहाँ तक कि व्यभिचार में भी रस लेती है और अब वह यह कार्य मनुष्य के सुधार के लिए नहीं करती, बल्कि केवल यह जानने को कि अनाचार कैसा होता है, दुराचार का स्वरूप क्या है और व्यभिचार की प्रेरणा कहाँ से आती है। युद्ध अगर दुराचार है तब भी कविता उसे जरूर समझना चाहेगी।

किन्तु यह सत्य है कि युद्ध के प्रसंग में नई कविता पुरानी कविता से भिन्न हो गई है। पुरानी कविता में युद्ध के लिए उत्साह था। नई कविता में उसके लिए व्यथा और विषाद है, द्विधा और द्वन्द्व है, विरक्ति और विलाप है। पुराने ज़माने में युद्ध की अच्छी कविता वह समझी जाती थी जो युद्ध का समर्थन करती थी। अब युद्ध की अच्छी कविता वह है जो युद्धों का विरोध करती है, उनके प्रति वितृष्णा उत्पन्न करती है। पुरानी कविता आवेग-प्रधान थी। नई कविता चिन्तन-प्रधान है। और यह बात प्रत्यक्ष है कि क्रोध बिना सोचे-समझे किया जाता है। सोचने-विचारने से क्रोध की आग मन्द पड़ जाती है। लेकिन युद्ध वह तूफान है जो चिन्तन के चिराग को गुल कर देता है। अतएव, प्रश्न यह बन जाता है कि युद्ध छिड़ जाने पर हम क्या करें ? आया हम तटस्थ हो जाएँ या युद्ध का विरोध करें अथवा बन्दूकें उठाकर मैदान की ओर दौड़ें और कलम उठाकर उन आवेगों को बढ़ावा दें जो अन्धवीरता के आवेग हैं, जिन आवेगों के सामने विजय और विनाश को छोड़कर कोई और विकल्प नहीं है।

पुरानी कविता उस अंडिग मनुष्य की कविता थी जो चिन्तन कम, कार्य अधिक करता था। नई कविता उस मनुष्य की कविता है जो ज्ञानाधिक्य से पीड़ित होने के कारण कर्म के विषय में शंकाग्रस्त है। पुरानी कविता के वीरनायक श्रीराम थे जिन्हें भगवत्क-वध के समय भी दुविधा नहीं हुई, श्रीकृष्ण थे, जिन्हें अपनी प्रतिज्ञा तोड़कर भीष्म पितामह पर दृष्ट पड़ने में किसी प्रकार का संकोच नहीं हुआ। नई कविता का गायक हैमलेट है जो आत्मरक्षा का उपाय न खोजकर केवल इस विचिकित्सा में भगड़ा

रहता है कि होने और नहीं होने में कौन-सा विकल्प ठीक है, कर्म और अकर्म में कौन सा सही और कौन-सा गलत मार्ग है। पुरानी कविता का स्वर था—

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्षसे महीम्
तस्मात् उत्तिष्ठ कोन्तेय, युद्धाय कृतनिश्चयः ।

किन्तु नई कविता का स्वर है, “आशा करने से बाज आओ, क्योंकि आशा गलत चीज की आशा होगी। प्रेम करने से बाज आओ, क्योंकि प्रेम गलत चीज के लिए प्रेम होगा।” इलियट की चेतावनियों में एक चेतावनी यह भी जोड़ी जा सकती है कि “युद्ध करने से बाज आओ, क्योंकि युद्ध गलत बातों के लिए युद्ध होगा।” और अन्त में सभी युद्ध, सचमुच ही, गलत बातों के लिए युद्ध सिद्ध होते हैं।

किन्तु, हैमलेटवादी दृष्टिकोण की प्रधानता होते हुए भी युद्ध रुकता नहीं दिखाई देता। उल्टे यह बात दिनोंदिन अधिक प्रत्यक्ष होती जाती है कि हैमलेट जहाँ भी जन्म लेते हैं, बर्बाद होने को जन्म लेते हैं। हैमलेटों की ईमानदारी का आदर केवल कवि करते हैं, दार्शनिक और कलाकार करते हैं। किन्तु कर्मवादी राजनीतिज्ञ, जो संसार के संचालक और सूत्रधार हैं, हैमलेट की पहले भी अवहेलना करते थे और आज भी अवहेलना करते हैं। और युद्ध आदि से अन्त तक राजनीति है। जब राजनीति श्वेत वस्त्रों में होती है, हम उसे शान्ति कहते हैं। जब उसके कपड़े लाल रंग में रँग जाते हैं, तब वही राजनीति युद्ध बन जाती है। प्रश्न यह नहीं है कि युद्ध दुष्कर्म है या नहीं। प्रश्न यह है कि उसके अभिशापों से बचा कैसे जाए ?

केवल ऊँची बातें बोलने से युद्ध नहीं रुकेगा क्योंकि आदमी ऊँची बातों को अमल में लाने से लाचार है। विशेषतः अहिंसा की साधना व्यक्ति के लिए सुकर, समूह के लिए अत्यन्त दुःसाध्य है। और जब भी हम व्यक्ति के धर्म को समाज का धर्म बनाएँगे, नतीजा वही निकलेगा जो भारतवर्ष में दिखाई पड़ा है। भारत का पतन इसलिए नहीं हुआ था कि यह देश पापियों का देश था। पतन उसका इसलिए हुआ कि सभ्यता उसने जरूरत से ज्यादा सीख ली थी।

बहुत ऊँचे आदर्श व्यक्ति को तो ऊँचा उठा ले जाते हैं, मगर वे राष्ट्रों का विनाश कर डालते हैं। भारत शान्ति की आराधना करे, इससे किसी का भी विरोध नहीं हो सकता। व्यावहारिक कठिनाई केवल यह है कि अगर ऋषि ने यज्ञवेदी पर काफ़ी बन्दूकें जमा नहीं की हैं तो उसका शान्ति-यज्ञ भी पूरा नहीं होगा।

युद्ध से डरनेवाले लोग शान्ति-स्थापना में हमेशा असमर्थ रहे हैं। शान्ति की रक्षा आज भी वे ही लोग कर रहे हैं और आगे भी वे ही लोग करेंगे जो युद्धों से नहीं डरते, मगर, युद्ध रोकने को तैयार हैं। आदर्श मनुष्य की सबसे समीचीन कल्पना यह है कि उसे शरीर से बर्बर और मन से साधु होना चाहिए। लेकिन शान्ति-स्थापना में जितनी बाधा बर्बरों की बर्बरता से पड़ी है, साधुओं की निर्वीर्यता उससे कम गुनहगार नहीं है।

विशेषतः जिन देशों की जनसंख्या बहुत बड़ी है, उन्हें सामरिक दृष्टि से बलवान् होना चाहिए। नहीं तो उनकी कमजोरी ही विश्वयुद्ध का सबसे बड़ा कारण बन

जाएगी। चिड़ियों की लाशों पर केवल कौए ही भीड़ लगाते हैं। बड़े-बड़े गिद्ध तो तभी उतरते हैं जब उन्हें किसी बड़े जानवर की लाश दिखाई देती है।

युद्ध की कविता केवल युद्ध के ही समय नहीं लिखी जाती है। वह तब भी लिखी जाती है और लिखी जानी चाहिए जब युद्ध शुरू नहीं होते हैं और उस समय भी जब युद्ध खत्म हो जाते हैं। और जैसे युद्ध में जीत उसकी होती है जो पहले से ही उसके लिए तैयार रहता है, उसी प्रकार संसार में मान के साथ केवल वे जातियाँ जीती हैं, जिनका जीवन-दर्शन युद्ध पर आधारित है, संघर्ष की वास्तविकता से एकाकार है। सर मोहम्मद इकबाल कविता को व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति मानते थे, किन्तु, व्यक्तित्व से उनका तात्पर्य संघर्ष और तनाव से था। इकबाल के अनुसार व्यक्तित्व उसका बनता है जो दुरवस्थाओं से संघर्ष कर रहा है, जो तनाव की स्थिति में रहकर अपना विकास खोज रहा है। जो बातें व्यक्तित्व के विकास में सहायता पहुँचाती हैं उन्हें इकबाल कला के लिए भी उपयोगी समझते थे। और जिन बातों से मनुष्य का व्यक्तित्व शिथिल होता है, उन्हें इकबाल कला के लिए भी वर्जित बताते थे। हाफिज़ की गज़लों की उपमा उन्होंने उन गुलाबों से दी थी, जिनके भीतर साँप छिपे हुए हैं। इकबाल के उद्गारों से यह शिक्षा मज्जे में निकाली जा सकती है कि मानवता को ऊँचा उठानेवाली प्रत्येक कविता युद्ध की ही कविता होती है, क्योंकि वह संघर्ष को प्रेरित करती है, तनाव की स्थिति को मजबूत बनाती है। और इस संघर्ष और तनाव का कहीं भी अन्त नहीं है। मंजिलों के आगे नयी मंजिलें मौजूद हैं और आदमी को हमेशा अपने से ऊपर उठने का प्रयास करते ही जाना है।

सितारों से आगे जहाँ और भी हैं,

अभी इश्क के इम्तिहाँ और भी हैं।

तू शहीं है, परवाज़ है काम तेरा,

तेरे सामने आसमाँ और भी हैं।

संसार अभी भी उन कविताओं के पूरे प्रभाव में है, जिन्हें हम सब युद्ध-काव्य कह सकते हैं। रामायण युद्ध की कविता है। महाभारत युद्ध का काव्य है। होमर युद्ध के कवि हैं। शेक्सपियर युद्ध की प्रेरणाओं से पूर्ण हैं। मनुष्य के मन के भीतर युद्ध को गौरवपूर्ण भाव के रूप में प्रतिष्ठित करने का सारा कार्य कवियों ने किया है और आज इस भाव को गौरवहीन बनाने की दिशा में भी वे ही सबसे अधिक सचेष्ट हैं। किन्तु, युद्ध की गरिमा का चाहे जितना भी हरण किया जाए, युद्ध अचानक फूट पड़ता है और तब बहुत-से ऐसे कवि भी युद्ध की कविता लिखने लगते हैं जो सच्चे मन से युद्धों के विरुद्ध हैं। शान्ति का प्रचार तभी तक सम्भव है जब तक युद्ध नहीं छिड़ा हो। जब युद्ध छिड़ जाता है तब फिर लड़ना छोड़कर कोई और मार्ग शेष नहीं रह जाता।

युद्ध के दर्पपूर्ण आवेगों से मनुष्य का जितना परिचय है उसका उसना ही पुराना परिचय युद्ध की करुणा के भी साथ है। जिन कारणों से हम युद्ध का गौरव-हरण करना चाहते हैं, वे कारण कदाचित् व्यासजी को भी दिखाई पड़े थे। युद्ध के

ठीक पहले अर्जुन की और युद्ध के बाद युधिष्ठिर की जो मनोदशा हुई थी, वह आधुनिक चिन्तकों की मनोदशा से मिलती-जुलती है। किन्तु, ध्यास ने अर्जुन का समाधान भगवान् श्रीकृष्ण से तथा युधिष्ठिर का समाधान भीष्म से करवा दिया। अर्थात् अपने इस मत को उन्होंने दो-दो बार रेखांकित किया कि अन्याय के प्रतिकार के लिए अगर खड्ग छोड़कर और कोई विकल्प नहीं हो, तो वैसी अवस्था में खड्ग उठाना धर्म तथा नहीं उठाना अधर्म है।

वास्तविक युद्ध-काव्य और कोरे प्रचार काव्य के बीच हमें भेद करना चाहिए, गरचे यह विभाजन ज्यादातर गुण नहीं, परिमाण को ही लेकर किया जा सकता है। जैसे शैली की नवीनता और उसका तकनीकी सौन्दर्य अन्य कविताओं की श्रेष्ठता के लक्षण माने जाते हैं, उसी प्रकार युद्ध-काव्य की भी श्रेष्ठता उसकी शैली में परखी जाती है। वास्तविक युद्ध-काव्य वह है जो भाव और शैली, दोनों से लोगों के बीच असंतोष पैदा करता है, उनके भीतर अन्याय के विरोध की भावना जगाता है और उन्हें विपत्तियाँ झेलने को तैयार करता है। किन्तु, युद्ध के समय जो ढेर-की-ढेर अखबारी कविताएँ लिखी जाती हैं वे एक दृष्टि से तो प्रचार-साहित्य हैं, किन्तु, एक दूसरी दृष्टि से वे एक प्रकार की मनोवैज्ञानिक ग्रन्थि से उत्पन्न होती हैं। अँधेरे और सुनसान रास्ते से चलनेवाले मुसाफिर को जब भय लगता है, वह जोर-जोर से गाने लगता है। इसी प्रकार जनता जब किसी युद्ध से भय मानती है तब वह गाने और सुनने के लिए उग्र-उन्मादक कविताओं की माँग करती है। यह भी ध्यान देने की बात है कि जिस युद्ध से जितना ही अधिक आतंक फैलता है, उसे लेकर उतनी ही अधिक कविताएँ लिखी जाती हैं। मनोवैज्ञानिक ग्रन्थि का एक स्वरूप यह भी है कि युद्ध के समय हमारे अन्तर्मन में यह ग्लानि समाई रहती है कि हम सुरक्षित इसलिए हैं कि हमारी रक्षा करने को और लोग मोर्चे पर खतरे झेल रहे हैं, अपनी जान और जिस्म की कुर्बानी दे रहे हैं। अपने अन्तर्मन की इस अपराध-भावना को छिपाने के लिए भी हम देशभक्ति का बहाना बनाकर युद्ध की कविता रचते अथवा जोर-जोर से उसका पाठ करते हैं। युवकों को मृत्यु के मुख में झोंककर खुद आराम करने में जो एक मनोवैज्ञानिक ग्लानि और दंश है उसे छिपाने अथवा उससे पलायन करने के काम में देशभक्ति-पूर्ण कविताएँ जनता को सहायता पहुँचाती हैं। एक यह भी कारण है कि युद्ध के समय युद्ध-प्रचार की कविताएँ जितनी लोकप्रिय रहती हैं, उतनी लोकप्रिय वे युद्ध में बाद नहीं रह पातीं।

किन्तु, युद्ध की सारी कविताएँ केवल लोकप्रिय ही हों, यह कोई आवश्यक बात नहीं है। वे आलोकप्रिय भी हो सकती हैं और जो कविताएँ आलोकप्रिय होती हैं, वे ही दीर्घायु भी होती हैं। युद्ध का जो वक्तव्य सार्वजनिक मंचों से आता है वह उसका असली वक्तव्य नहीं है। युद्ध का असली वक्तव्य वह है जिसे नीरवता में केवल हमारी आत्मा सुना करती है। युद्ध ऐसा विषय नहीं है जिसका बखान केवल ढोल पीटकर कर दिया जाए। उसके साथ अनंत परिवारों की वेदना बँधी है, उसके साथ सभ्यता का भविष्य सम्बद्ध होता है, उसके साथ जीवन-मरण की ऐसी अनेक गुत्थियाँ

लिपटी होती हैं जिन्हें सुलझाने के काम में चिन्तकों, दार्शनिकों और राजनीति के बड़े पंडितों को बारबार पराजय स्वीकार करनी पड़ी है। युद्ध राष्ट्रीय भावनाओं का विस्फोट है, मगर वह मानवीय समस्या का भी सबसे ज्वलन्त, सबसे दुःखदायी स्वरूप है। युद्ध में मनुष्यों को क्या-क्या नहीं सहना पड़ता है ? मेरा ख्याल है, कविगण यदि अपने को कम, मनुष्य को कुछ अधिक देखने की कोशिश करें तो वे युद्ध की बहुत अच्छी कविताएँ लिख सकते हैं।

युद्ध-काव्य को मैं एक सामाजिक कर्तव्य मानता हूँ जैसे राष्ट्रीय काव्य सामाजिक कर्तव्य है। किन्तु यहाँ यह भी याद रखने की बात है कि कवि साधारण सैनिक नहीं होता। हम विशेष प्रकार के सिपाही हैं। हम जिससे लड़ते हैं, अपने हृदय की आधी सहानुभूति उस दुश्मन के लिए भी सुरक्षित रखते हैं। हम जिस पर वार करते हैं, उसके घाव के लिए मरहम तैयार करना भी हमारा ही काम है। युद्ध की श्रेष्ठ कविताएँ वे नहीं हैं जो युद्ध-विशेष के साथ समाप्त हो जाती हैं। कविता राष्ट्रीय होकर भी राष्ट्रीयता का अतिक्रमण करती है, धार्मिक होकर भी साम्प्रदायिकता के पार पहुँचती है। युद्ध की भी श्रेष्ठ कविताएँ वे हैं, जो युद्ध-काव्य होने पर भी युद्ध का अतिक्रमण करती हैं, जो एक देश में जन्म लेकर अनेक देशों का स्पर्श करती हैं, जो एक शताब्दी में पैदा होकर अनेक शताब्दियों की यात्रा करती हैं।

नये कवि करुणा और संवेदना के कवि हैं। वे भावुकता के आवेश में आकर युद्ध को दर्पपूर्ण भाव के रूप में ग्रहण करने को तैयार नहीं हैं। प्रथम विश्व-युद्ध के विख्यात युद्धकवि विलफ्रेड ओवेन ने लिखा था :—

My subject is war and the pity of war.

The poetry is in the pity.

और येट्स का सिपाही मोर्चे पर खड़ा बड़े ही निःसंकोच भाव से कहता है :

Those that I fight, I do not hate.

Those that I guard, I do not love.

द्वितीय विश्वयुद्ध की कविता तो दर्प और भावुकता से बिल्कुल ही मुक्त होगी। उस युद्ध के एक वर्दीधारी कवि ने लिखा था :

Droll rat, they will shoot you if they knew your
cosmopolitan sympathies.

वेदना और व्यंग्य, ये युद्ध-काव्य की अब रीढ़ बन गए हैं। वेदना उनकी जो रोगमक्ति के लिए अथवा विचारधारा के प्रेम में शहीद होते हैं। और व्यंग्य की बात यह कि जिन सपनों के लिए सिपाही अपना बलिदान देना है, वे सपने कभी भी पूरे नहीं होते। व्यंग्य इस बात पर भी कि हमें जो शिक्षा दी जाती है वह शान्ति की शिक्षा है, युद्ध-विरोध की शिक्षा है। किन्तु, यह शिक्षा हमारे किसी काम नहीं आती। हम शान्ति चाहते हैं, किन्तु, हमें युद्ध में उतरना पड़ता है। अपने भीतर हम ग्लानि का अनुभव करते हैं, ऊँचाई से खिसकने पर हमें पश्चात्ताप होता है, किन्तु, लड़ना छोड़कर हम और कुछ नहीं कर सकते, क्योंकि जातियों के लिए राष्ट्रीय पराजय

१४ : आलोचना

बढ़कर और कोई पाप नहीं है। कवि कैलास ने इस दर्द को बहुत अच्छी अभिव्यक्ति दी है।

यह सब कल के लिए छोड़ दो।

आज तो वस युद्ध को—

नही, नहीं, 'आवश्यक बुराई' को,

नीचे से ऊपर तक ओढ़ लो।

यह वक्तव्य ईमानदारी का वक्तव्य है। ओवेन और गेट्स के वक्तव्य भी ईमानदारी के ही वक्तव्य हैं। किन्तु, ये सारे वक्तव्य अधूरे दीखते हैं, क्योंकि वे जिस गहराई की थाह लेने की कोशिश करते हैं, वह गहराई अथाह है। युद्ध के बारे में मुख से उद्गीर्ण कोई भी वक्तव्य पूर्ण नहीं हो सकता। भाषा इस विषय की पूरी वेदना और विवशता को नहीं सँभाल सकती, न चिन्तन इस समस्या का सम्यक् समाधान निकाल सकता है। जब तक कर्म की घड़ी नहीं आती, वाणी और चिन्तन अपना काम कर सकते हैं, किन्तु, कर्म का अखाड़ा खुलते ही कर्म ही हमारा प्रधान कर्तव्य हो जाता है। क्योंकि कर्म के अखाड़े में चिन्तन की तलवार का भरोसा करनेवाला मनुष्य मारता नहीं, खुद मारा जाता है।

क्रिया को छोड़ चिन्तन में फँसेगा,

उलट कर काल तुझको ही ग्रसेगा।

स्वतन्त्र

हम समस्त

बात सह

की अपेक्ष

क्रियाकल

जन्म नहीं

१४-१५

बन्द हो ग

है और व

अपना स्व

निर्देश न

विहीन य

में कोई न

नियमों अ

नया रूप

हुए हैं।

वि

विविधता

आश्वासन

गोष्ठियाँ

की जा रह

हुया है।

१५-१८ व

एक सुनि

का भी सं

और रंगमं

दे सकेगा।

स

और सन्

डॉ० सुरेश अवस्थी

स्वतन्त्रता के पश्चात् हिन्दी नाटक : विकास की भूमिका

हम समसामयिक हिन्दी नाटक और रंगमंच पर दृष्टिपात करते हैं तो आज भी यह बात सहज ही स्पष्ट हो जाती है कि हिन्दी नाट्य-लेखन साहित्य की दूसरी विधाओं की अपेक्षा परिमाण और गुण दोनों ही दृष्टियों से हीन कोटि का है, और रंगमंचीय क्रियाकलाप का इतना बड़ा विस्तार भी किसी संगठित और व्यावसायिक रंगमंच को जन्म नहीं दे सका। यही नहीं, हिन्दी का एकमात्र व्यावसायिक रंगमंच पृथ्वी-थिएटर्स १४-१५ वर्ष समस्त हिन्दी-भाषी क्षेत्रों में नाटकों का प्रदर्शन करके १९६० में सहसा बन्द हो गया। हिन्दी नाट्यालोचना आज भी मुख्य रूप से साहित्यिक आलोचना ही है और वह नाटक को रंगशाला के सन्दर्भ में मूल्यांकित करने में असमर्थ है। वह अपना स्वरूपपूर्ण और प्रयोजनशील बनाकर नाटक के क्षेत्र में रचनात्मक कार्य को कोई निर्देश नहीं दे पा रही। नाट्य-लेखन और प्रदर्शन दोनों ही संकुचित और कल्पनाविहीन यथार्थवादी परम्पराओं और प्रणालियों से जकड़े हुए हैं, और इन दोनों ही क्षेत्रों में कोई नया विचारोत्तेजक और प्रयोगात्मक कार्य नहीं हो रहा है। नाट्य-लेखन के नियमों और व्यवहारों तथा नाट्य-प्रदर्शन की पद्धतियों और शैली मूल्यों का कोई नया रूप विकसित नहीं हो रहा, और वे एक प्रकार के कलात्मक गतिरोध से घिरे हुए हैं।

फिर भी सब मिलाकर रंगमंचीय क्रियाकलाप का विस्तार हुआ है और उसमें विविधता आई है तथा कुछ श्रेष्ठ नाटकों की रचना हुई है जो नई उपलब्धियों का आश्वासन देते हैं। नाटकीय समस्याओं पर गम्भीर साहित्यिक वादविवाद हो रहे हैं, गोष्ठियाँ हो रही हैं; नाटकों और नाट्य-प्रदर्शनों के शिल्प-पक्ष की गम्भीर समीक्षाएँ की जा रही हैं, 'नटरंग' नामक उच्च स्तर की त्रैमासिक नाटक पत्रिका का प्रकाशन हुआ है। इस सबके आभार पर यह कहा जा सकता है कि स्वतन्त्रता के पश्चात् का १५-१८ वर्षों का समय हिन्दी नाटक और रंगमंच के जीवन में वास्तव में विकास की एक सुनिश्चित भूमिका का समय है। यह भूमिका धीरे-धीरे भावी विकास की दिशाओं का भी संकेत कर रही है, और इस बात की आशा होने लगी है कि हिन्दी नाटक और रंगमंच हमारी साहित्यिक और सांस्कृतिक गतिविधियों में अपना महत्त्वपूर्ण योग दे सकेगा।

सन् १९३३, जब प्रसाद की अन्तिम नाट्य-कृति 'ध्रुवस्वामिनी' प्रकाशित हुई, और सन् १९४७ के बीच के काल को इस दृष्टि से देखना उपयोगी होगा कि इस

काल-खण्ड में नाट्य-लेखन के कौनसे रचना-नियम और व्यवहार प्रचलित थे और रंगमंच की क्या स्थिति थी। इस दृष्टि से विचार करने पर ज्ञात होगा कि एक ओर तो प्रसाद की नाट्य-रचना-पद्धतियों और रीतियों का ही अनुसरण किया गया और भारतीय इतिहास के विविध काल-खण्डों और कथानकों को लेकर ऐतिहासिक नाटकों की रचना की गई और दूसरी ओर, पश्चिम के यथार्थवादी नाट्य-आन्दोलन के प्रभाव में सामाजिक और यथार्थवादी समस्या-प्रधान नाटकों की एक नई धारा का सूत्रपात हुआ। यह एक आश्चर्यजनक ऐतिहासिक संयोग की बात है कि १९३३ में 'ध्रुव-स्वामिनी' के प्रकाशन के साथ हिन्दी नाटक की एक धारा अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँची, और उसके दूसरे ही वर्ष सन् १९३४ में लक्ष्मी नारायण मिश्र के नाटक 'सिन्दूर की होली' के साथ एक नई धारा का जन्म हुआ।

स्वतन्त्रता के पश्चात् इन दो प्रमुख धाराओं में ही नाटकों की रचना होती रही और सब मिलाकर हमारा नाटक साहित्य का सृजन और उसकी उपलब्धियाँ अत्यन्त सामान्य स्तर की हैं। लेकिन, इस बीच कुछ ऐसी नाट्य-कृतियाँ आईं तथा कुछ ऐसे प्रदर्शन हुए, जिनमें नए तत्त्वों और विकास की नई दिशा का आभास मिला। प्रसाद की परम्परा का अनुसरण करने वाली ऐतिहासिक नाटकों की धारा में इस अवधि में सबसे पहला और महत्वपूर्ण मोड़ जगदीशचन्द्र माथुर की रचना 'कोणाक' से आया। यथार्थवादी नाट्य-लेखन परम्परा का यह पहला ऐतिहासिक नाटक है, जिसके वस्तु-विधान और चरित्र-विधान में इस परम्परा के सर्वोत्तम तत्त्वों का समावेश हुआ है। प्रयोग की दृष्टि से भी यह कृति महत्वपूर्ण है, क्योंकि इसमें मध्ययुगीन भाषा-नाटकों की परम्परा में वृन्द-वातिक, सूत्रधार और कथावाचकों का समावेश किया गया, और नाटक की दृश्य-अंक-योजना में उपक्रम, उपसंहार और उपकथन की नियोजना करके अन्वितियों का पालन करते हुए भी नाटकीय कथानक के विस्तार की रक्षा की गई। शिल्पगत प्रयोग की दृष्टि से इस नाटक का बहुत बड़ा महत्त्व है, क्योंकि इसकी रचना-पद्धति में परम्परा के सूत्रों को खोजा गया और उनके साथ नया सम्बन्ध स्थापित किया गया। यह नाटक शायद हिन्दी का पहला साहित्यिक धारा का नाटक है, जो रंगमंच पर भी पर्याप्त सफलता के साथ खेला गया और कई पद्धतियों और शैलियों में इसके प्रदर्शन हुए। इसके बाद श्री माथुर ने एक और सफल ऐतिहासिक नाटक 'शारदीया' की रचना की। यह नाटक भी अपने रूपबन्ध में बड़ी सफलता के साथ रंगमंच के अनुशासनों का निर्वाह करता है, और यही कारण है कि रंगशाला में इसका सशक्त प्रदर्शन सम्भव हुआ है।

हिन्दी के ऐतिहासिक नाटकों की परम्परा में दो अन्य श्रेष्ठ नाट्य-कृतियों 'अन्धा युग' और 'आषाढ़ का एक दिन' की भी चर्चा की जा सकती है; यद्यपि ये दोनों ही इस नाट्य-धारा से बिलग और सर्वथा भिन्न रचनाएँ हैं। अन्धायुग ऐसे समय की रचना है जब नई कविता समर्थ और प्रौढ़ होकर अधिक नाटकीय होने लगी थी। यही कारण है कि 'अन्धायुग' में श्रेष्ठ काव्य के तत्त्व नाटकीय तत्त्वों के अनुगामी होकर आए हैं और उनके साथ समेकित होकर रचना की नाट्य-शक्ति को पुष्ट करते

स्वतन्त्रता के पश्चात हिन्दी नाटक : विकास की सूचिका : १७

हैं। इस रचना में महाभारत का अत्यन्त घनीभूत कथा-खण्ड नई वैचारिक और सैद्धान्तिक भंगिमाओं के साथ प्रस्तुत किया गया है; पात्रों की नितान्त मौलिक संकल्पनाएँ की गई हैं, और उनको युग-सापेक्ष सन्दर्भों में प्रस्तुत किया गया है। रूप-विधान की दृष्टि से भी इसमें नए प्रयोग किये गए हैं। नाटकीय-वस्तु-योजना में स्थापना, समापन और अन्तराल रखे गए हैं : अंकों को प्रतीकात्मक शीर्षक दिए गए हैं, और कथा-स्थितियों तथा पात्रों पर टीकाएँ करने के लिए प्रहरी और कथा-गायन का विधान किया गया है। इन शिल्पगत प्रयोगों द्वारा पहली बार हिन्दी नाटक को यथार्थवादी नाट्य-लेखन की जड़ता से मुक्त किया गया और उसमें उन श्रेष्ठ साहित्यिक तत्त्वों का समावेश किया गया, जिनके बिना किसी भी धारा और परम्परा का नाटक श्रेष्ठ नाटक नहीं होता।

इसके दो वर्ष बाद मोहन राकेश के नाटक आपाह का एक दिन का प्रकाशन हुआ, जिसमें स्कन्दगुप्त के बाद पहली बार हिन्दी नाट्य-लेखन में यथार्थवादी आन्दोलन द्वारा निर्वासित काव्य-तत्त्व फिर से प्रतिष्ठित हुआ। यद्यपि इस नाटक में यथार्थवादी नाट्य-रचना-पद्धति ही अपनाई गई और एक दृश्यबन्ध तथा तीन अंकों के रूप-विधान में अन्वितियों का निर्वाह किया गया, फिर भी इसके स्वरूप में एक ऐसी नम्यता है कि वह प्रदर्शन की विविध शैलियों में सहज ही ढल जाता है। इस नाटक के गम्भीर, काव्यपूर्ण और लयबद्ध संवाद तो हिन्दी नाटक के एक शताब्दी के संवाद-लेखन में अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं। इस प्रकार की साहित्यिक भाषा और उदात्त शैली में लिखे गए पात्रों के लम्बे-लम्बे संवाद, एकालाप और स्वगत-कथन जिस प्रकार से प्रदर्शन में पात्रों की रंगचर्या के साथ एकीभूत हो जाते हैं और उनके व्यापारों और भावों को उद्घाटित और घनीभूत करते हैं, वह अनुभव हिन्दी दर्शक के लिए सर्वथा नवीन है।

इसी अवधि में सन् १९६४ में मोहन राकेश का एक दूसरा नाटक 'लहरों के राजहंस' प्रकाशित हुआ, जो महात्मा बुद्ध के भाई आनन्द और उनकी पत्नी सुन्दरी के उस आख्यान पर आधारित है, जिस पर अश्वबोध ने अपने प्रसिद्ध महाकाव्य 'सौन्दरनन्द' की रचना की है। लहरों के राजहंस में एक ऐसे कथानक का नाटकीय पुनराख्यान है, जिसमें सांसारिक सुखों और आध्यात्मिक शान्ति के पारस्परिक विरोध तथा उनके बीच खड़े हुए व्यक्ति के द्वारा निर्णय लेने का अनिवार्य द्वन्द्व निहित है। चुनाव की यातना ही इस नाटक का कथा-बीज और उसका केन्द्रबिन्दु है। धर्म-भावना से प्रेरित कथानक में उलझे हुए ऐसे ही अनेक प्रश्नों का इस कृति में नये भाव-बोध के परिवेश में परीक्षण किया गया है। इस नाटक में लेखक ने पात्रों की तब-सर्जना की है तथा कथानक को युगीन और नाट्य-गर्भित अभिप्राय दिया है। इसके अत्यन्त कोमल और संवेदनशील संवादों तथा प्रेम और शृंगार की कथा-स्थितियों में पाठक को मध्ययुगीन शृंगारिक लघु चित्रों को देखने का-जैसा कलात्मक सुख मिलता है।

हिन्दी में ऐतिहासिक नाटक बहुत-कुछ पाठ्य-पुस्तकों की मांग की पूर्ति के लिए

१८ : आलोचना

लिखे जाते हैं। यही कारण है कि हिन्दी में ऐतिहासिक तथा पौराणिक नाटक बहुत बड़ी संख्या में हैं, और ऐसे सामाजिक नाटकों का अभाव है जिनमें प्रस्तुत प्रश्नों से जूझने का सशक्त कथानक हो और जिनके पात्र अपने परिवेश और समाज से लड़ते-झड़ते हुए दिखाई दें। हिन्दी नाटक साहित्य की यह स्थिति बड़ी विचित्र लगती है कि बहुत बड़ी संख्या में ऐतिहासिक नाटक ही लिखे जाते हैं, और उनमें से अधिकांश हीन कोटि की रचनाएँ हैं; और साथ ही चार-छः जो श्रेष्ठ नाटक हैं—स्कन्दगुप्त, कोणाक, अंधा-युग, आपाड़ का एक दिन और लहरों के राजहंस वे सब ऐतिहासिक हैं। ऐतिहासिक नाटक कभी भी सशक्त और कलात्मक नहीं हो सकते, यदि कथानक को नई, युग-सापेक्ष भंगिमाएँ नहीं दी गई, और पात्रों का तीव्र चरित्रांकन नहीं किया गया। ऐतिहासिक नाटकों का रचयिता अपने पात्रों को 'अनैतिहासिक' और 'युगीन' बनाकर ही अपनी कृतियों को कलात्मक सार्थकता और शक्ति प्रदान कर सकता है।

हिन्दी नाट्य-रचना की दूसरी धारा सामाजिक समस्या-नाटकों की है। यद्यपि इस धारा में पिछले ३० वर्षों से नाटक-रचना हो रही है, किन्तु सब मिलाकर इसकी उपलब्धियाँ बहुत ही सामान्य हैं। इस धारा के नाट्य-लेखन में यथार्थवादी परम्परा की नाट्य-रचना के व्यवहारों और रूढ़ियों का अनुसरण किया गया है, और इसकी प्रेरणा इव्सन और शॉ से ग्रहण की गई है; तथा इन नाटकों का रूप-विधान आधुनिक प्रदर्शन-व्यवहारों को ध्यान में रखकर किया गया है। लेकिन यह सारा नाटक साहित्य न तो अपने रंगमंचीय तत्त्वों और शिल्प-विधान में ही श्रेष्ठ कोटि का है, और न उसके साहित्यिक गुण ही उच्च-स्तर के हैं। इन नाटकों में सामाजिक कथानकों को तीव्र अन्तर्द्वन्द्व और घात-प्रतिघात की स्थितियों में रखकर अपने परिवेश और परिस्थितियों से लड़ते-झड़ते रहते हुए पात्रों को प्रस्तुत करने में नाटककार असफल रहे हैं। यह नाटक साहित्य केवल विश्वविद्यालयों में पाठ्य-पुस्तकों की माँग पूरी करता रहा और रंगमंच की क्षीण परम्परा को सम्बल देता रहा है। लक्ष्मीनारायण मिश्र और उपेन्द्र-नाथ अश्व ने इस धारा में कई नाटकों की रचना की और उनके नाटक रंगमंच पर भी खेले गए, विशेषकर अश्व के नाटकों को रंगमंच पर अधिक सफलता और ख्याति मिली। स्वतन्त्रता के पश्चात् इधर पिछले कुछ वर्षों में इस धारा में डॉ० लक्ष्मी-नारायण लाल ने कई नाटकों की रचना की है और अब तक उनके अंधाकुआ, सूखा सरोवर, मादा कैक्टस, सुंदर रस, रक्त कमल, रात रानी और दर्पन आदि नाटक प्रकाशित हो चुके हैं। डॉ० लाल कथानक की नाटकीय अनुभूति और उसकी रंगमंच-सापेक्ष वस्तु-योजना करने में अधिक सफल हैं; और उनके नाटकों से ऐसा लगता है कि वे अपने लिए एक विशिष्ट प्रकार के नाट्य-रूप की खोज कर रहे हैं। इसी धारा में नरेश मेहता के दो नाटकों—सुबह के घण्टे और खण्डित यात्राएँ—की चर्चा भी की जा सकती है। पिछले कुछ वर्षों में दूसरी भाषाओं से अनूदित होकर जो नाटक हिन्दी में प्रकाशित हुए हैं, उनमें पंजाबी से परितोष गार्गी का 'छलावा' और कन्नड़ से आद्य रंगाचार्य का 'सुनो जनमेजय' उल्लेखनीय कृतियाँ हैं।

हिन्दी नाटक लेखन की एक नई प्रवृत्ति यह है कि इस समय हिन्दी में बहुत

स्वतन्त्रता के पश्चात् हिन्दी नाटक : विकास की भूमिका : १६

बड़ी संख्या में ऐसे नाटक लिखे जा रहे हैं, जिनकी रचना केवल प्रदर्शन के लिए होती है। और जो प्रायः प्रकाशित भी नहीं होते। इस नई धारा के नाटक हिन्दी की साहित्यिक नाटक-धारा से भिन्न हैं। ये नाटक प्रायः ऐसे लोगों के लिखे हुए होते हैं जो नाट्य-संस्थाओं के ही उत्साही कार्यकर्ता और सदस्य होते हैं अथवा जो स्वयं अभिनेता या निर्देशक के रूप में नाट्य-संस्था से सम्बद्ध रहते हैं। उनमें से कुछ नाटक प्रकाशित भी होते हैं, लेकिन अधिकांश का केवल प्रदर्शन में ही प्रयोग किया जाता है। वैसे तो हमको इस प्रवृत्ति का स्वागत करना चाहिए, क्योंकि नाटककार का रंग-माला से सम्बद्ध रहना बहुत आवश्यक है जिससे कि वह रंगमंच के अनुशासनों और उसकी आवश्यकताओं से अच्छी तरह से परिचित रह सके और अपनी नाटकीय कथा को उन्हीं के अनुसार संगठित करे। किन्तु, इसमें कहीं ऐसा न हो कि जो श्रेष्ठ रचनाकार हों वे रंगमंच से निर्वासित हो जाएँ और हिन्दी रंगमंच उनकी कृतियों से वंचित रह जाए।

प्रदर्शित होने वाले नाटक में कई प्रकार के दोष रहते हैं, जो नाटक को कम-ओर और कलाहीन बनाते हैं। नाटकों के वस्तु-निर्माण में शिथिलता रहती है, और व्यापार में ऐसा अनर्गल फँलाव होता है कि वह बार-बार नाटक के मुख्य व्यापार से दूर हट जाता है। नाटकीय अन्तर्द्वन्द्व की दृष्टि बहुत ही पुरानी घिसी-पिटी युक्तियों से की जाती है, जैसे कि एक-दूसरे से सर्वथा भिन्न प्रवृत्ति वाले पात्रों का नाटकीय स्थितियों में एक साथ नियोजन, नाटकीय कथा में आकस्मिक रूप से नया मोड़ देने वाली नितान्त असम्बद्ध और प्रायः अस्वाभाविक घटनाओं का समावेश, प्रगतिमान कथानक में बहुत ही कृत्रिम रूप से नए-नए पात्रों का प्रवेश।

एक प्रवृत्ति यह भी है कि नाटककार अनावश्यक और गौण महत्त्व के कार्य-व्यापार पर काफी देर के लिए ठहर जाता है, और पात्र अनर्गल और निष्प्रयोजन वार्तालाप में लग जाते हैं। प्रायः पात्रों को ऐसी स्थिति में बहुत अधिक संवाद दे दिए जाते हैं, जहाँ कुछ शब्दों का आदान-प्रदान नाटकीय दृष्टि में अधिक प्रभावशाली होता है। नाटकीय पात्रों में समुचित अनुपात में संवादों का वितरण नहीं किया जाता। गौण कथानकों के कुछ विशेष प्रकार के 'टाइप' पात्रों को ही नाटककार अधिक महत्त्व देते हैं, जिससे कि नाटक में हास-परिहास की सृष्टि कर सकें। नाटककार अपने नाटकों में 'टाइप' पात्रों को रखने के प्रलोभन का संवरण नहीं कर पाते, और प्रायः वे अपने नाटकों की सफलता के लिए उन्हीं पर निर्भर रहते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि वास्तविक सामान्य पात्रों की अवहेलना होती है और उनका चित्रण कमजोर रह जाता है। नाटकों में एक प्रवृत्ति यह भी देखने में आती है कि नाटककार ऊपरी तौर पर सामाजिक जागरूकता का परिचय देते हैं, और सामाजिक समस्याओं को बड़ी गम्भीरता से उठाते हैं; लेकिन वास्तव में उनके कलात्मक अभिप्राय और प्रणालियाँ प्रायः भावनात्मक होती हैं और उनमें नाटकीय शक्ति का अभाव होता है।

रंगमंच के लिए उपयुक्त और प्रदर्शन के ही लिए लिखे जाने वाले नाटकों में हम पृथ्वी थियेटर्स के नाटकों 'आहुति', 'पैसा' और 'दीवार' आदि को ले सकते हैं।

२० : आलोचना

दिल्ली की एक सक्रिय नाट्य-संस्था 'श्री आर्ट्स क्लब' के अभिनेता और निर्देशक अशोक मेहता ने इसी परम्परा में कई नाटक लिखे हैं, जिनमें 'ढोंग' और 'जमाना' बहुत लोकप्रिय हैं। विनोद रस्तोगी का इसी धारा का नाटक 'नये हाथ' बहुत ख्याति पा चुका है। गोविन्द बल्लभ पन्त, विमला रैना, वीरेन्द्र नारायण तथा सर्वदानन्द ने इस अवधि में ऐसे नाटक लिखे जिनका सफलता के साथ प्रदर्शन हो सका; साथ ही कुछ नाटक साहित्यिक गुणों से भी सम्पन्न हैं। यह तथ्य अपने-आपमें महत्वपूर्ण है कि आज हिन्दी के नाटकों को प्रदर्शन का अवसर मिल जाता है; इससे हिन्दी नाट्य-लेखन रंगमंचीय अनुशासनों और प्रदर्शन-मूल्यों की ओर जागरूक हो रहा है।

नाट्यालोचना

हिन्दी नाटक के विकास की इस भूमिका का एक नया स्वर उसकी नाट्यालोचना है। पिछले छः-सात वर्षों में हिन्दी की नाट्यालोचना का क्षेत्र विस्तारित हुआ है, और वह पहले की अपेक्षा अधिक व्यापक और सर्वांगीण हुई है। शायद पहली बार हिन्दी नाट्यालोचना में नाटक के रूप-विधान और उसके अन्य रचना-पक्षों का विधिवत् शिल्पगत अध्ययन और विश्लेषण प्रस्तुत किया जा रहा है। हिन्दी नाट्य-समीक्षा के इस नए स्वरूप के कारण ही आज यह सम्भव हो सका है कि हिन्दी के नए नाटक रंगमंच के सन्दर्भ में प्रदर्शन की दृष्टि से मूल्यांकित किए जा रहे हैं। नाट्यालोचना के इस रूप के कारण ही पहली बार हिन्दी नाट्यकार को उसके रचनात्मक कार्य में समुचित दिशा-निर्देश मिल रहा है। आज हिन्दी की नाट्य-समीक्षा कथानक और चरित्र-चित्रण के ही संकुचित घेरों में नहीं घिरी हुई है। वह विश्वविद्यालयों से बाहर अधिक वास्तविक और व्यावहारिक भूमि में आ गई है। व्यावहारिक नाट्य-समीक्षा के सिद्धान्त और व्यवहार आज रंगशाला में निर्धारित हो रहे हैं। इस सम्बन्ध में सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि रंगमंच-सम्बन्धी पारिभाषिक और विशिष्ट शब्दावली तथा विवेचन-शैली का विकास हुआ है। पिछले कुछ वर्षों में प्राचीन नाट्य लक्षण-ग्रन्थों के जो नए व्याख्यात्मक अध्ययन प्रकाशित हुए हैं, उनसे भी नई नाट्य-समीक्षा पुष्ट हुई है; और वह प्राचीन समीक्षा पद्धति और पश्चिमी नाट्यशास्त्र के पारस्परिक समन्वय से समीक्षा का एक नया क्षेत्र विकसित कर रही है।

आज जिस नाट्यालोचना का विकास धीरे-धीरे नाटकों के प्रदर्शनों की समीक्षाओं के साथ हुआ है, और उसका श्रेय विशेषकर हिन्दी की दो साहित्यिक पत्रिकाओं—कल्पना और धर्मयुग—को है। वैसे यह स्थिति आज भी अत्यन्त खेदजनक है कि हिन्दी के दैनिक पत्र इस ओर से उदासीन हैं, और इस बात की आवश्यकता का अनुभव ही नहीं करते कि नाटकों के प्रदर्शनों की समीक्षाएँ नियमित रूप से प्रकाशित हों, और हिन्दी में भी अंग्रेजी के समान ही नाट्य प्रदर्शन समीक्षा की परम्परा का विकास हो। इसके साथ ही यह भी आवश्यक है कि नाटक के अध्ययन और अध्यापन को 'रंगमंचपरक' बनाया जाए। इस सम्बन्ध में पटना और दिल्ली विश्वविद्यालयों के हिन्दी विभागों का यह प्रयास सराहनीय है। उन्होंने रंग-शिल्प

से सम्बन्धित कुछ पाठ्यक्रम भी रखा है; दिल्ली में तो इस पाठ्यक्रम को एक 'स्पेशल पर्च' के रूप में रखा गया है। आवश्यकता इस बात की है कि इसी प्रकार सभी विश्वविद्यालय नाटक के अध्ययन-अध्यापन की पद्धति में परिवर्तन करें और उसे रंगमंच तथा प्रदर्शन कक्षाओं में सम्बद्ध करें। इसी दोहरे प्रयत्न से हमारी नई नाट्यालोचना विकसित होगी और रचनात्मक कार्य को समुचित योगदान दे सकेगी।

समसामयिक हिन्दी नाट्यालोचना की इन उपलब्धियों और प्रवृत्तियों की चर्चा के बाद उसके सैद्धान्तिक पक्ष और उसकी मूल प्रवृत्ति का संक्षिप्त विवेचन प्रासंगिक होगा। हिन्दी में नाट्यालोचना की जो पद्धति अपनायी जाती है उसे हम वर्तनात्मक साहित्यिक आलोचना कह सकते हैं। इस आलोचना शैली में नाटकों की कथावस्तु, पात्रों के चरित्र-चित्रण और नाटक के विचार और भाव-पक्ष का तो गम्भीर विश्लेषण प्रस्तुत किया जाता है, किन्तु नाटक के रूप-विधान, उसके रचना-नियमों और व्यवहारों, प्रदर्शन की दृष्टि से उसके गुण-दोषों तथा नाट्य-रूप को प्रभावित करने वाली रंगमंचीय परिस्थितियों और रुढ़ियों का कोई विवेचन नहीं होता। ऐसी स्थिति में हिन्दी नाट्यालोचना नितान्त एकांगी हो गई है, और वह बहुत सीमित विवेचन-क्षेत्र में और सीमित शब्दावली के साथ अपने को बराबर दोहरा रही है। वह अपने इसी स्वरूप के कारण नाट्य-लेखन और रंगमंचीय क्रियाकलाप से असम्बद्ध और विलग है। यही कारण है कि नाटक के क्षेत्र में रचनात्मक और समीक्षात्मक कार्य में बराबर खाई बढ़ती जा रही है, और वे एक-दूसरे को शक्ति नहीं दे पा रहे हैं। यह स्थिति इसलिए और भी घातक है, क्योंकि नाटक एक ऐसी विधा है, जिसमें समीक्षा किसी अन्य साहित्यिक विधा की अपेक्षा कहीं अधिक रचनात्मक कृतित्व को प्रभावित करती है।

हिन्दी नाट्यालोचना में एक बड़ा भारी अन्तर्विरोध आरम्भ से ही यह आ गया कि आधुनिक नाट्य-साहित्य का मूल्यांकन करने में न तो वह अपने को प्राचीन नाट्य-लक्षण ग्रन्थों में उपलब्ध समीक्षा सिद्धान्तों से सम्बद्ध कर सकी और न पश्चिमी-नाट्य-सिद्धान्तों और कला-मूल्यों को ही स्वीकार करके उनके समन्वय से वह किसी स्वतन्त्र और विशिष्ट नाट्य सिद्धान्त-शास्त्र का ही निर्माण कर सकी। यही कारण है कि आज तक हिन्दी की कोई ऐसी एकीकृत और मौलिक नाट्य-समीक्षा-पद्धति का निर्माण नहीं हो सका, जिससे कि हम उसी प्रकार हिन्दी नाट्य-शास्त्र के कुछ नितान्त स्थूल तत्त्वों और सिद्धान्तों की चर्चा कर सकते जिस प्रकार कि हिन्दी के स्वतन्त्र काव्यशास्त्र की चर्चा की जाती है। हमने अपने नाटक साहित्य का मूल्यांकन करने के लिए कभी तो प्राचीन शास्त्रीय सिद्धान्त अपनाये और कभी पश्चिमी नाट्य-सिद्धान्तों और कला-मूल्यों के आधार पर उसका परीक्षण किया। इसी स्थिति के कारण हमारे बहुत बड़े नाटक साहित्य का आज तक ठीक-ठीक मूल्यांकन नहीं हो सका।

विश्वविद्यालय

पुस्तकालय

रंगमंच और नाट्य-प्रदर्शन

नेशनल स्कूल आफ़ ड्रामा द्वारा सन् १९६४ में अलकाजी के निर्देशन में प्रस्तुत 'अन्धा युग' और सन् १९६२ में श्यामानन्द जालान के निर्देशन में कलकत्ते की अनामिका संस्था द्वारा प्रस्तुत 'आपाढ़ का एक दिन' का प्रदर्शन हिन्दी रंगमंच की नई उपलब्धियों के वे चरम बिन्दु हैं, जिनके पीछे पिछले १०-१५ वर्षों के रंगमंचीय विस्तार और विकास की एक लम्बी भूमिका है। इस विकास के कई सूत्रों में एक महत्त्वपूर्ण सूत्र यह है कि रंगमंचीय कार्यक्रमालाप में निर्देशक का उदय हुआ है और वह नाट्य-प्रदर्शन कला को अपना महत्त्वपूर्ण योगदान दे रहा है। अलकाजी और श्यामानन्द जालान के अतिरिक्त बम्बई की थियेटर यूनिट संस्था से सम्बद्ध सत्यदेव दुवे तथा प्रयाग रंगमंच के निर्देशक सत्यव्रत सिन्हा के प्रदर्शन भी आज हिन्दी नाट्य-प्रदर्शन को नया स्तर प्रदान कर रहे हैं। नाटककार डा० लक्ष्मीनारायण लाल ने इलाहाबाद में नाट्य-केन्द्र संस्था द्वारा अपने कई नाटकों का इस अवधि में सफल प्रदर्शन किया है। दिल्ली में हबीब तनवीर ने संस्कृत नाटकों के अनुवादों के प्रयोगात्मक प्रदर्शन किये हैं, और पारसी थियेटर की प्रदर्शन-शैली के पुनर्निर्माण का महत्त्वपूर्ण काम किया। इसके अतिरिक्त कानपुर, बनारस, पटना, जयपुर, ग्वालियर आदि अनेक छोटे-छोटे नगरों में उदीयमान निर्देशक सराहनीय कार्य कर रहे हैं। नेशनल स्कूल आफ़ ड्रामा से प्रशिक्षित होकर जो कलाकार अपने नगरों में वापस जा रहे हैं, वे भी रंगमंच के संगठन में और प्रदर्शनकला के विकास में अपना सक्रिय योग दे रहे हैं। रंगमंच की एक जीवित परम्परा और कुशल निर्देशक के अभाव के कारण ही हिन्दी का बड़ा और समर्थ नाटक साहित्य उपेक्षित पड़ा है, और उसकी अभिनेयता के सम्बन्ध में हमारे मन में शंकाएँ बनी हुई हैं। आज पहली बार यह धारणा धीरे-धीरे पुष्ट हो रही है कि नया निर्देशक इस नाटक साहित्य की निहित रंगमंच-शक्ति और प्रदर्शन-क्षमताओं का अन्वेषण करेगा और उसे हिन्दी रंगमंच का अभिन्न अंग बनाएगा।

हिन्दी रंगमंच आज भी मूलतः अव्यावसायिक रंगमंच ही है, यद्यपि उसका पहले से बहुत अधिक विस्तार हुआ है और वह आज पहले से अधिक संगठित भी है। कुछ बड़े नगरों में नाट्य-दल अर्द्ध-व्यावसायिक रूप भी ले रहे हैं। हिन्दी रंगमंच का क्षेत्र आज इतना विस्तृत हो गया है कि धीरे-धीरे वह अखिल भारतीय स्तर पर विकसित हो रहा है। आज हिन्दी भाषी क्षेत्र में ही नहीं अनेक अहिन्दी-भाषी क्षेत्रों में भी हिन्दी-नाटकों के प्रदर्शन हो रहे हैं। अहिन्दी-भाषी क्षेत्रों के प्रमुख नगरों में ऐसी नाट्य-संस्थाएँ हैं जो दो-दो तीन-तीन भाषाओं में नाटकों के प्रदर्शन करती हैं, जिनमें से एक भाषा हिन्दी होती है। लेकिन किसी भी भाषा और देश का रंगमंच तब तक प्रौढ़ और सम्पन्न नहीं हो सकता जब तक कि वह व्यावसायिक रूप में विकसित और संगठित न हो। यह खेद की बात है कि हिन्दी का एकमात्र व्यावसायिक नाट्य-दल 'पृथ्वी थिएटर' सोलह वर्षों तक देश-भर में नाट्य-प्रदर्शन करने के बाद १९६० में बन्द हो गया।

रंगमंच के नवोत्थान और विकास में कई बातें उल्लेखनीय हैं। इस सम्बन्ध में

सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि आज हिन्दी के नये नाटकों को प्रायः प्रदर्शन का सुयोग मिल जाता है, जबकि उसके पहले के महत्त्वपूर्ण नाटक भी प्रदर्शन से वंचित रह गए और इस प्रकार नाटक की पूर्णाभिव्यक्ति के माध्यम रंगशाला की कलाएँ उनके रूप और शिल्प को उजागर करने में अपना योगदान न दे सकीं। नया नाटककार आज रंगशाला के निकट जा रहा है, उसी को अपने रचनात्मक कार्य का क्षेत्र बना रहा है, और उसकी कला-रुढ़ियों से परिचित हो रहा है। विहित गद्य-नाटकों के साथ-साथ हिन्दी रंगमंच में नृत्य-नाटकों का प्रचलन और विकास भी एक महत्त्वपूर्ण घटना है। संस्कृत नाटकों के अनुवादों और रूपान्तरों के प्रदर्शन भी आज हिन्दी रंगमंच को प्राचीन परम्परा से सम्बद्ध कर रहे हैं।

बम्बई की दो संस्थाएँ—‘लिटिल बॅले ट्रूप’ और ‘बॅले यूनिट’ तथा दिल्ली की—‘भारतीय कला केन्द्र’ और ‘बॅले सेण्टर’ ऐसी नृत्य-संस्थाएँ हैं, जिनके प्रदर्शन देश-भर में बड़ी सफलता के साथ हुए। ‘लिटिल बॅले ट्रूप’ तो अपने प्रसिद्ध नृत्य-नाटक ‘पंचतन्त्र’ के प्रदर्शन अनेक पश्चिमी देशों में भी कर चुका है और उसकी अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति है। ‘भारतीय कला केन्द्र’ की ‘रामलीला’ और ‘बॅले सेण्टर’ की ‘कृष्णलीला’ ने नृत्य-नाटक की कला को नया आयाम दिया है। हिन्दी रंगमंच के विकास में इन नृत्य-नाटकों का इस दृष्टि से विशेष महत्त्व है कि इनके द्वारा लोक-नाटक-परम्परा का आधुनिक रंगमंच में पुनर्निर्माण हुआ है। प्रदर्शन के अनेक व्यवहार और रुढ़ियाँ लोक-नाट्य-परम्परा से ली गई हैं। कोरस और कथावाचकों का प्रयोग और दर्शकों के देखते हुए रंग-कर्मियों अथवा पात्रों द्वारा दृश्य-सज्जा सामग्री का रखना, उठाना आदि रुढ़ियाँ लोक-नाट्य-परम्परा से ही आई हैं। इसी प्रकार इन नाटकों में पात्रों की वेशभूषा और सज्जा की बहुत-सी सामग्री भी लोक-परम्परा से ली गई है। यह खेद की बात है कि इन नृत्य-नाटकों के अनेक पक्ष बहुत ही सम्पन्न और सबल होने पर भी इनका कथा-अंग, दृश्य-विधान और साहित्य अंश प्रायः कम-जोर रहते हैं। श्रेष्ठ कवियों को अभी तक इनका सहयोग नहीं मिला।

इसी प्रसंग में इस बात का उल्लेख भी किया जा सकता है कि हिन्दी रंगमंच में संगीत और गेय नाटक (ऑपेरा) के विकास के लिए अभी तक कोई प्रयत्न नहीं हुए, जबकि कुछ अन्य भारतीय भाषाओं जैसे मराठी, पंजाबी, तेलुगु आदि में नए गेय नाटक का विकास हो रहा है। यह स्थिति इसलिए और भी शोचनीय लगती है कि हिन्दी क्षेत्र में ऑपेराधर्मी लोक-नाटकों की बड़ी समृद्ध परम्परा है और नए ऑपेरा के निर्माण की असीम सम्भावनाएँ हमारी नाट्य-परम्परा में निहित हैं।

समकालीन हिन्दी रंगमंच की एक और नई प्रवृत्ति यह है कि पिछले कुछ वर्षों में संस्कृत नाटकों के अनुवादों और रूपान्तरों के प्रदर्शन हुए हैं। केवल दिल्ली में ही दो-तीन नाट्य-संस्थाओं ने कई संस्कृत नाटकों के प्रदर्शन किए हैं। इन प्रदर्शनों ने कुछ में तो पारम्परिक यथार्थवादी प्रदर्शन-शैली अपनायी गई है, कुछ में नई और प्रगतिशील। हबीब तनवीर ने मृच्छकटिक का अत्यन्त विवादास्पद और प्रयोगात्मक प्रदर्शन किया है। मोनिका मिश्र द्वारा निर्देशित ‘शकुन्तला’ संस्कृत नाटकों की प्रदर्शन-

शैली की खोज में एक महत्वपूर्ण उपलब्धि है। संस्कृत नाटकों के कथानकों को लेकर कई नृत्य-नाटकों की भी रचना हुई है। 'रत्नावली' नाटक 'नौटंकी' शैली में लिखा गया और नौटंकी के ही कलाकारों द्वारा प्रस्तुत किया गया। यह नितान्त आवश्यक है कि रंगमंच के इस नवजागरण काल में हम अपनी प्राचीन परम्पराओं से परिचित हों और उसके साथ नये और जीवन्त सम्बन्ध स्थापित करें। अपनी नाट्य-परम्पराओं का पुनर्निर्माण करके ही हम पश्चिमी परम्परा का भी अधिक कलात्मक आत्मसात् कर सकेंगे और तभी भारतीय रंगमंच का वर्तमान गतिरोध भी दूटेगा और वह प्रगति करेगा।

चिरंजीत

स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी एकांकी तथा रेडियो-नाटक

हिन्दी के कुछ नाट्यालोचकों एवं समीक्षकों द्वारा रचित पाठ्य-पुस्तकों में हिन्दी एकांकी और रेडियो-नाटक को एक ही विधा माना गया है। कुछ पुस्तकों में तो रेडियो-नाटक को रेडियो—(अथवा ध्वनि) एकांकी की संज्ञा दी गई। विद्वानों के ऐसे आप्त वचनों के कारण ही हिन्दी के सामान्य पाठकों एवं विद्यार्थियों में यह भ्रान्ति फैली हुई है कि रेडियो से प्रसारित होने वाला प्रत्येक नाटक एकांकी होता है। सन् १९४७ के बाद के एकांकी तथा रेडियो-नाटक के स्वतन्त्र विकास के आयामों एवं उपलब्धियों पर दृष्टिपात करने से पहले हम इस भ्रान्ति का निराकरण कर लेना चाहते हैं।

शब्द-प्रधान होने के कारण रेडियो-नाटक पूर्णतया एक स्वतन्त्र साहित्यिक विधा है। इस पर रंगमंचीय नाटक का अंकों वाला गणित लागू नहीं होता। यदि हम अंकों, दृश्यों और दृश्य-बंधों को ही दृष्टि में रखकर बात करें, तो हम कह सकते हैं कि रेडियो-नाटक एकांकी भी होता है और अनेकांकी भी। यह एक दृश्य का भी हो सकता है और अनेक दृश्यों का भी और रेडियो-नाटक के दृश्यों की लम्बाई-चौड़ाई पर भी कोई बन्धन नहीं होता। एक दृश्य एक संवाद का भी हो सकता है और दो सौ संवादों का भी। रेडियो-धर्मी सही नाटक स्थान एवं काल की अन्वितियों के बन्धन से भी मुक्त होता है। यदि उसका एक दृश्य मकान के कमरे में अभिनीत हो रहा है, तो दूसरा दृश्य सड़क के चौराहे पर, तीसरा रेलवे ट्रेन, हवाई जहाज या नदी की लहरों पर अभिनीत हो सकता है। रेडियो-नाटक वर्तमान के कक्ष में से अतीत और भविष्य की झलक प्रस्तुत कर सकता है। इस दृष्टि से रेडियो-नाटक कहानी और सिनेमा के अधिक निकट है। उसमें पहाड़ी झरने के समान जीवन का नैसर्गिक एवं यथातथ्य अवाध-प्रवाह है। रंगमंचीय नाटक की तरह नपे-तुले चौखटे की सीमित, रूढ़ एवं जड़ मर्यादा नहीं। माध्यम के लचीलेपन के कारण ही आकाशवाणी से जिस सफलता एवं कलात्मकता से रामकुमार वर्मा, उपेन्द्रनाथ 'अशक' और जगदीश चन्द्र माथुर के एकांकी नाटक प्रसारित होते हैं, वैसे ही जयशंकर प्रसाद, राधेश्याम कथावाचक,

शेठ गोविन्द दास, लक्ष्मीनारायण मिश्र और हरिकृष्ण प्रेमी के लम्बे-लम्बे नाटक, वक्चन द्वारा किये गए शेक्सपियर के नाटकों के अनुवाद, मुमित्रानन्दन पन्त और उदयशंकर भट्ट के काव्य-रूपक, विष्णु प्रभाकर के मनोविश्लेषणात्मक नाटक एवं मोनोलाग, निरिजाकुमार माथुर के अन्तरिक्ष-यात्रा सम्बन्धी कल्पना-रूपक, देवकीनन्दन खत्री, प्रेमचन्द, वृन्दावनलाल वर्मा और भगवतीचरण वर्मा के बड़े बड़े उपन्यासों तथा जयशंकर प्रसाद, मैथिलीशरण गुप्त और रामधारीसिंह 'दिनकर' के महाकाव्यों के नाट्य-रूपांतर और रासलीला सांगीत तथा नौटंकी जैसे लोक-नाटक भी प्रसारित होते हैं।

रेडियो-नाटक के विभिन्न रूपों एवं आकारों सम्बन्धी इस विवरण से यह भली-भाँति स्पष्ट हो जाता है कि एकांकी और रेडियो-नाटक शिल्प एवं माध्यम की दृष्टि से हिन्दी साहित्य की दो अलग-अलग स्वतन्त्र विधाएँ हैं। मोटे तौर पर यह भी समझ लेना चाहिए कि स्थान और काल की अन्वितियों से मुक्त सही किस्म का रेडियो-नाटक एक दृश्य-बन्ध (सेट) वाले आधुनिक रंगमंच पर अभिनीत भी नहीं हो सकता है।

परन्तु एकांकी और रेडियो-नाटक में तंत्र एवं रचनागत कुछ ऐसी समानताएँ अवश्य हैं, जिनसे हिन्दी में एकांकी और रेडियो-नाटक को एक ही चीज समझने की भ्रान्ति उत्पन्न हुई है। पहली समानता तो यह है कि दोनों की ही अभिनयावधि पूर्णकार रंगमंचीय नाटक के मुकाबले में बहुत कम होती है। दोनों में ही न तो अनावश्यक विस्तार होता है, न अधिक पात्र-संख्या होती है, और न चरमोत्कर्ष के पश्चात् लम्बा उपसंहार होता है। दोनों की सफलता कलेवर की संक्षिप्तता, शब्दों की मितव्ययता, कथा की एकाग्रता, प्रभाव की एकता और प्रवाह की क्षिप्रता में निहित है। दोनों को ही ढीलढाल, फैलाव और मन्थरता सह्य नहीं। दोनों का ही प्रारम्भ आकर्षक एवं कौतूहल-जनक, विकास द्वन्द्वात्मक, कौतूहल पूर्ण एवं सतत जिज्ञासा-वर्द्धक और अन्त रसानुभूति के आकस्मिक झटके के साथ चरमोत्कर्ष पर होता है। दोनों की ही रचना में शैलिक कौशल एक बहुत बड़ी शर्त है।

हिन्दी एकांकी और हिन्दी रेडियो-नाटक के इतिहास में संयोगवश एक ऐसी ओर समानता मिलती है, जो बंगला और मराठी जैसे प्रादेशिक भाषाओं के नाटक-साहित्यों की इन दोनों विधाओं में शायद नहीं है। और वह समानता यह है कि आधुनिक हिन्दी एकांकी और भारतीय रेडियो नाट्य विधा का उदयकाल लगभग एक ही है। हिन्दी का पहला एकांकी कव किसने लिखा, इसके सम्बन्ध में विद्वानों के अलग-अलग कई मत हैं। कुछ विद्वानों का मत है कि हिन्दी का पहला एकांकी भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र ने १९वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में लिखा था। अन्य विद्वानों में से कोई 'एक घूँट' (१९२६) के रचयिता बाबू जयशंकर प्रसाद को हिन्दी का पहला एकांकी-कार ठहराता है, कोई 'वादल की मृत्यु' (१९३०) के रचयिता डॉ० रामकुमार वर्मा को और कोई 'इयामा—एक वैवाहिक विडंबना' (१९३३) के लेखक भुवनेश्वर-प्रसाद को। इवर कुछ अन्य वयोवृद्ध एकांकीकारों के जीवन-वृत्त प्रकाशित हुए हैं, जिनमें कस्यो ने अपने प्रथम एकांकी का रचनाकाल १९३० के आसपास दे दिया है। खैर,

यह श्रेय-प्रदान तो हिन्दी साहित्य के इतिहासकारों का काम है। निष्पक्ष भाव से भारतेन्दु-काल से लेकर १९३६ तक का समूचा काल एकांकी कला का प्रयोग-काल माना जा सकता है। इस प्रयोगकाल में पहले संस्कृत नाटकों की प्रणाली पर एकांकी रचे गये, बाद में पश्चिम की विकसित एकांकी-कला की प्रणाली पर। हम समझते हैं कि १९३६ से, पाश्चात्य एकांकी-कला से पूर्णतः प्रभावित हिन्दी एकांकी में शिल्प एवं भावगत मौलिकता उभरने लगी और पूर्णाकार नाटक के मुकाबले में इसकी स्वतन्त्र सत्ता स्थापित होने लगी, जिसका लेखा-जोखा १९३८ में प्रकाशित 'हँस' के एकांकी-विशेषांक में मिलता है। सन् १९३६ में ही ऑल इंडिया रेडियो का जन्म हुआ, जिसके अन्तर्गत पहले दिल्ली, फिर १९३८ में लखनऊ में रेडियो स्टेशनों की स्थापना हुई। इन रेडियो-स्टेशनों पर पहले तो उर्दू के नाटककारों का ही एकाधिकार था, परन्तु धीरे-धीरे हिन्दी के नाटककारों की कृतियाँ भी यदा-कदा रेडियो से प्रसारित होने लगीं। १९४० के बाद हिन्दी के कुछ मूर्धन्य एकांकीकारों का वस्तुतः रेडियो पर ही उदय हुआ। यह ठीक है कि १९४७ तक रेडियो पर हिन्दी की उपेक्षा ही हुई, परन्तु इस तथ्य से इन्कार नहीं किया जा सकता कि हिन्दी एकांकी के विकास में रेडियो का शुरू से ही योगदान रहा है।

हिन्दी का अपना कोई रंगमंच न होने के कारण हिन्दी एकांकियों का मंच-प्रदर्शन स्कूलों, कॉलिजों और साहित्यिक संस्थाओं के वार्षिकोत्सवों तक ही सीमित था। परन्तु वे प्रदर्शन जीवंत रंगमंच की ठोस परम्परा न स्थापित कर सके; इसलिये अधिकांश हिन्दी एकांकी, रंगमंच की मात्र मानसिक कल्पना के आधार पर, पत्र-पत्रिकाओं और पाठ्य पुस्तकों में प्रकाशनार्थ विशुद्ध साहित्यिक कृतियों के रूप में लिखे गये। प्रकाशित रचनाओं से एकांकीकार को नाम भी मिला और दाम भी। प्रकाशित रचना के लिए आवश्यक है कि वह कहानी अथवा खंडकाव्य की तरह सुपाठ्य और मनोरंजक हो। इसी आवश्यकता के परिणामस्वरूप हिन्दी में ऐसे सुपाठ्य-साहित्यिक एकांकियों की बाढ़ आई, जिनमें से अधिकतर रंगमंच पर अभिनीत ही नहीं हो सकते थे। परन्तु रेडियो के लचीले शब्द-प्रधान माध्यम को यह साहित्यिक एकांकी भी ग्राह्य थे। इस प्रकार रेडियो ने हिन्दी-नाटकों, विशेषकर एकांकियों को रंगमंच प्रदान किया। आज हम देखते हैं कि हिन्दी के सिद्धहस्त एकांकीकारों की समस्त रचनाएँ रेडियो के किसी-न-किसी केन्द्र से कई-कई बार प्रसारित हो चुकी हैं। नाट्य-मर्मज्ञों ने देखा कि जो नाटक एक सप्ताह पहले रेडियो से प्रसारित हुआ था, वही आज किसी पत्र-पत्रिका में रंगमंचीय एकांकी के रूप में रंग-निर्देशों के साथ प्रकाशित हो गया है और उन्होंने यह निष्कर्ष निकाल लिया कि हिन्दी एकांकी और रेडियो-नाटक एक ही चीज हैं।

वास्तविकता यह है कि हमारे अधिकांश नाटककारों ने मूलतः रेडियो-नाटक नहीं लिखे। उन्होंने ऐसे एकांकी लिखे, जो पत्र-पत्रिकाओं और पुस्तकों में प्रकाशित होने पर रंग-निर्देशों के साथ रंगमंचीय एकांकी माने जाएँ और साथ ही थोड़े फेर-बदल के बाद रेडियो पर भी प्रसारित हो सकें। अतः इन साहित्यिक एकांकियों को

हम सही मानों में रेडियो-नाटक नहीं कह सकते। हाँ, कुछ फेर-बदल करके उन्हें श्रव्य अवश्य बना लिया जाता है। इसके अलावा रेडियो पर इनके सफल प्रसारण के पीछे एक ऐसा रहस्य है, जो सुपाठ्य साहित्यिक नाटक को प्रेषणीयता की दृष्टि से रेडियो-नाटक के निकट ले आता है। यह सर्वविदित है कि रंगमंचीय-नाटक जनसमुदाय का सामूहिक रूप से मनोरंजन करता है। इसके विपरीत रेडियो-नाटक श्रोता का व्यक्तिगत रूप से एकांतिक मनोरंजन करता है। वह कैसे? रेडियो-नाटक केवल ध्वनि के माध्यम से ही श्रोता तक पहुँचता है। यह ध्वनि संवादों, ध्वनि प्रभावों और वाद्यसंगीत के अंशों में विभाजित होकर प्रत्येक श्रोता की कल्पना-शक्ति को प्रेरित एवं प्रभावित करती है और श्रोता अपने मन के रंगमंच पर नाटक का दृश्य सजाता है, कल्पित पात्रों को अपनी रुचि तथा वाह्य जगत् के अनुभवों और ज्ञान के अनुसार रंग-रूप एवं हावभाव देता है, और इस तरह वह अपने मन के कल्पना-मंच पर भावबोध के साथ-साथ रूप-बोध की स्वतः स्थिति पैदा करके रेडियो-नाटक को सजीव एवं संप्राण करके देखता है, सुनता है, रसानुभव करता है। बिल्कुल ऐसी ही मानसिक प्रक्रिया उस पाठक की होती है, जो एकान्त में अकेला बैठकर कहानी या उपन्यास की तरह छपा हुआ साहित्यिक नाटक पढ़ता है। इस प्रकार आज से कोई तीन दशक पूर्व रेडियो के वैज्ञानिक आविष्कार ने नाटक जैसी सामाजिक कला को व्यक्ति के एकांतिक मनोरंजन की चीज बनाकर मानवीय मनोरंजन एवं रसानुभूति के क्षेत्र में बहुत बड़ी क्रान्ति का सूत्रपात किया। इसी तरह नाट्य-प्रदर्शन के क्षेत्र में भी रेडियो के कारण क्रांतिकारी परिवर्तन हुआ। जिस नाटक के मंचाभिनय के लिए कई-कई सप्ताह तक तैयारी करनी पड़ती है, मंच-सज्जा आदि पर काफी खर्च करना पड़ता है, उसे रेडियो तीन-चार दिन में ही श्रोताओं को घर बैठे सुनवा देता है। सारांश यह कि रेडियो ने, विशेषकर स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद के वर्षों में, हिन्दी की एकांकी नाट्यकला को प्रोत्साहित करने और उसे जन-जन तक पहुँचाने में स्मरणीय काम किया है।

: २ :

१९४७ के बाद के हिन्दी एकांकी-साहित्य का मूल्यांकन उससे पहले के एकांकी-साहित्य के सम्यक् परिचय की पृष्ठभूमि पर ही किया जा सकता है। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के वर्ष की विभाजन-रेखा अपने-आपमें महत्वपूर्ण है, परन्तु इससे पहले के दशक में स्थापित नाट्य-रूढ़ियाँ एवं परम्परायें १९४७ के बाद एकदम समाप्त हो गई हों, ऐसी कल्पना नहीं जा सकती।

सन् १९३६ से १९४६ तक एकांकी हिन्दी साहित्य की एक स्वतन्त्र एवं सशक्त विधा के रूप में मान्य हो चुका था। रंगमंचीय प्रदर्शन की कोई सुव्यवस्थित परम्परा तो न बन पाई, फिर भी एक जनोपयोगी सामाजिक कला के रूप में इसका आकर्षण उत्तरोत्तर बढ़ता गया। १९३६ में स्थापित प्रगतिशील लेखक संघ ने भी इधर काफ़ी ध्यान दिया। इस नई विधा ने अभिव्यक्ति के नए क्षितिज उद्घाटित किए। सुप्रसिद्ध छायावादी कवि, पूर्णाकार नाटकों के नामी लेखक, यथार्थवादी कहानियों एवं उपन्यासों के यशस्वी रचयिता, यहाँ तक कि राजनीतिक नेता तथा विचारक भी सबके-सब

एकांकीकार बन गए और हिन्दी में एक समय कहानी के महत्त्व को भी नकारती हुई एकांकियों की बाढ़ आई। जैसा कि हम पहले बता चुके हैं, ये एकांकी मूलतः पत्र-पत्रिकाओं और पाठ्य-पुस्तकों में प्रकाशित होने और पठन-पाठन के लिए ही लिखे जा रहे थे, इसलिए यह स्वाभाविक ही था कि इनमें अभिनय तत्त्व गौण हो गए और सुपाठ्य साहित्य के शास्त्रीय तत्त्व प्रमुख होते गए। पाठ्य पुस्तकीय समीक्षा में भी एकांकियों के प्रदर्शन-पक्ष की उपेक्षा करके उनके साहित्यिक पक्ष की विवेचना की प्रणाली चल पड़ी। इन साहित्यिक तत्त्वों के बाहुल्य के कारण हिन्दी एकांकी अमर-बेल की तरह हवा में तो खूब लहराया, परन्तु रंगमंच की धरती पर उसकी जड़ें कभी भी न जम पाईं। आज १९६५ में हम देखते हैं कि हिन्दी एकांकी की हालत बहुत ही खस्ता हो गई है। सुपाठ्य साहित्य के क्षेत्र में हिन्दी कहानी ने उसे खदेड़ दिया है। सुपाठ्य साहित्य पर अच्छा पारिश्रमिक देने वाली पत्रिकाओं में शायद ही कभी कोई एकांकी छपता हो। स्कूल-कालिजों और साहित्यिक संस्थाओं के शौकिया मंच पर अधिकांशतः अभिनेय नाटकों और प्रहसनों का दौरा-दौरा है। पाठ्य-पुस्तकों में अधिकतर १९३५-४० में रचित १५-२० एकांकी ही एकाधिकार जमाए हुए हैं। ले-दे कर केवल रेडियो का ही सहारा रह गया है, परन्तु वहाँ भी अब रेडियो की शैली में लिखे नाटकों की ज्यादा माँग है। एकांकी की इस खस्ताहाली के कारण ही हमारे पुराने एकांकी-कारों में से कुछ तो कहानी और उपन्यास लिखने लगे हैं, कुछ आलोचक बन गए हैं, कुछ अपने पुराने एकांकी-साहित्य की विज्ञापनबाजी में लगे हैं, कुछ ने एकदम सन्यास ले लिया है। एक पुराने एकांकीकार के शब्दों में, “आज के इस अर्थप्रधान युग में साहित्य-सृजन पर भी उत्पादन और खपत तथा माँग और पूर्ति के अर्थशास्त्रीय नियम लागू होते हैं।”

इस अर्थशास्त्रीय मन्तव्य की सत्यता को स्वीकार करते हुए भी हिन्दी एकांकी के ऐतिहासिक एवं साहित्यिक महत्त्व को भुलाया नहीं जा सकता। सन् १९३०-३६ के भारत की राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक परिस्थितियों पर एक नज़र डालिये। गांधीजी के नेतृत्व में सत्याग्रह आन्दोलन बड़े जोर में चला, विफल हुआ और सारे देश में निराशा, तनाव और घुटन का वातावरण फैला। मन के सहारे के लिए दृष्टि भारत के गौरवपूर्ण अतीत की ओर गई। राजनीतिक आन्दोलन ने सामाजिक एवं सांस्कृतिक चेतना की भूमिका तैयार की। जर्जर रूढ़िग्रस्त समाज को पुनरुज्जीवित करने के लिए शल्य-क्रिया होने लगी। इधर भारतीय आदर्शपरक सुधार-वादी आन्दोलन चला, उधर पश्चिम से आई फ्रैब्रियन बुद्धिवाद, कार्ल मार्क्स के समाज-वाद एवं द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद और फ्रायड के मनोवैज्ञानिक सैक्सवाद की नई-नवेली हवाएँ भारतीय मानस को झकझोरने लगीं। कला और संस्कृति के क्षेत्र में बोलते चित्रपट और बाद में रेडियो के आविष्कार ने मृतप्राय नृत्य, संगीत एवं नाट्य-परम्पराओं की पुनःस्थापना की। डी० एल० राय जैसे राष्ट्रीय चेतनाशील हिन्दीतर नाटककारों की कृतियाँ जब हिन्दी में अनूदित होकर बुद्धिजीवी मध्यवर्ग तक पहुँचीं, तो उसकी नैतिकता के नीचे दबी नैसर्गिक नाट्याभिरुचि जागी। चूँकि पूर्णकार

स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी एकांकी तथा रेडियो नाटक : २६

नाटकों का लेखन एवं प्रदर्शन अधिक श्रम एवं व्ययसाध्य था, इसलिए पश्चिमी ढंग के छोटे-छोटे एकांकियों का सृजन शुरू हुआ। उन एकांकियों ने उस काल के बुद्धिजीवी मध्य वर्ग की नाट्याभिरुचि को ही सन्तुष्ट नहीं किया, बल्कि जनोपयोगी साहित्य के एक सबल माध्यम के रूप में उस काल की समस्त विचार-धाराओं, भावनाओं और कल्पनाओं को भी मूर्त अभिव्यक्ति दी। सामाजिक यथार्थ एवं आदर्श विभिन्न रूपों, प्रतीकों तथा शैलियों द्वारा एकांकियों में ही सर्वाधिक प्रतिपादित हुआ। डॉ० राम कुमार वर्मा, सेठ गोविन्ददास, उदयशंकर भट्ट, हरिकृष्ण प्रेमी, लक्ष्मी नारायण मिश्र, भगवतीचरण वर्मा, जगदीशचन्द्र माथुर और सद्गुरु शरण अवस्थी ने जहाँ आदर्शवादी, ऐतिहासिक, पौराणिक एवं सामाजिक एकांकियों का सृजन किया, वहाँ उपेन्द्र नाथ अक्ष, भुवनेश्वर प्रसाद और गणेश प्रसाद द्विवेदी ने यथार्थवादी सामाजिक एवं मनो-वैज्ञानिक एकांकियों की रचना की। इन सबका कृतित्व सन् १९४७ के बाद स्वाधीन भारत के परिवेश में और भी मंज-सँवार कर अपनी पूरी परिपक्वता के साथ उभरा।

जैसा कि स्वाभाविक ही था, स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद देश का मनोविज्ञान तो बदला, परन्तु उन्मुक्त उल्लास का अपेक्षित स्वर नहीं फूटा। साम्प्रदायिक रक्तपात, देश-विभाजन, बेघरवार शरणार्थियों का भारी संख्या में आगमन, साम्प्रदायिकता की बलिवेदी पर युगपुरुष गांधी की हत्या, नैतिक आदर्शों और मानवीय मूल्यों का हास, आर्थिक वैषम्य, भ्रष्टाचार तथा कुण्ठाग्रस्त जीवन—ऐसी अनेक विकट समस्याओं, कुसंयोगों और दुर्घटनाओं ने देश की आत्मा को विपन्न और विपाक्त-सा कर दिया। सारे वातावरण पर राजनीति कुछ इस तरह छाई कि सृजनात्मक शक्तियाँ कुण्ठित और अवरोध हो गईं। जन-साधारण का मन विज्ञान एवं भौतिक सुख-सुविधा पर आधारित पाश्चात्य संस्कृति की ओर आकर्षित होने लगा। परन्तु इसके साथ ही देश में लोकतन्त्र की स्थापना हुई, सामन्तवादी परम्पराएँ खत्म हुई, शिक्षा का प्रचार-प्रसार बढ़ा, समाज में स्त्री और पुरुष की समानता की भूमिका तैयार हुई, व्यक्ति की प्रतिष्ठा बढ़ी, देश के विकास और नव-निर्माण की योजनाएँ बनीं, और भावी समृद्धि की हल्की सी आशा उभरी। उधर उद्योग, व्यापार और नौकरी के पेशे के प्रसार से आडम्बर और निहित स्वार्थी बाले वर्ग ने समाज में अजीब-सी असंगतियाँ और उपहासास्पद परिस्थितियाँ पैदा कीं। देश, समाज और व्यक्ति का यह द्वन्द्व और असंगतिपूर्ण यथार्थ हिन्दी-एकांकी में विविध रूपों में प्रतिबिम्बित हुआ। एकांकीकार कहीं समाज का आलोचक बना, कहीं सामाजिक विकृतियों और वैयक्तिक ग्रन्थियों का उद्घाटक बना, कहीं आदर्शवादी नैतिकता का पोषक बना, कहीं मानवीय मूल्यों का संस्थापक बना, कहीं पाखण्ड और आडम्बर का व्यंग्यकार बना और कहीं सांस्कृतिक चेतना का शिल्पी बना।

डॉ० रामकुमार वर्मा की स्वातन्त्र्योत्तरकालीन एकांकी-कला ने 'कौमुदी महोत्सव', 'दीपदान', 'रजत रश्मि' में कथ्य और शिल्प के निरन्तर नए शिखर छुए। उन्होंने आदर्शवादी परम्परा के अन्तर्गत ऐतिहासिक एवं सामाजिक एकांकी तो लिखे ही, साथ ही शिष्ट हास्यपूर्ण प्रहसन भी लिखे हैं। इस प्रकार उनकी कला जीवन के

३० : आलोचना

यथार्थ से उद्भूत होकर सजीव आदर्श की सृष्टि करने में आज भी अग्रसर है।

यथार्थवादी चित्रण, सामाजिक व्यंग्य और ईमानदाराना अभिव्यक्ति की दृष्टि से उदेन्द्रनाथ 'अश्क' के एकांकी हिन्दी में बेजोड़ हैं। समसामयिक समाज की रूढ़ियों, विद्रूपताओं, संकीर्णताओं और वर्जनाओं पर उन्होंने व्यंग्यात्मक तथा प्रतीकात्मक प्रहार किए हैं। 'कैद', 'उड़ान', 'छठा बेटा', 'भंवर', और 'अंजो दीदी' उनकी एकांकी कला की महत्त्वपूर्ण उपलब्धियाँ हैं।

उदयशंकर भट्ट ने १९४७ के बाद रेडियो से सम्बद्ध होकर एकांकी के क्षेत्र में वस्तु एवं शैलीगत कई नए प्रयोग किए। उनकी कला राष्ट्रीय, ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक भाव-भूमियों पर विचरती हुई सामाजिक यथार्थ और व्यंग्य के क्षितिजों पर भी पहुँची। इस दृष्टि से 'धूम शिखा', 'पदों के पीछे', 'जवानी' आदि नए एकांकी विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

सेठ गोविन्द दास के राजनीतिक मस्तिष्क और सांस्कृतिक हृदय ने युग सत्य को आदर्शवादी नैतिक धरातल पर अपने एकांकियों में उतारा। शिल्प की दृष्टि से भी उन्होंने सर्वाधिक प्रयोग किए। हिन्दी में एकांकियों की विधा की सर्वप्रथम उन्होंने ही उद्भावना की।

'भोर का तारा' एवं 'रीढ़ की हड्डी' के ख्यातिप्राप्त लेखक जगदीश चन्द्र माथुर ने १९४७ के बाद सामाजिक यथार्थ को हास्य और व्यंग्य-द्वारा अभिव्यक्त किया। इस दृष्टि से उनका एकांकी संग्रह 'ओ मेरे सपने' उल्लेखनीय है। एक पात्रीय लोक नाटकों के समर्थक होने के नाते उन्होंने कठपुतली खेल की शैली में जो साहित्यिक प्रयोग किए हैं, वे भी उल्लेखनीय हैं।

'कारवाँ' से हिन्दी संसार को चमत्कृत करने वाले भुवनेश्वर प्रसाद बाद में प्रतीकों एवं ऐतिहासिक कथानकों की ओर प्रवृत्त हुए।

इस तरह लगभग सभी एकांकीकारों ने स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद हिन्दी के एकांकी साहित्य को कथ्य और शिल्प की दृष्टि से समृद्ध एवं विविधता-पूर्ण बनाने में पूरा-पूरा योग दिया। इस कार्य में रेडियो का सहयोग विशेषरूप से महत्त्वपूर्ण है। रेडियो ने हिन्दी एकांकी को केवल रंगमंच ही प्रदान नहीं किया, कई नई प्रतिभाओं को कथ्य और शिल्पगत नए प्रयोग करने का मौका भी दिया। १९४७ के बाद रेडियो के माध्यम से प्रकाश में आने वाले एकांकीकारों में उल्लेखनीय हैं विष्णु प्रभाकर, गिरिजा कुमार, भारत भूषण अग्रवाल, प्रभाकर माचवे, सिद्धनाथ कुमार, नरेश मेहता और चिरंजीत। वैसे तो विष्णु प्रभाकर १९४७ से पूर्व भी एकांकी लिख रहे थे, परन्तु उनकी नाट्य-कला में वास्तविक निखार १९४७ के बाद ही आया। मानव-कल्याण और मनोविज्ञान के धरातल पर आदर्शोन्मुख यथार्थवाद इनके एकांकियों का विशेष गुण है। इनके 'उपचेतना का छल' 'सीमा रेखा' और एकपात्री नाटक हिन्दी के एकांकी साहित्य की विशेष उपलब्धि हैं।

पिछले डेढ़ दशक में स्वतन्त्र रूप से उभरने वाले प्रतिभाशील एकांकीकारों में उल्लेखनीय हैं धर्मवीर-भारती, लक्ष्मी नारायण लाल, विनोद रस्तोगी, मानव, सत्येन्द्र

स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी एकांकी तथा रेडियो नाटक : ३१

भारत, वीरेन्द्र नारायण, विमला लूथरा, देवराज दिनेश और जयनाथ नलिन। धर्मवीर भारती के एकांकियों की संख्या बहुत ज्यादा नहीं, परन्तु कथ्य एवं शिल्प की प्रभावोत्पादकता की दृष्टि से उनका प्रत्येक एकांकी विशिष्टता लिए हुए है। नए एकांकीकारों में लक्ष्मी नारायण लाल का कृतित्व इधर सर्वाधिक उभर कर सामने आ रहा है। इनके 'नाटक बहुरूपी' एवं 'नाटक-बहुरंगी', में एक ऐसे समर्थ एवं प्रयोगशील एकांकीकार के दर्शन होते हैं, जो रंगमंच के व्यवहारों को ध्यान में रखकर नाटक के साहित्यिक तथा प्रदर्शनात्मक पक्षों को समन्वित करने में लगा है। ऐसे ही रंगमंचीय आग्रह का परिचय विनोद रस्तोगी, वीरेन्द्र नारायण और चिरंजीत की कृतियों में मिलता है। चिरंजीत के दोनों एकांकी संग्रहों 'दादी माँ जागी' और 'रंगारंग' के नाटक जगह-जगह सफलतापूर्वक अभिनीत हो चुके हैं। वीरेन्द्र नारायण तो रंगमंच से पूरी तरह सम्बद्ध हैं।

स्वातन्त्र्योत्तर-कालीन सांस्कृतिक पुनर्जागरण के परिवेश में हिन्दी भाषी क्षेत्रों में मंचाभिनय का 'शौकिया' स्तर धीरे-धीरे समाप्त हो रहा है। रंगमंच और अभिनय शास्त्र में निष्णात युवावर्ग बड़े-बड़े नगरों में हिन्दी रंगमंच की स्थापना के लिए प्रयत्नशील है। कुछेक सरकारी एवं गैर-सरकारी संस्थानों से इस रंगमंचीय चेतना को निरन्तर प्रोत्साहन मिला है। अब यह धारणा बल पकड़ रही है कि एकांकी को रंगमंच की कसौटी पर कस कर ही सही नाटक माना जा सकता है, मात्र साहित्यिकता ही पर्याप्त नहीं। रंगमंचीय कसौटी की इस मान्यता ने गत तीन दशकों में रचित अधिकांश हिन्दी एकांकियों को अभिनेय साबित कर दिया है। एकांकी रूपी झाड़-झंखाड़ की इस निराई ने जहाँ एक ओर मात्र साहित्यिक एकांकीकारों को विरत एवं निरुत्साहित किया है, वहाँ रंगमंचीय व्यवहार तथा अनुशासन से परिचित स्वदेश कुमार, ज्ञानदेव अग्निहोत्री, राजेन्द्रकुमार शर्मा, कणादकृष्ण भटनागर आदि अनेक नए एकांकीकारों की कला के पुष्पित-पल्लवित होने के लिए अनुकूल स्थिति भी पैदा की है, जो हर प्रकार से अभिनन्दनीय है। हिन्दी रंगमंच के अभाव का नारा लगाकर हिन्दी के कागजी नाट्य-क्षेत्र में कोरी साहित्यिकता, बौद्धिकता एवं दार्शनिकता का काफी तमाशा हो चुका। अब हिन्दी के नाट्यालोचकों को भी प्रदर्शन-पक्ष के मानदण्डों की ओर ध्यान देना होगा।

: ३ :

हिन्दी रेडियो नाटक का वास्तविक विकासकाल सन् १९४७ से ही मानना चाहिए। इससे पहले रेडियो पर उर्दू नाटकों का ही प्रभुत्व था। हिन्दी नाटक यदा-कदा प्रसारित होते थे। वैसे स्व० चतुरसेन शास्त्री का लिखा हुआ नाटक 'राधा कृष्ण' सन् १९३७ में प्रसारित हुआ। सम्भवतः वह हिन्दी का पहला रेडियो नाटक था। १९४० में उपेन्द्रनाथ 'अश्क' ने रेडियो के लिए लिखना शुरू किया था। 'अश्क' ने अपने अनेक सुप्रसिद्ध एकांकियों के 'प्रथम संस्करण' सर्वप्रथम रेडियो-प्रसारण के लिए ही लिखे। १९४१ से कांतिचन्द्र सौनरेवसा, शिवदानसिंह चौहान, चन्द्र किरण सौनरेवसा और चिरंजीत की कृतियाँ प्रसारित होने लगी थीं। गिरिजा कुमार माथुर का रेडियो-

३२ : आलोचना

लेखन-काल कुछ वर्षों बाद शुरू हो गया था। उस प्रारम्भिक काल में चन्द्र किशोर जैन-रचित 'विष्णु कन्या' नामक रेडियो-नाटक की बड़ी धूम मची थी। तभी लखनऊ में डॉ० रामकुमार वर्मा का पहला रेडियो-नाटक 'आँखों का आकाश' प्रसारित हुआ था, जो आज भी लोकप्रिय है। परन्तु सन् १९४७ तक का यह पूरा दशक माध्यम की नवीनता के कारण हिन्दी रेडियो-नाटक का प्रयोग-काल था। इसका वास्तविक स्वरूप स्वतन्त्रा-प्राप्ति के बाद ही उभरा। गत १७ वर्षों में रेडियो-नाटककार विकास के कितने ही सोपानों को पार करके अपने कृतित्व के अनेक नए क्षितिज उद्घाटित कर चुके हैं, जिनके फलस्वरूप हिन्दी रेडियो-नाटक आज कथ्य तथा शिल्प की दृष्टि से हिन्दी नाटक की एक स्वतन्त्र एवं समृद्ध विधा के रूप में प्रतिष्ठित हो चुका है। क्योंकि रेडियो नाटक केवल श्रव्य है, इसलिए कथ्य, शिल्प और प्रभाव की दृष्टि से इसका सही मूल्यांकन केवल सुनकर ही किया जा सकता है, पढ़कर नहीं। वैसे पढ़ने का सवाल ही पैदा नहीं होता, क्योंकि हिन्दी प्रकाशकों एवं आलोचकों की उपेक्षा के कारण बहुत कम रेडियो-नाटक अपने मूल रूप में प्रकाशित हुए हैं। यही कारण है कि हिन्दी के एक वयोवृद्ध नाट्यालोचक ने अपने एक बहु-प्रचारित नाट्य-ग्रन्थ के हाल ही के संस्करण में यह लिखकर अपनी निपट अनभिज्ञता प्रकट की कि 'अभी तक हमारे देश में रेडियो-नाटक शैशवावस्था में हैं। इसके विषय में अभी क्या कहा जाए? जब तक रेडियो की नाट्य-कला विकसित नहीं हो जाती, कोई निर्दिष्ट मत कैसे बन सकता है?' अचरज की बात है कि हिन्दी के यह नाट्याचार्य २७ वर्ष की अवस्था को शैशवावस्था मानते हैं। इससे भी बड़ा आश्चर्य यह है कि जो रेडियो-नाटक कुछ फेर-बदल के बाद तथाकथित रंगमंचीय रूप में प्रकाशित हो चुके हैं, उन्हें यही नाट्याचार्य हिन्दी की सुविकसित समृद्ध नाट्यकला की उत्कृष्टतम उपलब्धियाँ बताते हैं।

हिन्दी रेडियो-नाटक को स्वतन्त्र विधा के रूप में प्रतिष्ठित करने वालों में प्रमुख हैं—सुमित्रानन्दन पन्त, डॉ० रामकुमार वर्मा, उपेन्द्रनाथ अशक, विष्णु प्रभाकर, नरेन्द्र शर्मा, भगवतीचरण वर्मा, अमृतलाल नागर, उदयशंकर भट्ट, रामवृक्ष बेनीपुरी, लक्ष्मीनारायण मिश्र, प्रभाकर माचवे, राधाकृष्ण, गिरिजाकुमार माथुर, हरिकृष्ण 'प्रेमी', चिरंजीत, भारतभूषण अग्रवाल, नरेश मेहता, प्रफुल्लचन्द्र ओझा 'मुक्त', लक्ष्मीनारायण लाल, रेवती सरन शर्मा, विश्वम्भर मानव, राधाकृष्ण प्रसाद, रामेश्वर सिंह, काश्यप, मोहन राकेश, विनोद रस्तोगी, हरिश्चन्द्र खन्ना, सिद्धनाथ कुमार, चन्द्रकिरण सौनरेवसा, कान्तिचन्द्र सौनरेवसा, कमलेश्वर, गंगाधर शुक्ल, मधुकर गंगाधर, गोपाल कृष्ण कौल, मार्कण्डेय, रामचन्द्र तिवारी, सत्येन्द्र शर्मा, रमेश बक्षी, ओंकार श्रीवास्तव, दुष्यन्त कुमार, भृंग तुपकरी, विश्वप्रकाश दीक्षित 'बटुक', उमिला वर्मा, देवराज दिनेश, जयनाथ जलिन, हंसकुमार तिवारी, प्रशान्त पाण्डे, स्वदेश कुमार, अमीक हनक्री, ज्ञानदेव अग्निहोत्री, कुमुद नागर, उग्रसेन नारंग, इत्यादि। इनमें अधिकतर एकांकीकार कवि उपन्यासकार और कहानीकार के रूप में हिन्दी साहित्य के सिरमौर हैं। उनकी प्रतिभा का अमृत पाकर पनपने वाले हिन्दी रेडियो-नाटक को अविकसित कहना भारतीय प्रतिभा का अपमान करना है।

रेडियो-नाटक के ध्वनिगत शिल्प और संकलनत्रय के बन्धनों से मुक्त तन्त्र की वजह से हम एकांकी के साथ इसकी तुलना के प्रसंग में कर चुके हैं। यदि गहराई से विचार किया जाए, तो रेडियो-नाटक में आदि नाटक के मूलभूत तत्त्व मिलते हैं। नाटक अखिर कहानी कहने की एक विधा ही तो है। दृश्य नाटक रंगमंचीय सीमाओं और रूढ़ियों के कारण कहानी को पूरी तरह नहीं कह पाता। रेडियो-नाटक कथोपकथन द्वारा ही दृश्य, वातावरण और कार्य-व्यापार का चित्रण करता है, पात्रों के मनोभाव, प्रवेश और प्रस्थान को सूक्ष्म ढंग से सूचित करता है और कथा को विभिन्न घटना-स्थलों पर स्वाभाविक रूप से ले जाता है। रंगमंचीय नाटक पात्र का बाह्य व्यक्तित्व ही प्रस्तुत करता है, जबकि रेडियो-नाटक पात्र के मन की गहराइयों में झाँककर उसके आन्तरिक व्यक्तित्व, उसकी गुणधर्मों, स्मृतियों, अदृश्य-अनुभूतियों और द्वन्द्वों से श्रोता-को परिचित कराने की क्षमता रखता है। यही नहीं, रेडियो-नाटक मानवैतर प्राणियों, प्राकृतिक एवं अतिप्राकृतिक शक्तियों, अभिव्यक्तियों तथा व्यापारों और दूसरे लोकों की कहानी भी कहता है। उदाहरणतः पंतजी का नाटक 'ज्योत्सना' जिस स्वाभाविक ढंग से रेडियो पर प्रस्तुत हो सकता है, उस प्रकार रंगमंच पर सम्भव नहीं। गिरिजा-कुमार माथुर के 'अवांतर ग्रह' जैसे अन्तरिक्ष-विज्ञान सम्बन्धी नाटकों के मंचाभिनय की तो कल्पना ही नहीं की जा सकती। 'चिरंजीव' के मनोवैज्ञानिक नाटक 'दर्पण की परछाई' में एक ऐसे विधुर का चित्रण किया गया है, जो पितृत्व की जिम्मेदारी उठाए बिना स्त्री के रूप-यौवन का उपभोग करने का आदी हो चुका है। एक दिन उसके हाथ एक ऐसी अपरिचित लड़की की डायरी लग जाती है, जो किसी लंपट से विवाह का झूठा आवासन पाकर गर्भवती हो जाती है और ग्लानिवश आत्म-हत्या कर लेती है। उसकी डायरी की पंक्तियाँ पढ़ते हुए उस विधुर का अपना पापी मन पश्चात्ताप से पीड़ित, मथित होकर स्मृति-पट पर उसकी वासना का घिनौना चेहरा प्रतिबिम्बित करता है और चित्रित करता है उस अभागिनी लड़की की कहानी से मिलती-जुलती विधुर की अपनी एक खेल की दुर्भाग्यपूर्ण कहानी। रेडियो पर डायरी के पृष्ठ और उनसे प्रादुर्भूत स्मृति-पट के विम्ब-प्रतिविम्ब बड़ी ही स्वाभाविकता और प्रभावोत्पादकता से प्रस्तुत हो सके। क्या यह रंगमंच के बस की बात है? विष्णु प्रभाकर के 'उपचेतना का छल' जैसे अनेक सफल रेडियो-नाटकों में पात्र की उपचेतना, मन और अन्तःकरण बोलते हैं, अभिनय करते हैं। ऐसे नाटकों का प्रस्तुतीकरण रेडियो पर ही सम्भव है। एक और उदाहरण लीजिए। लक्ष्मीनारायण लाल ने अपने रेडियो-नाटक 'जंगल' में वन्य पशुओं और पक्षियों को प्रतीकात्मक पात्र बनाकर आपसी फूट के दुष्परिणामों और एकता की शक्ति की कहानी बड़ी ही सफलता एवं मार्मिकता से कही है। रंगमंच पर यह नाटक बच्चों का प्रहसन बन जाएगा। इस सन्दर्भ में कान्तिचन्द्र सोनरेक्सा का प्रतीकात्मक रेडियो-नाटक 'पूरा कमरा' भी विशेषरूप में उल्लेखनीय है। इसमें टेलीफोन, कुर्सी, फाइल, घड़ी आदि जड़ वस्तुएँ चेतन चरित्रों के साथ पात्र बनती हैं और मान-वीथ परम्परा और आधुनिक पूँजीवादी व्यवस्था की मशीनी मूल्यहीनता की तुलना के आधार पर एक सुगठित सोद्देश्य कथानक का सृजन होता है। ऐसे प्रतीकात्मक नाटकों

से ही रेडियो के माध्यम की सूक्ष्म सम्भावनाओं का अनुमान लगाया जा सकता है।

रेडियो-नाट्य-तन्त्र में प्लैश-बैंक का प्रयोग आधुनिक कहानियों एवं उपन्यासों के समान बड़ी ही प्रभावोत्पादकता और कलात्मकता से होता है। इधर रंगमंच भी रेडियो के इस तन्त्र को अपनाने में प्रयत्नशील हैं। रामकुमार वर्मा कृत 'समय चक्र', अमृतलाल नागर कृत 'पहला सवाल', भगवती चरण वर्मा कृत 'थके पांव', चिरंजीव कृत 'बर्फ और साया', एवं 'तस्वीर उसकी', विष्णु प्रभाकर कृत 'दरिन्दा', भारत भूषण अग्रवाल कृत 'और खाई बढ़ती गई' एवं 'नींद की घाटियां', विनोद रस्तोगी कृत 'फ़ैसला' आदि अनेक रेडियो-नाटकों में प्लैश-बैंक टैकनीक का बड़ा ही सफल एवं प्रभावोत्पादक निर्वाह हुआ है।

रेडियो ने नाट्य-कला की कुछ ऐसी विधाओं के अभिनय एवं प्रस्तुतीकरण को फिर से सम्भव बनाया है, जो पठन-पाठन तक ही सीमित हो गई थीं। इनमें से दो मुख्य हैं—एकपात्री नाटक और काव्य नाटक। दोनों विधाएँ शब्द एवं भाव-प्रधान हैं। रंगमंच पर शब्द-शक्ति रंगसज्जा, रूपसज्जा, प्रकाश-योजना और आंगिक अभिनय के कारण गौण हो जाती है। इसके विपरीत ध्वनि-प्रधान रेडियो पर शब्द-शक्ति अपनी सूक्ष्मताओं, संवेदनाओं, संकेतों और बिम्बों के साथ उद्भासित होती है। इसी कारण रेडियो-शिल्प के अनुसार रचित एकपात्री नाटक और काव्य-नाटक रेडियो पर अभिनीत होकर सजीव और साकार हो सके। इस सन्दर्भ में कविवर सुमित्रानन्दन पन्त के 'शिल्पी', 'रजत शिखर' आदि, उदय शंकर भट्ट के 'कालिदास', 'विक्रमोर्वशी' आदि, नरेन्द्र शर्मा रचित 'धर्मराज', भगवती चरण वर्मा रचित 'कर्ण', हंसकुमार तिवारी रचित 'कच-देवयानी' आदि इस युग के महान् काव्य-नाटक हिन्दी-साहित्य को रेडियो के माध्यम से ही प्राप्त हुए हैं। इनमें गिरिजा कुमार माथुर, नरेश मेहता, सिद्धनाथ कुमार और हरिकृष्ण प्रेमी की रेडियो धर्मी विशिष्ट कृतियाँ भी शामिल हैं। इस युग की महान् उपलब्धि है कविवर दिनकर का गौरवपूर्ण काव्य-नाटक 'उर्वशी'। उसका रचना-शिल्प भी मूलतः रेडियो माध्यम से ही प्रेरित है। उसका प्रारम्भिक अंश रेडियो से प्रसारित होने के बाद ही प्रकाशित हुआ था। धर्मवीर भारती के 'अन्धा-युग' का सर्वप्रथम सफल प्रस्तुतीकरण रेडियो पर ही हुआ था। रेडियो-माध्यम से प्रेरित हिन्दी का नवीनतम उल्लेखनीय काव्य-नाटक है दुष्यन्त कुमार कृत 'एक कण्ठ विषपायी'।

रेडियो ने पत्रों में धारावाहिक छपने वाले उपन्यासों के ढंग पर धारावाहिक नाटकों की विधा का भी प्रचलन किया, जिससे हिन्दी साहित्य को कई अनमोल रत्न मिल चुके हैं। मोहन राकेश का एकादमी-पुरस्कार-प्राप्त नाटक 'आषाढ़ का एक दिन' मूलतः रेडियो-नाटक के रूप में ही रचा गया था और धारावाहिक प्रसारित हुआ था। इस विधा की अन्य उल्लेखनीय कृतियाँ हैं—उपेन्द्रनाथ अश्व कृत 'अन्धी गली', रामेश्वर सिंह काश्यप कृत 'लोहा सिंह', चिरंजीव कृत 'नया नगर' और 'मास्टर सिलबिल'। 'नया नगर' आकाशवाणी, दिल्ली से निरन्तर सात वर्ष तक प्रसारित हुआ था। आकाशवाणी, पटना से उद्भूत 'लोहा सिंह' आज भी समस्त बिहार का हृदय-हार बना हुआ है। जैनेन्द्रकुमार के 'व्यतीत' और 'मुक्तिबोध' दोनों उपन्यासों का धारावाहिक मूलन

रेडियो पर ही हुआ।

रेडियो ने हिन्दी के महत्त्वपूर्ण उपन्यासों और कहानियों के नाट्य-रूपान्तर प्रसारित करके न केवल हिन्दी के नाटक साहित्य की श्रीवृद्धि की है, बल्कि हिन्दी के कथा-साहित्य को भारत की बहुसंख्यक निरक्षर जनता तक पहुँचाया है। इस सिलसिले में प्रेमचन्द, जयशंकर प्रसाद, वृन्दावन लाल वर्मा, भगवती चरण वर्मा और यशपाल के उपन्यासों और कहानियों के नाट्य-रूपान्तर विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। जयशंकर प्रसाद के ताँ अनभिनेय कहे जाने के वाले नाटकों का प्रस्तुतीकरण भी रेडियो पर ही सम्भव हो सका। इस सन्दर्भ में कहा जा सकता है कि भारतेन्दु से लेकर जयशंकर प्रसाद तक का समूचा पुराना नाटक साहित्य जो १९४७ से पहले या तो पुस्तकालयों में बन्द था, या क्लास-रूम की मात्र पुस्तकीय चर्चा तक सीमित था, रेडियो-रूपान्तरों द्वारा पुनरुज्जीवित हुआ, और जन-साधारण की नाट्य-चेतना का संजीव एवं गौरवशाली अंग बना।

रेडियो ने हिन्दी की प्रहसन-परम्परा को भी पुनरुज्जीवित करने में योग दिया है। रोजमर्रा जीवन के रंगारंग पहलुओं और समाज की रुढ़ियों एवं असंगतियों के सम्बन्ध में इतने प्रहसन शायद ही पहले कभी रचे गए हों। रेडियो-प्रहसनों ने साहित्यिक शिष्टता एवं शालीनता के भी मापदण्ड स्थापित किये हैं। रेडियो-नाटक का शिल्प की दृष्टि से हिन्दी कहानी और उपन्यास पर भी जो व्यापक प्रभाव पड़ा है, वह शास्त्रीय अध्ययन व शोध का विषय है।

कुल मिलाकर रेडियो नाटक ने १९४७ के बाद से न केवल अपने को हिन्दी-साहित्य की जनोपयोगी स्वतन्त्र, सशक्त एवं विकासशील विधा के रूप में प्रतिष्ठित किया है, बल्कि हिन्दी के नाटक-साहित्य की अन्य-विधाओं को भी, भाव, भाषा एवं शिल्पगत सौष्ठव की दृष्टि से, प्रभावित तथा प्रेरित किया है। रेडियो-नाटक स्वातन्त्र्योत्तर-कालीन हिन्दी साहित्य की महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है।

वीरेन्द्र नारायण

हिन्दी रंगमंच : राष्ट्रीय रंगमंच का सूत्रपात

हिन्दी का रंगमंच एक अश्वत्थ वृक्ष के आकार-प्रकार का बनता जा रहा है। यह रूप और गुण हिन्दी की अपनी प्रकृति में निहित है जिसकी झलक उसके साहित्य में भी मिलती है। हो सकता है कि यह वृक्ष अभी विरवा ही हो। लेकिन ऐसी स्थिति में भी किसी तालवृक्ष की लम्बाई, क्रोटन की कमनीयता और फर्न की ज्यामितिक एक-रूपता से इसकी तुलना गलत है।

हिन्दी रंगमंच का यह सौभाग्य या दुर्भाग्य रहा है कि उसका आधार-स्तम्भ किसी एक शहर या क्षेत्र में नहीं गड़ा है। बंगाल से लेकर पंजाब तक और उत्तर-

प्रदेश से लेकर बम्बई तक हिन्दी के नाटक, पेशेवर रूप में न सही, खेले जाते रहे हैं। इसके विपरीत अन्य भाषाओं का क्षेत्र इतना सीमित रहा है कि एकाध शहर में जो कुछ होता है वह उस भाषा के पूरे रंगमंच पर हावी हो जाता है, उस भाषा के रंगमंच का प्रतिनिधि रूप पा लेता है।

बंगाल की ही बात देखिये। बंगला रंगमंच की चर्चा करते समय हम जिन प्रदर्शनों की चर्चा करते हैं वे कलकत्ते तक ही सीमित हैं। हो सकता है कि कलकत्ते की ये पेशेवर या गैरपेशेवर कम्पनियाँ छोटे-मोटे शहरों में भी जाती रही हों। लेकिन इनकी जन्म और कर्मभूमि कलकत्ता ही है। इसका प्रभाव साहित्य और रंगमंच, दोनों पर समान रूप से पड़ रहा है। कलकत्ते में जन्म लेनेवाले इन प्रदर्शनों का भावक्षेत्र मध्यमवर्गीय परिवार रहा है और प्रदर्शन की शैली यथार्थवादी। विषयवस्तु की दृष्टि से पिछले दिनों, जिस प्रदर्शन ने इस सीमा का उल्लंघन किया है, जहाँ तक मुझे पता है, उसका नाम है 'तीतास एकटि नदीर ना' ! प्रस्तुतकर्ता रहे हैं उत्पल दत्त। कहानी पूर्वी बंगाल के नाविकों के जीवन पर आधारित है ! लेकिन इस अपवाद में भी दो बातें उल्लेखनीय हैं। पहली बात तो यह है कि यह रचना पहले उपन्यास के रूप में आई थी। प्रदर्शन के लिए इसका नाटकीकरण किया गया। फलस्वरूप नाटक का कसाव और नाटक की धार का अभाव है। दूसरी महत्वपूर्ण बात है इसका प्रदर्शन ! नाटक की आत्मा और काया, दोनों ही अयथार्थवादी प्रदर्शन की माँग करती थीं पर इसका प्रदर्शन था घोर यथार्थवादी ! इन बातों की चर्चा इसलिए जरूरी है कि हिन्दी रंगमंच को अन्य रंगमंचों की पृष्ठभूमि में ही देखना उचित होगा।

अगर बंगला रंगमंच की स्थिति का चित्रण करना हो तो कहना होगा कि कलकत्ते के कुछ पेशेवर और गैर-पेशेवर लोग जो प्रदर्शन कर रहे हैं वही उनका सही चित्र है। बंगाल के छोटे-मोटे शहरों में जो-कुछ होता है वह इनका अन्धानुकरण ! कलकत्ते का रंगमंच यानी बंगला का प्रतिनिधि रंगमंच घोर यथार्थवादी है और कथानक की दृष्टि से सिर्फ मध्यमवर्गीय समाज की समस्याओं को टटोलता है। बंगाल में नाटक की एक परम्परा है और पेशेवर रंगमंच की मजबूरियों के कारण प्रदर्शन का इन्द्रजाल ही नाटक का चुनाव, प्रदर्शन आदि मामलों में फैसला दिया करता है। यह ध्यान देने की बात है कि इससे एक पीढ़ी पहले जब शिशिर बाबू और अहिन बाबू (शिशिर कुमार भादुड़ी और अहीन्द्र चौधरी) के युग में रंगमंच अभिनेताओं का था वहीं, बीस साल के भीतर बंगला रंगमंच पर न लेखक और न अभिनेता तथा निर्देशक का आधिपत्य है बल्कि प्रकाश व्यवस्थापकों का ही बोलबाला है। बंगाल की जनता और खासकर कलकत्ते की जनता नाटक के नाम पर प्रकाश-व्यवस्था के चमत्कारों की अपेक्षा रखती है। यह तो बंगला भाषा की विशेषता है ही कि नाटक के सम्भाषणों में मेलोड्रामा का पुट रहा करे।

पंजाबी का अपना कोई रंगमंच नहीं। हिन्दी रंगमंच की देखादेखी उसमें भी प्रदर्शन होने लगे हैं। लेकिन पंजाबी भाषा और संस्कृति की वह झलक अभी से दिखाई पड़ने लगी है। यदाकदा के इन प्रदर्शनों में भी जीवन के प्रति गहरी आस्था और

मस्ती तथा बेफिक्री झाँका करती है। अभी इसका स्वरूप बन नहीं पाया इसलिए कुछ कहना कठिन है। लेकिन कथानक की दृष्टि से पंजाब का ग्रामीण जीवन ही अभी तक नाटकों पर हावी दिखाई पड़ता है। जहाँ तक प्रदर्शन का सवाल है, वयःसन्धि के पहले आकर्षण-सा यथार्थवाद ही उन्हें अपनी ओर खींच सका है। दिल्ली में कभी-कभी कलकत्ते की मण्डलियों के प्रदर्शन का प्रभाव भी इसका कारण हो सकता है। या यह भी हो सकता है कि पंजाबी जनजीवन में नाटक की कोई अपनी परम्परा नहीं जिसके अभाव में यही सबसे सीधा रास्ता मालूम होता हो।

गुजराती रंगमंच की हालत इन सबसे थोड़ी भिन्न है। गुजरात में रंगमंच प्रदर्शन की परम्परा रही है। और परम्परा रही है इस बात की कि रंगमंच को सफल व्यवसाय कैसे बनाया जा सकता है! पारसी रंगमंच के कर्ता-धर्ता अधिकतर गुजराती ही थे। दुर्लभजी की सूरिविजय कम्पनी से हिन्दी संसार परिचित ही है। दुर्लभजी स्वयं बड़े ही कुशल नट थे और हिन्दी नाटकों का अभिनय किया करते थे। इस व्यावसायिकता ने जहाँ एक ओर बंगला रंगमंच को सोलह आने, प्रकाश-व्यवस्थापकों के सामने घुटने टेकने पर मजबूर किया वहीं गुजराती रंगमंच पर एक प्रकार की शोखी उभरी जो कभी-कभी अश्लीलता की सीमा तक पहुँच जाती है। पारसी और गुजराती रंगमंच की इस प्रवृत्ति को लोकनाट्य की शैली भवाई ने कुछ हद तक मोड़ा है। फिर भी मूल रूप में यह प्रवृत्ति वर्तमान है ही! गुजराती रंगमंच पर बहुमदावाद में जो भी प्रयोग हो रहे हैं उनकी यदा-कदा झाँकी मिल जाती है। मृणा-ल्लिनी साराभाई की संस्था की ओर से आधुनिक नाटकों (अंग्रेजी के नाटकों के अनुवाद या रूपांतर) का प्रदर्शन होता रहता है। लेकिन जो नाटक बम्बई में खेले जाते हैं उन्हें देखकर यह कहना ही पड़ता है कि गुजराती रंगमंच ने मनोरंजन के लिए जो रास्ता बहुत पहले अपनाया था उससे मूल रूप में अलग नहीं हो सका है।

मराठी रंगमंच की समस्या भारतीय रंगमंच की हर शाखा से निराली है। शायद मराठी रंगमंच पर ही संगीतात्मक नाटकों का समान रूप से बोलबाला रहा है। प्रसिद्ध नाटककार साधारणतः अभिनेता वर्ग से ही आये। इस तरह बंगाल में नाटक-कार और अभिनेता के बीच होड़ाहोड़ी या सहयोग का जो वातावरण निखरा, महाराष्ट्र में उसका पूर्णतया अभाव था। लेखक और अभिनेता के अलग वर्ग नहीं बने। पेशेवर कम्पनियाँ एक-एक लेखक-अभिनेता के सहारे चला करती थीं। उस परम्परा की झाँकी-स्वरूप आज भी रांगणेकर की कम्पनी है जो अधिकांश उसके ही नाटक खेला करती है तथा पु० ल० देशपांडे स्वयं अपने नाटकों का अभिनय करते हैं।

संगीतात्मक नाटकों की परम्परा और पेशेवर रंगमंच की मजबूरियों ने कुछ ऐसी विशेष विकृति भी उपस्थित कर दी है जिसकी चर्चा आवश्यक लगती है। पेशेवर मराठी रंगमंच पर कुछ नाटक बड़े ही लोकप्रिय हुए हैं। आज स्थिति यह है कि उन नाटकों की प्रमुख भूमिका का विशेषाभिनय करनेवाले पेशेवर अभिनेता उपलब्ध हैं। बमुक्त नाटक करना है और इतना पैसा लगाया जा सकता है तो क की भूमिका में प और ख की भूमिका में फ को रखा जाएगा। अगर इतना पैसा लगाना है तो क की

भूमिका में च और ख की भूमिका में छ को रख लीजिए ! रिहर्सल आदि की कोई समस्या नहीं । इन लोगों को प्रति रात्रि पैसे देते जाइए और ये अभिनय कर दिया करेंगे । अभिनय के सिद्धान्तों की कोई चिन्ता ही नहीं है । स्पष्ट है कि ऐसे अभिनयों में क्या होता होगा । इसकी हास्यास्पदता तो उस दिन मेरी समझ में आई जब एक लड़की ने एक अंक तक नायिका का काम किया, झगड़ा हो जाने पर रुठकर चली गई, दूसरे अंक से दूसरी लड़की ने उसी पात्र की भूमिका की और नाटक का प्रदर्शन पूरा हुआ । पश्चिमी रंगमंच पर भी, जहाँ लोकप्रिय नाटकों की जीती-जागती परम्परा है, ऐसा नहीं होता । प्रसिद्ध अभिनेता और अभिनेत्रियों की मण्डली भी बाकायदा रिहर्सल करती है । इस तरह की भूमिका वाली ठेकेदारी पहले से बँधी-सधी नहीं होती ! हर प्रदर्शन की अपनी एक दिशा होती है, अपना नया व्यक्तित्व होता है ।

दूसरी प्रवृत्ति है संगीतात्मक नाटकों की ! इसमें नाटक सिर्फ एक वहाना होता है । साधारणतः पक्के गानों की भरमार होती है । महाराष्ट्र में ऐसे विशेष अभिनेता हैं जिनका प्रमुख आकर्षण अभिनय के बदले संगीत है ! अपने में यह भी एक प्रकार बनकर नाटक के विकास में योगदान दे सकता था । लेकिन व्यावसायिकता ने इसे भी हास्यास्पद बना दिया है । कुछ वर्ष पहले की बात है । एक नाटक में लगभग दस बजे बड़े गुलाम अली खाँ दरबारी गायक के रूप में मंच पर आये । उनका गायन दो बजे तक होता रहा । फिर गाना समाप्त हुआ और नाटक भी । लोग अपने घरों को वापस गये । शायद इस तरह की घटनाओं का यह भी कारण रहा हो कि नाट्य-प्रदर्शन पर मनोरंजन कर नहीं लागू होते । संगीत के आयोजनों पर मनोरंजन कर लागू होता है । फिर भी इतना तो निर्विवाद है कि संगीतात्मक नाटकों की यह परम्परा अभिनय और नाटक के बदले संगीत द्वारा दर्शकों को सम्मोहित करती है और इसलिए अभिनय की कला में इतनी अविच्छिन्न परम्परा के बावजूद जो निखार आना चाहिए वह नहीं आ पाया ।

बीसवीं सदी में महाराष्ट्र के रंगमंच ने एक नया मोड़ लिया है और स्वस्थ सहज नाटक की ओर लोगों का ध्यान आकर्षित हुआ है । जब यह चर्चा मैं करता हूँ तो सिर्फ प्रकाशित नाटकों की सूची देखकर नहीं, बल्कि नाट्य-प्रदर्शनों को ध्यान में रखकर । पु० ल० देशपांडे, मो० ग० रांगणेकर, कानिटकर प्रभृति नाटककारों ने वर्तमान समस्या पर यथार्थवादी रंगमंच के लिए ऐसे नाटक लिखे हैं जो व्यावसायिक रूप से सफल हुए हैं ।

अन्तिम विश्लेषण में मराठी रंगमंच का एक अंश ऐसा है जिस पर संगीत और अभिनेता हावी है तथा दूसरा अंश ऐसा है जिस पर लेखक और अभिनेता । और सबके ऊपर हावी हैं व्यावसायिक प्रदर्शन के लिए पैसे खर्च करने वाले ! रंगमंच के तकनीकी विशेषज्ञों का बोलबाला नहीं । प्रकाश-व्यवस्था, सेट आदि पर उतना जोर नहीं । दरअसल मुझे तो यह भी ज्ञात नहीं कि यथार्थवादी प्रदर्शन के अलावा भी और किसी शैली में उल्लेखनीय प्रदर्शन हुए हैं । कुछ मण्डलियों ने यदाकदा संस्कृत नाटकों तथा अंग्रेजी नाटकों के अनुवाद के लिए आकारवादी सेट का प्रयोग किया था, लेकिन उनका

स्तर ऐसा रहा कि उसकी चर्चा बस इसीलिए की जा सकती है कि वह एक प्रकार की चेतना का द्योतक है। बंगला और मराठी की तुलना बरबस दिमाग में आ जाती है। बंगला रंगमंच एक प्रकार की सीधी लम्बाई में विकसित हो रहा है। अच्छा अभिनेता और लेखक मिल गया तो यह विकास ऊर्ध्व होता है। लेकिन आधार के फैलाव का, नाटकीय चेतना की परिधि के विकास के चिह्न दिखाई कम पड़ते हैं। यह ध्यान देने की बात है कि बंगला की लोक-नाट्य शैली 'यात्रा' वहाँ के पेशेवर और गैर-पेशेवर रंगमंच को प्रभावित करने के बदले स्वयं अपना आकार और स्वरूप नष्ट करती जा रही है। यह तो सभी जीवित शैलियों का स्वभाव है कि वह आसपास की अन्य विधाओं से प्रभाव ग्रहण करती हैं, लेकिन साथ ही यह भी जरूरी है कि वह अपने पैरों पर खड़ी भी रहे। स्वयं अपना स्वरूप न खो बैठे।

इसके विपरीत मराठी रंगमंच यद्यपि यथार्थवादी प्रदर्शन का ही दामन पकड़े है, फिर भी कथ्य की दृष्टि से उसमें व्यापकता अधिक है और वे अंकुर अभी सुरक्षित हैं जो व्यापक आधार बनाने में सहायक होंगे। आज नहीं तो बीस वर्ष बाद यह एकदम स्पष्ट हो जायगा कि मराठी रंगमंच का आधार बंगला रंगमंच की अपेक्षा कहीं अधिक व्यापक है। साथ ही यह भी हम नहीं भुला सकते कि बंगला रंगमंच अभिनय, रंगमंच की तकनीक आदि में ऐसी जगह पहुँच चुका है जहाँ पहुँचने में मराठी रंगमंच को समय लगेगा। दोनों रंगमंचों की वर्तमान अवस्था और मूलभूत प्रवृत्तियों को देखकर यह कहा जा सकता है कि बंगला रंगमंच पर जब तक किसी सशक्त लेखक या अभिनेता का आवर्भाव नहीं होता उसकी वर्तमान स्थिति में मौलिक परिवर्तन नहीं आ सकता। मराठी रंगमंच धीरे-धीरे तकनीकी दृष्टि से उन्नति करता रहेगा, लेकिन मराठी रंगमंच पर ऐसे सशक्त अभिनेता या लेखक के आविर्भाव की अभी कम ही सम्भावना है।

दक्षिण भारत के रंगमंच का मेरा ज्ञान बहुत ही सीमित रहा है। दो-चार प्रदर्शनों से अधिक को देखने का दावा नहीं कर सकता। हाँ, बहुत सारे नाटकों का स्थापत्य और कथावस्तु अनुवाद के माध्यम से देख चुका हूँ। तमिल, तेलुगु, कन्नड़ और मलयालम—चारों भाषाओं में अनेकानेक दृश्यों वाले पारसी रंगमंच की छटा अब भी दिखाई पड़ती है। राजमानिक्यम बन्धुओं ने कई वर्ष पहले जब दिल्ली में कई नाटकों का प्रदर्शन किया था तो तमिल बन्धुओं के बीच इसी बात की चर्चा थी कि इतने विलक्षण दृश्य-परिवर्तन इतनी जल्दी वह कैसे प्रस्तुत कर सकता है। लेकिन इसके अलावा गैर-पेशेवर रंगमंच पर अन्य प्रकार के प्रयोग भी हो रहे होंगे इसमें मुझे सन्देह नहीं। यह ध्यान देने की बात है कि तेलुगु की कूचिपुडि जैसी अभिनय प्रधान नृत्य-शैली के बावजूद कोई महत्त्वपूर्ण प्रयोग नहीं हो सके हैं और आज भी सुप्रसिद्ध कलाकार 'उषापरिणयम्' 'भामाकलायम्', 'प्रह्लादचरितम्' का ही प्रदर्शन करते दिखाई पड़ते हैं। इस सम्बन्ध में कन्नड़ रंगमंच के एक नाटक की चर्चा अनिवार्य लगती है। नाटक का नाम है लंचावतार। लंच अर्थात् घूस। नाम से ही स्पष्ट है कि इस नाटक का कथानक सामयिक महत्त्व का है। इसके प्रमुख अभिनेता और

लेखक हैं श्री नरसिंह राव । कहा जाता है कि पिता की मृत्यु के बाद कम्पनी इनके हाथों से निकल गई और इन्हें दरदर ठोकें खानी पड़ीं । लेकिन अन्ततः इन्होंने अपने को सम्हाला और मजदूरों के मुहल्ले में टीन की चादरों का मण्डप खड़ा कर अभिनय शुरू किया । आज सबसे अधिक लोकप्रिय अभिनेता का सहज गौरव इन्हें प्राप्त है । नाटक में प्रमुख आकर्षण है कुछ ऐसे स्थल जहाँ श्री नरसिंह राव समाचार-पत्रों की ताजा घटनाओं का जिक्र करते हैं और उस पर हास्य-व्यंग्यपूर्ण टिप्पणी । बताना नहीं होगा कि यह हिस्सा प्रतिदिन बदलता रहता है और अपना आकर्षण कभी नहीं खोता । आज इस नाटक की लोकप्रियता का यह आलम है कि एक भी सीट खाली नहीं रहती । अंग्रेजी 'रेव्यू' की तरह की ऐसी कृतियाँ भारत में पेशेवर रंगमंच के लिए अभूतपूर्व घटना है और शायद 'रेव्यू' की परम्परा का श्रीगणेश भी इसी से हो । यह ध्यान रहे कि हिन्दी नौटंकी, विदेसिया आदि लोक-नाट्यों में स्थानीय और तत्कालीन घटनाओं और व्यक्तियों की चर्चा करने की ऐसी परम्परा रही है तथा उन पर की गई टिप्पणियाँ लोगों का मनोरंजन भी करती रही हैं ।

बंगला रंगमंच पर भी किसी जमाने में छोटी-छोटी घटनाओं को लेकर अर्धेन्दु-शेखर मुस्तफी ऐसे प्रदर्शन किया करते थे जिनका नाम 'मुस्तफी साहब का तमाशा' था । मुस्तफी साहब के समय अंग्रेजों का रंगमंच उगते हुए बंगला रंगमंच के प्रति बड़ा ही सशंक था और बंगला रंगमंच पर कीचड़ उछाला करता था । उसी के जवाब में था यह 'मुस्तफी साहब का तमाशा' । लेकिन इन सबके बावजूद किसी भी भारतीय रंगमंच पर यह चीज नहीं आई । कन्नड़ रंगमंच की यह विशेषता उस कलाकार की ही देन है, जिसने पेशेवर अभिनेता की तरह जीने के संघर्ष में, किताबों और सैद्धान्तिक वाग्जाल से दूर, अपने लिए व्यावहारिक रास्ता अपनाया और 'रेव्यू' को यह नया रूप दिया । जहाँ 'रेव्यू' में ऐसे ही छोटे-छोटे दृश्य होते हैं और उसका स्वरूप एक गुलदस्ते का होता है वहाँ लंचावतार में जैसे वही लड़की नित नये फूल जूड़े में डालकर आती है ।

इस पृष्ठभूमि में कलकत्ते से लेकर दिल्ली तक और लखनऊ से लेकर बम्बई तक फैले हिन्दी रंगमंच का लेखा-जोखा लेना होगा । यह तो स्पष्ट है कि इतने बड़े क्षेत्र में वंसी एकरूपता नहीं हो सकती जैसी अन्य भाषाओं के क्षेत्र में रही है । इसमें भी सन्देह की कोई गुंजाइश नहीं कि हर क्षेत्र के हिन्दी रंगमंच पर पास-पड़ोस के रंगमंच का असर होगा । उदाहरण के लिए कलकत्ते के हिन्दी रंगमंच पर बंगला का प्रभाव स्वाभाविक ही है ।

वैसे यह बात अक्सर भुला दी जाती है कि पेशेवर हिन्दी रंगमंच का श्रीगणेश कलकत्ते में ही हुआ था और हाल तक पेशेवर तरीके से हिन्दी नाटकों का अभिनय कलकत्ते में होता रहा । लेकिन पेशेवर रंगमंच का जहाँ तक सम्बन्ध है, कलकत्ते के हिन्दी रंगमंच के विकास की धारा बंगला से मूलतः भिन्न रही । कारण ढूँढने के लिए बहुत दूर जाने की जरूरत नहीं । कलकत्ते में पेशेवर हिन्दी रंगमंच को जन्म देने वाले व्यवस्थापक गुजराती और पारसी थे । उसमें काम करने वाले अभिनेता-अभिनेत्रियों में उत्तर भारत तथा बम्बई तक की सभी भाषाओं के लोग पाये जाते थे । स्त्री पात्रों

हिन्दी रंगमंच : राष्ट्रीय रंगमंच का सूत्रपात : ४१

के लिए गणिकाओं को रखा जाता था। हिन्दू-मुसलमान की भी समस्या नहीं थी। जिस उदारता से हिन्दी-भाषी जनता ने ऐसे पेशेवर अभिनयों को अपनाया उसी का यह फल है कि हिन्दी लोक रंगमंच का कोई प्रभाव इन प्रदर्शनों पर नहीं पड़ा तथा हिन्दी रंगमंच का वैसा (सीमित आधार वाला ही सही) विकास नहीं हो पाया जो बंगला रंगमंच पर सम्भव हो सका। दूसरा महत्वपूर्ण कारण यह भी था कि बंगला रंगमंच को विकास की अवस्था के बाद बंगाल के सामाजिक जीवन के कर्णधारों ने भी अपना सक्रिय सहयोग दिया। राष्ट्रीयता की भावना ने ज्यों-ज्यों जड़ पकड़ी, साहित्य और रंगमंच, दोनों पर उसका असर दिखाई पड़ने लगा। बंगाल के धनी-मानी रईसों ने जहाँ प्रदर्शन की व्यवस्था कराई वहीं अच्छे नाटकों के लिए पुरस्कार की भी घोषणा की। लेकिन कलकत्ते के हिन्दी रंगमंच का गठन ऐसा था, हिन्दी रंगमंच जिस तबके के लोगों के लिए प्रदर्शन करता था, दोनों कारणों से हिन्दी रंगमंच का वैसा विकास सम्भव नहीं हो सका। हिन्दी-भाषी सुशिक्षित और सुसंस्कृत लोगों की आवश्यकता बंगला नाटकों से भी पूरी हो जाती थी। कलकत्ते का निम्न मध्यम-वर्गीय हिन्दी भाषी तबका सस्ते मनोरंजन से चिपका हुआ था। न तो कलकत्ते के हिन्दी रंगमंच ने जनता की रुचि परिष्कृत करने की कोशिश की और न कोई ऐसी हस्ती ही बाई जो अपने व्यक्तित्व के जोर से कलकत्ते के पेशेवर हिन्दी रंगमंच को इस दलदल से निकाल सके।

साधारणतः कलकत्ते का हिन्दी-भाषी सुसंस्कृत तबका बहुत असें तक बंगला नाटकों से ही सन्तोष प्राप्त करता रहा। इसे हम हिन्दी भाषियों की उदारता ही कह सकते हैं। पर फल यह हुआ है कि गैर-पेशेवर स्तर पर भी हिन्दी रंगमंच ने बहुत दिनों बाद अँगड़ाई ली है। अब गैर-पेशेवर रंगमंच पर अच्छे प्रदर्शन होने लगे हैं। कुछ संस्थाओं ने इस दिशा में काफी अच्छा प्रयास किया है और 'अनामिका' की चर्चा यहाँ असंगत नहीं लगती। उनका नाटक 'नये हाथ' दिल्ली में देखने का अवसर मिला। नितान्त यथार्थवादी शैली का यह नाटक कथ्य की दृष्टि से अपना महत्व रखता है और यह विश्वास दिलाता है कि हिन्दी-साहित्य की अन्य विधाओं में जो प्रगति दिखाई पड़ती है उसका स्वरूप रंगमंच पर भी जल्दी ही दिखाई पड़ेगा। अभिनय या प्रदर्शन दोनों ही दृष्टियों से कलकत्ते के इन हिन्दी प्रदर्शनों की एक खूबी की ओर ध्यान दिलाना अनिवार्य लगता है। जहाँ बंगला रंगमंच का प्रभाव स्पष्ट है, वहीं अपना विशिष्ट व्यक्तित्व भी इन प्रदर्शनों की विशेषता रही है। और यह बड़ा ही शुभ संकेत है।

बिहार में गैर-पेशेवर रंगमंच की दो धाराएँ हैं जिनका असर काशी तक स्पष्ट है। एक ओर तो वे बंगाली हैं जो पहले बंगला नाटकों का प्रदर्शन किया करते थे, लेकिन समय की रफ्तार को पहचानकर अब हिन्दी नाटकों की ओर मुड़ गए हैं। साधारणतः कलकत्ते के बंगला नाटकों से प्रेरणा लेकर बंगला नाटकों के हिन्दी अनुवाद या उसी आधार पर लिखे गए हिन्दी नाटकों का ये प्रदर्शन करते हैं। भाषा, स्वरूप और अन्य सभी बातों में ये नाटक बंगला रंगमंच की कुरूप छाया से अविकल अधिकारी नहीं प्रतीत होते। भागलपुर, पटना और गया के कुछ प्रदर्शनों को सामने

रखकर इतना ही महत्व इन्हें दिया जा सकता है कि प्रकाश व्यवस्था के कुछ तकनीकी प्रयोगों को इन प्रदर्शनों ने कलकत्ते से बिहार तक पहुँचाया। इसके विपरीत ऐसे प्रदर्शन भी काफी अधिक संख्या में होने लगे हैं जिनकी मूल प्रेरणा हिन्दी क्षेत्र की ही है। लेकिन इन प्रदर्शनों की प्रमुख समस्या है उपयुक्त नाटक का चुनाव। साधारणतः प्रसिद्ध कहानियों और उपन्यासों के रूपान्तर ही रंगमंच पर दिखाई पड़ते हैं। उदाहरण के लिए तीन कहानियों का उल्लेख किये बिना नहीं रह सकता—‘कफन’, ‘उसने कहा था’ और ‘आकाशदीप’। तीनों रचनाएँ सुप्रसिद्ध हैं और साहित्य में उनका विशिष्ट स्थान है। शायद यह बात उभरकर स्पष्ट नहीं हो पाई है कि इन रचनाओं की काया कहानी के माध्यम के लिए ही सबसे अधिक उपयुक्त है। मोह में अगर इन कृतियों को परकाया में प्रवेश कराया जाय अर्थात् कहानी से नाटक बनाया जाय तो इनका मूल सौन्दर्य ही नष्ट हो जायगा।

लोक नाट्य की एक विशेष शैली विदेसिया के लिए बिहार पहले से प्रसिद्ध रहा है। कथानक और प्रदर्शन, दोनों ही दृष्टियों से इसकी विशेषता रही है। इन दिनों इसका जोर तो कम हो गया है पर कथ्य और भाषा की दृष्टि से एक ऐसे व्यक्ति का पदार्पण हुआ जिसका उल्लेख करना अनिवार्य है। मेरा मतलब है श्री रामेश्वर-सिंह काश्यप और उनके नाटक ‘लोहा सिंह’ से ! यह नाटक पहले रेडियो रूपक के रूप में सामने आया। पर इसकी सफलता ने इसे मंच पर लाया और अब शायद यह चरित्र फिल्म के पर्दे पर भी आने वाला है। इस नाटक के बारे में इसकी भाषा और इसका कथ्य दोनों उल्लेखनीय हैं ! ‘लोहा सिंह’ की भाषा भोजपुरी मिश्रित हिन्दी और अंग्रेजी है जो विलक्षण हास्य-व्यंग्य की सृष्टि करती है ! लोहा सिंह का व्यक्तित्व विनोदी है। इस विलक्षण भाषा के कारण व्यंग्य दो स्तरों पर चोट करता है। एक तो वह जो लोहा सिंह का लक्ष्य है और दूसरा वह जो लेखक को अभीष्ट है ! कथ्य की दृष्टि से लोहा सिंह के पारिवारिक जीवन पर आधारित ये घटनाएँ एक बड़े नाटक का सूत्रपात कर सकती थीं पर भाषा के चमत्कार ने जो सफलता दिलाई वही बाधक बन गयीं ! फिर भी लोहा सिंह ने हिन्दी-नाटकों के लिए एक नये परिच्छेद का सूत्रपात किया है।

साधारणतः उत्तर प्रदेश में प्रदर्शन का स्तर बिहार की ही तरह निम्न रहा है। और तुलनात्मक रूप से हिन्दी-भाषी क्षेत्रों में सामान्य रूप से प्रदर्शन की यही दशा है। नाट्य-लेखन की दृष्टि से जहाँ उपेन्द्रनाथ अशक, रामकुमार वर्मा, आदि का नाम गिनाया जा सकता है, गैर-पेशेवर प्रदर्शन की दृष्टि से संस्थाओं और व्यक्तियों का नाम ढूँढ़े नहीं मिलता। डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल ने सुन्दर रत्न आदि नाटकों के लेखन और प्रदर्शन द्वारा स्थानीय हलचल के रूप में कुछ पाया हो तो हो, नाट्य-लेखन की दृष्टि से उन्हें महत्व नहीं दिया जा सकता ! डॉ० रामकुमार वर्मा के शुरू के प्रदर्शन या नाट्य-एकांकियों में एक प्रकार की ताजगी है। लगता है कि नाटक का कथ्य अब समाप्त हो गया है ! साधारणतः साहित्य की कई विधाओं में सृजन करने वालों का जो हाल होता है वही हाल उपेन्द्रनाथ ‘अशक’ का हुआ है ! इस सम्बन्ध में एक बात और ध्यान

हिन्दी रंगमंच : राष्ट्रीय रंगमंच का सूत्रपात : ४३

दत्ते की है। नाटककार का विकास रंगमंच और प्रदर्शन के घात-प्रतिघात द्वारा ही होता है। जिन नाटककारों ने अपने को इससे अलग रखा या अलग हो गये उनकी कृति का अंतिम परिच्छेद स्वयं लिख जाता है ! फिर भी कथ्य की दृष्टि से इस क्षेत्र ने हिन्दी-नाटक के आधार को व्यापकता दी है। साधारण मध्यमवर्गीय परिवार की हलचल से लेकर ऐतिहासिक और अन्य समस्यामूलक नाटकों की एक नई फसल सामने आई है। दुर्भाग्यवश इन सभी रचनाओं में रंगमंच के अनुभव का अभाव खटकता है। यह अभाव इसलिए और भी तीखा बन जाता है कि हिन्दी क्षेत्र में हिन्दी भाषियों द्वारा जब इन नाटकों का प्रदर्शन होता है तो प्रदर्शन की भोंडी और भयानक गलतियों के कारण नाटक की हत्या होती है ! जब अहिन्दी भाषी कलाकार इन नाटकों का प्रदर्शन करता है तो भाषा के संकेतों को नहीं समझने के कारण नाटक और प्रदर्शन की दिशाएँ विरोधी हो जाती हैं। इस तरह फिर नाटक की हत्या होती है ! साथ ही एक स्वर से यह आवाज लगाई जाती है कि हिन्दी में प्रदर्शन के योग्य नाटक नहीं। दिल्ली और बम्बई के नाट्य प्रदर्शनों की चर्चा करते समय इस समस्या पर विस्तार से विचार किया जायगा।

मध्य प्रदेश का हिन्दी रंगमंच मराठी रंगमंच के बोझ से आक्रांत हैं क्योंकि विधा का निर्वाह वहाँ के नाटकों में उसी तरह होता है जैसा कि मराठी नाटकों में ! मध्य प्रदेश की मिट्टी की गंध न तो नाटकों में दिखाई पड़ती है और न नाट्य-प्रदर्शनों में। जो थोड़े से प्रदर्शन देखने को मिले हैं उनमें घिसे-पिटे हथकंडों का ही प्रयोग दिखाई पड़ता है। यथार्थवादी प्रदर्शन के चौखटे के भीतर मराठी रंगमंच पर कभी-कभी नाजगी दिखाई पड़ती है लेकिन इन सस्ते अनुकरणों में एक-एक तरह की शिथिलता है।

बम्बई में हिन्दी रंगमंच मराठी, गुजराती और अंग्रेजी प्रदर्शनों से थोड़ा प्रभावित रहा है। एक ओर तो पेशेवर गुजराती नाटकों की तरह सस्ते और भोंडे प्रदर्शन भी होते हैं तो दूसरी ओर अंग्रेजी नाटकों की देखा देखी अंग्रेजी नाटकों के अनुवाद भी रंगमंच पर लाये गए हैं। इस सम्बन्ध में राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय से निकले हुए छात्र-छात्राओं का भी योगदान रहा है। 'इडीपस रैक्स' आदि नाटकों की चर्चा इस सम्बन्ध में की जा सकती है लेकिन इस तरह के नाटकों का सिर्फ एक ही लाभ हिन्दी रंगमंच को हुआ है और वह है हिन्दी भाषी जनता का रंगमंच की विभिन्न विधाओं से परिचय। इस प्रदर्शन का ऐसा स्तर नहीं जो अपने-आप में उपलब्धि की संज्ञा पा सके। हिन्दी नाटक और हिन्दी रंगमंच के आधार को विस्तृत करने का श्रेय जरूर इन नाटकों को मिलना चाहिए। यह ध्यान देने योग्य बात है कि एक ओर डॉ० एल० राय या गडकरी जैसे आचार्यों की रचना बंगला और मराठी रंगमंच से आई तथा स्वीकृत हुई उसी तरह जयशंकर प्रसाद, लक्ष्मीनारायण मिश्र आदि की रचनाओं को हिन्दी रंगमंच पर नहीं उतारा गया। एक फैशन-सा बन गया है और फलते दिये जाते हैं कि इतने दृश्यों के कारण या संस्कृतनिष्ठ भाषा होने के कारण ये नाटक रंगमंच के योग्य नहीं।

दिल्ली आकर यह समस्या और भी मजेदार बन जाती है। हिन्दी प्रकृति से

ही भारत की राष्ट्रभाषा है। इसलिए राजधानी में सभी भाषा-भाषियों का हिन्दी में दिलचस्पी लेना स्वाभाविक ही है। यह भी ठीक है कि हिन्दी नाटक का वह अंग जो साहित्यिक भाषा तक सीमित है, आम-फहम जवान को हिन्दी माननेवालों के लिए दुर्गम है। इसलिए हिन्दी नाटकों का एक अंग तो ऐसे लोगों के लिए अच्छा ही रह जाता है। बोलचाल की चालू भाषा में जो नाटक मिलते हैं उसे ही हिन्दी नाटक का एकमात्र रूप समझने की और बाकी नाटकों को नजर-अन्दाज कर देने की एक परिपाटी-सी चल पड़ी है। खासकर ऐसी बातों के फतवे अंग्रेजी के माध्यम से दिये जाते हैं जिनकी ओर हिन्दी के सृजनात्मक कलाकारों का ध्यान ही नहीं जाता। मिला-जुलाकर स्थिति ऐसी हो गई है कि एक ओर हिन्दी नाटकों की ओर लोग ललचाई नजरों से देखते भी हैं और दूसरी ओर यह भी कहते जाते हैं कि हिन्दी में अभिनय के योग्य नाटक नहीं। आँकड़ों की मेरे पास कमी है और यह लिखना सम्भव नहीं कि पिछले दिनों दिल्ली में किस प्रकार के नाटकों के कितने प्रदर्शन हुए। इतना जरूर लिख सकता हूँ कि दिल्ली की आम जनता को वे ही नाटक पसन्द आये जिनमें पंजाब की मिट्टी की गंध थी।

हिन्दी क्षेत्र में अच्छे निर्देशक के अभाव ने ही यह स्थिति उत्पन्न कर दी है। 'आपाठ का एक दिन' और 'अन्धा युग' जैसे नाटकों के प्रदर्शन भी दिल्ली में हुए हैं। लेकिन उनका उतना ही महत्व है जितना एक साहसिक कार्य का हो सकता है। लोक से अलग इन दोनों प्रदर्शनों ने यह साबित कर दिया है कि ऐसे नाटकों का प्रदर्शन जिस तरह बिदेशों में होता रहा है उसी तरह हिन्दी में भी अच्छी तरह हो सकता है। साथ ही यह भी बुरी तरह उभर कर सामने आया कि इन प्रदर्शनों में नाटकों की आत्मा और काया, दोनों अच्छी रह गई। धृतराष्ट्र-गांधारी संवाद में रवीन्द्रनाथ ने साबित किया था कि धृतराष्ट्र सिर्फ आँखों का अन्धा नहीं था बल्कि मोहान्व था। एक कदम आगे बढ़कर लेखकों ने अन्धा युग में संकेत किया कि वह युग ही अन्धा था। लेकिन प्रदर्शन में ? युग की झाँकी ही सामने नहीं आई।

इसी तरह आपाठ के एक दिन में लेखक ने महाकवि कालिदास के भीतर के साधारण मानव को ही चित्रित किया है। यह बात प्रदर्शन में भी आनी चाहिये थी कि महान से महान व्यक्ति के भीतर भी एक साधारण मानव होता है। इस साधारण मानव के दर्शन नहीं हुए।

अच्छे निर्देशकों के अभाव में उतने हिन्दी नाटक सामने नहीं आ रहे जितने आने चाहिए थे या साहित्य की अन्य विधाओं में जितनी रचनाएं आ रही हैं। तटस्थ होकर देखा जाय तो हिन्दी रंगमंच बंगला या मराठी रंगमंच से पिछड़ा हुआ ही कहा जायगा। लेकिन दूसरी ओर राष्ट्रीय रंगमंच के संदर्भ में राष्ट्रीय रंगमंच अपने-आप में एक विलक्षण बात है और उसका कोई फार्मूला पेश नहीं किया जा सकता। यह ध्यान देने योग्य बात है कि यूरोप के कई छोटे-छोटे देशों में राष्ट्रीय रंगमंच बहुत पहले बन चुका था कि इंग्लैंड जैसे देश में जहाँ रंगमंच, लेखक, अभिनेता और निर्देशक की अक्षुण्ण परम्परा रही है, कुछ ही वर्ष पहले राष्ट्रीय रंगमंच की स्थापना हुई। यह नहीं कहा जा सकता कि इसका कारण क्या है। इस पेचीदी प्रक्रिया में बहुत सारी बातें

शामिल हैं। भारत के संदर्भ में अगर हम राष्ट्रीय रंगमंच की समस्या को देखें तो यह निर्विवाद है कि हिन्दी रंगमंच ही इस जगह को भर सकेगा। जब मैं राष्ट्रीय रंगमंच की बात करता हूँ तो मेरा आशय किसी भवन या संस्था से नहीं है बल्कि उस रंगमंच से है जिस पर पूरे राष्ट्र का जीवन प्रतिबिम्बित हो।

हिन्दी साहित्य अन्य भाषा-भाषियों के जीवन को धीरे-धीरे प्रतिबिम्बित करने लगा है, अन्य क्षेत्रों की विशिष्टताओं को धीरे-धीरे आत्मसात करता जा रहा है। ऐसे आंकड़े इकट्ठे किये जाएँ जिनमें अन्य भाषा-भाषियों के जीवन को चित्रित किया गया हो तो मेरे कथन की तुरन्त पुष्टि हो जायगी। मराठी और गुजराती एक-दूसरे के इतने निकट रहे लेकिन मराठी साहित्य में गुजरातियों के जीवन को या गुजराती साहित्य में मराठियों के जीवन को कितना स्थान मिला? कलकत्ते में हिन्दी भाषियों की संख्या कम नहीं। बंगालियों के जीवन से वे इतने घुलमिले भी हैं। साधारण बंगाली उन्हें अच्छी तरह जानता-पहचानता भी है। लेकिन क्या बंगला साहित्य में कभी उनका चित्रण हुआ? (शायद सतीनाथ भादुड़ी इसके अपवाद माने जा सकते हैं।) यही स्थिति असम और उड़ीसा निवासियों की है।

मौलिक रचनाओं की बात छोड़ भी दें तो अन्वनदो की हालत भी उससे समन्त नहीं निकलेगी। आत्मन्येवात्मनः तुष्टः की जहाँ एक हद तक सुविधा रही, वहीं दूसरी ओर उसकी असुविधा भी सामने आने लगी है। अन्य भाषा-भाषियों ने अंग्रेजी को तो स्वीकारा है। उसके आगे गाड़ी नहीं बढ़ी। अन्य किसी भाषा में भगिनि भाषाओं की मौलिक रचनाओं का अनुवाद नहीं के बराबर है। कलकत्ता और बम्बई हमेशा से ऐसे शहर रहे जहाँ सभी भाषाओं के लोग रहते आये। ये ऐसे शहर रहे जहाँ बंगला और मराठी तथा गुजराती साहित्य ने रूप और आकार ग्रहण किया। लेकिन वस इतना ही। पासपड़ोस के साहित्य से इन लोगों ने हमेशा आँखें बन्द रखीं।

यह ध्यान देने योग्य बात है कि हिन्दी में जिस तरह गर्दे और पराङ्कित जाने-माने गये, जिस तरह भूदेव मुखर्जी को स्थान दिया गया वैसे कलकत्ता और बम्बई में क्यों नहीं हो सका। रंगमंच के सम्बन्ध में साहित्य की चर्चा इसलिए करनी पड़ती है कि जब अन्य विधाओं में जहाँ अपेक्षाकृत कम कठिनाइयाँ होती हैं, यह स्थिति है तो नाटक के सम्बन्ध में स्थिति सहज ही स्पष्ट हो जायगी।

वर्तमान स्थिति में हिन्दी रंगमंच ही राष्ट्रीय रंगमंच का सूत्रपात है। हिन्दी का बाजार और क्षेत्र व्यापक है। हिन्दी में रूढ़ परम्पराओं का बोलबाला नहीं। सभी भारतीय भाषाओं से इसका सीधा सम्पर्क बनता आ रहा है जो प्रतिक्षण पुष्ट होता जा रहा है। सारे देश की चेतना को व्यक्त करने की इसीमें चेतना है। यह ठीक है कि विभिन्न भारतीय भाषाओं की दृष्टि से हिन्दी रंगमंच को तीसरा या चौथा स्थान देना पड़े, लेकिन उपरोक्त विश्लेषण से यह भी स्पष्ट हो गया होगा कि राष्ट्रीय रंगमंच की जरूरतों को पूरी करने वाली संभावनाएँ हिन्दी रंगमंच में ही हैं।

स्वातन्त्र्योत्तर निबन्ध-साहित्य

डॉ० रामखेलावन पाण्डेय

हिन्दी निबन्ध : प्रेरणा, प्रयास और उपलब्धि

‘निबन्ध’ आधुनिक चेतना की परिणति-सम्भवा विधा और आधुनिकता-बोध की कसौटी है अतः वैदिक साहित्य में इसके आधार का अन्वेषण अयथार्थ परिकल्पना मात्र। आधुनिकता की अवधि, उसकी व्याप्ति और मर्यादा अनिश्चित-सी रही है और इसके विस्तार और संकोच की चेष्टाएँ अद्यावधि सजग हैं। निबन्ध, प्रबन्ध, लेख, आशय, प्रस्ताव और ‘एसे’ आदि शब्दों के पर्यायमूलक प्रयोग उपलब्ध होते हैं और ऐसे प्रयोगों के ऐतिहासिक क्रम का अन्वेषण अधिक परिश्रम-साध्य नहीं। कतिपय लेखकों का ध्यान इन अभिधानों के अर्थ-वैभिन्य की ओर गया और इसके यत्किञ्चित् निर्देश यत्र-तत्र उपलब्ध हुए। निबन्ध का सामान्य अर्थ हुआ ‘विद्वत्तापूर्ण रचना’ और प्रबन्ध का हुआ ‘ग्रन्थ’; यद्यपि अर्थ-भिन्नता की सुस्पष्ट रेखा सदा निर्दिष्ट नहीं रही। निर्दिष्टता-पूर्ण निर्णयात्मक रचना के अर्थ में ‘निबन्ध’ शब्द का प्रयोग होता था, ऐसा संकेत जयन्त भट्ट कृत ‘न्याय मञ्जरी’ के इस कथन से उपलब्ध होता है—“निर्णीता स्व निबन्धे निपुणमिह मया षोडशैते पदार्थाः।” सुबन्धु कृत ‘वासवदत्ता’ में उल्लेख है—प्रत्यक्ष श्लेषमय प्रबन्ध विन्यास वैदग्ध्यनिधिनिबन्धम् चक्रे’ और ‘शिशुपाल वध’ में—‘अनुज्झितार्थ सम्बन्धः प्रबन्धो दुरूदाहारः।’ भाष्यों, टीकाओं और अनुटीकाओं की परम्परा को ‘निबन्ध’ का प्रेरणा-स्रोत मानना न तो तात्त्विक है और न वास्तविक। परम्परा के प्रति आस्थामूलक आग्रह का यह है प्रतिफलन मात्र। विभिन्न अभिधानों के अर्थ की सीमा निबन्ध सम्बन्धी दृष्टिकोण को स्पष्ट करती है और इसकी मर्यादा निर्दिष्ट करने में सहायक होगी।

यूरोपीय सम्पर्क ने उन सभी विधाओं के अनुक्रम को स्वीकृत करने के लिए बाध्य किया, जिनका उद्भव और विकास यूरोपीय चेतना के विकास-क्रम का परिचायक है। यह धारणा उचित नहीं कि ब्रिटेन ही यूरोप है और वह है यूरोपीय चेतना का संवाहक, केवल इतना ही तथ्य है कि यूरोपीय भाव-धारा इंग्लैंड की छलनी में छनकर भारत में आई और इंग्लैंड में नई ‘लेबुल्लें’ भी अच्छी बनती हैं। मॉन्तेन (१५३३-१५६२) और बेकन (१५६१-१६२६) के निबन्धों की पारस्परिक तुलना से स्पष्ट हो जाएगा कि फ्रांसीसी और अंग्रेजी भाव-धाराएँ भिन्न हैं और दोनों जातियों की प्रकृति, अंतः प्रवृत्ति में पर्याप्त अन्तर है। मॉन्तेन के निबन्ध निबन्ध, व्यक्तिता-पूर्ण, विषयि प्रधान और व्यक्तित्वपरक हैं और बेकन के निबन्ध, नियंत्रित, विचार-मूलक, विवेचनात्मक-वर्णनात्मक एवं विषय-प्रधान। एक में फ्रांस की रोमांचक वृत्ति

हिन्दी निबन्ध : प्रेरणा, प्रयास और उपलब्धि : ४७

हे तो दूसरे का साँचा है 'क्लासिकल'; एक में उन्मुक्त वैयक्तिक वैयक्तिकता है तो दूसरे में मर्यादित वैयक्तिकता; प्रथम में चेतना की स्वतन्त्र भंगिमा है तो द्वितीय में अनुल्लङ्घनीय संयम। मॉन्तेन द्वारा प्रवृत्ति रूप प्रयत्न को साध्य के रूप में स्वीकृत करता है क्योंकि फ्रेंच 'एसे' का अर्थ रहा—प्रयत्न करना। वेकन का 'एसे' लातीनी 'एक्जोअम' से व्युत्पन्न है, अतः अर्थ हुआ—मूल्यांकन, सिद्धान्तीकरण जिसकी परिणति सारगर्भित, निर्दिष्ट और ठोस विचारों के निर्दिष्टीकरण में हुई। अन्य विचारक इन दोनों की सीमाओं के मध्य अपना स्थान निर्धारित करते रहे, और उनके लक्षणों में लक्षण-निर्धारण का जो उपक्रम है, वह है वस्तुतः आत्म-सम्बन्ध-बोध का निदर्शन मात्र।

समस्त लक्षण अपूर्ण और अपर्याप्त होते हैं; और वे हैं मात्र दिशा-संकेतक, तथा वस्तु-निर्देश में प्रायः अक्षम। ऐसा प्रतीत होता है कि निबन्ध के लक्षण दिशा-निर्देशन के लिए भी पर्याप्त नहीं। मॉन्तेन की धारणा का तात्पर्य है कि निबन्धों का वह स्वयं विषय है, क्योंकि वही चित्रकार है और चित्रपट भी। ऐसी स्थिति में निबन्ध गीति-काव्य से भी अधिक गीति-काव्यात्मक होगा। 'विशृंखल भाव-तरंग' भी विधा-निर्धारण न कर लेखक की मनोदशा सूचित करती है। चिन्तन की निर्दिष्टता को प्रति-फलित करनेवाली वेकन की प्रणाली शास्त्र-निर्धारण को मान्यता देती है। 'निबन्ध में भाव-धारा तरल और मिश्र होती है, उसका प्रवाह कभी उपदेशात्मकता की ओर झुकता है और कभी वैयक्तिक आत्माभिव्यञ्जन की ओर', ऐसी मान्यता में स्पष्ट निर्दिष्टता का अभाव है, इसी प्रकार 'एसे' 'संलापमयी रचना के साथ वैसी रचना-विधि है जिसमें साहित्यिकता के साथ आनन्दमयता की अनिवार्य स्थिति है,' ऐसा मानने का उपक्रम प्रवृत्ति का संकेतक मात्र है। निबन्ध-रचना की एक पद्धति यदि मॉन्तेन, काउले और चाल्सं लैम्ब में विकसित हुई तो दूसरी परम्परा ने जॉनसन, कार्लाइल, अर्नल्ड, रस्किन, मेकॉले और इमर्सन में प्रौढ़ता पाई। शुक्ल के अनुसार, निबन्ध गद्य की कसौटी है और भाषा की पूर्ण शक्ति का विकास निबन्धों में ही सबसे अधिक सम्भव होता है। लेख यदि सामान्य रचना-विधि का सूचक है, तो प्रस्ताव और आशय बौद्धिक चेतना की परिणति। निबन्ध को कुछ 'ऐसे-ही' मानने का आग्रह इसकी एक विकास-दिशा का ही सूचक होगा।

हिन्दी के निबन्ध-साहित्य का इतिहास समाचार-पत्रों के इतिहास की अनु-क्रमिका है और आधुनिक काल की प्रारम्भिक स्थिति का दृष्टिकोण था—

विविध कला शिक्षा अमित, ज्ञान अनेक प्रकार।

सब भावन सो लें करहु, भावा माँहि प्रचार ॥

(हिन्दी लेखक, भारतेन्दु)

'उदन्त मार्तण्ड' (सन् १८३६ ई०) का घोषित उद्देश्य था—देश-विदेश के समाचारों को पछाँही जनता तक सम्प्रेषित करना, अतः लेख सूचना-मूलक रहे। पाठ्य पुस्तकों की निर्माण-पद्धति से भी इसका प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनों सम्बन्ध रहा। दोनों के उद्देश्य समान थे अर्थात् सामान्य चेतना-सम्पन्न और प्रबुद्धता की प्रक्रिया में संलग्न

व्यक्तियों को विविध विषयों से परिचित करना। खड़ी बोली का गद्य-साहित्य निर्माण की प्रारम्भिक स्थिति में था, और था पाठकों का चेतना-स्तर भी सामान्य, अतः उस काल का निबन्ध-साहित्य भी रहा परिचयमूलक विवरणात्मक एवं वर्णन-प्रधान। भारतेन्दु कालीन निबन्धों की स्थिति इससे स्पष्ट होती है। राजा शिवप्रसाद सितारे हिन्द (१८२३-१८६५ ई०), राजा लक्ष्मणसिंह (सन् १८२६-१८६६ ई०) समाचार पत्र और पाठ्य पुस्तक-निर्माण-प्रक्रिया से सम्बद्ध रहे, यद्यपि दोनों की रचना-शैली में महत्त्वपूर्ण अन्तर है। स्वामी दयानन्द सरस्वती (सन् १८२४-१८८३ ई०) ने आर्य-समाजी धारणाओं को प्रचारित-प्रसारित करने के लिए साधु खड़ी बोली का उपयोग किया एवं उनके द्वारा संस्थापित आर्य समाज ने धार्मिक एवं कुछ अंशों में राजनीतिक चेतना जागरित करने के लिए निबन्ध-साहित्य की विधा का उपयोग किया। यह निबन्ध-साहित्य उपयोगितामूलक, पुनः संस्कारवादी और उपदेश-प्रधान ही बन सका। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र द्वारा संस्थापित और सम्पादित 'हरिश्चन्द्र मैगज़ीन' (जो बाद में चलकर 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' हो गई) ने साहित्यिक विषयों को अपनी सीमा की परिधि में संश्लिष्ट किया और इस नव्य प्रवर्तन को अविस्मरणीय घटना के रूप में स्वीकृत कराने के लिए १८७३ ई० में हिन्दी को नए साँचे में ढलना माना। साहित्य-शास्त्रीय मान्यताओं और धारणाओं को विवेच्य मानने का यह उपक्रम महावीरप्रसाद द्विवेदी में प्रतिफलित हुआ, जिसका शास्त्रीय और सुगठित संस्कार शुक्ल ने विकसित किया। समाचार-पत्र नव्य-चेतना के संवाहक बने और इनमें से अनेक को राजकीय संरक्षण और प्रोत्साहन तथा शिक्षा विभागीय समर्थन प्राप्त था। खण्डन-मण्डन, सिद्धांत निरूपण एवं विषय-प्रतिपादन की प्रणाली को अतः स्पष्ट निर्दिष्टता मिली। इन रूपों के साथ निबन्ध-साहित्य की उस विधा का भी सूत्रपात हुआ जिसकी व्याप्ति का निर्धारण मॉन्तेन ने किया था। इस परम्परा में बालकृष्ण भट्ट (१८४४-१८६४), प्रतापनारायण मिश्र (-१८५६-१८६४) अम्बिकादत्त व्यास (१८५८-१९००) और बालमुकुन्द गुप्त (१८६५-१९०७ ई०) विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं जिनकी रचनाओं में निश्चल परिहास से लेकर कटूक्तिपूर्ण व्यंग्य, उल्लासपूर्ण उद्बेग से लेकर चिन्ताजन्य आग्रह प्रतिफलित है। उस काल का सामाजिक व्यक्तित्व व्यापक ममत्व-पूर्ण निजत्व से संवलित था, उत्साह उसका आधार था और विनोद मापदण्ड।

गद्य को कवियों की कसौटी माननेवाले आलोचक ने इस पर ध्यान नहीं दिया था कि अपनी समस्त व्याप्ति और सीमा के साथ जीवन ही गद्य की कसौटी है। जीवन, मात्र कला नहीं, जब साहित्य का मापदण्ड होगा, तब गद्य ही साहित्य का अनुमापक होगा। गद्य को काव्यात्मक गरिमा से मण्डित करने और उसके घरातल पर प्रतिष्ठित करने का आग्रह, तथा काव्य को गद्यात्मक समवर्तता देने का मोह समभूत होकर भी भिन्न रहते हैं, और कला-चेतना, इस स्थिति में, सोद्देश्यता के समक्ष प्रणिपात करती है। लेखक समसामयिकता बोध की औरस सन्तान है, मात्र दत्तक पुत्र नहीं। समसामयिकता बोध जीवन के अभावों की मात्र आकांक्षामूलक विवृति नहीं, वासनामूलक आकांक्षा का भव्य प्रदर्शन मात्र नहीं, बल्कि जिज्ञासा और संशय, निष्ठा

हिन्दी निबंध : प्रेरणा, प्रयास और उपलब्धि : ४६

और वितर्क, संकल्प और विकल्प की तात्त्विक अभिव्यक्ति है। गद्य के समानान्तर ही अन्तर्भूत अनास्थामूलक निष्ठा और निष्ठाहीन आस्था की द्वन्द्वात्मक स्थिति है। जिस काल में छन्द अभिव्यक्ति और सम्प्रेषण का माध्यम होगा, उस समय जीवन की छन्दात्मक-लयात्मकता से अधिक विशेषाधिकरण और जीवन-विधि की एकांगिता के दर्शन होंगे, चाहे उसमें विविधता के विस्तार का विराट् संयोजन ही क्यों न हुआ हो ! शास्त्राचार्य और नीतिकार, चिकित्सक और ज्योतिषी, कवि तथा कलाकार, एवं दार्शनिक तथा पण्डित जिस समय राज्याश्रित होंगे, उस समय कला-संस्कार सचेत रहेगा, एवं मिलेगा भव्यता, रोचकता, चमत्कार और वैदुष्य को निर्दिष्टता एवं सहज बोध से अधिक महत्त्व। जीवन को ही जीवन का मानदण्ड मानने का आग्रह आत्म-बोध को धर्म परिणति के रूप में स्वीकार करेगा और साहित्य की कसौटी उसकी पारदर्शिता होगी, न कि उसका चमत्कारपूर्ण अवबोध।

‘निबन्ध’ का वर्गीकरण विभिन्न आधारों पर किया जा सकता है और प्रत्येक आधार नव्य वर्गों का निर्धारक होगा। प्रक्रिया की दृष्टि से वर्णनात्मक, आख्यात्मक, व्याख्यात्मक एवं विचारात्मक कोटियाँ हैं तो विषय की दृष्टि से सामाजिक, राजनीतिक, वैज्ञानिक, धार्मिक, ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक। साहित्यिक निबन्ध समीक्षात्मक, विवेचनात्मक होते हैं और इनकी सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक कोटियाँ लौकिक हैं। उपलब्धि को यदि आधार मानें, तो कोटियाँ होंगी—विचारोत्तेजक, प्रबोधोत्तेजक एवं प्रचारात्मक। विषय और विषयी की चिन्ता के आधार पर विषय-मूलक एवं विषयप्रधान रचनाएँ उपलब्धि होंगी, इस प्रकार आत्मपरक, आत्माभिव्यञ्जन प्रधान, संश्लेषणात्मक और व्यंग्य-विनोद-मूलक निबन्ध-कोटियाँ निर्धारित होंगी। व्यक्तित्वाभिव्यञ्जक रचनाओं में काव्यत्व का मोह परिस्फुटित रहता है और उसका प्रयोग काव्य की परिधि में होगा। गीति-काव्य की गद्यात्मक परिणति गद्य-काव्य की प्रतीति है, यद्यपि दोनों में अपने निजत्व के दर्शन किये गए हैं। भाव-प्रधान कल्पना-संचित्रित रचनाएँ इस कला की संगति हैं। यथार्थवादिता के आग्रह के कारण अनुभवको विशेष महत्त्व दिया जाने लगा और अनुभूति को, संवेग को अनुभव को शिला से टकराने का श्रेय मिला। रेखाचित्र, पोर्ट्रेट, सबीह आदि इस भंगिमा के अन्तर्गत अभियान हैं; चित्र-कला से उधार लिया गया यह शब्द, उस विधा को संकेतित करता है जिसकी सांकेतिकता ही मूल है। कथा-साहित्य की यह निबन्धात्मक परिणति है, जिसके आधार-स्वरूप व्यक्ति और व्यक्तित्व की आत्म-क्षेपक विवृत्ति रहती है। चित्रात्मक से अधिक सांकेतिक है, विश्लेषणात्मक से अधिक संश्लेषणात्मक और लयात्मक से अधिक प्रभावान्वित है। संस्मरणात्मक रेखाचित्र के चित्र यथार्थ-रूपान्तरों ने ‘स्केच’ का रूप धारण किया एवं सूचनात्मक विवरणों के स्थान में विधा आई जिसे उपयुक्त अभिधान के स्थान में सूचनिका कहने की प्रथा चल पड़ी और जो फ्रांसीसी ‘रिपोतजि’ का हिन्दी रूपान्तर है। ‘आकाशवाणी’ ने इस विधा को अधिक सबल और सतेज किया। कथात्मक अथवा आख्यात्मक निबन्धों की एक कोटि जिसमें कलाकार कथ्य को कथा के ‘नील माठ’ में डुबोकर प्रकट करता है और इस

विधि ने संलापात्मक कोटि को रूपायित किया। पत्रात्मक निबन्ध किसी भी प्रणाली को ग्रहण करने में स्वतन्त्र हैं। औपचारिकता हीन, निबन्ध विधा में मनोरंजन एवं विनोद की चासनी मिलाकर जो निबन्ध रचे जाते हैं उनमें उन्मुक्त मन की उड़ान और 'भटकन' मिलती है, अनियन्त्रित नियंत्रणपूर्ण मानसिक उद्वेग इसकी आधार-शिला है। जीवन-सम्बन्धी दृष्टिकोण, वस्तु के साथ आत्म-सम्बन्ध निर्धारण और व्यक्तित्व निर्मिति के कारण निबन्ध-साहित्य में वैविध्य आया और समाचार-पत्रों के साथ आकाश-वाणी ने इनके विकास को गति दी। स्वर-संयोजन की अनिवार्यता ने एक नव्य-लयात्मक संस्कार दिया और निबन्धों में नाद-व्यञ्जना की अभिनव प्रतिष्ठा हुई।

निबन्ध-साहित्य की स्वातंत्र्योत्तरोपलब्धि की विवेचना के लिए जिस व्यापक सन्दर्भ का आकलन अपेक्षित है, उसे एक निबन्ध की सीमा में समेटना किसी कुशल नट की कला की अपेक्षा रखता है और ऐसे दुस्साहस का आग्रह मैं नहीं पालता। कुछ निर्देशक चिह्न ही मैं स्थिर करना चाहूँगा; निबन्ध-लेखकों की निराशा ही मेरा अनुवेदन है।

समीक्षा का क्षेत्र शुक्लाक्रान्त है^१ और उस खेव के आलोचक शुक्ल को अमात्य करने के लिए भी शुक्ल की दुहाई देते हैं। हजारीप्रसाद द्विवेदी, नगेन्द्र और नन्ददुलारे वाजपेयी ने साहित्यिक अर्थात् समीक्षात्मक निबन्ध लिखे। द्विवेदी शुक्ल के पूरक हैं, प्रतिद्वंद्वी नहीं; शुक्ल जहाँ त्रस्त करते हैं, वहाँ द्विवेदी आश्वस्त। शुक्ल मर्मभेदी हैं और द्विवेदी परम्परा-निष्ठ संदर्भमूलक; शुक्ल भावान्वेषी रहे और द्विवेदी हैं भाव-तरल, रस-विह्वल। नगेन्द्र में ऐतिहासिक विवृत्ति का अनुसन्धानात्मक उन्मेष है और वाजपेयी में आन्दोलन-क्षम परिक्रमा। वाजपेयी की संवेदना, यदि इसका प्रयोग किया जा सकता हो, छायावादी अतः अनिर्दिष्ट है। काव्य-साहित्य वादात्मक आन्दोलनों में जिस समय संकुचित होता है, उस समय समीक्षा-साहित्य प्रतिपादक अथमा प्रतिगामी। यथार्थवादी संश्लेष ने जहाँ शिवदानसिंह चौहान, नामवरसिंह, रामविलास शर्मा, अमृतराय प्रभृति को प्रगति दी वहाँ उनकी व्याप्ति को मर्यादित भी किया। प्रगति-शीलता और प्रगतिमूलकता का संदर्भ इन्हें वर्गीकृत करने में समर्थ न हो सका। 'हंस' के प्रकाशन का स्थगन इस आन्दोलन एवं तत्प्रभावित निबन्ध-साहित्य के निर्माण में बाधक हुआ, यद्यपि ये लेखक प्रायः सजग और सक्रिय रहे। इस आन्दोलन ने प्राचीन की नव्य मान्यतामूलक व्याख्या की और नव्य रचनाओं के लिए सिद्धान्तों का निरूपक हुआ। इस दिशा में 'संकेत' के प्रकाशन को अनिवार्य स्तम्भ मानना होगा। राजनीति और साहित्य की एकरसता सिद्धि के प्रयाससिद्ध साफल्य की कामना जहाँ भगवतशरण उणध्याय के 'प्रगति का ऐरावत' में है वहाँ ज्ञातीय एकछा को कायम रखने की चिन्ता और कामना रामविलास शर्मा की 'संस्कृति और जातीयता' में है। नामवर की दृष्टि

१. हिन्दी साहित्य के जो इतिहास इधर प्रकाशित हुए हैं, उनमें भी निबन्धात्मकता की प्रक्रिया ही परिलक्षित होती है। डॉ० धीरेन्द्र वर्मा द्वारा सम्पादित 'हिन्दी साहित्य' ऐतिहासिक पद्धति पर लिखे गए विभिन्न साहित्य-विषयक निबन्धों का विशाल संकलन है। पद्धति ऐतिहासिक है किन्तु रचना निबन्धात्मक।

में अनुभूति की गहराई की मापक है उसकी व्यापकता अर्थात् गहराई और व्यापकता समानधर्मा पर्याय हैं। साहित्यिक मान-मूल्यों की चिन्ता शिवदानसिंह चौहान को इस दल से कुछ भिन्न कर देती है। सावधि के बोध के साथ कलात्मक, संयोजन की अनिवार्यता का प्रश्न प्रगतिशील साहित्य का अनुमापक हुआ। हंस (साहित्य संकलन, अवतार, १९५७) में 'साहित्यकार की आस्था' के अन्तर्गत संकलित चौहान, शर्मा, नामवर, अमृतराय, बालकृष्ण राव, महादेवी, पंत, हजारीप्रसाद द्विवेदी और राहुल सांकृत्यायन के लघु निबन्ध सिद्धान्त-निरूपक से अधिक आत्म-सम्बन्ध-विवृतियाँ हैं।

'तार सप्तक' का प्रकाशन जिस प्रकार ऐतिहासिक महत्त्व रखता है, उसी प्रकार 'प्रतीक' का प्रकाशन भी क्योंकि इससे न केवल प्रयोगवाद के साहित्यिक आन्दोलन का प्रवर्तन ही हुआ बल्कि हुआ एक नए वाद-विवाद का सूत्रपात। इस आन्दोलन में भाग लेनेवाली पत्रिकाएँ हुई—कृति, कल्पना, नई कविता, निकष, आधार, ज्ञानोदय, राष्ट्रवाणी, आलोचना, काव्य-धारा, समवेत और धर्मयुग। यह भी स्मरण रखना चाहिए कि प्रयोगवाद प्रयोगशील होकर 'नई कविता' में रूपान्तरित होता गया। 'आत्मने पद' में अज्ञेय ने इस अभिधान के प्रयोग का साभिमान उल्लेख किया है। साधारणीकरण के प्रश्न को लेकर एक मनोरंजक विवाद खड़ा किया नन्ददुलारे वाजपेयी ने और इसी विवाद में भाग लेनेवालों ने शास्त्र की अशास्त्रीय व्याख्या में संकोच नहीं किया। 'तार सप्तक' के वक्तव्य आत्म-सिद्धान्त-निरूपक स्थिति के संयोजक हैं। इस आन्दोलन को कुछ वैसा ही विरोध सहन करना पड़ा, जिसके दर्शन छायावाद के प्रवर्तन-काल में हुए थे और समर्थन में नई कविता के कवियों ने अपने परशु का आस्फालन आवश्यक समझा। रामस्वरूप चतुर्वेदी, लक्ष्मीकान्त वर्मा, जगदीश गुप्त, धर्मवीर भारती, रघुवंश, श्रीकान्त वर्मा, शिवकुमार मिश्र आदि इसमें उल्लेख्य माने गए हैं। अनेक निबन्धकारों में आत्म-सम्बोधन की स्थिति है और नव यन्त्र-युग की यान्त्रिकता से मुक्त होने का प्रयास भी किन्तु, आत्मसात् करने की वह विपुल क्षमता नहीं जो शुक्ल अथवा अज्ञेय में है। संश्लेषण का अभाव नई शैली की सीमा बन गया।

राजनीतिक और सामाजिक समस्याओं के सम्बन्ध में जो निबन्ध अथवा लेख प्रकाशित हो रहे हैं उनमें अधिकांश दैनिक और साप्ताहिक-पत्रों की सामग्री है। परिणामस्वरूप जो गाम्भीर्य, विवेचनात्मक दृढ़ता और निर्दिष्टता अपेक्षित है उसका प्रायः अभाव ही मिलता है। दार्शनिक और मनोवैज्ञानिक निबन्धों की स्थिति भी समान है। अर्थशास्त्र, समाज-शास्त्र, नृ-तत्त्व-विज्ञान-सम्बन्धी निबन्धों की संख्या ही कम नहीं, बल्कि उनके घरातल भी सामान्य हैं। इन विषयों के विद्वानों का मोह हिन्दी के माध्यम से कार्य करने का बाधक है, क्योंकि अंग्रेजी को ख्याति का आधार मानने का आग्रह स्वीकृत है। काशी नागरी प्रचारिणी पत्रिका ने पुरातत्त्व, इतिहास, समाज-शास्त्र आदि को हिन्दी के माध्यम से प्रस्तुत करने का जो स्तुत्य प्रयास प्रारम्भ में किया था, उसका निर्वह सम्प्रति नहीं हो रहा है। मान्य घरातल की पत्रिकाओं के अभाव में विद्वानों को माध्यम नहीं मिल पाता और विकास की यह दिशा कुण्ठित-सी

रही। वैज्ञानिक साहित्य के निबन्धों का अभाव तो संकोच में डालनेवाला है। वैज्ञानिक चेतना के व्यापक प्रभाव-सम्बन्धी निबन्ध मेरे देखने में प्रायः नहीं आए। 'ज्ञानोदय', 'कल्पना' और इन्हीं के प्रकार की पत्रिकाओं में यदा-कदा एक-आध निबन्ध प्रकाशित हो जाते हैं। क्या यह सम्भव नहीं कि हिन्दी के माध्यम से लिखने की क्षमता रखने वाले वैज्ञानिक हिन्दी की समृद्धि में योग देने की सामर्थ्य प्रकट करें? हिन्दी की संस्थाओं की राजनीति यदि आत्म-मोह त्यागकर ऐसी पत्रिकाओं के प्रकाशन का प्रारम्भ करे, जिनके माध्यम से शास्त्रीय विषयों की विवेचना सम्भव हो सके तो हिन्दी निबन्ध-साहित्य का कल्याण हो। मनोविज्ञान का जो उपयोग निबन्धों में होता है उसमें लेखकों का अपरिपक्व ज्ञान ही परिलक्षित होता है।^१

सांस्कृतिक सन्दर्भ-गूढ़ता, ऐतिहासिक अनुबन्धता और अतीत के गुरु गहवर को आलोकित करने की सजग कल्पना भगवतशरण उपाध्याय के निबन्धों में उपलब्ध है। 'उर्वशी' (दिनकर कृत) की आलोचना में उपाध्याय ने इस ऐतिहासिक चेतना का उपयोग किया और संस्कृत साहित्य के परिचय की संदर्भता का परिचय दिया। ऐसे तो, उपाध्याय ने स्केच और रिपोर्टाज भी लिखे, जिनमें आत्मीयता और परिकल्पनात्मक-चेतना की अभिव्यक्ति है। सांस्कृतिक चेतना की काव्यात्मक परिणति हजारीप्रसाद द्विवेदी के वैयक्तिक निबन्धों में उपलब्ध है। इनके निबन्धों की कोटियों और वर्गों का निर्धारण सम्भव तो है किन्तु, सरल नहीं क्योंकि सभी पद्धतियों का संश्लेष इनमें मिलेगा। एक साथ ही इनके निबन्ध विचारात्मक, आलोचनात्मक, भावात्मक, वर्णनात्मक, विवरणात्मक और व्यक्तित्वाभिव्यञ्जक भी हैं। द्विवेदी का उन्मुक्त व्यक्तित्व, सहज आत्म-बोध और सचेत कलाकार विशिष्ट प्रकार का संश्लेषण उपस्थित करता है। सांस्कृतिक-बोध के अन्य लेखक हैं—वासुदेव शरण अग्रवाल। आधुनिक समस्याओं के ऐतिहासिक आधारान्वेषण की जो प्रक्रिया प्रसाद ने प्रवर्तित की उसका ही सामान्य और घरातलीय संस्पर्श अग्रवाल में है। अग्रवाल व्याख्याता हैं, विवरण को विवेचनात्मक आवरण देने के आग्रही। महापण्डित राहुल सांकृत्यायन के ऐतिहासिक-पुरातत्त्व-सम्बन्धी परिचयात्मक-विवरणात्मक निबन्धों में अन्वेषण के सूत्र थे। उनका जैन-रूपान्तर मुनि कान्तिसागर की 'खोज की पगडंडियाँ' में है, जिन्होंने इतिहास के जैन-सूत्रों को अनावृत करने का प्रयास किया। समसामयिक इतिहास लेखकों के लिए चिन्तनीय रहा जिसमें राजनीतिक आग्रह प्रकट है।^२ सम्पूर्णानन्द

१. उत्तर प्रदेश सरकार की हिन्दी समिति ने विभिन्न ज्ञान-विज्ञान-सम्बन्धी कई महत्त्वपूर्ण पुस्तकें प्रकाशित की हैं। यद्यपि उन्हें निबन्ध की कोटि में परिगणित नहीं किया जा सकता किन्तु, उनकी रचना निबन्धात्मक ही है। 'खाद और उर्वरक' (फूलदेव सहाय वर्मा), 'तारों की दुनिया' (निहाल करण सेठी), 'जीव जगत' (सुरेश सिंह) आदि ग्रन्थ निबन्धात्मक ही माने जायेंगे।
२. भारतीय संस्कृति के सम्बन्ध में इधर अनेक ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं। 'संस्कृति के चार अध्याय' (दिनकर) की रचना-पद्धति निबन्धात्मक है और दिनकर के स्वतन्त्र रूप में लिखे गए निबन्ध संकलित-से हो गए हैं। 'रवीन्द्र' और 'इकबाल' सम्बन्धी विवेचन इस ग्रन्थ की निबन्धात्मक परिणति की सूचना देते हैं। मंगलदेव शास्त्री कृत 'भारतीय संस्कृति' (वैदिक धारा) तो निबन्धों का संकलन है ही।

हिन्दी निबंध : प्रेरणा, प्रयास और उपलब्धि : ५३

कांग्रेसी और समाजवादी हैं और उनके 'भारत और समाजवाद' (ज्ञानोदय) में भारतीय समाजवाद एवं समाजवाद की भारतीय व्याख्या का व्याख्यान है। साहित्य और कला के चिन्तन-क्षेत्र में विभिन्न मान्यताओं की सन्दर्भता ने कुछ निबन्ध दिए, जिसमें उल्लेख्य हैं श्यामसुंदर मिश्र लिखित 'अज्ञेय के काव्य में अस्तित्ववाद' तथा प्रभाकर माचवे लिखित 'साहित्य, सेक्स और स्पष्टवादिता'। कला की मूल प्रेरणा के रूप में 'काम नहीं सुरक्षा' के महत्त्व को प्रतिष्ठित करने वाले रामचन्द्र शुक्ल ने फ्रायडोत्तर मनोविज्ञान के सन्दर्भ में काव्य-प्रेरणा का व्याख्यान किया है। साहित्य की वैयक्तिक निबन्धों की पद्धति में विवेचना की विवेकी राय ने 'शौर्य की मर्महत घाटियाँ और कवि' में तथा विद्यानिवास मिश्र ने 'भ्रमरानन्द का आंचलिक वक्तव्य' में।

संस्मरणात्मक रेखा-चित्र में व्यक्ति-विशेष को अपने व्यक्तित्व के 'प्रिज्म' के माध्यम से देखने की चेष्टा है : संस्मरणीय व्यक्तियों के महत्त्व आकलन से अधिक जब पूजन का भाव जग जाता है तो लेखक ही संस्मरणीय हो उठेगा। विविध रंग-चित्रों में जीवन के क्षणों को तूलित करने की चेष्टा बनारसीदास चतुर्वेदी कृत 'रेखा चित्रों' में उपलब्ध है। माखनलाल चतुर्वेदी ने भी 'समय के पाँव' पर माथा टेका और व्यक्ति-विशेष के प्रति अर्पित आत्म-बोध को शिष्यमयीवाणी में अभिचित्रित किया। इन संस्मरणात्मक वृत्तों में कुछ उद्धेलित उत्साह, आन्तरिक संभ्रम, सहमा संकोच और लोक-धारणा की स्वीकृति की आतुरता है। 'मेरी कौन सुनेगा' में महावीर त्यागी के कैमरे को समय-असमय का ध्यान नहीं रहा और उसने अनजाने क्षणों को बाँध रखा है। आत्मीय विनोद, उन्मुक्त आत्म-लघुता-बोध, विनोद का उत्साहमूलक आग्रह, आस्था की बाध्यता इनके निबन्धों में हैं, काश ! राजनीतिक नेताओं में ऐसी साहित्यिक रुचि होती; इनके संस्मरण अधिक आत्मीय और निकटवर्ती हैं, अपने-आपको अनुबन्धित करने के अनावश्यक मोह से मुक्त त्यागी के संस्मरण अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। 'दिनकर' के नेहरू-सम्बन्धी संस्मरण संस्मरणात्मक से अधिक विवृत्तिमूलक हो गए और दिनकर के स्व-सम्मोहन को अभिव्यक्ति मिल गई। जगदीशचन्द्र माथुर की 'दस तसवीरों' की रेखाएँ स्पष्टतया उभरी हुई हैं और चित्रण में गहरी बारीकी है। माथुर ने लघु-चित्रण-शैली को भित्ति-चित्रात्मक व्यापकता देने में सफलता प्राप्त की है। नाटकीयता के परिज्ञान ने इन संस्मरणात्मक निबन्धों को अधिक नाटकीय अतः प्रभावोत्पादक बना दिया है। गद्य और पद्य इन दोनों भाई-बहनों (?) में से किसी एक को बड़ा अथवा किसी दूसरे को छोटा न कर पानेवाले माखनलाल चतुर्वेदी के 'अमीर इरादे, गरीब इरादे' में आत्मीयता-बोध के साथ काव्यात्मक भावुकता के संश्लेष मिलते हैं। इनकी शैली भाषणात्मक, कहीं-कहीं स्वगत-कथन सदृश है। काव्यात्मक आग्रह ने संलापात्मकता को किन्तु, परिवद्ध ही किया है। लयात्मक गद्य की तरंगमयता चतुर्वेदी के गद्य-साहित्य का मापदण्ड है, और इसकी सजग ध्वनि नव्य गद्यात्मक नाद का सृजन करती है।

सामान्य को विशेषीकृत कर संस्मरणात्मक रेखा-चित्र अंकित करने की जो क्षमता बेनीपुरी की 'माटी की मूर्तों' में प्रकट हुई थी, उसके दर्शन इस कोटि के

५४ : आलोचना

निबन्धों में नहीं होते । ऐसे निबन्धों में सहज-बोध की सहजता उपलब्ध नहीं होती, जो बेनीपुरी की क्षमता है । महादेवी के ऐसे संस्मरणात्मक रेखा-चित्रों में संवेदनशीलता की करुणाद्रष्टा है, उसकी अनुकृति सम्भव नहीं हुई । ऐसे निबन्धों में जहाँ सैद्धान्तिक मोह जगेगा, वहाँ रेखा-चित्र ठूँठ का चित्र हो जाएगा ।

‘मै’-त्व का विस्फोट यदि नई कविता है, तो वैयक्तिक कहा जानेवाला निबन्ध-प्रकार उसका गद्य-काव्य । रोमांटिसिज्म का यह नव्य अभियान कहा जा सकता है क्योंकि लघुता को मोहक आवरण देने एवं सामान्य को अति विशिष्ट बनाने का आग्रह इस विधा में उपलब्ध है । यथार्थ को भावुकता-भावात्मकता नहीं, एवं अवबोध को रूपात्मक आवेश की चासनी में डुबोकर परोसने का उपक्रम इस कोटि के निबन्धों में होता है । ‘क्षण बोलें, कण मुसकायें’ इस विधा की सूक्ति मानी जा सकती है और इसका सैद्धान्तिक निरूपण है—‘अनुभव की सूक्ष्म बारीकी (?) को कल्पना की रंगीनी में आवृत कर शैली में द्रुतशीलता (?) भरने की आकांक्षा । कन्हैयालाल मिश्र ‘प्रभाकर’ ने भावुकता और यथार्थ में वैवाहिक विधि सम्पन्न करनी चाही है और इस प्रकार माटी हो गई सोना की यथार्थता सिद्ध की जा सकती है । ‘प्रभाकर’ ने ललित रमणीय निबन्ध, रोचक संस्मरण, व्यञ्जक रेखा-चित्र आदि की रचना की । ऐसा प्रतीत होता है कि यथार्थ की भावुकतामूलक परिणति यथार्थ को कल्पित एवं कल्पित को यथार्थ बनाने के लिए आतुर है । इसी प्रकार ‘छितवन की छाँह’ में ‘कदम्ब की फूली डार’ ले ‘तुम चन्दन हूँ हम पानी’ की टेर लगानेवाले विद्यानिवास मिश्र का बनजारा मन आँगन का पंछी हो गया है । इनके निबन्धों में आरोपित रोचकता के साथ रोचक आरोप, कथात्मक चित्रों में विपुल बिम्बता, एवं विवेचन का तथ्यात्मक आग्रह मिलेगा । शब्द-क्रीड़ा को अभिनव सम्मोहन देने की चिन्ता नवीन अर्थ-बोध देने की चेष्टा करेगी जिसकी परिणति हुई सन्दर्भात्मक अनुबन्धता के रूप में ।

कथात्मक संदर्भ के आग्रह से संवलित रमणीय निबन्धों के संग्रह ‘शिखरों के सेतु’ में शिवप्रसादसिंह ने क्वचित् वैचारिक पद्धति से यथार्थ की वाध्यता को सह-भुक्ति की कामना से मण्डित कर, अभाव की कसमसाहट को निर्बन्ध चिन्तन से सजग कर अभिव्यक्त किया है । क्षणों को रूपायित करने के उपक्रम में क्षण अपनी क्षणिकता खो बैठे और उनमें एक विशेष प्रकार की गतिमूलक अगति आ गई ।

त्रिशंकु की चिन्ता से ग्रस्त सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन ने कुट्टिचातन का छद्मवेश धारण कर ‘सब रंग’ के निबन्ध लिखे । ‘नदी के द्वीप’ की-सी स्थिति कुट्टिचातन की है, अर्थात् वह प्रवाह-निमित्त होकर भी प्रवाहित नहीं; मिट्टी का होकर भी पृथ्वी से सम्पृक्त नहीं । इन अन्तरंग निबन्धों में अतः आन्तरिक एकालाप, अचेतन चेतनाप्रवाह की अन्तरंगता, व्यञ्जक तथा वक्रतापूर्ण रोचक शैली उपलब्ध होती है । अज्ञेय की चेतना बौद्धिक, आग्रह भावात्मक एवं भावुकता कल्पनामूलक है । तथ्य को सत्य में परिणत करने और यथार्थ को अनुभूतिजन्य संदर्भ देने की विलक्षण प्रतिभा अज्ञेय में है । अनुप्रास की नादात्मक व्यञ्जना को ध्वन्यात्मक बिम्बता देने का आग्रह अज्ञेय में मिलेगा । अज्ञेय में एकाकीपन, आत्म-चिन्ता (जो यदा-कदा आत्म-रति की

हिन्दी निबंध : प्रेरणा, प्रयास और उपलब्धि : ५५

सीमा में सहज ही प्रवेश पा जाती है), स्मृति पुनरावर्तन और सांकेतिक चित्रण का प्राचुर्य है, आत्म-मोह-ग्रस्त वैयक्तिकता वास्तविकता से अधिक औपचारिक हो जाती है जिसकी व्यक्तिनिष्ठता में तटस्थता का अभाव-सा मिलेगा। दूसरों से अपनी भिन्नता की सिद्धि के लिए अकेलापन आवश्यक साधन है और इसके उपयोग में अज्ञेय हुए कुशल। आत्म-मोह की पीड़ा से सम्पृक्त विश्वनाथ मुखर्जी के 'बना रहे बनारस' में कुछ निकट से लिये गए आत्मीय चित्र हैं, जो केवल व्यक्तिगत उपयोग के लिए ही नहीं रहे।

संस्मरण, रेखा-चित्र, सवीह, कथात्मक निबन्ध, वार्तामूलक संलाप-संभव वैयक्तिक निबन्ध, आन्तरिक एकालाप, स्वगत-भाषण आदि विधियों और रूपों का एकनिष्ठ और निर्दिष्ट उपयोग उपलब्ध नहीं, इनके मिश्रण की विविध शैलियाँ और भंगिमाएँ अवश्य उपलब्ध हैं। भगवतशरण उपाध्याय के 'ठूठा आम' में सूनेपन की चिन्ता और शंका का मोहक आवरण है। इसी प्रकार उपेन्द्रनाथ 'अश्क' के 'रेखाएँ और चित्र' में संस्मरण, रिपोर्ताज, निबन्ध आदि हैं जिनमें विविधता की रंगीनी और भाषा का चुलबुलापन है।

स्वस्थ परिहास जीवन की सप्राणता का प्रमाण है और आत्म-परिहास की सामर्थ्य स्वस्थ मानसिक विकास का प्रतिफलन। 'मेरी असफलताएँ' में गुलाब राय इस दृष्टि से पूर्ण सफल हो सके हैं। आख्यानगर्भ सन्दर्भ के माध्यम से संकेतात्मक परिहास व्यक्तित्व का व्यञ्जक हो उठता है। अपनी गम्भीरता से संव्रत लेखक का यह विनोदात्मक आत्माभिव्यञ्जन उसकी उस चेतना की परिणति है जिसके कारण अपनी गम्भीर मुद्रा स्वयं खलने लगती है और वह 'आफ़त का मारा दाशनिक' अपनी 'मधुमेही आत्म-कथा' में 'कुछ उथले कुछ गहरे' लिख जाता है।

गम्भीरता के विक्षेप को नाटकीय भंगिमा, संलाप की गति और कथात्मक रोचकता एवं सरसता देने की अभिनव विधा 'एक आलोचक की डायरी' में है। शरत् देवड़ा ने 'धर्म युग' में ऐसी आलोचनाओं, पुस्तकों की परिचयात्मक आलोचनाओं का क्रम चलाया। आलोचक की गम्भीर मुद्रा से संव्रत पाठक की दृष्टि में ऐसा प्रयोग व्यञ्जक सिद्ध हुआ। वस्तुतः समाचार पत्रों में प्रकाशित आलोचनाएँ पाठकों से अधिक लेखकों और उनके मित्रों तक ही सीमित रह जाती थीं। देवड़ा ने आलोचना को गरिष्ठ के स्थान में सुपाच्य बनाने का उपक्रम किया। हजारीप्रसाद द्विवेदी ने इसके प्रारम्भिक रूप का आभास दिया था किन्तु इस पद्धति को कथा के घरातल पर प्रतिष्ठित करने की आकांक्षा आत्म-प्रक्षेपण की कला का नव्य विन्यास है। कहानी, नयी और पुरानी : एक संस्मरणात्मक पर्यवेक्षण में इलाचन्द्र जोशी ने व्यक्तिव्यञ्जकत्व के माध्यम से मान्यताओं का स्पष्टीकरण किया।

सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक व्यवस्था पर गहरे आघात की उत्कण्ठा 'बकलम खुद' में बोलती है जिसमें नामवरसिंह ने वैयक्तिकता को निर्वैयक्तिकता के संचि में ढालने की चेष्ट की है। इनके निबन्धों में सचेष्ट लापरवाही, गपशप में सुक-राती संयोजन, गुदगुदी में तिलमिलाहट की मिलावट मिलेगी। यूँ तो, 'बकलम खुद'

की संज्ञा यह सूचित करती है कि यह मुहर है और हजारीप्रसाद द्विवेदी की पद्धति में नए विषयों और अपनी विचार-धारा के अनुरूप निरूपण का प्रवेश। साधारणतया बेकाम की बात से प्रारम्भ कर गुरु-गम्भीर विषय को कंठ के नीचे उतरने योग्य बनाने की कला ही वैयक्तिक निबन्धों की प्राण है, इस कला के आचार्य हैं द्विवेदी। द्विवेदी के उन्मुक्त हास्य की मुद्रा को लापरवाही, रोचक और रमणीय संलाप की क्षमता को सुकराती भंगिमा देकर लेखक 'बकलम खुद' में उतरता है। राम विलास शर्मा के 'विराम चिह्न' और प्रभाकर माचवे की 'खरगोश की सींग' से भिन्न कृष्णदेव प्रसाद बेठव का 'हुक्का-पानी' है जिसके चलने की चलनमें सामाजिकता का मूल्य बोध है। बेठवजी के व्यंग्य कभी-कभी रीतिकाल के कवियों के स्मरण दिलाते हैं जिनमें हास्य की अपेक्षा हँसोड़पन है, व्यंग्य के स्थान में चोट है और परिहास के स्थान में कचोट है; रुचि-संस्कार की भिन्नता के कारण सम्भावनाओं की सम्भावित दिशा परिवर्तित हो गई।

यात्राओं के रोचक संस्मरणों में 'यादें यूरोप की' का सहज स्मरण हो जाता है जिनमें धर्मवीर भारती ने आत्मीयता का परिचय और परिचयात्मक आत्मीयता का संयोजन किया। इस विद्या को लोक-प्रिय करने का श्रेय 'ज्ञानोदय' एवं 'भारतीय ज्ञानपीठ' को मिलना चाहिए। सृजनात्मक गद्य के त्रैमासिक प्रकाशन 'विधा' ने भी 'विधा-विविधा' के अन्तर्गत 'डायरी', 'पत्र', संस्मरण, रिपोर्ताज, ललित और रमणीय निबन्ध की विविध विधाओं को स्फूर्ति और प्रेरणा दी। 'रेणु' और इलाचन्द्र जोशी की कुछ बहुचर्चित रचनाएँ इसके माध्यम से प्रकाश में आईं। 'आधार', 'कृति', 'वातायन' को विस्मृत करना भूल है। वालकृष्ण 'राव' सम्पादित 'माध्यम' निबन्ध-विधा की कल्पित-अकल्पित विधाओं के प्रकाशन में योग दे रहा है, और साहित्य की नव्य चेतना इन माध्यमों से आ रही है। कुछ ऐसा प्रतीत होने लगा है कि छायावाद के आन्दोलन के पश्चात् नव सौंदर्यवाद ने अपने मूल्यों और मान्यताओं के लिए माध्यम उपलब्ध कर लिया है।

स्वातंत्र्योत्तर साहित्य के अन्तरंग में भारतीय स्वतंत्रता की उपलब्धियाँ और विफलताएँ हैं। स्वतंत्रता ने उन आकांक्षाओं, आशाओं और स्वप्नों को रूपायित करने में अपनी अक्षमता प्रकट की जिनकी सजग कल्पना ने उल्लास और सप्राण चेतना दी थी। भारतीय आत्मा उद्वेलित हुई और साहित्यकार की आस्था विचलित होने लगी; आशा का उन्माद श्लथ-शिथिल हुआ। मूल्य-चेतना की व्यापक परिणति दैन्य के आक्रोश में हुई। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् प्रशासकीय नियंत्रण ने परोक्ष सत्तात्मक रूप ग्रहण किया। आकाशवाणी ने जहाँ प्रचार और प्रसार को व्यापकता दी, वहाँ उसकी सीमाओं ने व्याप्ति मर्यादित की। साहित्यकारों का संरक्षण नव्य चारण-युग की आशंका उत्पन्न करने लगा। आधुनिककाल के प्रारम्भ में जो स्वच्छन्द उल्लास, जो मादक उन्मुक्तता और निश्छल उन्मुक्तता थी, उनका चिन्तासंकुल अभाव स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् दीख पड़ने लगा। अतीत का मोहक वातावरण वर्तमान के अभाव-त्मक परिवेश में विच्छिन्न हो उठा। यन्त्र-युग का वैज्ञानिक संस्कार हमें बौद्धिक चेतना देने में असमर्थ और पंगु रहा, मात्र-यांत्रिकता के पाश में हम आबद्ध होते गए। वर्तमान

हिन्दी निबंध : प्रेरणा, प्रयास और उपलब्धि : ५७

की आशंका, अनिश्चितता और यांत्रिकता के कारण भविष्य की आशा हमें आस्थावान् न कर सकी। भविष्य की छायाभास आशा वर्तमान को गिरवी न रख सकी और जड़-यांत्रिकता में हमारी प्रगति-कामना योजना-वद्ध अतः शिथिल-सी हो गई। समाजानु-बन्धित व्यक्ति में वैयक्तिकता का सहज बोध सचेत न हो सका। स्वतन्त्रता नग्नता का उन्मेष न होकर विगत का विस्तार मात्र सिद्ध हुई। साहित्यकार स्वतन्त्र-चेता न होकर मसिजीवी रह गया। व्यक्तिगत रूप से मैं इस स्थिति से हताश नहीं। किन्तु, सम्भावनाओं के पूर्ण प्रतिफलन की आशा-किरण से उदीप्त भी नहीं। द्विधा-ग्रस्त भारतीय आत्मा का अभिप्रेक निष्ठा के मंगल-घट से नहीं हो सका और हो उठा हमारा समसामयिकता-बोध हमारी कुंठा का प्राणायाम। आन्दोलनों में स्पंदित होने-वाला जीवन-दर्शन आंदोलित न हो सका और समस्याएँ समाधान की चिन्ता-से चिच्छिन्न समस्याएँ रह गईं; अभाव चेतना को सजग करने के स्थान में अभावात्मक मात्र रह गए। उल्लास आरोपित है, सजगता प्रक्षेपित है, वैयक्तिकता संकुचित और वैयक्तिकताहीन है, व्यक्तित्व सहमा हुआ है, आत्म-बोध मर्यादित है, उन्मुक्त नहीं और चेतना हो गई है आवृत्त-वद्ध। साहित्यिक प्रगति का अवरोध भारतीय जीवन के गतिरोध का आकुल प्रतीक है।

हिन्दी का एक दुर्भाग्यपूर्ण दुर्योग आधुनिक काल के प्रारम्भ में ही घटित हो गया। साहित्यिक कण्ठ फूटने के पूर्व ही इसका राजनीति के साथ विनियोग हो गया और इस नियोग ने तेजस्वी सन्तान नहीं दी। बोध-ग्रस्त पश्चिम की चकाचौंध ने हमें चमकृत किया और हमारी चेतना अनुकृति-लक्ष्य हो उठी। आध्यात्मिकता के भारतीय समादी जीवन के कर्कश धरातल पर खड़े न रह सके। दर्शन दर्शनीकरण का व्यामोह बन गया; गतिमूलक जीवन का प्राणवंत जीवन-दर्शन न हो सका। और आए जैनेन्द्र के वे निबन्ध जिनमें दार्शनिकों की वह वट वक्र शैली आई जिसकी झोली निराला-चित्रित भिक्षु की झोली से भी अधिक फटी हुई थी। गांधीवाद हमारा 'लेबुल' हुआ, हमारी समन्वय साधना का 'साफल्य' न हो सका। 'श्रेय और प्रेय' की चिन्ता चेतना को सप्राण करने में असफल रही। 'समय और मैं' का बोध समसामयिकता बोध का परिहास हो गया। साहित्य संस्कार न होकर शीलाभास रह गया। हिन्दी क्षेत्रों के दुर्भाग्य से किसी प्रौढ़ चिन्तक और निश्छल विचारक ने हिन्दी के माध्यम से वंसा कुछ नहीं दिया जिसे दार्शनिक अनुबन्ध में स्वीकार किया जा सके। आज का दर्शन विज्ञान को अन्तःसलिला चेतना से समन्वित और समृद्ध होगा किन्तु, भारत में विज्ञान के व्यापक और छात्र हैं, वैज्ञानिक नहीं, उनमें वैज्ञानिक संचरण के युग-संस्कार नहीं। विश्वविद्यालय फैक्टरियाँ हैं, प्रयोगशाला तक नहीं। अन्ततोगत्वा जीवन-दर्शन का अन्वेषण उपाधिकामी परीक्षाधियों और शोध-कर्त्ताओं के लिए लोकप्रिय विषय बन गया। गांधी दर्शन को आत्मसात् कर प्रौढ़ चिन्ता-धारा के रूप में अभिव्यक्त करने की क्षमता रखनेवाले जैनेन्द्र गुत्थियों के सुलझाने में उलझे रहे और माखनलाल चतुर्वेदी जीवन की लयात्मकता के अन्वेषण में संलग्न न हो, गद्य को लयात्मक, काव्याभास लाने में प्रयत्नशील, अतः गद्यात्मक काव्य रचने के मोह में आवद्ध। राजनीतिक

५८ : आलोचना

प्रभाव ने नेताओं और इस चेतना से सम्बद्ध व्यक्तियों के रेखा-चित्र, संस्मरणात्मक विकृतियाँ दीं किन्तु, इनमें भी लेखकों का विचलित अहं स्खलित हुआ। संस्मरण-लेखक गीतिकार की भाँति क्षणों को बाँधने का प्रयास करता है, उन्हें अनुबन्धता देने की कामना पालता है, किन्तु उसका लयात्मक बोध विराट् के स्पन्दन का योग-क्षेम नहीं। ऐसी रचनाएँ मूर्ति-पूजा की शब्द-भित्ति हैं, और उनमें आत्म-हीनता का अवबोध व्यापक फलक प्राप्त कर लेता है। महत् में निजत्व के संयोजन का व्यापार इसके लेखक की पूँजी है। शब्द-चित्रों में व्यक्तित्व को आँकने, रूपायित करने के स्थान में स्व-संदर्भता का मोहक राग बिखर जाता है, महत् की महनीयता में स्व-योग का आत्म-मोह प्रासंगिक संदर्भ खो बैठता है। और, हम रहे हैं मूर्ति-पूजक; पत्थर के अनगढ़ टुकड़ों को प्रतिमा का मान देनेवाले पुजारी। मूर्ति-पूजा आत्म-पूजा का जब सुयोग घटित कर दे तो, अहं की तुष्टि को एक दिशा मिल जाती है।

निबन्ध-साहित्य की समग्रता के दर्शन की अखण्ड समग्रता का व्यामोह मुझ में नहीं और न तो इसके मूल्यांकन का अतर्क्य आग्रह ही। आकांक्षा और आपूर्ति का अन्तराल अभाव-बोध का अनुमापक है। 'हम संक्रान्ति काल के प्राणी बदा नहीं सुख भोग' की चिन्ता से आकुल द्विधा-ग्रस्त भारतीय जीवन चिन्तन-प्रधान न हो चिन्ता-शील हो उठा है, अतः वैयक्तिकता द्विधा-ग्रस्त है, चिन्तन चिन्ता-प्रधान है, पाण्डित्य विमोहित और चेतना कुँठित है। भौतिक जीवन में पश्चिम का अनुकरण और अनुगमन नव्य अनुकृतिवाद का संयोजक हो गया; राजनीतिक स्वतन्त्रता मानसिक मुक्ति की प्रतीक बनने में असमर्थ रही; आध्यात्मिकता आरोपित जिज्ञासा ही बनी रही। प्रौढ़ जीवन-दर्शन के अभाव में दर्शन दार्शनिक अनुबन्धन एवं दक्रोक्ति-भंगिमा बन गया किन्तु, इसमें नैराश्य का आकुल क्रन्दन नहीं, मानवता के हर्षोल्लास की आलोकमय प्रतीकात्मकता भी है। प्रतीकात्मक बिम्बता के स्थान में बिम्बात्मक प्रतीकात्मकता का संयोजन उस नव्य संचरण का संदेशवाहक है जिसमें स्थूल सुख-बोध से ऊपर उठकर सूक्ष्म भाव-बोध की अन्तरंगता से संप्राण आनन्दवाद की प्रतिष्ठा होगी। हम विषयायी होकर शंकर को शिवत्व की साधना में अनुप्राणित करेंगे। निबन्ध-साहित्य का भावी विकास हिन्दी साहित्य की उपलब्धियों का अनुमापक मापदण्ड और मानदण्ड भी होगा।

स्वातन्त्र्योत्तर बाल-साहित्य

—मन्मथनाथ गुप्त

स्वतन्त्रता के बाद का हिन्दी बाल-साहित्य

वर्तमान युग के सम्बन्ध में यह कहा गया है कि इसमें एक ओर बूढ़ों की कद्र पर बढ़ा लगता जा रहा है और दूसरी ओर बच्चों की कद्र दिन-दूनी रात चौगुनी बढ़ती जा रही है। बच्चों की कद्र बढ़ती जा रही है, उसी का एक परिणाम यह है कि अब चिन्तक बाल-साहित्य के फलने-फूलने के सम्बन्ध में चिन्तन करने लगे हैं। यह चिन्तन और भी ज़रूरी इसलिए हो गया है कि पहले माँ-बाप नहीं तो दादा-दादी बच्चों के लिए समय निकालते थे और उन्हें सोते समय पास खींचकर लोरियाँ और कहानियाँ सुनाते थे, पर अब किसी को समय नहीं मिलता। नतीजा यह है कि बच्चों को अपनी मदद आप करनी पड़ती है यानी पुस्तकों से कहानियाँ और लोरियाँ पढ़नी पड़ती हैं या रेडियो से नानी या दादी का आसन देना पड़ता है। अफसोस है कि कम-से-कम हमारे देश में दादी और नानी का स्थान अच्छी तरह कोई नहीं ले सका है; नतीजा यह है कि बगली पुस्त, जो भी खुराक उसे मिल जाए, उसी पर पल रही है।

पहले के युगों में बाल-साहित्य का कोई अलग अस्तित्व नहीं था। भले ही कोई साहित्य परिस्थितिबश बाल-साहित्य बन गया हो, पर बाल साहित्य करके कोई स्वीकृत विधा नहीं थी। अस्तित्व हो भी नहीं सकता था, क्योंकि जब पढ़े लिखों की संख्या कम थी तो साहित्य के जरिए बच्चों के मनोरंजन का कोई प्रश्न नहीं उठता था। भारत में ले-देकर केवल पंचतन्त्र या हितोपदेश को ही प्राचीन बाल-साहित्य कहा जा सकता है। यह प्राचीन तथा एकमात्र बाल-साहित्य है, पर इसलिए यह घटिया हो, ऐसी बात नहीं। सच तो यह है कि पंचतन्त्र और हितोपदेश के मुकाबले का बाल-साहित्य उसके बाद केवल भारत में ही नहीं, कहीं भी लिखा नहीं गया। मजे की बात यह है कि अब विश्लेषण करने पर ज्ञात होता है कि राजा के बेटों को नीति की शिक्षा देने के लिए विष्णु शर्मा ने जिन कहानियों का ताना-बाना सैंकड़ों वर्ष पहले फैलाया था, अब उनमें बाल-साहित्य के सब नहीं तो अधिकांश अच्छे-से-अच्छे उपादान प्राप्त हो सकते हैं। विष्णु शर्मा को इस रहस्य का पता था कि बोलते हुए जानवर बाल-मन के लिए एक रोमांटिक अपील रखते हैं, इसके अलावा वह जानते थे कि बच्चे नीति से भी नहीं घबराते, बशर्ते कि वह नीति मनोरंजन के स्वर्णपात्र में उँडेल कर परोसी जाए। असली बात है मनोरंजन।

बाल-साहित्य के सम्बन्ध में उद्देश्यपरकता का झगड़ा उठाया जा सकता है और उठाया गया है कि बाल-साहित्य का क्या उद्देश्य है, उद्देश्य होना भी चाहिए या

६० : आलोचना

कुछ नहीं ? लोगों का कहना है कि बाल-साहित्य का उद्देश्य केवल बालक या बालिका के ध्यान को अपनी तरफ आकृष्ट किए रहना है, बाकी उसका कोई उद्देश्य नहीं है। इस मत का अतिरेक हम कामिक टाइप के साहित्य में देख सकते हैं जिसमें भयानक किस्म की कहानियाँ कही जाती हैं जिन्हें पढ़कर रोंगटे खड़े हो जाते हैं या पाठक को परियों के देश में ले जाया जाता है, जहाँ न तो मनोविज्ञान बाधक है और न कार्य-कारण की कड़ी की कोई आवश्यकता है। पात्र बात की बात में चाँद की सैर को पहुँच जाता है और जो गुत्थियाँ पैदा होती हैं वे यों चुटकी बजा कर सुलझा दी जाती हैं। कहीं उड़नखटोले का बोलबाला रहता है, तो कहीं अलादीन का चिराग है, कल्पना बिल्कुल बेलगाम होती है।

इस प्रकार के कल्पना-प्रधान साहित्य में बच्चे का मन आसानी से बहल जाता है, इस मेल के प्राचीन या मध्ययुगीन साहित्य में और कामिक साहित्य में फर्क यह है कि पहले का साहित्य बहुत कुछ निर्दोष कल्पना-विलास मात्र होता था, जब कि कामिक साहित्य में पाठक को वास्तविकता के बहुत पास रख कर उसके मन में सीधे-सीधे या घुमाव के साथ ऐसे सुझाव पहुँचाए जाते हैं या पहुँचते रहते हैं जिन्हें वह अपने रोजमर्रा के जीवन में व्यावहारिक रूप से देखना या करना चाहता है। शिक्षक या अभिभावक से नहीं बनती, तो सोते में उनके सिर पर हथौड़ा मार दो, इस प्रकार के सुझाव कई बार खतरनाक स्थिति उत्पन्न कर चुके हैं। कई बार अदालतों में यह प्रमाणित हो चुका है कि इस प्रकार के साहित्य पढ़ने से ही लड़का अपराधी बन गया। अलादीन के चिराग में असम्भवता है, पर जब तक वह चिराग मिल नहीं जाता तब तक पाठक केवल अलादीन से ईर्ष्या ही कर सकता है, उससे उसके सामने कोई बना-बनाया समाधान नहीं आता जिससे वह शिक्षक या अभिभावक के विरुद्ध अपनी कुण्ठा या क्रोध कार्य-रूप में परिणत करे।

इस प्रकार पंचतन्त्र और हितोपदेश के संदर्भ में यह प्रश्न स्वतः उठ खड़ा होता है और विष्णु शर्मा के मन में यह प्रश्न रहा होगा कि कैसी कहानियाँ राजा के बेटों को परोसी जाएँ, बल्कि विष्णु शर्मा से पहले राजा के मन में यह प्रश्न उठा होगा, तभी उसने विष्णु शर्मा को एक कमीशन या मिशन देकर नियुक्त किया। वह कमीशन या मिशन क्या था ? वह यह था कि राजा के बेटे इस प्रकार से तैयार हो जाएँ कि वे अच्छे राजा और नागरिक बन सकें। इस तरह हम देखते हैं कि पंचतन्त्र और हितोपदेश के जमाने में ही बाल-साहित्य का क्या उद्देश्य हो, इस सम्बन्ध में बिना दन्त-कटा-कटी के ही एक उसंहार पर अभिभावक और शिक्षक पहुँच चुके थे। वह उसंहार यह था, जैसा कि उनकी कहानियों से ज्ञात होता है, कि बच्चों को नीति की शिक्षा देनी चाहिए, पर साथ ही उन्हें व्यवहारिक जगत की तरफ से सावधान भी कर देना चाहिए।

राजा शुद्धोदन ने अपने बेटे सिद्धार्थ को शिक्षा देते समय उसकी आँखों के सामने रे जीवन की वास्तविकताओं को सर्वथा हटा देना चाहा था, क्योंकि उन्हें डर था कि लड़के को यदि पूरी वास्तविकता ज्ञात हो जाएगी तो वह सांसारिक बातों से

हूट जाएगा। इसलिए उन्होंने लड़के के सामने रोग, बुढ़ापा, मृत्यु आदि अत्यन्त साधारण वास्तविकताओं को भी आने नहीं दिया। पर उसका नतीजा क्या हुआ? उसका नतीजा यह हुआ कि बालक का मन अत्यन्त अनुभूतिशील हो गया। जिन दृश्यों को देखकर साधारण बालक या नवयुवक बिल्कुल विचलित नहीं होता, यहाँ तक कि वे दृश्य शायद उसके मन पर कोई रेखा या छाया भी नहीं डाल पाते, उन्हीं दृश्यों से उत्तेजित होकर सिद्धार्थ ने गृहस्थी छोड़ने का इरादा कर लिया।

पर विष्णु शर्मा ने यह गलती नहीं की थी। उनकी कहानियों में वास्तविकता पर राख डाल कर उसके फन या फुफकार को छिपाने का कोई प्रयास नहीं है, वास्तविकताएँ कई बार भ्रान्तिभंगकारी ढंग से सामने आती हैं, फिर भी नीति की शिक्षा अंततोगत्वा दी ही जाती हैं।

अब यहाँ हम एक बहुत बड़े मौलिक प्रश्न की चट्टान से आकर टकराते हैं, वह यह कि नीति या सदाचार क्या है? हर राज्य पद्धति और समाज का अपना ऋषिवाला एक सदाचार होता है। शिक्षा पद्धति के द्वारा उसी सदाचार को छात्रों और छात्राओं के मन में उतारा जाता है, कभी आहिस्तगी से और कभी बड़े जोर-शोर के साथ। बाल-साहित्य साहित्य होने के कारण इस झमेले से अपने को बचा नहीं सकता, उदाहरणस्वरूप विष्णु शर्मा ऐसी नीति का पाठ नहीं दे सकते थे, जिसमें राजा का अस्तित्व ही अस्वीकार कर दिया गया हो, इसी कारण उनकी कहानियों में शत्रुओं में भी बराबर राजा-प्रजा का भेद बना रहता है। यह मान लिया गया है कि राजा का अस्तित्व एक ऐसा नींव का पत्थर है, जिसे हिलाने का अर्थ यह होगा कि सारा समाज हिल गया।

इस सम्बन्ध में व्योरे में जाने की जरूरत नहीं है, पर पंचतन्त्र और हितोपदेश के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि वे नीति का प्रतिपादन करते हैं, पर ऐसी नीति जो शासक समुदाय को मंजूर हो। यहाँ हम इस पचड़े में नहीं पड़ेंगे कि यह नीति कैसी है, इसके विरुद्ध नीति हो सकती है या नहीं, हम केवल इतना ही दिखाकर आगे बढ़ जाएंगे कि पंचतन्त्र और हितोपदेश जिसे हम आसानी से प्रथम बाल-साहित्य कह सकते हैं, कम-से-कम भारत का, वह विचारधारा के झगड़े से मुक्त नहीं है।

पंचतन्त्र के हिन्दी में बहुत से संस्करण निकले हैं। प्रकाशन विभाग ने पूरे पंचतन्त्र को अलग-अलग और दो खण्डों में विष्णु प्रभाकर द्वारा प्रस्तुत कराकर 'सरल पंचतन्त्र' प्रकाशित किया है। पंचतन्त्र सम्बन्धी प्रकाशन बहुत सफल रहे हैं यह इसी से प्रमाणित है कि थोड़े ही दिनों में कई संस्करण हो चुके हैं। इन पुस्तकों की विशेषता यह है कि इनमें मूल का अनुसरण किया गया है। राजकमल प्रकाशन ने 'पंचतन्त्र की कहानियाँ' नाम से इसे तीन भागों में प्रकाशित किया है। यह बहुत छोटे बच्चों के लिए रचित है। इसी तरह 'बाल पंचतन्त्र' नाम से भी एक अलग पुस्तक प्रकाशित की गई है। इन चारों की संकलनकर्त्री शकुन्तला देवी हैं। घर्मपाल शास्त्री ने भी 'सरल हितोपदेश' नाम से पंचतन्त्र की आठ कहानियाँ छोटे बच्चों के लिए प्रस्तुत की हैं। सावित्री देवी वर्मा ने भी 'कथा कहानी' नाम से पंचतन्त्र की कुछ कथाएँ अपने

ढंग से लिखी हैं।

सारा पौराणिक साहित्य, जिसमें रामायण-महाभारत और जातक कथाओं को लिया जा सकता है, बाल-साहित्य का बहुत सुन्दर स्रोत है। आधुनिक भारतीय भाषाओं के बाल-साहित्य में पौराणिक साहित्य के गद्य में लिखे हुए छोटे-बड़े सचित्र और चित्रमय संस्करणों का होना कोई आश्चर्य की बात नहीं है। महाभारत, रामायण तथा जातक आदि में बाल-साहित्य के सारे उपादान मौजूद हैं। बालक लड़ाई-भिड़ाई का वर्णन बहुत पसन्द करते हैं और पुराण लड़ाइयों से भरे पड़े हैं। इन लड़ाइयों को चूँकि एक नैतिक आधार दिया गया है, इसलिए वे बहुत ही दिलचस्प हो गई हैं और उनसे कोई उकताता नहीं।

लड़ाइयों के अतिरिक्त पुराणों में एक आकर्षण यह भी है कि नायक का साबका तरह-तरह की लौकिक और अलौकिक विपत्तियों से पड़ता है। बन्दर, राक्षस, दैत्य, गंधर्व, किन्नर जाने किन-किन से मुठभेड़ होती है। इसके अलावा स्त्रियों का हरण आदि उपादान के साथ-साथ दमयन्ती, सीता, सावित्री ऐसी स्त्रियाँ भी आती हैं जो आदर्श माँ तथा बड़े बच्चों के लिए घुँघली प्रेमिका की भूख को तृप्त करती हैं। पुराणों के रूप में हमारे पास ऐसा जखीरा है जो कभी चुक नहीं सकता और हर पुस्तक के लेखक नए सिरे से उनका संस्करण प्रस्तुत कर सकते हैं। इसी प्रकार चित्रकारों के लिए भी यह एक ऐसा संसार है, जिसमें से वे चाहे जो कुछ निकाल कर अपना जोहर दिखाकर अपनी कला में चार चाँद लगा सकते हैं।

यों तो हिन्दू व्यवहार में काफ़ी कट्टर हैं, पर मुसलमानों के मुकाबले में बहुत उदार हैं। यहाँ यह डर नहीं है कि राम का चित्र बना दिया तो गोली खाने की नोक आ जाए जैसा कि बंगाल के एक प्रकाशक को हुआ था, यद्यपि उस बेचारे ने हाल्लू में प्राप्त मुहम्मद का एक पुराना चित्र छपा था। राम-रावण, पाण्डव-कौरव के चाहे आप जितने और जैसे भी भौंडे चित्र बनाएँ, कोई आपकी कूँची या कलम पकड़ने वाला नहीं है और न इस पर कोई बोलने वाला है कि आप प्राचीन कथा से हटकर राम से रावण को और पाण्डवों से कौरवों को क्यों अधिक महत्व दे रहे हैं। यह परिस्थिति पौराणिक आधारयुक्त बाल-साहित्य के सृजन के लिए बहुत ही उपयुक्त है, क्योंकि लेखक को बनी बनाई परखी हुई, व्यक्ति-व्यक्ति के अवचेतन में बसी और जड़ जमाई हुई कहानी का सहारा मिल जाता है, जिसका अर्थ यह होता है कि आधा किला तो यों ही फतह हो गया, आगे लेखक की भाषा-शैली और चित्रकार की कला जो कुछ भी जादू पैदा कर ले।

चित्रकार की अहमियत

यहाँ यह बता दिया जाए कि बाल-साहित्य में चित्रकारी न केवल सहायक विधा है, बल्कि यह अपरिहार्य है। इस तथ्य को हमारे प्रकाशक जितना जल्दी समझ लें, उतना ही भला है। चित्रकला के साथ-साथ फोटोग्राफी भी उपयोगी है, विशेषकर जहाँ कहानियों से हटकर विज्ञान और तकनीकी से सम्बन्धित पुस्तकों का सम्बन्ध है।

बाल-साहित्य में चित्रकार का स्थान पाठक के वयवर्ग के अनुसार होता है। अभी-अभी जिन बच्चों ने पढ़ना सीखा है यानी चार से सात साल के बच्चों के लिए जो साहित्य होगा, उसमें निश्चित रूप से चित्र का पलड़ा भारी होना चाहिए और लेखन का पलड़ा अपेक्षाकृत हलका होगा। इसका अर्थ हिन्दी के कुछ लोगों ने यह लिया है कि बाहे जैसी स्क्रिप्ट चल सकती है, पर यह उनकी बहुत बड़ी भूल है। अभी-अभी बच्चे की रचि विकसित हो रही है, इसलिए उसे भोजन देने में जितनी सावधानी बरती जाती है या बरती जानी चाहिए, उससे कहीं अधिक सावधानी उसे मानसिक भोजन देने में बरतना चाहिए। चित्र अच्छे-से-अच्छे होने चाहिए, एक कलाकार ही एक प्रकाशन की सारी पुस्तकों के चित्र बनाए, यह भी नहीं होना चाहिए, क्योंकि ओसत कलाकार की एक सीमा होती है, जिसके बाहर वह जा नहीं सकता। स्क्रिप्ट के सम्बन्ध में भी उतनी ही सावधानी जरूरी है, क्योंकि ध्वनियों और भाषा के प्रतीकों का ऐसा असर पड़ना चाहिए कि बच्चे को उसमें अधिक-से-अधिक रस आए।

यहाँ इस दिशा में कुछ बहुत ही प्रासंगिक बातें बता दी जाएँ जो शायद कुछ हद तक अप्रासंगिक लगें। हिन्दी का क्षेत्र यानी खड़ी बोली का क्षेत्र बहुत फैला हुआ है, इससे बाल-साहित्यकार के सामने एक प्रश्न फन उठाकर खड़ा हो जाता है। वह इसलिए कि सारे हिन्दी क्षेत्र में एक ही लोरियाँ तथा एक ही तरह की भाषा में बताई हुई कहानियों का एक ही सेट चालू नहीं है। यहाँ तक कि हम भारतीयों में जो सबसे बड़ा अखिल क्षेत्रीय एका है यानी धार्मिक अनुष्ठानों आदि का एका, उसका भी रूप, ओवरटोन, अण्डरटोन सब अलग-अलग हैं। धार्मिक त्योहारों का महत्व भी हिन्दी क्षेत्र में एक सा नहीं है। दुर्गापूजा को ही लीजिए, बिहार में मूर्तियाँ बनाकर दुर्गापूजा होती है, इस मामले में बिहारी बच्चे की अनुभूतियाँ बंगाली, आसामी, उड़िया आदि से ज्यादा मिलती हैं और उत्तर प्रदेश, राजस्थान आदि से कम। स्वाभाविक रूप से इस ऋक के कारण जिन आधारों पर बाल-साहित्य की इमारत खड़ी हो सकती है या जिन स्रोतों से बाल-साहित्य की जड़ों में खुराक पहुँच सकती है, उनके भिन्न होने के कारण बाल-साहित्य का निर्माण भी भिन्न होना चाहिए। कुछ हद तक तो भिन्न होगा ही।

पौराणिक साहित्य

पुराण तथा पौराणिक साहित्य बाल-साहित्य का बहुत अच्छा कभी न सूखने वाला स्रोत है। यह समझने की जरूरत नहीं है कि चूँकि किसी ने पहले रामायण या महाभारत के उपाख्यानो को हिन्दी में लिखा है, इसलिए उस ओर प्रयास करने की जरूरत नहीं है। परिस्थिति तो यह है कि इन उपाख्यानो का कोई ऐसा बाल-संस्करण हिन्दी में नहीं प्रकाशित हो सका जिसके सम्बन्ध में यह कहा जा सके कि यह एक मानकीकृत संस्करण है और इस दिशा में और प्रयास करने की जरूरत नहीं है। स्वतन्त्रता के पहले और उसके बाद पुराणों पर आधारित जो बाल-साहित्य निकला है, उसे देखते हुए अभी बहुत से लेखकों तथा चित्रकारों को इस ओर प्रयास करने की गुंजाइश है।

आत्माराम ने कुछ पौराणिक कहानियों का चित्रमय संस्करण प्रकाशित किया है और ये सारी पुस्तकें स्वतन्त्रता के बाद प्रकाशित हुई हैं, पर न तो इनके चित्र खास अच्छे हैं और न इनकी स्क्रिप्ट ।

यह आश्चर्य की बात है कि हमारी सबसे बहुमूल्य थाती और बाल-साहित्य के आकार महाभारत और रामायण के कोई सुन्दर वालोचित संस्करण प्रकाशित नहीं हुए । प्राणनाथ वानप्रस्थी का 'सरल महाभारत' और सत्यकाम विद्यालंकार की 'सरल रामायण' इस शून्यता की पूर्ति नहीं करते । मजे में कम-से-कम दो से लेकर डायी सो पृष्ठों के संस्करण प्रकाशित हो सकते थे ।

पुराणों की जनप्रियता देखते हुए जगन्नाथप्रसाद मिश्र ने पौराणिक व्यक्तियों की अलग-अलग जीवनी लिखने का जो क्रम चलाया है, उसका हम स्वागत करते हैं । इस माला में व्यास, विश्वामित्र, अगस्त्य और दुर्वासा की जीवनियाँ प्रकाशित हुई हैं । चित्र और शैली, दोनों दृष्टियों से पुस्तकें सराहनीय हैं ।

पौराणिक व्यक्तियों को लेकर अन्य कई पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं जैसे प्राणनाथ वानप्रस्थी का 'श्रीकृष्ण', 'भारत के महान ऋषि', और 'वीर हनुमान' । उन्हीं की अन्य कृतियाँ 'आदर्श बालक' और 'आदर्श देवियाँ', जिनमें पुराणों के वीरों और देवियों का वर्णन है, पर शायद जगह भरने के लिए पुराणों के वीरों में हकीकराय और देवियों में मीरा को स्थान दिया गया है जो भ्रामक है । 'भारत के महान ऋषियों' पुस्तक में भी इसी प्रकार पौराणिक और ऐतिहासिक व्यक्तियों को मिलाया गया है ।

लोक कथाओं का दोहन

स्वाभाविक रूप से बच्चों की कहानी सम्बन्धी भूख को परितृप्त करने के लिए हमारे प्रकाशकों ने लोककथाओं का खूब दोहन किया है, पर यह दोहन अक्सर भोंडा हुआ है । लोककथाओं को परोसने का एक तरीका तो वह है कि जैसे वे गाँव में दादा-दादी, नाना-नानी के मुँह से सुनी जाती हैं, वैसे हबहू उनका रेकार्ड प्रस्तुत करना ।

योरप में लोक-कथाओं को बहुत अधिक महत्व दिया गया है । प्रथम लोक-कथाएँ ग्रिम-बन्धु, ऐसव्योरनसेन और मोए (Moe) के द्वारा संग्रहीत हुए । इन लोगों ने सीधे-सीधे सोते से लोक-कथाओं का संग्रह किया । उनकी दृष्टि केवल कहानी पर नहीं थी बल्कि जिस प्रकार से कथा कही जाती थी, हबहू उसी प्रकार से उसे लिपिबद्ध कर लिया जाता था । इस क्षेत्र में जोसेफ जैकोब्स ने भी अच्छा काम किया, फिर बाद को अन्य और बहुत से लोगों ने लोक-कथाओं के क्षेत्र में काम किया जैसे डबल डे ने अफ्रीकी कहानियों, ई० एम० अल्मेडिगेन ने रूसी लोक-कथाओं, लेसली बोनेट ने चीनी लोक-कथाओं, मोरेस और पामेला माइकेल ने जर्मन लोक-कथाओं, रोला गा ने फ्रेंच लोक-कथाओं के क्षेत्र में काम किया । भारत में भी अंग्रेजी भाषा में भारतीय लोक-कथाओं पर कई लोगों ने अच्छे काम किए बल्कि भारतीय भाषाओं में उतना अच्छा काम होना अब भी बाकी है । बंगला क्षेत्र के विषय में मैं जानता हूँ, वहाँ की लोक-कथाओं को हबहू लिपिबद्ध करके कई पुस्तकें प्रस्तुत की गईं, जिसका कुछ स्वाद मैंने

हिन्दी में 'बंगाल की लोक-कथाओं' को पेश करने का प्रयत्न किया है। नन्दलाल ब्रता ने कश्मीरी लोक-कथाओं पर हिन्दी में अच्छा काम किया है पर बाकी बालकों के लिए जो अधिकांश लोक-कथाएँ प्रकाशित हुई हैं, उनकी विशेष प्रशंसा नहीं की जा सकती। इस सम्बन्ध में भारत सरकार को टेप रिकार्डर तथा अन्य जरूरतों से काम करना चाहिए। दुर्भाग्य से हिन्दी क्षेत्र में यह कार्य इस रूप में किए जाने पर कहाँ तक ग्रहणीय होगा, इसमें संदेह है क्योंकि खड़ी बोली कहीं की भाषा न होने के कारण कथाएँ अपनी-अपनी बोली में कही और सुनी जाती हैं। अवश्य इससे बचने के लिए उनका जहाँ तक जरूरी है, हिन्दीकरण हो सकता है, पर इस सम्बन्ध में भी बड़ी जिम्मेदारी की जरूरत है। लोककथा के अन्दर यदि लेखक ने अपना एक भी वाक्य रख दिया तो वह लोककथा नहीं रह गई, बल्कि लोककथा के ढाँचे पर लेखक द्वारा प्रस्तुत की हुई नई इमारत बन गई। ऐसा करने में कोई बुराई नहीं पर पाठक को इसका पता हो जाना चाहिए और यदि पाठक इस बारीकी को नहीं समझ सकता तो भूमिका में इसका आभास तो दे ही देना चाहिए।

अफ़सोस है कि हिन्दी में तो सभी लोक-कथाएँ अजीब रूप में सामने आ रही हैं और ऐसे आ रही हैं कि अत्यन्त अनधिकारी लेखकों से लोक-कथाएँ लिखाई और छापी गई। फिर भी कुछ लेखकों ने जिम्मेदारी से काम लिया है और लोक-कथाओं के जरिए बाल-साहित्य को कुछ अच्छी रचनाएँ प्राप्त हुई हैं। ऐसी रचनाओं में कुछ हद तक उल्लेखनीय हैं—'पश्चिम भारत की लोककथाएँ', 'सुन्दर लोक-कथाएँ', 'भारतीय लोककथाएँ', 'निहालदे', 'देपाल दे', 'घनुआ राजा', 'शेणवीर कोहली की 'लोककथाएँ', और 'मोर के पैर' पुस्तकों में पंजाब की लोककथाएँ लिपिबद्ध हैं। संतराम द्वारा प्रस्तुत 'पहाड़ी प्रदेशों की कहानियाँ' कहानियों के रूप में अच्छी हैं, पर इससे यह पता नहीं लगता कि संतरामजी ने ये कहानियाँ किसी पुस्तक से ली हैं या फील्ड पर उनका संग्रह किया है।

लोककथाओं का महत्व अब हम कुछ-कुछ हृदयंगम कर रहे हैं। एक तो लोक-कथाओं से सामान्य भारतीय संस्कृति ही नहीं विश्व-संस्कृति का धोव होता है, दूसरे श्वर जो सबसे बड़ी बात हुई है वह यह है कि अति आधुनिक कहानियों में लोक-कथा तत्व अपनाए जा रहे हैं।

लोककथाओं पर सोचते हुए फिर एक बार यह विचार बड़े जोर से सामने आता है कि प्रकाशकों के मन में, इसमें शायद ही कोई प्रकाशक अछूता हो, यह धारणा बनी हुई है कि लोक-कथा कोई भी प्रस्तुत कर सकता है और उनकी पुस्तकों तथा साहित्य का चित्रण कोई भी चित्रकार कर सकता है। यह जितना जल्दी उनके दिमाग से निकल जाए, उतना ही अच्छा है, पर इसके साथ ही यह भी धारणा गलत है कि कोई लेखक ख्यातिप्राप्त है और बड़ों के लिए अच्छे उपन्यास-कहानियाँ आदि लिखता है, इस कारण वह बच्चों का भी अच्छा साहित्यकार होगा। प्रश्न यह है कि क्या ऐसा लेखक बच्चों का साहित्य लिखते समय बिल्कुल अन्य ही गीयर पर काम कर सकता है? जैसे यह जरूरी नहीं है कि कोई क्रिकेट का खिलाड़ी है तो वह फुटबाल आदि

अन्य खेलों में भी पारंगत होगा, उसी तरह लिखने के क्षेत्र में भी अलग-अलग विधा के अलग-अलग लेखक हैं, उसकी अलग-अलग साधना और अलग-अलग प्रशिक्षण हैं।

अंग्रेजी बाल-साहित्य की तरफ जब हम दृष्टि दौड़ाते हैं तो उसमें हम यह देखते हैं कि बाल-साहित्य के लेखक बिल्कुल दूसरे ही हैं जिनके नाम उस विधा के पाठकों तक ही सीमित रहते हैं। साधारण साहित्य का लेखक कई बार बाल-साहित्य का अच्छा लेखक हो सकता है, जैसे वाल्टर स्काट, किपलिंग, रवीन्द्रनाथ इत्यादि, पर यह जरूरी नहीं है कि हर नामी लेखक बाल-साहित्य का अच्छा लेखक हो, इसलिए अभी-अभी कहानी आदि के प्रख्यात लेखकों को अपने लेखक करके दिखाने और अपना विज्ञापन करने का जो प्रयास किया गया है, उसके चक्कर में कोई विशेषज्ञ नहीं आया। बात यह है कि बाल-साहित्य भाषा, शैली, कल्पना के क्षेत्र में कुछ ऐसे प्रयोग और नवीनता की अपेक्षा रखता है कि हर लेखक के लिए उनके तकाजों को पूरा करना सम्भव नहीं है। यह दुर्भाग्य है कि हिन्दी में बाल लेखकों का कोई अलग स्पष्ट वर्ग अभी तक नहीं बन पाया पर इसमें सन्देह नहीं कि हिन्दी बाल-साहित्य की उन्नति के साथ-साथ बाल-साहित्य के लेखकों की एक अलग श्रेणी का विकास होगा। पर ऐसा अभी तक क्यों नहीं हुआ, उसके कारणों पर भी कुछ विचार कर लेना आवश्यक है।

वयवर्ग देखकर लेखन

बाल-साहित्य के रचयिता के लिए बाल-मनोविज्ञान के अतिरिक्त यह समझना जरूरी है कि वह किस वय-वर्ग के लिए लिख रहा है। बहुत दिनों तक हिन्दी के बाल-साहित्य के लेखक और प्रकाशक वयवर्ग के अस्तित्व से ही अपरिचित रहे और बाल-साहित्य में इसका कोई खयाल नहीं रखा जाता था, पर अब हिन्दी के प्रमुख बाल-साहित्य प्रकाशक—राजकमल, राजपाल, आत्माराम, किताब महल आदि वय-वर्ग पर ध्यान देने लगे हैं और अपने लेखकों से वयवर्ग के अनुसार लिखने का तकाजा करने लगे हैं। आशा है कि इसका नतीजा आगामी दस वर्षों में बहुत अच्छा होगा, पर जैसा कि हमने बताया, बाल-साहित्य के विशेष लेखक वर्ग का तभी उदय होगा, जब प्रकाशक इस सम्बन्ध में सचेत हो जाएँ। जब बाल-साहित्य की रचना में पारिश्रमिक ठीक से मिलने लगेगा और प्रकाशक एक मुश्त दाम देकर पुस्तक के सारे अधिकार खरीद लेने का मोह छोड़ देंगे, तभी इस क्षेत्र में उन्नति होगी।

यों तो जैसा कि हम बता चुके हैं, हमारे यहाँ केवल बाल-साहित्य के रूप में ले-देकर पंचतन्त्र या हितोपदेश ही हैं। हम यह भी बता चुके कि रामायण, महाभारत, तथा अन्य पुराण-कथाओं से बाल-साहित्य का बहुत बड़ा खजाना तैयार हो सकता है। पर केवल बाल-साहित्य के रूप में लिखने की प्रथम प्रेरणा बिल्कुल आधुनिक समय में ही आई। इस सम्बन्ध में यह बहुत ध्यान योग्य है कि पाश्चात्य में बाल-साहित्य की रचना कई सदी पहले से शुरू हुई। हम इस पर इतना ही बता कर आगे बढ़ जाएँगे कि बाल-साहित्य की अमर कृति 'राबिन्सन क्रूसो' १७१९ और 'गुलिवर की कहानियाँ' की रचना १७२६ में हुई। 'अलिफलैला' जो बाल कहानियों का एक बहुत बड़ा

खजाना है, उसकी भी रचना बहुत पहले हुई, यहाँ तक कि वह फ्रेंच तथा अंग्रेज़ पाठकों के हाथ में लगभग १७०० ईस्वी तक पहुँच गई थी।

गुलिवर की यात्राएँ उस समय के इंग्लैंड तथा उसके राजदरबार के विरुद्ध एक व्यंग-रचना के रूप में प्रस्तुत की गई थीं। इसका प्रकाशन भी बड़े अद्भुत ढंग से हुआ कि लेखक ने प्रकाशक का सामना नहीं किया और पाण्डुलिपि एक घोड़ागाड़ी से प्रकाशक के घर के सामने डाल दी गई। कुछ भी हो, जब हिन्दी तथा अन्य भारतीय भाषाओं में बाल-साहित्य के लिए माँग पैदा हुई तो लेखकों और अनुवादकों ने पाश्चात्य साहित्य और 'अलिफ लैला' आदि की इन अमर कृतियों की ओर हाथ बढ़ाया और उसके फलस्वरूप 'राविन्सन क्रूसो', 'गुलिवर की यात्राएँ', 'अलादीन', 'सिन्दबाद' आदि जाने कितनी रचनाएँ प्रस्तुत हुईं। 'राविन्सन क्रूसो' एक समुद्र यात्री जाति में ही लिखा जा सकता था और 'गुलिवर की यात्राएँ' भी ऐसी जाति में लिखी जा सकती थीं जो टटोल कर लोकतन्त्र की ओर चल रही हो। दुःख है कि यों तो हर प्रकाशक ने इन पुस्तकों के संस्करण निकाले हैं पर कोई ऐसा संस्करण नहीं है जिसके सम्बन्ध में कहा जा सके कि यह अंग्रेज़ी की तरह सुन्दर संस्करण है। इसके लिए किसे दोष दिया जाए, लेखकों या प्रकाशकों को ?

बाल-पत्रिकाएँ

बाल-साहित्य के क्षेत्र में मैं बाल-पत्रिकाओं को इस साहित्य के प्राथमिक सोपान में बहुत महत्त्व देता हूँ, इसलिए पहले उन्हीं का सर्वेक्षण किया जाए। स्वतन्त्रता प्राप्त करते समय हिन्दी में सबसे प्रमुख बाल-पत्रिका प्रयाग के इण्डियन प्रेस द्वारा प्रकाशित 'बाल-सखा' नामक पत्रिका थी, पर इस पत्रिका में कोई भी विशेषता नहीं थी और यह कहा जा सकता है कि यह क्षेत्र हिन्दी में बिल्कुल सूना था, जबकि एक-दूसरी भाषा जिसे मैं अच्छी तरह जानता हूँ, यानी बंगला में बाल-पत्रिकाओं में कई अच्छे नाम थे और उनके ग्राहकों की संख्या बीस-बीस हजार तक पहुँची हुई थी।

हिन्दी-क्षेत्र की यह कमी इतनी खटकने वाली थी कि भारत सरकार के प्रकाशन विभाग का जब स्वतन्त्रता के बाद पुनर्गठन हुआ तो यह निश्चय किया गया कि 'बाल-भारती' नाम से एक पत्रिका निकाली जाए, जिसमें मनोरंजन के साथ-साथ बालक-बालिकाओं के मानसिक उन्नयन का लक्ष्य भी रखा गया। यों तो इस क्षेत्र में पहले भी मैं इस प्रश्न को छू चुका हूँ पर यहाँ भी यह स्पष्ट कर दिया जाए कि बड़ों के लिए प्रस्तुत किए जाने वाले साहित्य के सम्बन्ध में भले ही यह वाद-विवाद कभी समाप्त न हो कि साहित्य का कोई साहित्येतर उद्देश्य होना चाहिए या नहीं, पर बाल-साहित्य के सम्बन्ध में सभी सिवा उन लोगों के जो कामिक टाइप का भौंड़ा साहित्य लिख-बेच-प्रकाशित कर कालाबाजारी करना चाहते हैं, इससे सहमत होंगे कि बाल-साहित्य का उद्देश्य अच्छे नागरिकों का निर्माण है। इसलिए यदि भारत सरकार ने बाल-भारती के प्रकाशन में कुछ उद्देश्य रखा तो वह गलत नहीं कहा जा सकता। श्वस्य जब सरकार कोई काम करती है तो उसमें प्रचलित सरकार को सर्वश्रेष्ठ और

एकमात्र सत्य साबित करने की प्रवृत्ति हो सकती है, पर 'बाल भारती' पत्रिका इससे कई कारणों से बची रही और 'बाल-भारती' ने बाल-पत्रिकाओं में अपना एक स्थान बनाया। पर सरकारी प्रकाशन होते हुए भी क्या यह लेखकों का ऐसा वर्ग उत्पन्न कर सका जो बाल-साहित्य के ही लेखक हैं ? मैं समझता हूँ कि यह ऐसा नहीं कर सका, उस हद तक यह पत्रिका भी अपने पहले की पत्रिकाओं की तरह असफल ही कही जाएगी।

लेखक तो किसी क्षेत्र में तभी पैदा हो सकते हैं, जब उस क्षेत्र में रह कर उनकी गुजर-बसर हो सके, पर 'बाल-सखा', 'बाल-भारती', 'बालक', 'शेर बच्चा', 'राजा भैया', 'पराग', 'नन्दन' में छपकर और दस या बीस रुपये पारिश्रमिक पाकर किसी का निर्वाह नहीं हो सकता था। दुःख है कि यह परिस्थिति तब से नहीं बदली है और बाल-साहित्य राहचलतू लोगों के ऐडवेन्चर का शिकार बनता रहा है।

हिन्दी बाल-पत्रिकाओं में 'चन्दा मामा' का उल्लेख बहुत आवश्यक है क्योंकि इसकी इकरस छपाई और चित्र तथा गलत भाषा के बावजूद यह कहानियों के कारण बच्चों की बहुत प्रिय रही है। 'चन्दा मामा' के प्रकाशकों की इसलिए प्रशंसा करनी पड़ेगी कि वे बाल-पत्रिका के व्यवसाय को लाभजनक बनाने के लिए उसे एक साथ कई भाषाओं में प्रकाशित करते हैं। पहले शायद नौ भाषाओं में प्रकाशित होता था, अब छः भाषाओं में प्रकाशित होता है। इससे ब्लाक तथा डिजाइन आदि का खर्च बच जाता है और अनुवाद के ही पैसे लगते हैं। असल में तो प्रकाशन विभाग को यह प्रयोग करना चाहिए था। मैं यह मानता हूँ कि केन्द्र से न केवल बच्चों के लिए बल्कि बड़ों के लिए मासिक, साप्ताहिक आदि का प्रकाशन और किसी कारण से नहीं तो केवल इस कारण से अवश्य होना चाहिए कि राज्यों से जो पत्र-पत्रिकाएँ प्रकाशित होती हैं, उनमें प्रान्तीयता का खोल बहुत जबरदस्त रहता है और अखिल भारतीय ढंग से किसी भी प्रश्न पर सोचने का माद्दा पैदा न होकर हर पत्रिका को केवल अपनी भाषा और अपने दायरे में सोचने का प्रोत्साहन मिलता है।

अन्य बाल-पत्रिकाओं में 'पराग' एक अच्छी पत्रिका है, पर इसे भी देखने पर थही धारणा दृढ़ होती है कि हिन्दी में बाल-साहित्य के लेखकों का कोई वर्ग नहीं बन पाया। इस पत्रिका की प्रकाशक कम्पनी भी एक साथ कई भाषाओं में बाल-पत्रिकाएँ प्रकाशित करने का प्रयोग कर सकती है। जैसा कि मैंने इंगित किया, व्यावसायिक दृष्टिकोण से ही नहीं, पत्रिकाओं का खर्च घटाकर सस्ती करने के लिए और अखिल भारतीय दृष्टिकोण को निरन्तर ताज़ा रक्त पहुँचा कर बल देने के लिए इस प्रकार के प्रकाशनों की आवश्यकता है।

अभी हाल में बाल-पत्रिकाओं के क्षेत्र में 'नन्दन' प्रकाशित कर 'हिन्दुस्तान टाइम्स' के प्रकाशकों ने इस क्षेत्र में कदम रखा है। यह प्रकाशक भी कई भाषाओं में प्रकाशन की बात सोचने में समर्थ हैं।

जीवनिया

जीवनियाँ भी बाल-साहित्य का प्रधान अंग हैं। जब बच्चा जरा बुद्धिमान हो जाता है और केवल आश्चर्य की भावना की जगह पर वह अपने को भी कुछ समझने लगता है यानी यह समझता है कि मुझे भी कुछ करना है तो वह जीवनियों की ओर आकृष्ट होता है। देश-आविष्कार, ऐडवेन्चर के सच्चे वीर कोलम्बस आदि की तरफ उसका ध्यान जाता है और वह यह समझने की कोशिश करता है कि जो लोग संसार में बड़े हुए या कहलाए, वे कैसे बड़े हुए।

इस क्षेत्र में बहुत अच्छा कार्य हुआ, यह नहीं कहा जा सकता। 'आदर्श विद्यार्थी बापू' महात्मा गांधी के जीवन के एक हिस्से पर रोशनी डालता है। राजकमल की ओर से प्रकाशित आदर्श जीवनमाला में इन्द्रनाथ मदान द्वारा लिखित पुस्तकें 'हमारे बापू', 'भगवान बुद्ध', 'हमारे गुरुदेव', 'अब्राहम लिंकन', 'मुंशी प्रेमचन्द', 'लेनिन', 'हमारे नेहरू'—ये सात पुस्तकें प्रकाशित भी हुई हैं और वे सफल भी हैं, पर इसमें दो बातों में कुछ सुधार हो सकता था, एक तो एक ही लेखक से सारी जीवनियाँ लिखाना अनुचित रहा और दूसरे सब पुस्तकों का आवरण चित्र एक-सा है यह भी उचित नहीं रहा। या तो ऐसा आवरण चित्र बनाया जाता जो गांधी, लेनिन, अब्राहम लिंकन सब पर घटता और नहीं तो हर एक का अलग आवरण चित्र बनाना चाहिए था। जो आवरण चित्र प्रस्तुत है, वह गांधी और बुद्ध और अधिक-से-अधिक नेहरू पर ठीक बैठ सकता है, बाकी, यहाँ तक कि प्रेमचन्द और रवीन्द्रनाथ के लिए भी यह अच्छा नहीं लगता। सत्यकाम विद्यालंकार ने 'महात्मा गांधी', 'सरदार पटेल', 'शिवाजी' की जीवनियाँ प्रस्तुत की हैं। इसके अतिरिक्त 'हमारे राष्ट्र निर्माता' नाम से उनकी एक पुस्तक है, जिसमें दादाभाई नौरोजी से लेकर सुभाषचन्द्र बोस की जीवनियाँ दी गई हैं। क्षितीश राय का 'गुरुदेव रवीन्द्रनाथ' (अनुवादिका—माया गुप्त) रवीन्द्र को सबसे सुन्दर, सस्ती और सचित्र जीवनी है। विश्वनाथ की भी 'महाराणा प्रताप' और 'महापुरुषों के संस्मरण' नाम से दो अच्छी पुस्तकें हैं। विनोद ने जवाहरलाल नेहरू, लाजपतराय, लोकमान्य तिलक, स्वामी रामतीर्थ, विवेकानन्द, राजेन्द्रप्रसाद पर पुस्तकें लिखी हैं। प्राणनाथ वानप्रस्थी के नाम पर लगभग एक दर्जन जीवनियाँ हैं, जिनमें बुद्ध, चाणक्य, अशोक से लेकर सरदार भगतसिंह और चन्द्रशेखर आजाद की जीवनियाँ आ गई हैं। रामेश्वरदयाल दुबे की कविता में 'माँ यह कौन?' नाम से भारत के प्रमुख महापुरुषों के व्योरे प्रस्तुत किये गए हैं। इसी प्रकार आचार्य चतुरसेन ने 'महापुरुषों की झांकियाँ' नाम से कुछ आधुनिक नेताओं की और राष्ट्रबन्धु ने भी 'ये महान कैसे बने' नाम से भारतीय तथा अभारतीय कुछ महापुरुषों की जीवनी प्रस्तुत की है। मनोहर जुनेजा का 'डॉ० विश्वेश्वरैया' और चमूपति का 'हमारे स्वामी', धर्मदेव विद्यावाचस्पति का 'स्वामी श्रद्धानन्द' ही इस सम्बन्ध में उल्लेखनीय हैं। प्रकाशन विभाग की ओर से 'भारत के गौरव' नाम से एक बहुत ही महत्वपूर्ण पुस्तक माला प्रकाशित हो रही है। यद्यपि इन पुस्तकों का स्तर साधारण से ऊँचा है, पर भारत सरकार के प्रकाशनों का जो स्तर होना चाहिए (विशेषकर जबकि राष्ट्रीय

भाषाओं में इसका अनुवाद हो रहा है), वह नहीं है। सावित्रीदेवी वर्मा की 'भारत की महान गारियाँ' और प्राणनाथ वानप्रस्थी की 'वीर पुत्रियाँ' कुछ महान स्त्रियों की जीवनियाँ प्रस्तुत करती हैं। यह आश्चर्य है कि महान स्त्रियों की जीवनियाँ कम लिखी गई हैं। माया गुप्त का भारत के प्रकाश स्तम्भ 'रामकृष्ण परमहंस और विवेकानन्द' और जगदीश गोयल की पुस्तक 'मोतीलाल नेहरू' उच्च स्तर की जीवनियाँ हैं।

वैज्ञानिक पुस्तकें

यह बहुत ही गलत धारणा है कि बच्चों को केवल कहानी चाहिए या ऊल-जलूल एडवेंचर के किस्से चाहिए। बच्चे हर समय संसार को टटोलकर जानने के फिराक में रहते हैं और वे उसे समझना चाहते हैं। यही कारण है कि बहुत से बच्चों में, बल्कि सभी बुद्धिमान बच्चों में किसी भी वस्तु को तोड़-खोलकर उसके अन्दर क्या है, जानने की प्रवृत्ति पाई जाती है। वे हर समय कार्य-कारण के सिलसिले का अनुसरण करना चाहते हैं। यह प्रवृत्ति बहुत सराहनीय है और अभिभावकों तथा शिक्षकों को इसे प्रोत्साहन देना चाहिए। इस सम्बन्ध में पचास वर्ष पहले के बच्चों में और आजकल के बच्चों में विशेषज्ञों ने कुछ फर्क पाया है। सौभाग्य से वह फर्क युग के अनुसार है और उसमें वृद्धि होनी चाहिए। आजकल के लड़के अच्छी लिखी हुई विज्ञान-सम्बन्धी पुस्तक पहले के बच्चों से अधिक पसन्द करते हैं, ऐसा पश्चिम के पुस्तकालयाध्यक्षों ने अपनी रिपोर्ट में कहा है। मुझे ऐसा लगता है कि बच्चों में शायद उतना फर्क नहीं हुआ जितना कि लेखकों में हुआ यानी अब लेखक विषय का प्रतिपादन बच्चों की दिलचस्पी को देखते हुए सरल भाषा और शैली में करते हैं और जैसा कि हम पहले ही बता चुके हैं, उनके इस प्रयास को अच्छे चित्रकारों का सहयोग प्राप्त है।

इसीलिए हम देख रहे हैं कि प्रकाशक भी इस सम्बन्ध में अच्छी-से-अच्छी पुस्तक प्रकाशित करने की चेष्टा कर रहे हैं।

ऐसी पुस्तकों में आकाश और ग्रहनक्षत्रों पर बहुत-सी पुस्तकें हैं, जैसे, वी० डी० अवस्थी की 'ग्रह और नक्षत्र', जे० भारतदास की 'आकाश में देखे', वी० डी० अवस्थी की 'सूर्य और चन्द्रग्रहण', विनोदकुमार की 'आविष्कारों की कहानियाँ', केशव सागर की 'आवाज', 'हवा की बातें', 'पानी', 'आग की कहानी', रमेश वर्मा की 'हमारा पड़ोसी चाँद' उल्लेखनीय हैं। विज्ञान की साधारण पुस्तकों में उल्लेखनीय हैं—जे० भारतदास की 'समुद्र का खजाना', उन्हीं की 'भारत के जानवर', तथा इरा फ्रीमैन की 'विज्ञान का अद्भुत संसार', फ्रैंक एच० फारेस्टर की 'वायु महासागर की खोज', जान लैवलैन की 'परमाणु की जादू भरी ताकत' (इन सबके अनुवादक हैं नरेश वेदी), मन्मथनाथ गुप्त की 'आदमी का जन्म', श्रीराम शर्मा की 'जंगली जीव', राजेश्वरप्रसाद नारायणसिंह की 'हमारे जल पक्षी' और 'हमारे वृक्ष'। रुद्रदत्त मिश्र और चित्रकार नरेन्द्र ने मिलकर कविता और चित्रों में 'हमारे पक्षी' नामक जिस पुस्तक की रचना की है हम उसका भी स्वागत करते हैं।

सब कुछ कह-सुन लेने पर और पुस्तकालयाध्यक्षों के बयानों का अध्ययन करने

स्वतन्त्रता के बाद का हिन्दी बाल-साहित्य : ७१

के बाद यह नतीजा निकलता है कि बाल-साहित्य में सबसे प्रमुख स्थान कृतान्तियों को ही प्राप्त है। इसलिए यह आश्चर्य की बात नहीं है कि इस क्षेत्र में बहुत काफी साहित्य प्रकाशित हो चुका है। अनुवाद भी काफी हुआ है। बल्कि कहना पड़ता है कि जो कुछ अच्छा साहित्य है, वह अनुवाद ही है। संस्कृत साहित्य का अनुवाद हुआ है, पर पाश्चात्य साहित्य से ही अधिक पुस्तकें आई हैं। कुछ नाम इस प्रकार हैं—सरवांते के 'डान विक्कजाट' का 'तीसमारखाँ', 'ऐलिस इन वण्डरलैण्ड' का 'जादू नगरी', टैलिसमैन का 'चमत्कारी ताबीज', कोरल आइलैण्ड का 'मूँगे का द्वीप', काउण्ट आफ मान्टीक्रिस्टो का 'कैदी की करामात', ऐन्डरसन की कहानी का 'वर्क की रानी', ईसप साहित्य का 'ईसप की कहानियाँ', 'डेविड कापरफील्ड' का उसी नाम से, 'ट्रेजर आइलैण्ड' का 'खजाने की खोज में', 'पिनोकियो' का 'कठपुतली', 'ग्री मस्केटियस' का 'तीन तिलंगे', स्टीवेन्सन के 'किडनैट' का 'चाँदी का बटन', 'आइवान हो' का 'वीर सिपाही', 'टामस सायर' का 'बहादुर टाम', शेक्सपियर साहित्य 'शेक्सपियर की कहानियाँ', सिन्दबाद की कहानी 'सिन्दबाद की सात यात्राएँ', अलीबाबा की कहानी का 'अलीबाबा और चालीस चोर', मनरो लीक की छोटे बच्चों की कृति 'बोवक बकरा', नाम से प्रकाशित हुई हैं।

मौलिक कहानी-कविता के क्षेत्र में बहुत कम उल्लेखनीय काम अभी तक हुआ है, फिर भी कुछ काम तो हुआ ही है। बाल उपन्यास के क्षेत्र में मनहर चौहान का 'जय भवानी', उमाशंकर का 'चित्तौड़गढ़ की रानी', हरिकृष्णदास गुप्त का 'बदला', सत्यप्रकाश अग्रवाल का 'एक डर पाँच निडर' (पहले पराग में प्रकाशित), कहानी क्षेत्र में मनमोहन सरल का 'नई बानी कथा पुरानी', रामनारायण उपाध्याय की 'चतुर चिड़िया', भगतसिंह के 'सुनहरे सपने', 'बूझो' और 'चूँ-चूँ', शारदा मिश्र की 'नीलम और मसहरी की देवी', श्यामसुन्दर व्यास का 'मुहावरों का मेला' (मुहावरों की कथा) सावित्रीदेवी वर्मा की 'जंगल ज्योति' और 'कथा भारतीय', नाटक के क्षेत्र में योगेन्द्र-कुमार लल्ला सम्पादित 'प्रतिनिधि बाल एकांकी' (जिसमें आनन्दप्रकाश जैन, मंगल सक्सेना, विमला लूथरा, वेद राही आदि की नाटिकाएँ संग्रहीत हैं), डॉ० महेन्द्र भटनागर के 'बच्चों के रूपक', भानु मेहता का 'वे सपनों के देश से लौट आए', सिद्धनाथ कुमार का 'आओ नाटक खेलें', आदि उल्लेखनीय हैं।

इसके अलावा जो नाम उभरकर सामने आये हैं, वे हैं जहूर वरुण, सोहनलाल द्विवेदी, राजेन्द्र अवस्थी, निरंकारदेव सेवक (विशेषकर कविता और कविता में अनुवाद), हरिकृष्ण देवसरे, सरस्वतीकुमार दीपक, शैलेश मटियानी, राबिनशा पुष्प आदि। कुछ सम्पादक, लेखक और कवि ऐसे हैं जो बाल-साहित्य की रचना करने या करवाने में लगे हुए हैं। कुछ सम्पादक तथा प्रकाशक यह जो प्रयास कर रहे हैं कि अन्य क्षेत्रों के नामी लेखक बाल-साहित्य के लेखक भी बन जाएँ यह बहुत स्तुत्य होते हुए भी शायद अधिक लाभांश न दे। बाल-साहित्य की रचना के लिए जिस प्रकार की मनोदशा या वृत्ति होने की आवश्यकता है, वह शायद सब लेखकों के वश की नहीं है। बच्चों के लिए लिखने में जैसा कि जार्ज नार्थक्राफ्ट ने लिखा है, लेखक को कुछ हद तक बच्चा बनना पड़ता है। कम-से-कम उसे अपने बचपन की अच्छी तरह

याद आनी चाहिए कि मुझे अमुक उम्र में अमुक बात अमुक तरह से अच्छी लगती थी। इसके अलावा क्रमशः हमारे बच्चे भी जटिल होते जा रहे हैं और उसी के अनुसार लेखक को भी शिल्प पर अच्छी तरह दखल पैदा करना पड़ेगा।

मैं अपने तजुबों से कह सकता हूँ कि बहुत सालों तक बाल-साहित्य से संयुक्त रहने पर भी बाल-साहित्य रचना की मनोदशा कभी-कभी ही बन पाती है। अवश्य उन लोगों की बात और होगी जो केवल बाल-साहित्य की रचना करते हैं। मैंने बीच में कई बाल-साहित्य रचना नहीं की, पर बाद को 'महानगरी का राजा' नाम से एक पुस्तक लिखी जो वर्तमान समाज और राजनीति पर व्यंग्य है।

इस तरह औरों का भी तजुबा है। सारे बाल-साहित्य का सर्वेक्षण करने के बाद यह नतीजा निकलता है कि काम तो थोड़ा-बहुत हुआ है, पर व्यवस्थित ढंग से नहीं हुआ और यह आशा करना गलत होगा कि एकाएक कोई जादू हो जाएगा, इसलिए बाल-साहित्य के भविष्य के सम्बन्ध में प्रकाशकों के सामने यही योजना होनी चाहिए कि वे मौलिक प्रतिभा को प्रोत्साहन तो दें ही, पर विश्व-साहित्य और भारतीय साहित्य से अच्छी पुस्तकों का अच्छा अनुवाद करवाएँ।

हिन्द

प्रत्येक उ
जाता है
सर्वजन-त
तो 'आँच

जहाँ अन
घटनाओं

का उद्घ

में, जीवन

है, चारि

है। अन्य

उपन्यास

विभिन्न त

का निरूप

सांस्कृतिक

निर्दर्शन है

रीति-नीति

जीवन से

आँचलिक

है

के साधन

गई। इस

साहित्य म

क्षेत्रीय जी

चरित्र-वि

है, वहाँ अ

सामान्य द

एक खास

स्वातन्त्र्योत्तर कथा-साहित्य

ले० मधुकर गंगाधर

हिन्दी में आँचलिक उपन्यास

प्रत्येक उपन्यास, स्थान, काल, संस्कृति या संस्कार विशेष के लोगों को लेकर लिखा जाता है। इस अर्थ में कोई भी उपन्यास गैर-आँचलिक नहीं कहा जा सकता है। सर्वज्ञ-तत्त्व की प्रधानता के जरिये उपन्यास के प्रकृति-निर्णय का सिद्धान्त बनाया जाय, तो 'आँचलिकता' एक विशिष्ट औपन्यासिक दृष्टिकोण है।

आँचलिक उपन्यास तथा अन्य सभी उपन्यासों में एक सही अन्तर यह है कि जहाँ अन्य उपन्यासों में देश, काल एवं खास किस्म के संस्कार वाले पात्रों के जरिये घटनाओं के उत्कर्ष तथा चरित्रों के मनोविश्लेषण द्वारा जीवन के किसी सर्वमान्य सत्य का उद्घाटन या समर्थन होता है, वहाँ, आँचलिक उपन्यास एक ही प्रकार के परिवेश में, जीवन के सर्वमान्य सत्य-उद्घाटन के बदले, क्षेत्र-विशेष का सत्य उद्घाटित करता है, चारित्रिक विकास के लिये पात्रों की वज्राय क्षेत्र की सम्पूर्ण जन-संख्या को चुनता है। अन्य उपन्यासों के पात्र अपने 'किस्म-विशेष' के प्रतिनिधि होते हैं, आँचलिक उपन्यास के पात्र क्षेत्र-विशेष की जीवन-प्रथा के विभिन्न स्तरों, विभिन्न प्रकारों एवं विभिन्न दलों का प्रतिनिधित्व करते हैं। अतः आँचलिक उपन्यास का आदर्श व्यक्तित्व का निरूपण एवं जीवन के सर्वमान्य सत्य की अभिव्यक्ति नहीं, बल्कि भौगोलिक या सांस्कृतिक सीमा-बद्ध खास क्षेत्र के सामान्य जीवन के सत्यों का अन्तर या एकरूपता निर्देशन है। देश, काल, जाति, धर्म, भौगोलिक स्थिति, आर्थिक-सामाजिक प्रणाली, रीति-नीतियों के मनोवैज्ञानिक रहस्य के बीच स्थापित क्षेत्रीय-जीवन में सम्पूर्ण विश्व-जीवन से या विश्व-जीवन के अन्य क्षेत्रों से जो विशिष्ट अन्तर आ जाता है, वही आँचलिक उपन्यासों का दृष्टिकोण है।

हमारी मानव-सभ्यता खण्ड-गत है। धरती के अलग-अलग भू-खण्डों में प्रकृति के साधन भिन्नतर होते गये, तदनुरूप मानव-जीवन की साधना भी रूपायित होती गई। इसलिये, हम अन्ततः खण्डगत या क्षेत्रीय संस्कृति के सामाजिक प्राणी बन सके। साहित्य मूलतः संस्कृति का उद्गायन है। अतः जहाँ सामान्य उपन्यासों में पात्रों के क्षेत्रीय जीवन का आँचलिक वातावरण दिये बगैर या गौणरूप से इसका प्रयोग कर हम चरित्र-विकास में विश्व-जीवन के सर्वमान्य सत्य का संघटक खोजने का प्रयास करते हैं, वहाँ आँचलिक उपन्यासों में विशिष्ट आँचलिक वातावरण में दिन-प्रतिदिन की सामान्य घटनाओं तथा वर्ग विशेष के प्रतिनिधि पात्रों की जीवन प्रक्रिया के माध्यम से एक खास भौगोलिक संस्कृति का उद्घाटन वांछनीय स्वीकारते हैं। ऐसे उपन्यासों में

घटनाएँ इतिहास परम्परा से अविच्छिन्न नहीं रहतीं, न पात्र अपने वर्ग की आदतों से मुक्त । घटना का हर क्रम एवं पात्रों की हर प्रक्रिया भौगोलिक सीमान्त का संकेत होता है । ऐसे उपन्यासों की कोई भी इकाई, इकाई न होकर संघ होता है । आंचलिक उपन्यासों का लक्ष्य, संतुलन या संक्रमण—किसी भी काल में, किसी क्षेत्र की सम्पूर्ण भौगोलिक संस्कृति का प्रतिनिधित्व करता है । इस तरह, यह धारणा कि किसी देश या देश-खण्ड की प्राकृतिक बनावट, वहाँ के लोगों की सामाजिक—आदतें, रीति-रिवाज, तथा स्थानीय भाषा के प्रयोगों द्वारा, एकदम नपुंसक ढंग से, किसी उपन्यास की पृष्ठ-भूमि तैयार कर लेना या किसी क्षेत्र विशेष के लिए संवेगात्मक पक्षाकर्षण की भाषा द्वारा रिपोर्टाजों के कुछ असम्बद्ध चित्र प्रस्तुत कर देना, उपन्यास को आंचलिक बना देता है—भ्रामक है ।

आंचलिक उपन्यासों का आदर्श केवल किसी क्षेत्र की चित्रगत वास्तविकता प्रस्तुत करना नहीं, बल्कि सम्पूर्ण जीवन-प्रणाली की ऐतिहासिक एवं वैज्ञानिक धारणा प्रस्तुत करना है । प्राकृतिक एवं स्थूल सामाजिक वास्तविकताओं का चित्रगत प्रस्तुतन तो मात्र एक ढाँचा है । आंचलिकतावादियों का मत है कि जैसे लोग अपने क्षेत्र की विशिष्ट भौगोलिकता में अपने को ढालकर सामंजस्यपूर्ण बनाने का प्रयास करते हैं तथा संस्कृति व सामाजिकता की एक खास प्रथा गढ़ते हैं, वैसे ही आंचलिक उपन्यासों की एक रस-सिद्ध विलक्षण मगर सामंजस्यपूर्ण सिद्धि होनी चाहिये ।

विशुद्ध आंचलिक उपन्यास एक कठिन धारणा है । वस्तुतः आज के अधिक उपन्यासों में, जिन्हें आंचलिक उपन्यासों की श्रेणी में रखा जाता है, आंचलिकता का आभास मात्र रहता है । यह विपथ-वृत्ति “सामाजिक-उपन्यास” की संज्ञा से विभूषित उपन्यासों में देखने को आती है । हर सामाजिक उपन्यास में खास-क्षेत्र की जीवन-प्रणाली का चित्रण रहता है तथा लेखक की कोई सुधारवादी मनोवृत्ति साथ लगी चलती है । ऐसे उपन्यास भी, यद्यपि निम्नतम अर्थों में, आंचलिकता का आभास रखते हैं । श्रेणी-निर्णय की समस्या को सामने रखकर, सिद्धान्त रूप में इन उपन्यासों को अंशगत आंचलिक भी नहीं कहा जा सकता है । ऐसे उपन्यास, निस्सन्देह एक क्षेत्र-विशेष के सामाजिक जीवन की प्रणालियों को सामने लाते हैं, किन्तु यह उस क्षेत्र की सम्पूर्ण सांस्कृतिक-प्रणाली का एक अंग ही होता है । उस आंचल की सांस्कृतिक परम्परा से संबद्ध-असंबद्ध हर प्रकार के बौद्धिक तर्कों द्वारा सुधारवादी उद्देश्य को पूरा किया जाता है, उस क्षेत्र की सांस्कृतिक-प्रणाली में बनी विचारधाराओं द्वारा संस्कृति की ऐतिहासिक प्रगतिशीलता को मुखरित करने का प्रयास नहीं किया जाता है । ऐसे उपन्यास यथार्थवादी धारा की विश्व-सम्मत दार्शनिक-परम्परा को ग्रहण करते हैं । इनके पात्र एवं इनकी घटनाएँ उसी रूप में उद्देश्यपरक होती हैं । पात्रों के चुनाव एवं उनके चरित्र-विकास में सांस्कृतिक परम्परा को ध्यान में नहीं रखा जाता है, बल्कि उपन्यासकार का अपना सुधारवादी आदर्श ही कार्यरत रहता है । अंचल की सामाजिकता को उसी रूप में एवं उतना ही लिया जाता है, जितने से उपन्यासकार की पृष्ठ-भूमि तैयार हो जाती है । ऐसे उपन्यासों में घटनाओं का सृजन भी इसी में होता है ।

आंचलिक उपन्यास में घटनाएँ स्वभाव-कल्पित दैनिक होती हैं। अंचल की भौगोलिक-संस्कृति के वातावरण में होने वाले मानवीय कार्य-कलापों का यथाचित्र घटना के रूप में लिया जाता है—और इन घटनाओं को सभ्यता के ऐतिहासिक एवं वैज्ञानिक विकास की कसौटी पर रखकर एक सांस्कृतिक दृष्टिकोण बनाया जाता है। आंचलिक उपन्यासकार का दायित्व इतना ही है। इस तरह हम देखते हैं कि अगर अंचल-विशेष के सामान्य जीवन को उपन्यास की पृष्ठ-भूमि बनाया जाय, तो भी, सामाजिक उपन्यासकार की प्रक्रिया से आंचलिक उपन्यासकार की प्रक्रिया भिन्न होती है।

१९वीं सदी के अंग्रेजी, रूसी एवं फ्रांसीसी उपन्यासकारों के अधिकांश महान उपन्यास देश-काल के यथार्थ वातावरण में यथार्थ-चित्रण के साथ लिखे गये। किन्तु उनमें से केवल कुछ ही कृतियाँ आंचलिक कही जायेंगी और कुछ अंशगत आंचलिक। कारण स्पष्ट है। इन सभी उपन्यासों में उपन्यासकार ने अपने आदर्शों की पुष्टि के लिए अंचल के खंडगत जीवन को प्रथम दिया है। इनकी आंचलिक पृष्ठ-भूमि 'पेसिव' है—ठंडा नमूना। आंचलिक उपन्यासों में यह जाग्रत रहा करती है तथा आंचलिक सभ्यता को विभिन्न पहलुओं में अभिव्यक्ति देती है। महान कलाकार प्रेमचन्द ने अपने उपन्यासों में उत्तर प्रदेश के गाँवों के अगणित चित्र प्रस्तुत किये, किन्तु उनके उपन्यास आंचलिक नहीं हैं। कारण, हर उपन्यास में उपन्यास के ऊपर उनका अन्याय-विरोधी आदर्शवाद हावी रहा है। सारी घटनाएँ एवं चरित्र-विकास उनके आदर्शवाद की भित्ति की तैयारी या पृष्ठ-पोषण के लिये हैं। ऐसे उपन्यासों में अक्सर पात्र ऐसा कुछ कर बैठता है, जो उस भौगोलिक परिवेश में सम्भव एवं स्वाभाविक नहीं होता। घटनाएँ भी अक्सर इस रूप में घटती दिखलाई जाती हैं, जो अप्रत्याशित एवं असाधारण लगती हैं। ऐसा संयोजन औपन्यासिक भूल नहीं, उद्देश्यमूलक प्रयास है। लेखक अपने आदर्श की सिद्धि के लिये नियत किये गये रास्ते से परिस्थितियों एवं विकास को आगे बढ़ाता है। आंचलिक उपन्यासों में ऐसा नहीं होता है। वहाँ की घटनाएँ, चरित्र-विकास, परिस्थितियों का मार्ग सभ्यता की ऐतिहासिक प्रगति में पहले से बनी बनाई रहती है। बनी लीक पर चलते हुए क्षेत्रीय जीवन से छेड़-छाड़ किये वगैर, उसकी वैज्ञानिक व्याख्या प्रस्तुत करना ही आंचलिक उपन्यासकारों का दायित्व है। इस प्रस्तुतन में सन्तुलन या संक्रमण की सारी स्थितियाँ स्वयमेव समाहित हो जाती हैं। क्षेत्र से बाहर होने वाले सामाजिक, सांस्कृतिक आन्दोलनों को भी वह अपने वृत्त में लेता है। किन्तु उसी सीमा तक, जहाँ तक क्षेत्रीय जीवन में इन बाहरी आन्दोलनों से परिवर्तन आता है। आंचलिक उपन्यास ऐसे ऊँचे धरातल पर उस प्रक्रिया को आत्मसात करता है, जिसके द्वारा आंचलिक-संस्कृति का सत्य, समस्त विश्व-संस्कृति के सत्य में अपनी सत्ता मिलाकर अपने क्षेत्र को अधिक-से-अधिक प्रसारित कर लेता है। यहाँ यथार्थ की सिद्धि से अधिक उसकी प्रक्रिया महत्वपूर्ण होती है।

हार्डी, डिकेन्स, शरतचन्द्र एवं प्रेमचन्द्र जैसे महान लेखकों में आंचलिकता का सशक्त विभ्रम है। वैसे ये उपन्यासकार अपने में महान हैं और अपने "स्थान" के

समाज का कोना-कोना झाँक आये हैं। इस तरह के लेखकों की कृतियों में आँचलिकता का ऐसा आभास है कि अक्सर लोग भ्रम में पड़ जाते हैं। प्रेमचन्द ने उत्तर-प्रदेश के अनेक गाँवों को कथा-भूमि बनाकर भी उनकी स्थानीयता को ग्रहण नहीं किया। उनकी समस्या सम्पूर्ण उत्तर-भारत के 'किसान-वर्ग' की समस्या है।

चार्ल्स डिकेन्स ने इंग्लैंड के सामाजिक जीवन पर उभरी औद्योगिक क्रांति की विषम प्रतिक्रियाओं की महानतम वास्तविकताओं को सफलता के साथ उतारा है। लेकिन इन प्रतिक्रियाओं में इंग्लैंड का कोई सम्बद्ध ऐतिहासिक-संस्कृति का पक्ष उद्घाटित नहीं होता है। प्रेमचन्द की तरह उनकी समस्या भी औद्योगिक क्रान्ति से पीड़ित यूरोपीय जनता की सर्वनिष्ठ समस्या है। हार्डी ने 'वेसेक्स नॉवेल्स' के नाम पर जितने उपन्यासों का सृजन किया, उनमें आँचलिक वातावरण का प्रयोग तो ठीक हुआ, किन्तु किसी आँचलिक संस्कृति के उद्घाटन के बदले भाग्यवाद जैसे मानव-जीवन के सामान्य सत्य का उद्घाटन मात्र हो पाया। घटनाओं का काल्पनिक सृजन तथाकथित वेसेक्स प्रदेश की संस्कृति को ध्वनित नहीं करता, बल्कि भाग्यवाद की परिणति को सिद्ध करने के लिए संयोगात्मक कथा-सूत्र का ताना-बाना तैयार करता है। हार्डी ने स्थानीय वातावरण को कुछ हद तक संभाला है। किन्तु इन उपन्यासकारों की तुलना में शरत्चन्द्र आँचलिकता के अधिक निकट पड़ते हैं। उन्होंने 'पल्ली समाज' के जरिए बंगाल के गाँवों की सामाजिकता के सम्बद्ध चित्र प्रस्तुत किये हैं। किन्तु इनकी कृतियों में आँचलिक संस्कृति की परिणति न होकर, क्रांति-मुखी आदर्शवाद की ही परिणति हुई। 'पल्ली समाज' प्रेमचन्द्र एवं डिकेन्स की सामाजिकता एवं हार्डी की स्थानीयता के सन्धि-स्थल पर खड़ा है। इसलिए आँचलिकता का बड़ा धोखा यहीं उपस्थित हो सकता है। ऐसी तमाम रचनाएँ विश्ववादी हैं।

(२)

उपन्यास में आँचलिकता का आन्दोलन वस्तुतः अमरीकी साहित्य से प्रारम्भ होता है। सामान्यतः आँचलिक शब्द केथर, फॉकनर, स्टेनबेक की रचनाओं, जो यथार्थवादी क्षेत्र केन्द्रित हैं, के लिए लागू किया गया। इनका दावा है कि "इस नये औपन्यासिक दृष्टिकोण का आधार संयुक्त-राज्य अमेरिका के किसी खास क्षेत्र की भौगोलिक तथा आर्थिक-सांस्कृतिक खासियत है। व्यक्त करने के लिए वैज्ञानिक माध्यम अपनाया गया। ऐसे क्षेत्र-केन्द्रित औपन्यासिक दृष्टिकोण के लिए जाति और संस्कृति के विद्वत्तापूर्ण, शास्त्रीय एवं विज्ञान-सम्मत अनुसन्धान आवश्यक हैं। यह चित्रगत थोथे यथार्थवाद से संस्कृति की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि की व्याख्या की ओर ले जाता है।" अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में बिटहार्ट के उपन्यासों के जरिये स्थानीयता को वातावरण के रूप में ग्रहण करने की नई प्रथा अमरीकी उपन्यासों में चली। वस्तुतः हार्ट ने ही आधुनिक आँचलिकतावाद को जन्म दिया, यद्यपि इसके वैज्ञानिक परिणाम से वह दूर रहा। उसने अपने उपन्यासों में मानवीय संस्कृति के ऊपर भौगोलिक स्थिति एवं जलवायु के प्रभावों का अध्ययन किया। सन् १८८८ ई० में प्रकाशित उनके उपन्यास 'एफिलिस ऑफ साराज' में संस्कृति के दो भिन्न प्रकारों को दिखाया

चलिकता
प्रदेश के
किया।

गया है तथा एक हद तक एन्थ्रोपोजिकल अध्ययन भी प्रस्तुत किया। अपने दूसरे उपन्यास 'दी एनसेस्टर्स ऑफ पीटर आथरली' में भी उसी तरह मिश्रित अंग्रेजी वेश-परम्परा की संस्कृतियों का उद्गायन है। इन उपन्यासों ने आँचलिकता को धर्म की तरह स्वीकारा।

क्रांति की
लेकिन
दृष्टि
तुलना
जिन्होंने
किन्तु
सामान्य
वेसेक्स
सिद्ध
हार्डी ने
तुलना
जिन्होंने
इतनी
की ही
हार्डी की
यही

समकालीन हैरेट वीयर स्टो ने अपनी कृति 'मिनिस्टर्स वूचिंग' के जरिये हार्ट की साझेदारी में आँचलिकता के महत्व को पूरी तरह साबित करने की कोशिश की। स्टो के उपन्यासों में कथा एवं घटना सूत्र की मनोरंजकता पर अधिक खयाल किया गया है। हार्ट के उपन्यासों में अगर इन बातों पर ध्यान दिया जाता, तो वे, निश्चय ही, आँचलिक उपन्यासों में श्रेष्ठ गिने जाते। स्टो का 'ओल्डटाउन ऑक' ग्रामीण उपन्यास है, जिसमें आँचलिक होने का माह्रा है। इस उपन्यास में एक देहाती अंचल की संस्कृति, वहाँ के लोगों का सामाजिक तथा आर्थिक जीवन, जनता के मनोविज्ञान, रीति-रिवाजों आदि का चित्रण करते हुए स्पष्टतः स्वीकारा गया है कि 'मेरे लिए यह मात्र कथा-लेखन से बड़ा काम है।' स्टो का प्रयास सचमुच वैज्ञानिक रहा, यद्यपि इस कार्य की दुर्गम कठिनाइयों की दृष्टि से उसकी रचना-शक्ति सदा ही सीमित रही एवं औपन्यासिक संगठन की शिथिलता, जाति-वाद के पक्षपात एवं संवेगात्मक भाषा-प्रयोगों की कमजोरी से बच नहीं सकी।

प्रारम्भ
में, जो
इस नये
वेब की
ज्ञानिक
त और
। यह
नोर ले
नीयता
बली।
ज्ञानिक
भौगो-
शक्ति
खाया

स्टो की परम्परा में दूसरा नाम सारा जिवेट का है। इनका उपन्यास 'द कट्टी ऑफ द प्वाइन्ड पास' को उन्नीसवीं सदी के अमरीकी आँचलिक उपन्यासों में श्रेष्ठ माना जाता है। इस उपन्यास में, अवतक के सभी आँचलिक उपन्यासों में पाई जानेवाली शिल्पगत शिथिलता, दूर हो गई है। अन्य उपन्यासों की तरह स्थानीयता की सतह की अतिशय निर्भरता भी इस उपन्यास में नहीं है। इसके चरित्र, वातावरण घटनाएँ यथार्थ व गतिशील हैं। मिलाजुलाकर प्रस्तुत उपन्यास उच्चकोटि का आँचलिक उपन्यास है। जिवेट ने आँचलिकता की अच्छी समाजशास्त्रीय परम्परा पाई थी। चरित्र पर जलवायु के असर की बात अक्सर सुनी जाती है। स्थान का भी अपने पर जबरदस्त प्रभाव पड़ता है तथा वे तमाम चीजें, जो हमें घर के अन्दर या बाहर घरे रहती हैं, हमारे जीवन में, हमारे आचार-व्यवहारों में अपनी प्रकृति को मनवाती रहती हैं। प्रस्तुत उपन्यास में इस उक्ति का संतुलित पाक हुआ है। "अन्तर्दृष्टि की तूलिका से अंकित, सम्बेदना की प्रतिभा से रंजित, स्मृति की जीवन्त चेतना से पुनर्स्पृशित तथा सागर आकाश की पृष्ठभूमि—जो जिवेट की अपनी खास बात है—से सुसज्जित इस उपन्यास के चरित्र कथा-शिल्प के क्रांतिकारी प्रयोग हैं।" प्रस्तुत उपन्यास में कथा-प्रवाह एवं परिच्छेदों का संयोजन ऐसा सन्तुलित हुआ है कि परिच्छेदों के जोड़ तक महसूस नहीं होते।

इस सदी के अन्य अमेरिकन आँचलिक उपन्यासकारों में खडवार्ड इगल्सटन, वॉशिंगटन केबल, चान्डलर हेरिस तथा सिडनीपोर्टर आदि के नाम विख्यात हुए हैं। ये उपन्यासकार आँशिक रूप से ही आँचलिक हैं, क्योंकि आँचलिकता का इनका सारा प्रयास, 'लोकल कलर' तक ही रह जाता है। इगल्सटन ने स्कूल मास्टर, सरकिट

राइडर, रीक्स आदि कृतियों के जरिये ख्याति पाई, किन्तु सबसे अधिक विख्यात रूप ग्रेयसन्स में उपस्थित किया है। आँचलिकता की दृष्टि से सरकिट राइडर अधिक ख्याति पा सका। प्रस्तुत उपन्यास में उन्नीसवीं सदी के पूर्वार्ध के पश्चिम-मध्य अमेरिका के सामाजिक जीवन का चित्रण है। वाशिंगटन केबल को ऐसी सफलता नहीं मिली। "केबल, न्यू ऑर्किचन्स का साहित्यिक अनुसन्धानकर्ता 'रेकार्डर' होने का दावा रखता है।" उसने आँचलिकता की परम्परा को मात्र निवाह दिया। हेरिस इनसे भिन्न वातावरण लेकर उपस्थित हुआ। वह निग्रो-जीवन का अकेला कलाकार है। अबल रेमस सीरिज की इनकी रचनाएँ ख्याति-लब्ध हुईं। अमरीकी इतिहास की दृष्टि से हेरिस की रचनाएँ उत्तर तथा दक्षिण भागों के सांस्कृतिक संयोजन के लिए महत्वपूर्ण हैं। थियोडोर रूजवेल्ट ने इन्हें आँचलिक विरोधाभासों का सफल विश्लेषक माना है। विलियम सिडनी पोटर, जो साहित्य में 'अमरीकी मोपांसा' के विशेषण के साथ साथ उतरा, ओ० हेनरी के नाम से लिखने लगा। इनकी रचनाओं में आँचलिकता निम्नतम रूप में है, इतना निम्नतम कि इन्हें आँचलिक कथाकार के रूप में हिचक के साथ ही रखा जाता है। सिर्फ 'द फोरमिलियन' में इन्होंने न्यूयार्क के आँचलिक वातावरण में वहाँ के सामाजिक प्रश्नों को मात्र स्पर्श किया है। अमरीकी साहित्य में यथार्थवाद तथा स्वाभाविकतावाद की परम्परा ने भी आँचलिक उपन्यासों को अच्छी भूमि दी। लेकिन जिन महान उपन्यासों, उपन्यासकारों के नाम से यथार्थवाद एवं स्वाभाविकतावाद की परम्परा अमरीकी साहित्य में विख्यात रही, उन्हें आँचलिक उपन्यासकारों की श्रेणी में लाते वही दिक्कत उपस्थित होती है, जो डिकेन्स और हार्डी के साथ है। ऐसे उपन्यासकारों में प्रमुख मोरिस एवं वाटसन हैं।

प्रथम विश्वयुद्ध के बाद के अमरीकी उपन्यासों में आँचलिकता की लहर पुनः वही। इस काल में बड़े आँचलिक उपन्यासकारों में विला कैथर, फॉकनर एवं स्टेनबेक मुख्य माने जाते हैं। यह युग आँचलिक उपन्यासों की परम्परा में आधुनिकता लाने वाला माना जा सकता है। इस युग की मुख्य विशेषता यह रही कि उपन्यासकारों ने आँचलिक संस्कृति का मानव-शास्त्रीय सर्वे प्रस्तुत करते हुए भी आधुनिक सभ्यता के सर्व-समन्वयवाद को धर्म की तरह ग्रहण किया। प्रभाव की दो धाराएँ स्पष्ट हैं। आँचलिकता का प्रभाव सारा जिवेट का है एवं अन्तर्राष्ट्रीयता का प्रभाव प्रख्यात अमरीकी उपन्यासकार हेनरी जेम्स का।

विला कैथर को पश्चिमी प्रदेशों का विशेषज्ञ माना जाता है। लेकिन वे कभी किसी खास अंचल से बँधी नहीं रहीं। वस्तुतः उनके उपन्यास अन्तःआँचलिकता को चित्र-वर्णन के रूप में पाते हैं। मिसिसिपी के उत्तरी प्रदेशों की पट-भूमि पर लिखे गए इनके उपन्यास बड़े ही यथार्थ एवं गतिमान वर्णन प्रस्तुत करते हैं। लेकिन इस प्रवाह में आँचलिकता की प्रकृति खो-सी जाती है स्टाइनबेक उस युग के उपन्यासकार हैं, जब अमेरिका महादेश से ऊपर उठकर स्वतंत्र विश्व की संज्ञा पाने का अधिकारी हो लेती है।

स्टाइनबेक स्वभाव से ही संस्कृति की अमरता एवं अनन्त विस्तार का विश्वासी

है। उनके उपन्यासों में "फोरगॉटन विलेज" एक ऐसा दर्पण है, जिसमें मेक्सिको के एक गाँव का अंग-प्रत्यंग झलक उठता है।

आंचलिक उपन्यासों की सही परम्परा हमें अमरीकी साहित्य में ही मिलती है। अंग्रेजी-फ्रेंच आदि उपन्यासों में इसका अभाव है, जिसका एक अनुमानगत कारण यह हो सकता है कि इन देशों की अपनी सामाजिक-सांस्कृतिक अभिव्यक्ति हमेशा अन्य देशों के उलट-पुलट से संबद्ध रही। जाति एवं सामाजिक जीवन की परम्पराएँ यूरोपीय देशों में इतने प्राचीन काल में ही स्थायी हो गईं, जब साहित्य में जाति व समाज की केंद्रीयता की चेतना उदित नहीं हो पाई थी। यूरोपीय साहित्य में सर्व-सामान्य दार्शनिकता का उत्तरोत्तर उदय होता गया। रूस के साथ भी कुछ ऐसी ही बातें रहीं। एक महान औपन्यासिक परम्परा का विशाल देश रूस ने, अपनी आजादी के पूर्व, दर्शन एवं मानवतावादी सामान्य सत्यों की ओर अपने साहित्यकारों को उन्मुख रखा, आजादी के बाद, आंचलिकता के सफल उन्नयन का अवसर आया तो वहाँ के साहित्यकारों के समक्ष दर्शन का एक व्यावहारिक 'मिशन' उपस्थित हो गया। फलस्वरूप उनकी चेतना निश्चल आंचलिकता से परे हटकर, बौद्धिक व्यवहारवाद की मशीनी-रचना से उलझती गई। अमरीकी साहित्य के साथ ऐसी कोई बात नहीं हुई। स्वतन्त्रता-संग्राम के बाद अमरीकी साहित्यकारों में जाति एवं राष्ट्र-चेतना का अलौकिक अभ्युदय हुआ, जिस पर किसी दर्शन या राजनीति का 'मिशनगत' दबाव नहीं रहा। अमेरिका की उज्ज्वल से उज्ज्वलतर तस्वीरें तैयार करना, वहाँ के साहित्यकारों की धुन बन गई। विश्व के अन्य देश, अपने उपन्यासों पर आंचलिकता का लेबुल लगाने के लिये अमेरिका के ऋणी हैं।

(३)

भारतीय उपन्यासों पर पाश्चात्य औपन्यासिक-प्रणाली की अमिट छाप प्रत्यक्ष एवं परोक्ष रूप से अंकित है। हिन्दी उपन्यासों का विकास "मनोरंजन" की स्थिति से होता है। सर्वप्रथम प्रेमचन्द ने उपन्यासों को 'मनोरंजक कथाकारिता' की स्वाभाविक अस्वाभाविक कलाबाजी से अलग उच्च सामाजिक स्तर पर ले जाने का प्रयास किया। इसमें सन्देह नहीं कि प्रेमचन्द के उपन्यास हार्डी के उपन्यास से एक स्तर ऊपर हैं और डिकेंस की तरह सामाजिक विरोधाभासों को सफलरूप में चित्रित नहीं कर सकने पर भी हिन्दी-बंगला के सभी उपन्यासकारों को पीछे छोड़ जाते हैं। उनके उपन्यास गाँव के कथांचल पर आधारित होकर अंचल विशेष का एन्थ्रोपोजिकल सर्वे प्रस्तुत करने में अक्षम हैं, फिर भी गाँव-घरों के साधारण चित्र, रहन-सहन आदि प्रस्तुत कर जो उपन्यासकार अपनी आंचलिकता सिद्ध किया करते हैं, प्रेमचन्द के वे अनुगामी हैं। इस समय श्री शिवपूजन सहाय की 'देहाती दुनिया' एक ऐसी कृति उपस्थित हुई, जिसमें थगर संयमित दृष्टि विस्तार एवं उच्चतर की कथाकारिता रहती, तो निश्चित रूप से हिन्दी को एक अच्छा आंचलिक उपन्यास मिल गया होता। भारतीय उपन्यासों में आंचलिकता का स्रोत बंगला उपन्यासों में फूटता है। इस अर्थ में शरत्चन्द्र को स्मरण किया जा सकता है, किन्तु शरत्चन्द्र में आंचलिकता उतनी ही और उसी रूप में थी,

जैसी प्रेमचन्द में। लेकिन शरत्चन्द्र ने अपने साहित्यकारों को इतना प्रभावित किया कि उनकी आंचलिकता के वंशधर श्री ताराशंकर, विभूतिभूषण, मानिक बन्धोपाध्याय, सतीनाथ भादुड़ी आदि हुए। इन उपन्यासकारों ने आंचलिकता की नई और सबल धारा प्रवाहित की। शरत्चन्द्र ने अपने 'पल्ली समाज' में गाँव के सामाजिक संगठन का जो सीधा चित्र खींचा है, वह सचमुच अन्यत्र दुर्लभ है, फिर भी आगे आनेवाले इन नये कथाकारों ने एक प्रगति अवश्य की और वह प्रगति है अंचल के चित्रों के जरिये वहाँ के मानवशास्त्रीय अध्ययन का प्रस्तुतन। ताराशंकर के जन-पद, आरोग्य-निकेतन, एवं विभूति बाबू के आरण्यक आदि उपन्यासों में गाँव की संस्कृति अर्द्ध-नगर व नगर-संस्कृति से अपनी भिन्नता स्वयं खोलती है तथा गाँव एवं नगर के अन्तर्सांस्कृतिक प्रसंगों की विशद सामाजिक आर्थिक चेतना प्रस्तुत करती है। इस प्रसंग में वस्तुतः ताराशंकर एवं सतीनाथ भादुड़ी सर्वाधिक प्रयत्नशील रहे हैं। श्री भादुड़ी ने 'दोहाय चरितमानस' में पूर्णियाँ की पिछड़ी जातियों के चन्द आंचलिक परिवेष्ट के जरिये वहाँ की जिन्दगी को अच्छी तरह प्रस्तुत किया है। लेकिन बंगला के ये ख्याति-लब्ध उपन्यास भी आंचलिक उपन्यास की परिभाषा से कुछ दूर रह जाते हैं। ये उपन्यास, सही तौर पर, आंचलिकता की ओर उन्मुख हैं। सामान्य सामाजिक उपन्यासों की पुरानी आदतों को छोड़ सकने में इन्हें सफलता नहीं मिल सकी है। आंचलिक संस्कृति के मानव-शास्त्रीय प्रस्तुतन के बदले, या कम-से-कम जैसा पर्ल बक ने किया, आंचलिक जीवन के आधार में छिपे-पले किसी एन्थ्रोपोजिकल रहस्य को उद्घाटित करने के बदले, इन उपन्यासकारों ने अपने ग्रामांचलों में अपने नये क्रान्तिकारी, सामाजिक, राजनैतिक विचार-धाराओं को ही प्रतिपादित किया है, जिनका आंचलिक संस्कृति के रहस्योद्घाटन से कम ही नाता-रिश्ता है।

इतनी मंजिल तय करने के बाद केवल एक उपन्यास नज़र आता है, जिसे सर्वांग सफल आंचलिक उपन्यास की संज्ञा दी जा सकती है।

वह उपन्यास है उड़ीसा भाषा के लब्धप्रतिष्ठ लेखक गोपीनाथ महान्ती की महान् कृति 'अमृत सन्तान'। इस उपन्यास में विश्व के सभी उपन्यासों के बीच प्रथम श्रेणी में रखे जाने की योग्यता है। उड़ीसा के आदिवासियों (दक्षिणी जंगल) के जीवन पर यह उपन्यास लिखा गया है। आंचलिक उपन्यास की परिभाषा के अनुसार इस उपन्यास में सारा अंचल ही पात्र बन गया है। दिन-प्रतिदिन की घटनाएँ, पर्व-त्यौहारों की विधि, सामाजिक कार्यों को सम्पादित करनेवाले संगठन, उनकी प्रतिक्रियाएँ आदि को एक साधारण अर्तगामिनी कथा-सूत्र में गूँथकर यह उपन्यास उस अंचल के आदिवासी जीवन का बहुत ही उत्तम मानवशास्त्रीय सर्वे प्रस्तुत करता है। यहाँ उस अंचल में प्रचलित रीति-रिवाजों, धारणाओं, कड़ियों एवं आगे आनेवाली क्रान्तिकारी सम्भावनाओं की विशद पृष्ठ-भूमि में बड़ी ही पूर्णता के साथ संयोजित किया जा सकता है। यदा-कदा पुनरुक्ति दोष नहीं होने से इसका कथा-प्रवाह भी अपने ढंग का अकेला माना जाता। भारतीय कथा-साहित्य में आंचलिकता के ख्याल से इस उपन्यास को आदर्श माना जा सकता है।

(४)

हिन्दी में आंचलिकता का विकास किसी जादुई ढंग से न होकर, वर्षों की साधना के जरिये हुआ है। हिन्दी गद्य की और विधाओं में जिस प्रकार विकास आया और नया स्वरूप उभरा, उपन्यास भी जन-जीवन के परिवर्तनों के साथ विकसित होता गया। यह सही है कि हिन्दी में आंचलिक उपन्यास का श्रीगणेश सन् '३० के आस-पास शुरू हो गया होता, अगर हिन्दी क्षेत्र मात्र गांधी की उदार नीति से प्रभावित नहीं होता। राष्ट्रीयता के जिस तीक्ष्ण स्वार्थ से आंचलिकता का जन्म होता है, उसका आभास शिवपूजन सहाय की 'देहाती दुनिया', निराला की 'चतुरी चमार', बेनीपुरी की 'माटी की मूरतें' आदि पुस्तकों से मिलता है। किन्तु इन लोगों के साथ राष्ट्रीयता के उदार दृष्टिकोण का आदर्श हमेशा चिपका रहा, फलस्वरूप सीमावद्ध आंचलिकता, जिसके मूल में कला के यथार्थ का संजीवन होता है, न पनप सकी।

उत्तरार्द्ध बीसवीं सदी के प्रदेश के साथ हिन्दी में आंचलिकता का अभ्युदय हुआ, जब आज़ादी के बाद, राष्ट्रीय चेतना ने विश्व-मंच पर अपने 'अहम्' को प्रतिष्ठित करने की बातें सोचीं। अपने स्वरूप को आप देखने की इच्छा जगी। यह शुभारम्भ श्री नागार्जुन के साथ होता है। वैसे इनसे पहले श्री अमृतलाल नागर एवं शिव प्रसाद मिश्र रूढ़ ने ऐसी रचनाएँ की थीं, जिन्हें आंचलिकता के निकट सम्बन्धी होने का श्रेय दिया जा सकता है। 'सेठ बाँकमल' या 'बहती गंगा' में अंशगत आंचलिकता है। श्री नागर ने अपने व्यंग्य के लिए सेठ को चुनकर, सेठ की आंचलिकता को प्रधानता नहीं दी, बल्कि व्यंग्य के लिए यत्र-तत्र आंचलिकता का आभास प्रस्तुत किया। श्री रूढ़ का प्रयोग निश्चित रूप से आंचलिकता के इतिहास में स्मरणीय होता, अगर 'बहती गंगा' के किनारों के साथ उसकी धारा की गहराई व गति भी प्रस्तुत की जाती। 'बहती गंगा' भी वस्तुतः 'लोकल कलर' जैसी हल्की परतों पर आधारित मानव-जीवन के चिरन्तन राग-द्वेष को उद्घाटित करने का प्रयास है।

इस तरह हिन्दी का पहला आंचलिक उपन्यास 'बलचनमा' को कहा जा सकता है। 'बलचनमा' की रचना-भूमि प्रेमचन्द की वसीयत है। प्रेमचन्द एवं उनके आसपास के लेखक मुख्य रूप से राष्ट्रीय आन्दोलन एवं उससे उत्पन्न समस्याओं को साधने में लगे रहे। प्रेमचन्द ने लोकाश्रय के लिए अंचल-विशेष को चुना, किन्तु प्रेमचन्द के साहित्य का मूल-धर्म लोकोदय था, जिसके विकास का श्रीगणेश दर्शन के उदारवादी दृष्टिकोण से हुआ। फलस्वरूप प्रेमचन्द अंचल-विशेष के न होकर, लोकमात्र के हो रहे। 'बलचनमा' की रचना के पीछे वे तमाम कारण आ जुटे, जिनके जरिये, किसी भी साहित्य में, आंचलिकता का अभ्युदय सम्भव हो सकता है।

जिस प्रकार अमेरिकन साहित्य में आज़ादी की भूख ने मातृ-भूमि की मिट्टी के प्रति प्रेमाधिक्य का मूलन किया, औपनिवेशिक प्रभुओं के लोक इंग्लैण्ड के समतुल्य अपने को प्रतिष्ठित करने के लिए देश के कोने-कोने की कला को अँगुलियों से छूने को विवश किया, भारत के साथ भी ऐसी ही बात हुई। छायावाद या उसके समकालीन गद्य का यह रूप हम आज भी गौरव से देखते हैं। प्रेमचन्द एवं उसके आसपास का

आलेखन इस स्थिति तक पहुँच गया था ।

नागार्जुन के अभ्युदय के साथ हमारी राष्ट्रीयता ने मार्क्सवादी एवं विकासवादी दृष्टिकोणों से काफ़ी परिचय कर लिया था । साहित्य के लिए आवश्यक हो गया था कि वह देश के खंड-खंड को महागाथाओं के जरिये उद्घोषित कर वर्गवादी संघर्ष की दलित आत्माओं का उद्बोधन करता ।

प्रेमचन्द ने वर्ग-संघर्ष की कथा को 'गोदान' में जिस रूप में प्रस्तुत किया था, उसके बाद लेखन-चेतना के लिए यह आवश्यक था कि वह वर्ग-संघर्ष के उस सर्वदशी रूप की ऐतिहासिक व्याख्या पूरी गहनता से करे । गाँव या नगर की ऐसी स्थितियों के जरिये कथाकारिता का प्रारम्भ होना विकास का सरल, स्वाभाविक एवं अटल नियम-सा था । एक मुख्य बात यथार्थवादी आन्दोलन का प्रभाव भी है । आदमी को यथातथ्य रँगने के सिलसिले में 'गोदान' मील का पत्थर बनकर अवतरित हो चुका था । आदमी के बनाने-बिगाड़ने वाले वातावरण एवं आर्थिक हालातों को विश्लेषित करने के लिए 'इतिहास की आर्थिक व्याख्या' का प्रचार-प्रसार हिन्दी में हो चुका था । एक बात खासतौर से ध्यान देने योग्य यह है कि आंचलिकता का यह प्रस्फुटन हिन्दी में ग्रामांचल को आधार बनाकर हुआ । इसका सर्वप्रमुख कारण यह है कि गांधी ने हमारे उदित होते राष्ट्र-प्रेम को गाँव की ओर मोड़ दिया, यह बात दूसरी है कि गांधी के इस राजनीतिक दर्शन के पीछे तालस्ताय या अन्य फ्रांसीसी विचारकों ने बुनियाद रखी हो । किन्तु इतना तो अवश्य हुआ कि प्रेमचन्द के समय के ही कवियों ने 'चलो कवि वनफूलों की ओर' एवं 'भारत माता ग्रामवासिनी' कहकर जन-जीवन के नये यथार्थवादी रोमान्स को जन्म दे दिया । यही कारण है कि 'बूंद और समुद्र' जैसा सबल प्रयास भी आंचलिकता को नगर-उन्मुख नहीं कर सका ।

हिन्दी के लिए ऐसी स्थिति उत्पन्न हो चुकी थी, जब अंचल पर आधारित 'बलचनमा' जैसी यथार्थ कथा का सृजन हो । इसलिए यह कहना अत्युचित नहीं कि 'बलचनमा' हिन्दी कथा-साहित्य की स्वाभाविक एवं अनिवार्य उपज है ।

आत्मकथ्य शैली का यह उपन्यास मिथिला की विराट् संस्कृति की नींव की ईंट जैसे एक नौजवान के जीवन का इतिवृत्त है, जिसके जरिये सम्पूर्ण मिथिला के सामाजिक, ऐतिहासिक, आर्थिक एवं अन्य जीवन-आयामों को अभिव्यक्ति दी जाती है । अंग्रेजों की लादी गई जमींदारी-प्रथा से पैदा होनेवाली श्रम की गुलामी की सीमान्त व्याख्या, उसके शोषक विलास के साथ, यहाँ उपस्थित की गई है । अनादि काल से आती हुई मनु-याज्ञवल्क्य अनुमोदित हिन्दू वर्ण-व्यवस्था के अवशेष समाज की प्रस्तुत कथा मिथिला के समाज का दर्पण है, जहाँ व्याह-श्राद्ध, उत्सव-शोक, झगड़े-गीत—जीवन का प्रत्येक व्यापार अपनी ऐतिहासिक व्याख्या के साथ उपस्थित किया गया है । समाज के परिवर्तन की मुख्य धाराओं—शिक्षा व राजनीति का यथार्थ अध्ययन इसे आंचलिकता की पूर्णता की ओर ले जाता है । हाँ, बलचनमा की क्षेपक-कथा (पटना-पुराण) निश्चय ही टाँकी गई चिप्पी-जैसी लगती है और अनायास ही 'गोदान' की भाग दौड़ वाली कथा-पद्धति की याद दिलाती है ।

नागार्जुन की यह कथा-दृष्टि आगे चलकर परिपक्व हो सकी और 'बाबा बटेसरनाथ', 'वरुण के बेटे' आदि उपन्यासों में उनका आंचलिक कथाकार अधिक उज्ज्वल रूप में सामने आ सका।

आंचलिकता की इस सफलता ने हिन्दी साहित्य को गहरे रूप में प्रभावित किया और हिन्दी में आंचलिकता का तूफान-सा खड़ा हो गया। नागार्जुन की तरह हिन्दी के स्वाभाविक विकास और कथा-परम्परा को आधार बनाकर आंचलिक उपन्यास-लेखकों में देवेन्द्र सत्यार्थी का नाम महत्त्व का है, जिन्होंने 'ब्रह्मपुत्र', 'दूधगाछ' आदि के जरिये उपन्यास के इस आयाम को समृद्ध किया। किन्तु देवेन्द्र सत्यार्थी ने लोक-जीवन से अधिक महत्त्व लोक-गीतों एवं किस्सागोई को दिया, जिससे चलते-उतते उपन्यास, उपन्यास लेखकों के मसाला बनकर रह गये। आगे चलकर उदयशंकर भट्ट ने 'सागर लहरें और मनुष्य', भैरव प्रसाद ने 'सती मैया का चौरा' एवं राजेन्द्र अवस्थी तृपित ने 'जंगल के फूल'-जैसी अच्छी कृतियाँ दी हैं। भट्ट के उपन्यास में वे ही त्रुटियाँ आ गई हैं, जो 'वरुण के बेटे' में। यह त्रुटि है नाटकीयता। भट्ट ने कथा में चमत्कार के लिए मछुआ की लड़की को बम्बई की छँटी हुई नागरिका बना दिया और नागार्जुन ने मछुआ की बेटी को कम्युनिस्ट पार्टी का माउथपीस। मछुआ जीवन पर लिखे गए इन दो उपन्यासों के मछुए बंगला के ख्यातिलब्ध लेखक मानिक बन्धोपाध्याय के पद्मा के माँझियों के वंशज हैं या नहीं, यह कहना कठिन है, किन्तु इतना तो कहा ही जा सकता है कि हिन्दी के ये मछुए कागजी अधिक हो गए हैं। 'सती मैया का चौरा' एवं 'जंगल के फूल' आंचलिक उपन्यासों के अधुनातन प्रयोग हैं, जो अपने अंचलों को विशेष रूप से उद्घाटित कर सके हैं। 'सती मैया का चौरा' अगर अनावश्यक विस्तार से बचाया जाता तो निश्चित रूप से और श्रेष्ठ कृति होती।

हिन्दी में आंचलिकता की चर्चा आयात उपन्यास 'मैला आंचल' से प्रारम्भ हुई। बंगला के शिल्प-निर्माता सतीनाथ भादुड़ी की कथा-भूमि पूर्णिया के जीवन पर लिखा गया यह उपन्यास जब हिन्दी में अवतरित हुआ, तो बंगला से अजाने किसी मूर्खाने हिन्दी आलोचक ने प्रेमचन्द से गोत्र स्थापित कराते हुए इसे 'गोदान' से श्रेष्ठ उद्घोषित किया और इस नये फतवे की वजह से चर्चा का बाजार गर्म हो गया। 'मैला आंचल' हिन्दी का आयात उपन्यास इसलिए है कि लेखक श्री रेणु ने बड़े ही कौशल से भादुड़ी के 'ढोड़ा चरित मानस' के नीचे कार्बन रखकर इसका आलेखन किया है। तागाशंकर की कथाकारिता को भी रेणु ने आदर्श के रूप में स्वीकारा है, किन्तु यह आदर्श मात्र मानसिक आदर्श रह गया है। 'मैला आंचल' की भाषा, टोन, स्थापत्य, निष्कर्ष - कुछ भी हिन्दी से मेल नहीं खाता। श्री भादुड़ी ने पूर्णिया के ततमा, धांडर बाबू आदि की कथा जिस अन्दाज, शक्ति, आदर्श एवं कलाकारिता से कही है, अगर पात्रों के नाम, घटनाओं की तिथि एवं उपशीर्षकों को अलग कर दिया जाए तो 'मैला आंचल' के लिखने का कोई प्रयोजन नहीं रह जाता है। यह सत्य है कि रेणु ने अपने गुरु (वकील रेणु) भादुड़ी के चरण-चिह्नों का अनुसरण बड़े ही ईमानदार रंग पर किया है, किन्तु मात्र यह ईमानदारी 'मैला आंचल' की आंचलिकता को कहाँ

तक पूर्णता देती है, यह जाँचने की बात है।

उद्भव और उत्स की बातें छोड़ देने पर रेणु की कृतियाँ 'मैला आँचल' एवं 'परती परिकथा' आंचलिक उपन्यास का ईमानदार प्रयास मानी जा सकती हैं। 'मैला आँचल' पूर्णिया के एक गाँव के स्थानीय वातावरण की पृष्ठ-भूमि पर लिखा गया है। सन् '४२ के बाद सन् '४८ तक उस गाँव की स्थिति, संगठन, बोलचाल, रहन-सहन, व्यक्ति के मनोविकार, भारतव्यापी सामाजिक, राजनीतिक तथा आर्थिक आन्दोलनों को ग्रहण करने की उस अंचल की प्रक्रियाओं के संकलित शब्दचित्रों का नाम 'मैला आँचल' है। लेखक की ईमानदारी इस बात में है कि उसने गाँव के जन-जीवन की प्रतिक्रियाओं को भादुड़ी की सम्पूर्ण ईमानदारी के साथ उतारने की कोशिश की है, किन्तु इस भोली ईमानदारी मात्र से कोई उपन्यास आंचलिकता की शर्तें पूरी नहीं कर देता। सर्वप्रथम, 'मैला आँचल' एक गाँव को लेकर लिखा गया है, जिसके नाम पर संस्कृति के किसी खास लेबल का प्रचलन असम्भव है। दूसरी बात, भादुड़ी-ताराशंकर का अनुगमन कर भी लेखक उनके जनपदीय उपन्यासों की संवद्धता व संगठनशीलता ग्रहण नहीं कर पाया। सांस्कृतिक परिवर्तन के ऐतिहासिक सत्य की व्याख्या पूर्ण रूप से प्रस्तुत नहीं हो पाई है। 'मैला आँचल' किसी भी संस्कृति का कोई भी एन्थ्रोपोलॉजिकल सर्वे प्रस्तुत नहीं करता है। उसकी सफलता, स्थानीय बोलियों के प्रयोग में है।

'मैला आँचल' के अभावों की पूर्ति 'परती परिकथा' में करने की चेष्टा है। यहाँ लेखक सांस्कृतिक परिवेश तैयार करने के लिए कोशी का इतिहास लिखकर कोशी-संस्कृति का बिल्ला अपने उपन्यास पर साँटता है। संस्कृति-उद्घाटन के लिए शिवन्दर मिसिर की कथा-किम्बदन्तियों का क्षेपक-प्रयोग किया है तथा खानदानी कागज-पत्रों के बीच से कोशी-अंचल की भूमि की प्रकृति को निर्देशित करनेवाले सांकेतिक चक्रों की मायावी-जासूसी उपलब्धि कराता है। इतने प्रयासों को स्वीकार लेने के बाद भी कहना पड़ता है कि ये सभी प्रयास सूनेपन को व्यर्थता से भर देने को हैं। मिसर-घराने का क्षेपक उपाख्यान एक ऐसे परिवार की नानी की कहानी बन गई है, जिसे गाँव के जीवन से ऊपरी लगाव-भर है। 'मैला आँचल' से एक प्रगति इसमें अवश्य है कि गाँव में होनेवाली दैनिक हलचलों की प्रतिक्रियाएँ यहाँ अधिक स्पष्ट हैं, किन्तु भावुकता के अतिरेक, चरित्रों की अस्वाभाविकता एवं आदर्श के घटियापन के कारण 'मैला आँचल' से अधिक असफल हो गया है। आंचलिक उपन्यास की मूल-भावना, लोकोदय का रहस्य एवं लोक-जीवन के दर्द को सहानुभूति के बदले व्यंग्य एवं परवर्द्ध रिप्लेक्शन में देखा गया।

आंचलिकता की कसौटी पर इतने दुर्गुणों को धारण करने वाले रेणु के ये उपन्यास, औपन्यासिक दृष्टि से श्रेष्ठ हैं। इनकी त्रुटियों का एक बड़ा मूल कारण है कि 'अमृत सन्तान' के कथांचल की तरह यहाँ कोई विशिष्ट कथांचल नहीं है। जिस गाँव के अंचल में इन उपन्यासों की मृष्टि होती है, वहाँ संस्कृति-उद्घाटन के लिए भाषा की विभिन्नता एवं कुछ साधारण रीति-रिवाजों की पद्धति-भिन्नता के अलावा क्या विशिष्टता हो सकती है? वैसे, पूर्णिया के गाँवों का बड़ा अंचल कथा-भूमि के लिए चुनकर और

महान्तापूर्वक अध्ययन कर आंचलिकता के नाम पर कुछ बहुत ही महीन तन्तुओं को ढँदा जा सकता है, क्योंकि नील-युग के अंग्रेजों, नेपालियों, पूर्वी पाकिस्तान के मुसलमानों से इसका गहरा सम्बन्ध रहा है। लेकिन रेणु ने अपना क्षेत्र इतना सीमित रखा है और उपन्यास के लिए जिस रिपोर्टाज-शैली को चुना है कि उसे मात्र छिछला रिपोर्टर बनकर रह जाना पड़ा है। उसके वर्णित गाँवों में सामाजिक जीवन की कोई विशिष्ट धारणा तो है नहीं, बिहार के गाँवों की सर्वसामान्य धारणाओं से अलग लोक-भाषा के बन्द बने-बिगड़े शब्द और भौगोलिक दाय के नाम पर चन्द खान-पान की चीजें उपलब्ध हैं। लेखक ने इसी साधारण भिन्नता को तरह-तरह से अतिरंजित कर असाधारण एवं विशिष्ट बनाने का कसरती प्रयास किया है। यह आंचलिक कला का परवसन है। सत्य को प्रकट करने के लिए कला के तोड़-मरोड़ के बदले कलाकारिता को सिद्ध करने के लिए सत्य को विकृत कर दिया गया है। आंचलिकता-प्रेमियों के लिए यह एक खूब बात है कि रेणु जैसे प्रतिभासम्पन्न कथाकार ने भादुड़ी, ताराशंकर से बाहर निकलने की कोशिश नहीं की, बरना वह बहुत ही श्रेष्ठ कृतियाँ दे पाता। श्री महान्ती या पल्लव से कुछ सीखे बगैर रेणु ने आंचलिकता को अपने आलेखन का आधार बनाकर साहित्य की मौसमी खेती भर की। जिस प्रकार महान्ती ने अपने आदिवासी कथांचल को संस्कृति में भारत की आर्य एवं अनार्य संस्कृति की भिन्नता—सम्मेलन, प्रवाह एवं प्रभाव—दिखाई, अथवा पल्लव ने सम्पूर्ण चीन के कथांचल में वहाँ की सामाजिक एवं आर्थिक धारणाओं का अन्वेषण कर भूमि-सम्पत्ति के मोह को उजागर किया, वैसा कुछ रेणु नहीं कर सका।

इस सामान्य विदलेषण से इतना स्पष्ट हो गया कि आंचलिक उपन्यास के विकास के लिए परिस्थिति-विशेष की खास आवश्यकता है। उपन्यास साहित्य का विकास स्वयं युग-चेतना की विशद पृष्ठभूमि में हुआ करता है। आंचलिक उपन्यास युग-चेतना के उस निर्माण-काल की अभिव्यक्ति है, जहाँ सामाजिक जीवन में अपनी शक्ति, अपने धर्म, अपने राष्ट्र की कट्टरता भरी रहती है। यह ठीक है कि आंचलिक उपन्यासों में दृष्टिकोण या विरोधाभास भी काफ़ी रहता है। उपन्यासकार में आंचलिक संस्कृति की विशुद्धता एवं विशिष्टता के लिए विशेष पक्षपात रहा करता है।

आंचलिक उपन्यास विकास के बीच की सीढ़ी है। आंचलिकता के स्तर पर साहित्य का विकास रुकता नहीं है। संस्कृतियों के सम्मिश्रण से ज्यों-ज्यों जीवन का दृष्टिकोण विश्व-सम्मत होता जाता है, साहित्य भी जीवन के बृहत्तर मौलिक तथा सर्वसामान्य सत्यों के लिए अपने को प्रस्तुत कर लेता है। साहित्यकारों के लिए युग-चेतना का यह दायित्व सदा से वहन करने योग्य रहा है।

साहित्य की उपयोगिता तथा औचित्य की दृष्टि से आंचलिक उपन्यास न तो औपन्यासिक दृष्टिकोण के विकास का चरम उत्कर्ष है और न ऐसे उपन्यास को अन्यतम उपलब्धता के साथ लिखकर लेखक अपने दायित्व को हल्का कर लेने योग्य हो जाता है। यह तो विकास की प्रक्रिया मात्र है। इन उपन्यासों के औचित्य एवं उपयोगिता को जब भी मानव-संस्कृति के विश्व-विकासोन्मुखता की कसौटी पर रखते हैं, तो वस्तुतः

८६ : आलोचना

आंचलिक सीमावद्धता के रूप में कितने ही संकीर्ण विरोधों के प्रदन सामने आ जाते हैं। सर्वप्रथम, क्या आंचलिक उपन्यासों में संस्कृति के अन्तर-आंचलिक प्रभावों को स्थान दिया जाए ? अगर उपन्यासकार इस बात को स्वीकार करता है तो आंचलिकता की कोई सीमा-रेखा खींचना कठिन हो जाता है। अगर अस्वीकार किया जाता है तो युग-चेतना की गत्यात्मकता में स्थायी वास्तविकता का विरोध खड़ा हो जाता है। चार्ल्स डिकेन्स, प्रेमचन्द एवं बीसवीं सदी के अमेरिकन आंचलिक उपन्यासकारों की कृतियों के आंचलिकता-निर्धारण में यही कठिनाई है। निःसन्देह, जिवेट, पल्लवक, महान्ती, इन तीन सफल उपन्यासकारों के नमूने हैं, जिन्होंने अन्तर-आंचलिक प्रभावों को आंचलिक सीमा के भीतर इस तरह घुला-मिला दिया है, जैसे विभिन्न पदार्थों से बना शरीर का रक्त। यह पाक-प्रक्रिया आंचलिक उपन्यासों की खास समस्या है।

अस्तु, आंचलिक उपन्यासों की पहली दशा यह है कि इनके कथांचल की अपनी विशिष्ट संस्कृति हो। दूसरी, इस संस्कृति का उद्घाटन दो सम्मिलित प्रणालियों द्वारा हो। अध्ययन की प्रणाली के रूप में आंचलिक उपन्यास संस्कृति-अनुसन्धान की प्रक्रियाएँ पूरी करता है और औपन्यासिक प्रणाली के रूप में आंचलिक आवरण के भीतर जीवन के चित्र खींचता है। ऐसे उपन्यासों में मनोविश्लेषण की कोई व्यक्तिपरक प्रणाली नहीं होती है। यह प्रणाली जाति-परक और वर्ग-परक होती है। पात्र अपना प्रतिनिधि नहीं होता, बल्कि जाति या वर्ग का और उसी परिभाषा में व्यक्ति का मनोविज्ञान उसकी अपनी प्रकृति नहीं होती, बल्कि उसकी जाति-संस्कार अथवा वर्ग-संस्कारगत विकास की प्रक्रिया होती है। इस तरह आंचलिक उपन्यास में उद्देश्य की दृष्टि से पात्रों का चुनाव दूसरी बड़ी समस्या है। यहाँ पात्रों की अपनी निश्चित क्रिया होती है और वे एक निश्चित दायित्व को वहन करते हैं। जन-जीवन के विभिन्न पक्षों का प्रतिनिधित्व करते हुए ये पात्र उपन्यास के अनुसन्धानिक माध्यम होते हैं। आंचलिक उपन्यासों में ऐसे पात्रों का महत्त्व नहीं होता, जो अपनी किस्म के आप प्रतिनिधि हों। 'परती-परिकथा' के भिन्नमल मामा जैसे हीट्रोजीनियस पात्र अंचल को उभार तो ज़रूर देते हैं, किन्तु संस्कृति के अनुसन्धान में ऐसे पात्र बाधक होते हैं।

इतनी सारी बातों के बाद, यद्यपि हिन्दी में अभी तक सर्वांग सफल आंचलिक उपन्यास लिखा नहीं गया है, किन्तु इस ओर प्रयास में कमी नहीं है। आज के दिन, हिन्दी उपन्यास की एक मुख्य धारा के रूप में आंचलिकता उभर आई है, जिसके आधार पर कहा जा सकता है कि निकट भविष्य में, निश्चय ही हिन्दी में जिवेट, पल्लवक, महान्ती जैसा व्यक्तित्व आने को है।

स्वातंत्र्योत्तर कथा-साहित्य और चरित्र-विकास

प्रेमचन्द ने एक स्थान पर लिखा है कि भविष्य में उपन्यास में कल्पना कम सत्य अधिक होगा, हमारे चरित्र कल्पित न होंगे, बल्कि व्यक्तियों के जीवन पर आधारित होंगे। भावी उपन्यास जीवन-चरित्र होगा, चाहे किसी बड़े आदमी या छोटे आदमी का। उसकी छुट्टाई-बढ़ाई का फ़ैसला उन कठिनाइयों से किया जाएगा, जिन पर उसने विजय पाई है। अभी हमें मूल आधार दिखाना होगा। किसी किसान का चरित्र हो या किसी देशभक्त का या किसी बड़े आदमी का, पर उसका आधार यथार्थ पर होगा। तब यह काम उससे कठिन होगा जितना अब है, क्योंकि ऐसे बहुत कम लोग हैं, जिन्हें बहुत-से मनुष्यों को भीतर से जानने का गौरव प्राप्त हो।^१ आज के रूसी उपन्यास प्रेमचन्द के इस कथन को चरितार्थ करते हैं। पेस्टर्नक का उपन्यास 'डॉक्टर जिवागो', निकोलाई ओब्रवोव्स्की का उपन्यास 'अग्निदीक्षा' इसका सुन्दर उदाहरण है। 'अग्नि-दीक्षा' दरअसल प्रारम्भ से अन्त तक लेखक की आत्मकथा है। इस युग की कथा के लिए चरित्र-विकास ही प्रधान हो गया। स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी-कहानी में भी यही प्रवृत्ति पाई जाती है। घटना की बाँहों से छूटकर हिन्दी-कहानी 'चरित्र' के ही आलिङ्गन में आ बँधे, यह हिन्दी कथा-सृष्टि के लिए शुभ संयोग है। चरित्र ऐसे, जिनके प्राण का आविर्भाव कल्पना के आकाश से न होकर कथाकार की आत्मानुभूति के घरातल से हो, ऐसी योजना नई लेखनी द्वारा ही संयोजित हुई है।^२

आज के उपन्यास-शिल्प का मेरुदण्ड है चरित्र।^३ श्री श्रीपतराय का मत है कि आज का उपन्यास वैचित्र्ययुक्त आत्मकथा का रूप लेता जा रहा है।^४ सच बात तो यह है कि बिना महान् चरित्र के कोई भी उपन्यास महान् नहीं बन सकता है। इसीलिए वाल्टर एलन ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक में लिखा है—

"देयर इज नो ग्रेट नावेल विदाउट ग्रेट केरेक्टर।"^५

स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद हिन्दी-कथा-साहित्य में नये विचारों एवं नई उत्क्रान्ति ने अभिव्यक्ति पाई। सन् १९५० तक उस उदय-उत्क्रान्ति ने एक सुस्थिर दिशा पा ली, जो निस्सन्देह हिन्दी-कथा-साहित्य के लिए शुभ प्रतीत हुई। इस तिथि के आसपास हिन्दी-साहित्य में गत्यवरोध, गतिरोध और कुंठा का नारा खूब लगाया गया। गतिरोध के इस प्रचार-प्रसार से प्रभावित होकर दिनकर जैसे समाजवादी साहित्यकार भी कहने लगे कि आज गांधीवाद और मार्क्सवाद की सीमा पर खड़ा भारत सोच रहा है कि वह किधर जाए। इसमें कोई सन्देह की बात नहीं कि ऐसा केवल इसलिए हो

१. कुछ विचार, पृ० ५६।

२. आज, साहित्य विशेषांक, १९६१, पृ० १८।

३. आलोचना (उपन्यास विशेषांक), पृ० १५८।

४. उपन्यास का रूप-विधान, साहित्यकार सम्मेलन, इलाहाबाद में पठित निबन्ध, १९५७ ई०।

५. दी इंगलिश नावेल, पृ० १५।

रहा था कि ये कलाकार स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद साहित्य के लिए कोई व्याख्येय विचार-दर्शन नहीं खीज पा रहे थे। परिणामस्वरूप कुछ दिनों के लिए हिन्दी में अराजकता जैसी स्थिति परिलक्षित होने लगी। इस अराजकता और कुंठा की स्थिति को कांग्रेस के समाजवादी समाज (Socialistic Pattern of Society) के नारे ने बहुत-कुछ कम कर दिया और साहित्य के प्रति बहुत सारे रचनाकारों का दृष्टि-कोण साफ हो गया—विशेषकर ऐसे साहित्यकारों का, जो मार्क्सवाद से छूट की बीमारी की तरह परहेज करते थे और साहित्य का पानी कला की छन्नी से छानकर पीते थे। हालाँकि पूर्णतः ऐसा कहना भी शायद असत्य होगा कि समाजवादी दृष्टि-कोण ने ही गत्यवरोध और कुंठा के स्थान पर नये, ताज़े और निर्माणोन्मुखी कथा-साहित्य को जन्म दिया। गत्यवरोध समाप्त करने में नये साहित्यकारों ने बहुत बड़ा सहयोग दिया, जिनकी दृष्टि नये होने के कारण स्वाभाविक रूप से व्यापक थी, क्योंकि वे स्वतंत्रता की हवा में साँस ले रहे थे, लेकिन यहाँ मैं यह नहीं कहना चाहता हूँ कि वे नये साहित्यकार कांग्रेस द्वारा प्राप्त स्वतंत्रता में पूर्ण आस्था रखते थे। कई लोगों का बड़ा गहरा मतभेद इसमें था, किन्तु वे नये थे अर्थात् उनका पूर्ण विकास इस युग में हो रहा था, अतएव इनकी रचनाएँ परम्परागत कथा-परम्परा को छोड़ रही थीं। किन्तु उस समय के परम्परागत कथाकार, जो प्रेमचन्दोत्तर कथा-धारा के सबल स्तम्भ माने जाते थे, पुरानी विचारधारा और अपने सीमावद्ध क्षेत्र में रहकर रचनाओं का सृजन कर रहे थे, जिससे गत्यवरोध और घुटन तो बढ़ ही रही थी, नये कथाकारों को उससे सन्तोष भी नहीं हो पा रहा था। इस युग में प्रकाशित जैनेन्द्र, अज्ञेय और अश्व आदि की रचनाएँ इसका उदाहरण पेश करती हैं। भुवन (नदी के द्वीप, १९५१) शेखर का ही दूसरा रूप है, गरमराख (१९५२) का नायक चेतन का प्रतिरूप है और सुखदा एवं विवर्त (१९५३) सुनीता का। इस पुनरावृत्ति की परम्परा को तोड़ने में उस समय निम्नलिखित बाह्य और आन्तरिक शक्तियों ने योगदान दिया—कथाकारों की सामाजिक यथार्थवाद पर नई आस्था, जीवन को समग्रता में देखने का प्रयास अर्थात् नगर और ग्राम-जीवन को एकाकार कर एक ही कृति द्वारा प्रभाव उत्पन्न करने का महाकाव्योचित प्रयास, नवीन भाषा-संस्कार अर्थात् आंचलिक भाषा-शैली का अधिकाधिक प्रयोग और जनवादी भावनाओं का पृष्ठपोषण अर्थात् 'जिनमें जीवन के प्रति अनुराग एवं मानव-प्रेम है, जो स्थायी विश्व-शान्ति, आज़ादी और जनवाद के समर्थक हैं।'।

उपर्युक्त प्रवृत्तियाँ स्वातन्त्र्योत्तर अधिकांश कृतियों में आसानी से देखी जा सकती हैं, जिसका सबल सूत्रपात नागार्जुन ने अपने 'वलचनमा' के द्वारा किया। नागार्जुन का औपन्यासिक विकास स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद होता है। उनकी पहली औपन्यासिक कृति का प्रकाशन १९४८ ई० में हुआ। यही बात रेणु के साथ भी है। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद ही कतिपय महत्वपूर्ण कथाकारों का विकास होता, जिनमें रांगेय राघव, अमृतलाल नागर, हजारीप्रसाद द्विवेदी, बलवन्तसिंह, भारती, देवराज,

१. शिवदार्नसिंह चौहान।

राजेन्द्र यादव, रेणु, नरेश मेहता, कमलेश्वर, राकेश, मार्कण्डेय, मन्तू भंडारी आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। इस युग की महत्वपूर्ण कृतियाँ निम्नलिखित हैं—‘बलचनमा’, ‘द्रुमोचन’ (नागार्जुन), ‘गंगा मैया’, ‘जंजीरें और नया आदमी’ (भैरवप्रसाद गुप्त), ‘मैला आंचल’, ‘परती परिकथा’ (रेणु), ‘अमरवेल’ (वृन्दावनलाल वर्मा), ‘जयवर्चन’ (जैनेन्द्रकुमार), ‘गरमराख’ (अश्वक), ‘झूठा-सच’ (यशपाल), ‘सागर’, ‘लहरे और मनुष्य’ (उदयशंकर भट्ट), ‘कब तक पुकारूँ’, ‘गदल’ (राणेश राघव), ‘नदी के द्वीप’ (अज्ञेय), ‘उखड़े हुए लोग’ (राजेन्द्र यादव), ‘डूबते मस्तूल’ (नरेश मेहता), ‘पथ की खोज’ (डॉ० देवराज), ‘गुनाहों का देवता’, ‘सूरज का सातवाँ घोड़ा’, ‘गुलकी बन्तो’ (भारती), ‘बूंद और समुद्र’, (अमृतलाल नागर), ‘चारुचन्द्रलेख’ (हजारीप्रसाद द्विवेदी), ‘जहाज का पंखी’ (इलाचन्द्र जोशी), ‘बीज’ (अमृतराय), ‘पूरव और पश्चिम’ (राधिकारमणसिंह), ‘भूले बिसरे चित्र’ (भगवतीचरण वर्मा), ‘अंधेरे बन्द कमरे’ (मोहन राकेश), ‘इन्दुमती’ (सेठगोविन्ददास), ‘भूदानी सोनिया’ (उदयरजसिंह), ‘निर्देशक’ (पहाड़ी), ‘बोरीबली से बोरी बन्दर तक’ (शैलेश मटियानी), ‘बोगस’, ‘फुटपाथ’, ‘रामलीला’ (राधाकृष्ण), ‘चांदनी के खण्डहर’ (गिरधर गोपाल), ‘लोहे के पंख’ (हिमांगु श्रीवास्तव), ‘बया का घोंसला और साँप’ (लक्ष्मीनारायणलाल), ‘दूधगाछ’ (देवेन्द्र सत्यार्थी), ‘सोया हुआ जल’ (सर्वेश्वरदयालसक्सेना), ‘परन्तु’ (माचवे), ‘उद्भ्रान्त’ (जैनकुमार जैन), ‘भँवर के बीच’ (श्यामलकिशोर झा), ‘अनामन्त्रित मेहमान’ (माधवन) आदि।

स्वातन्त्र्य-पूर्व की कथाकृतियों में अर्थात् प्रेमचन्दोत्तर कथाकारों ने औपन्यासिक महाकाव्यात्मक व्यक्तित्व के अभाव में खण्डित व्यक्तित्व का चित्रण किया। उल्लतः अधिकांश कथा-चरित्र रेखाचित्र मात्र हैं। लेकिन उस युग के आलोचक यह गवा करते रहे कि आज के जीवन को विभिन्न खण्डित आयामों एवं इकाइयों में ही देखा जा सकता है। ‘क्राइसिस’ के इस युग में संभव नहीं कि ‘गोदान’ जैसी महाकाव्यात्मक रचना का सृजन हो। हालाँकि पृष्ठों की तुलना में इस बीच ‘गोदान’ से अधिक पृष्ठ वाले उपन्यास भी प्रकाशित हुए, पर उनमें ‘गोदान’ का-सा व्यापक जीवन-चित्रण नहीं है। किन्तु स्वातन्त्र्योत्तर युग में ‘गोदान’ की परम्परा को विकसित करते हुए युग की समकालीन यथार्थ परिस्थितियों का चित्रण प्रेमचन्द एवं अन्यान्य समष्टि-साही कथाकारों की-सी संवेदना का ऐसा ही चित्रण ‘बलचनमा’ और ‘परती परिकथा’ में किया गया। सम्पूर्ण परती धरती की कथा जितन, लुत्तो, ताजमनी, सुवंशराय आदि के माध्यम से उभरती है, अर्थात् यदि शेक्सपीयर से विचार उधार लिये जायें तो कहा जा सकता है कि ‘परती’ एक रंगमंच है और उपन्यास के विभिन्न पात्र उस पर अभिनय करने वाले अभिनेता हैं। इसीलिए ‘परती परिकथा’ के पात्र व्यक्ति-चरित्र नहीं हैं, क्योंकि उनकी कथा प्रमुख नहीं, बल्कि वे समष्टि-चरित्र हैं, मात्र जाति चरित्र से भी अधिक। इसलिए यहाँ व्यक्तियों के साथ-साथ परती धरती भी अपनी चरित्रिक विशेषताओं को स्पष्ट करती है और समूह के इस चरित्र-विश्लेषण की व्यापकता को लेकर श्री फणीश्वरनाथ ‘रेणु’ ने अपने उपन्यासों की सृष्टि की है। प्रकृति का एक खण्ड, दुलारी राय की धूल-भरी परती धरती तथा मिथिला का ‘मैला आंचल’

उसकी कथा का विषय है। उपन्यास का नायकत्व किसी एक व्यक्ति को प्रदान नहीं किया गया है, क्योंकि केवल व्यक्ति का महत्त्व वहाँ नहीं है। कथा व्यक्ति के पीछे नहीं चलती। इस प्रसंग में विश्व-कथा-साहित्य की अन्यतम रचना 'मदर' का भी उदाहरण अपेक्षित है। गोरकी के 'मदर' या 'माँ' उपन्यास से पावेल का चरित्र निकाल दिया जाए तो उपन्यास में वर्णित विद्रोह, रूस के मजदूरों का जीवन-संघर्ष अपनी वेप-भूषा (ग्रेसचर-पोसचर) के द्वारा भी उपन्यास के प्रभाव को जीवित रखते हैं। इलिया इहरेनबुर्ग की 'आँधी', ओत्रोवस्की की 'अग्निदीक्षा', हेमिंग्वे के उपन्यासों, विशेष रूप से 'सागर और वूढ़ा आदमी' (दी ओल्डमैन एंड दी सी) जैसे लघु उपन्यासों से भी यदि प्रमुख चरित्र को हटा लें, तो उपन्यास का प्रभाव सुरक्षित रह जाता है, जो मानव के श्रम-संघर्ष अथवा सागर और पौरुष का परिचायक है। सन् १९५०-६० के बीच सम्पूर्ण विश्व-उपन्यास की यह स्थिति थी। वहाँ व्यक्ति और समाज का पारस्परिक सम्बन्ध बड़ा घना दिखाया गया है, किन्तु इन क्रुद्ध पीढ़ी के लेखकों की नज़रों में समाज बड़ा विकृत है। ये अपनी इकाई को स्वतन्त्र मानते हैं। किन्तु केवल आत्म-कथात्मक चरित्रांकन इनका ध्येय नहीं है। विलियम गोल्डिंग, आइरिश मुरडोकस, जेन आस्टीन, मान, स्तो, आदि इस युग के प्रतिभाशाली उदाहरण हैं जिनका उद्देश्य आज जीवन की महत्त्वपूर्ण अभिव्यक्ति करना ही है।

"But the most important fact about the novel at present is that it is vigorously worked field producing some rich results. It should develop, finding new scope and strength, whether as what it is at the moment a moral drama or as a more direct portrayal of life. This is good and also important since this literary form seems to be the most fit to be our civilization's chief instrument of awareness and self-expression."

इस युग के कथा-साहित्य में प्राचीन काल के वीरोदात्त क्षत्रिय का, देववंशोद्भव नायकों का सर्वथा अभाव हो गया है और उनके स्थान पर साधारण मजदूर-किसानों की बात छोड़िए, असाधारण अविकसित मानव तथा अपराधी मनोवृत्ति वाले चोर, जुआ-बाज़ और व्यसनी मनुष्यों का साधिकार प्रवेश होने लगा है। नवीन ज्ञान-विज्ञान की उन्नति के कारण कथा-साहित्य में रेल, तार, इंजन, एटमबम, राकेट की बातों का भी संरक्षण मिलने लगा। साथ ही समुद्र, क्षेत्रीय विशेषताएँ, टेस्टट्यूब बेबीज, यौन-परिवर्तन इत्यादि की बातें भी कथा-साहित्य में प्रवेश करने लगी हैं। राष्ट्रीय नव-निर्माण एवं क्रेनों, ट्रेक्टरों और बुलडोज़रों की नई गड़गड़ाहट के बीच से नया मानव निर्मित होकर कथा-साहित्य में स्थान पाने लगा है। इस व्यापक परिवेश के परिणामस्वरूप कथा-चरित्रों में दो धाराओं का विकास हुआ। आलोचकों ने उनका नामकरण 'शहरी एवं ग्रामीण' कथा के रूप में किया है। शहरी कथाओं में अधिकतर मध्यवर्गीय चरित्रों का एवं ग्रामीण कथाओं में अंचल-विशेष के पात्रों का चित्रण हुआ है। श्री राजेन्द्र यादव ने उपर्युक्त दोनों धाराओं का विश्लेषण करते हुए बताया है कि साहित्य

में छाये हुए छिछलेपन और झूठे अनर्जाचे मूल्यों के घपले के कारण ही नवोदित कथा-कारों का एक दल ग्रामीण जीवन एवं आंचलिक इकाइयों की ओर तथा दूसरा विदेशी साहित्य की ओर मुड़ा। 'पराजित पीढ़ी के दर्दाभ्यासी' हठयोगियों ने 'दृष्टिहीनता' के दर्शन का बड़ा बखान किया था। किन्तु इनके दिलों में तो देवदास और वाइरन बैठे थे। इन्होंने अपने साहित्य में 'वार' या सोसाइटी में चहकने वाली लड़कियों को 'सभ्यता का शिकार' बनाकर पेश किया। इन लड़कियों को वैसे ही नायक मिलता था, जिसकी दोनों जेबों में पैसे भरे होते थे और वह उन्हें खुलकर लूटना भी जानता था। इन नोटों को लूटने वाले कभी टैक्सी वाले होते हैं, कभी 'वार' की लड़कियाँ, कभी 'बैरे' आदि। नये कथाकारों में ऐसे पात्र राजकमल चौधरी, राजेन्द्र यादव-निर्मल वर्मा, प्रेमकुमार, रामकुमार, मोहन राकेश आदि ने रचे हैं। यही नायक शराब भरे गिलासों को झुला-झुलाकर चुस्कियाँ लेता हुआ, निहायत ही एक्टराना ढंग से 'बेचारी नाचने वालियों' की जिन्दगी का अध्ययन शुरू कर देता है। इनमें गरीबी भी अपना महत्वपूर्ण पाठ अदा करती है और यह 'प्रिस' किस्म का नायक ठीक उनके बीचोबीच पहुँच जाता है। यदि इससे भी मौलिक साहित्य की रचना करनी हो तो बाप-बेटी या भाई-बहन का शरीर सम्बन्ध दिखा दिया गया।^१

ग्रामीण चित्रण के अन्तर्गत किसी एक इलाका, जनपद या अंचल का चित्रण होता है। उस विशेष अंचल की पटभूमि पर लेखक वहाँ के सामाजिक जीवन का चित्रण स्थानीय किसानों, बुद्धिवादियों तथा अन्य वर्गों के पात्रों द्वारा करता है। ऐसी रचनाओं में नवीन सामाजिक पृष्ठभूमि में उभरते नये मानव, आर्थिक-सामाजिक संघर्ष और चरित्रों की सृष्टि, नागार्जुन, रेणु आदि कथाकारों ने अविक की है। इन रचनाओं में कथाकारों ने समृद्ध चरित्रों के चित्रण किए हैं। जित्तन, ताजमनी, बलचनमा, मुखराम, कजरी और प्यारी, वामनदास आदि इस युग के अजर-अमर पात्र हैं, जिन्हें दूर से ही पहचाना जा सकता है। विशिष्ट चरित्रों पर आधारित कुछ कहानियाँ बड़ी महत्वपूर्ण हैं, जिनमें 'शाखामृग' (शिव प्रसादसिंह), 'एक्टर' (राजेन्द्र यादव) तथा 'नींद' उल्लेख्य हैं।

इस युग के चरित्रों में 'एवनार्मलिटी' बहुत-कुछ समाप्त हो गई है। हालाँकि आज के कुछ पात्रों का मन कुण्ठित और क्रांतियों, अविश्वासों, विश्रृंखलताओं आदि से ग्रस्त है।^२ किन्तु अधिकांश पात्रों में आस्था और नये जागरण के प्रति चेतना है। अमृतराय के 'बीज' में सत्यवान अपनी पत्नी से हड़ होकर कहता है—“इस घाव में हमारे नये जीवन के विराट अश्वत्थ का बीज छिपा है, हमारे नये सुख का बीज, नये प्रभात का बीज। इस स्वयंवर-बेला में हम उस प्रभात को प्रणाम करें।” यह एक ऐसी हड़ आस्था थी, जिसने समस्त स्वातन्त्र्योत्तर औपन्यासिकों को प्रभावित किया। शहरी मध्यवर्गीय औपन्यासिक पात्रों के चित्रण में इससे एक त्वरा आई। यशपाल का 'झूठा सच' उनके अब तक के प्रकाशित उपन्यासों में सर्वश्रेष्ठ है। 'झूठा सच' के अधिकांश पात्र मध्यम वर्ग के हैं। शायद स्वतन्त्रता के बाद के भारतीय जीवन और पात्रों

१. विनोद (विशेषांक), अगस्त १९६०, पृ० १३७।

२. आलोचना (७), पृ० ३५।

को इतने व्यापक ढंग से देखने का प्रयास पहली बार किया गया है। इसके सभी पात्र सजीव और प्राणवान हैं, जिनकी संख्या भी चालीस के करीब है। यह लेखक की असाधारण सफलता है, हालाँकि इसमें 'होरी' या सूरदास (रंगभूमि) या 'बलचनमा' या ताई (बूंद और समुद्र) की तरह पाठक को अभिभूत करने वाला कोई चरित्र नहीं आ सका है। फिर भी इस उपन्यास के सभी पात्र मिलकर विभाजित हिन्दुस्तान का एक जीता-जागता चरित्र पैदा करते हैं। सन् '५० के बाद अनेक नये दक्षिण भारतीय कथाकारों ने भी हिन्दी भाषा में श्रेष्ठ उपन्यासों की रचना की। नये चरित्र इन उपन्यासों में दिखाई पड़े। ऐसे सारे कथाकारों में आनन्द शंकर माधवन के 'अनामंत्रित मेहमान' का अपना अलग स्थान है। 'गोदान', 'भूले बिसरे चित्र', 'झूठा सच', 'पथ की खोज', 'बूंद और समुद्र' की पंक्ति में इस उपन्यास का स्थान सुरक्षित है। उपन्यास के सारे पात्रों को विकास-क्रम की दृष्टि से स्थान मिल चुका है, भले ही इसकी चर्चा (प्रोपेगेंडा) ज्यादा नहीं हुई हो। होरी, शेखर, बलचनमा, जितेन्द्रनाथ आदि ऐसे अमर पात्रों की परम्परा में माधवनजी ने दत्तात्रेय और यशवंत आदि पात्रों को लाकर खड़ा कर दिया है। इन पात्रों ने दक्षिण भारत पर अपनी छाप लगा दी है। उपन्यास-कार ने आशा प्रकट की है कि यशवन्त का जीवन फूले-फलेगा।

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद अर्थात् १९५० के बाद अर्थात् गणतंत्रोत्तर हिन्दी कथा-साहित्य में शिशुओं को भी पर्याप्त स्थान मिलने लगा है। ऐसे कथाकारों ने शिशुओं का चित्रण करना इसलिए अनिवार्य समझा कि उनकी यह मान्यता है कि चरित्र की मूल रेखाएँ जीवन की प्रारम्भिक अवस्थाओं में ही निश्चित हो जाती हैं। इसी अवस्था में व्यक्तित्व की नीचाई और ऊँचाई का विकास हो चुकता है। इस बीच प्रकाशित सेठ गोविन्ददास के बृहद् उपन्यास 'इन्दुमती' और 'रेणु' के उपन्यास 'परती परिकथा' में इसका थोड़ा चित्रण हुआ है। 'इन्दुमती' में एक सेठ का भी टिपिकल चरित्र आया है। स० ही० वात्स्यायन^१ का विचार है कि ऐसे सफल पात्र हिन्दी में अन्यत्र मिलना सम्भव नहीं। मारवाड़ी सेठ की प्रकृति की सफल तस्वीर उतारी गई है। सेठजी की अन्यान्य रचनाओं में भी इस प्रकार के पात्र आये हैं। सेठजी ने जिस वर्ग-विशेष में जन्म लिया और जिस परिपार्श्व में उनका गठन हुआ है, उसी परिप्रेक्ष्य से उभरने वाले ये चरित्र हैं। किन्तु ऐसा चरित्र-विकास गणतंत्रोत्तर चरित्रों का विकास नहीं माना जाएगा। स्वतन्त्रता-पूर्व के पात्रों की-सी प्रतिध्वनि इन पात्रों में सुनाई पड़ती है। इस युग के चरित्रों और समस्याओं को लेकर नागार्जुन का 'बलचनमा' और 'दुखमोचन' एवं रेणु का 'मैला आंचल' और 'परती परिकथा' की सृष्टि होती है। इसीलिए ये उपन्यास अधिक सफल जान पड़ते हैं। प्रेमचन्द-परम्परा की चारित्र्यिक विशेषताओं का सफल अंकन इन कृतियों में हुआ है।^२ 'गोदान' का होरी इसका प्रतिमान है, जो समस्त भारतीय कथा-साहित्य में अप्रतिम है। होरी की परम्परा में नागार्जुन का 'बलचनमा' और नागर का 'सेठ बाँकेमल' उल्लेख्य हैं। ये पात्र अपने युग की समस्त सामाजिक

१. आजकल, मार्च १९५३, पृ० १३।

२. आधुनिक हिन्दी कथा-साहित्य और चरित्र-विकास, पृ० २६६।

और सांस्कृतिक विशेषताओं की जीती-जागती तस्वीर पेश करते हैं। यदि जमींदारी प्रथा के उन्मूलन के साथ होरी की कहानी समाप्त होती है, तो 'वाँक्रेमल' और 'बलचनमा' अपने परम्परागत संस्कारों के कारण नई सम्यता का समन्वय प्रस्तुत करते हैं। 'बलचनमा' के रूप में नागार्जुन ने प्रेमचन्द की परम्परा को आगे बढ़ाया है और होरी की वंशावली अर्थात् गोवर को चित्रित किया है। 'बलचनमा' को गोवर का विकसित रूप कहा जा सकता है।^१

'परती परिकथा' के पूर्व और 'गोदान' के बाद के कथा-साहित्य की प्रगति मूलतः व्यक्ति-चरित्र-प्रधान साहित्य-रचना का उदाहरण है। यह परम्परा 'बलचनमा' तक चलती रही, हालाँकि 'बलचनमा' में व्यक्ति का सामाजीकरण किया गया है। इस युग में रचे गए पिछली पीढ़ी के कथाकारों के अधिकांश पात्रों को चारित्रिक विश्लेषण में हिन्दी के पूर्ववर्ती एवं बंगला के कथा-चरित्रों से तुलना करने पर कोई विशेष मौलिकता परिलक्षित नहीं होती है। जैनेन्द्र, अज्ञेय, इलाचन्द्र जोशी और अश्व आदि लेखकों के अधिकांश चरित्र प्रेमचन्द एवं शरत् के पात्रों से आगे नहीं बढ़ पाए। इस युग में चित्रित उनके पात्र उन्हीं की कृतियों की पुनरावृत्ति करने लगे। शरत् के पात्रों की असीम कठुणा, विशेष रूप से नारी पात्रों की, हिन्दी कथाकारों पर अब भी हावी है। 'परती परिकथा' के नारी पात्र ताजमनी और इरावती में इसी कठुणा की छाया स्पष्ट रूप से देखी जा सकती है। देवराज और भारती के पात्रों पर जैनेन्द्र तथा अज्ञेय का स्पष्ट प्रभाव तो देखा ही जा सकता है।^२ 'बलचनमा' को पढ़ते हुए हठात् गोवर की याद आ ही जाती है। 'बलचनमा' के प्रणयन के बाद हमने आशा प्रकट की थी कि सम्भवतः शीघ्र ही प्रेमचन्द की परम्परा में नये हस्ताक्षर होंगे और इसका नेतृत्व बिहार करेगा।^३ सचमुच ऐसा हुआ भी, पर नागार्जुन 'बलचनमा' के बाद पुनः बलचनमा की ऊँचाई तक भी नहीं पहुँच पाए। किन्तु 'मैला आँचल' और 'परती परिकथा' के प्रकाशन के बाद रेणु ने वह स्थान प्राप्त कर लिया।

नागार्जुन प्रेमचन्द की अपेक्षा श्रेष्ठ चेतन, संवर्षशील वर्ग-चरित्र निर्मित करते हुए भी व्यक्ति तक ही सीमित रह जाते हैं, जिसकी पुष्टि उनके अधिकांश उपन्यासों के नामों से भी हो जाती है, जैसे 'रतिनाथ की चाची', 'बलचनमा' और 'दुखमोचन'। केवल कुछेक कृतियों में वैयक्तिकता से निकलकर वे जन-चेतना को पात्र बनाने का प्रयत्न करते हैं। परन्तु रेणु का प्रयत्न व्यापक भूखंड को मुखरित करने का रहा है, इसी लिए उन्होंने नागार्जुन की तरह केवल प्रकार-विशेष के पात्रों का ही निर्माण नहीं किया बल्कि सामूहिक चरित्र का भी निर्माण किया। विद्वद्विख्यात उपन्यासकारों ने इस दृष्टि का परिचय अपनी रचनाओं में दिया है। 'धीरे बहो दोन रे,' 'वरजिन सायल अपटन,' 'वार एण्ड पीस' आदि उसके उल्लेख्य उदाहरण हैं। 'गोदान' और 'झूठा सच' के पूर्व के प्रेमचन्द और यशपाल में इस दृष्टि का अभाव था। इसीलिए रेणु और नागार्जुन

१. आधुनिक कथा-साहित्य और चरित्र-विकास।

२. आलोचना (१४), पृ० ४२।

३. अजन्ता, अप्रैल, १९५५, पृ० २२।

विश्वविख्यात कथाकारों की पंक्ति में श्रेष्ठ स्थान के अधिकारी हैं। किन्तु नागार्जुन 'दुखमोचन', 'वरुण के वेटे', 'उग्रतारा' और 'कुम्भीपाक' आदि का सृजन कर और रेणु 'दीर्घतपा' एवं 'जुलूस' की रचना कर विश्वकथाकार की पंक्ति में खड़े होने तक के अधिकारी नहीं हैं। किन्तु इन दोनों ने 'बलचनमा', 'मैला आँचल' और 'परती परिकथा' लिखकर और कुछ न लिखा होता तो विश्व के कथाकारों की पंक्ति में आ ही जाते। पर खेद की बात है कि अपने औपन्यासिक 'रुचि परिवर्तन'^१ के दौरान इन दोनों कथाकारों ने अन्यान्य उपन्यासकारों की तरह एक पर एक निर्जीव और बेजान पात्रों की सृष्टि की है। हालाँकि कथा-शिल्प और जीवन-दर्शन की अभिव्यक्ति की दृष्टि से ये दोनों कथाकार गोकर्ण, इलिया इहरेनबुर्ग, एलेक्सी टालस्टाय के निकट पहुँच जाते हैं और कहीं-कहीं उनसे भी महत्त्वपूर्ण-बातें कह जाते हैं। कहीं हमने नागार्जुन के उपन्यास 'बलचनमा' को हिन्दी का महाकाव्य कहा है। किन्तु 'बलचनमा' यदि चरित्र-प्रधान महाकाव्य है तो 'परती परिकथा' व्यापक धरती का महाकाव्य है जिसे शिवदान-सिंह चौहान जैसे आलोचक इस युग का महाकाव्य मानते हैं :

"कुदरत को आईना दिखाते हुए प्रेमचन्द ने बीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध के व्यापक समूह को गोदान का पात्र और विषय बनाया था, उसी प्रकार 'परती : परिकथा' में बीसवीं सदी के उत्तरार्ध के व्यापक जन-समूह को पात्र और विषय बनाया गया है। इसलिए "हर व्यक्ति, समाज का हर वर्ग, राजनीति का हर दल उसमें अपने आचरण और अपनी वर्तमान भूमिका का सही चित्र देख सकता है।"^२ साथ ही यह 'गंगा मैया' और 'कोशी मैया' की गाथा है, जिसकी जमीन को मटरू और जित्तन उपजाने का प्रयत्न करते हैं। जित्तन गुलाब की खेती करना चाहता है, मटरू जुआर उपजाएगा।

अतः ऐसा कहा जा सकता है कि प्रेमचन्द की परम्परा में नागार्जुन और रेणु द्वारा महत्त्वपूर्ण चरित्रों के निर्माण हुए हैं और रेणु ने चरित्र-विकास के नये प्रतिमान स्थापित किए हैं।

१. यह कथन नागार्जुन का ही है।

२. आलोचना के मान, पृ० १४।

विश्व-साहित्य में हिन्दी

डॉ० प्रभाकर माचवे

विदेशों में हिन्दी-साहित्य

प्रास्ताविक

‘आलोचना’ पत्रिका ने एक मास पूर्व जब यह लेख लिखने के लिए आमन्त्रित किया, मैंने पच्चीस से अधिक पत्र-देश-विदेश में राजदूतावासों, विभिन्न विश्वविद्यालयों और मित्रों को भेजे। दस-बारह पत्रों के उत्तर मिले। शायद और उत्तर अभी आते हों; यदि और देशों से कुछ सामग्री प्राप्त होगी तो वह अगले अंक में परिशिष्ट-रूप में भेजूंगा। यह जो जानकारी मैं दे रहा हूँ, इसमें मेरी सन् १९५६ से १९६१ के बीच संयुक्त राष्ट्र अमेरिका तथा यूरोप और मध्यपूर्व के पन्द्रह देशों की यात्रा के आधार पर कुछ संस्मरणात्मक जानकारी है; कुछ पत्रों से और पुस्तकों से प्राप्त और कुछ पत्र-व्यवहार से प्राप्त है। मेरा दावा नहीं है कि यह जानकारी सम्पूर्ण है, या यह सब त्रुटिहीन है। जितना सम्भव था, वह मैंने यह जानकारी जमा करने के लिए किया। और जानकारी और लोग देंगे, ऐसी आशा है।

इस जानकारी को मैं अकारादि क्रम से निम्न बारह देश-नामों से प्रस्तुत कर रहा हूँ : अमेरिका, इटली, चैकोस्लोवाकिया, जर्मनी (पश्चिमी, पूर्वी), जापान, पोलैंड, फ्रांस, बर्मा, ब्रिटेन, सिंहल, सोवियत रूस।

अमेरिका (संयुक्त राष्ट्र)

मैं स्वयम् विसकान्सिन विश्वविद्यालय के मैडिसन कैम्पस पर और कैलिफोर्निया के बर्कले कैम्पस पर हिन्दी पढ़ा चुका हूँ। मेरे अलावा कई हिन्दी के विद्वान, भाषा-वैज्ञानिक, लेखक, कवि, अध्यापक अमेरिका में हिन्दी-अध्यापन में निरत रहे हैं; जिनमें से कुछ नाम ये हैं : डॉ० उदयनारायण तिवारी, ‘अज्ञेय’, डॉ० विद्यानिवास मिश्र, डॉ० नरेन्द्र सेठी, डॉ० अमरवहादुर सिंह, सोमा वीरा, उषा प्रियवदा, दीनबन्धु गुप्त, विश्व-प्रकाश ‘वटुक’, इंदुप्रकाश पांडेय, द्वारिकाप्रसाद ‘द्वारिकेश’, बालगोविन्द मिश्र, चन्दोला, सी० एम० नईम, शालिग्राम शुक्ल आदि-आदि।

२६ नवम्बर, ‘६४ को कार्नेल यूनिवर्सिटी, ह्याका से प्राप्त श्री शालिग्राम शुक्ल के पत्र के कुछ अंश उद्धृत करता हूँ :

“यहाँ हिन्दी की पढ़ाई पिछले १० वर्षों से हो रही है। लेकिन विधिवत् पढ़ाई का सिलसिला १९६० से शुरू हुआ। श्री फेअर वैंक्स तथा श्री बालगोविन्द मिश्र ने मिलकर एक २५ पाठों की पाठ्य-पुस्तक तैयार की है, जिसका प्रयोग प्रारम्भिक

कक्षा में हम करते हैं। टेक्स्ट-बुक छप रही है, सम्भवतः जनवरी '६५ तक आ जाए। आपके पास एक प्रति भेजूंगा। विद्यार्थियों की संख्या पिछले साल १५ थी, इस साल १२ है। ५ प्रथम वर्ष में, ५, दूसरे वर्ष में तथा २ तीसरे वर्ष में। दूसरे वर्ष में ज्यादातर 'बातचीत' तथा 'कम्पोजीशन' पर शौर दिया जाता है। तीसरे वर्ष में प्रेमचन्द, सुदर्शन, अज्ञेय तथा कुछ नये कहानीकारों की कृतियाँ पढ़ाई जाती हैं। कविता की शुरुआत भी यहीं होती है, मैथिलीशरण गुप्त तथा निराला के सहज गीतों को पाठ्यक्रम में रखा गया है।

“उच्चारण की कठिनाई के अलावा, विद्यार्थियों के लिए 'लिंग' तथा 'विभक्तियों' के उचित प्रयोग की कठिनाई होती है। वे अंग्रेजी के 'पैटर्न' पर हिन्दी लिखते तथा बोलते हैं जो एक अलग ढंग की कठिनाई उत्पन्न करते हैं; क्योंकि यह समस्या उनकी अपनी भाषा से उत्पन्न होती है। हमारे यहाँ तीन अध्यापक हैं जो अध्ययन भी कर रहे हैं। एक हैं श्री २० वे० मिराण्डा, जो पहले गोवा में हिन्दी पढ़ाते थे, यहाँ भाषा-विज्ञान में पी-एच० डी० के हेतु आये हैं। दूसरे हैं श्री प्रेमसिंहजी, जो चण्डीगढ़ में पंजाबी विभाग में अध्यापक थे। ये भी भाषा-विज्ञान में पी-एच० डी० कर रहे हैं। तीसरा व्यक्ति मैं हूँ।

“यहाँ हिन्दी अध्यापन की योग्यता के लिए संस्कृत या उर्दू ज्ञान की आवश्यकता बिल्कुल नहीं है। सर्वाधिक महत्त्व 'नेटिव स्पीकर' होने का है।

“हिन्दी-लेखकों का कोई अनुवाद इस देश में छपा है या नहीं, इसकी कोई जानकारी मुझे नहीं—सम्भवतः नहीं। 'अज्ञेय' के 'अपने-अपने अजनबी' का अनुवाद सुना है बर्कले से छपेगा। कब ? यह नहीं जानता।

“इस देश में हिन्दी पढ़नेवाले दो तरह के लोग हैं—(१) एन्थ्रोपोलोजिस्ट, जो भारत में 'फील्ड-वर्क' के लिए जाना चाहते हैं तथा (२) भाषा-वैज्ञानिक, जिनका उद्देश्य भाषा जानना है। इसके अलावा वे विद्यार्थी हैं जो एशिया में रुचि रखते हैं। दिन-ब-दिन हिन्दी का प्रचार बढ़ता जा रहा है। भारतीय भाषाओं में हिन्दी को ही प्रधानता मिल रही है। हमारे यहाँ वैसे तेलुगु की भी पढ़ाई होती है। डॉ० केली उसके इन्चार्ज हैं।”

सन् '६१ में जब मैंने अमरीका छोड़ा, तब से स्थिति में, जहाँ तक हिन्दी-अध्यायन, पठन-पाठन का प्रश्न है, विशेष अन्तर श्री शुक्ल की जानकारी से मुझे नहीं जान पड़ा। हाँ, प्रो० डॉ० कृष्ण बलदेव वैद के 'उसका वचन' (हिन्दी उपन्यास) का स्वयंकृत अंग्रेजी अनुवाद 'स्टेप्स इन् डाकनेस' एशिया सोसायटी ने छाप दिया है। एक और ताज़ा रिपोर्ट 'अमेरिका में हिन्दी' के बारे में डॉ० अमर बहादुरसिंह से मुझे मिली है, जो ढाई वर्ष बर्कले में 'अज्ञेय' और डॉ० विद्यानिवास मिश्र के साथ और पीस-कोअर, आवाना में भी काम कर चुके हैं। वह उन्हीं के शब्दों में यों है :

डॉ० अमर बहादुरसिंह के शब्दों में :

“संयुक्त राज्य अमेरिका में लगभग एक दर्जन विश्वविद्यालयों में हिन्दी के

अध्ययन-अध्यापन का कार्य हो रहा है। कुछ विश्वविद्यालयों में हिन्दी का अध्यापन भाषाशास्त्र-विभाग के अन्तर्गत किया जाता है, पर अधिकांश में 'साउथ एशिया सेक्टर' अथवा 'साउथ एशिया लैंग्वेज एण्ड एरिया स्टडीज' विभाग के अन्तर्गत यह कार्य सम्पन्न किया जा रहा है। कुछ विश्वविद्यालयों में हिन्दी को 'निथर ईस्टर्न लेंग्वेज' विभाग के अन्तर्गत भी रखा गया है। सामान्यतया इन सभी विश्वविद्यालयों में कम-से-कम दो वर्ष की शिक्षा—प्रारम्भिक (बेसिक) तथा उच्च (एडवान्स्ड) स्तर की—दी जाती है, पर लगभग आधे दर्जन विश्वविद्यालयों में तृतीय वर्ष के अध्यापन की भी व्यवस्था की गई है। लगभग पाँच विश्वविद्यालयों में हिन्दी साहित्य की भी शिक्षा का प्रबन्ध विभिन्न रूपों में किया गया है।

भाषा के अध्यापन के लिए प्रारम्भिक कक्षा में एक अमेरिकन अध्यापक के निदेशन में भारतीय सहायकों की मदद से अध्यापन किया जाता है। उच्च स्तर पर प्रायः भारतीय सहायक अथवा अध्यापक ही अध्यापन करते हैं। प्रारम्भिक स्तर पर अमेरिकन अध्यापक, जो प्रायः भाषाशास्त्रीय होता है, वह सैद्धान्तिक पक्ष, भाषा की रचना तथा व्याकरण का अंग पढ़ाता है जबकि भारतीय सहायक शेष कार्य करता है। प्रथम वर्ष में अथवा प्रारम्भिक स्तर पर बोलचाल की भाषा पढ़ाई जाती है तथा प्रायः आधे वर्ष तक देवनागरी-लिपि का प्रारम्भ न करके दृश्य-श्रव्य प्रणाली अथवा श्रव्य प्रणाली के अनुसार अध्यापन-कार्य किया जाता है तथा सामग्री रोमन लिपि में तैयार करके विद्यार्थियों को दी जाती है। सैद्धान्तिक रूप में इस प्रणाली की विशेषता और उपादेयता काफ़ी महत्त्वपूर्ण है, पर प्रायः भारतीय सहायक, जिसे हिन्दी बोलने वाला कहकर रखा जाता है, हिन्दी बोलने वाला नहीं होता अथवा वैसी हिन्दी नहीं बोलता जैसी हिन्दी क्षेत्र का बोलने वाला बोलता है। यहाँ हिन्दी-उर्दू की एकरूपता की भ्रान्तिमय धारणा के कारण प्रायः उर्दू बोलने वाले हिन्दी के सहायक नियुक्त किए जाते हैं जिससे विद्यार्थियों को उर्दू-उन्मुख हिन्दी का ज्ञान होता है। एकाध बार बहिन्दी प्रदेश के हिन्दी जानने वालों को भी हिन्दी अध्यापक के रूप में रखा गया है और परिणाम विशेषकर उच्चारण के क्षेत्र में—भयंकर-सा रहा है। मातृभाषा बोलने वाले की नियुक्ति केवल इस दृष्टि से की जाती है कि वह विद्यार्थियों को सही उच्चारण दे सके, पर यह मुख्य उद्देश्य ही लगभग असफल-सा हो जाता है जब हम किसी विद्यार्थी को 'नेहर' 'बेहन' 'बोत' आदि शब्दों का उच्चारण करते हुए पाते हैं। और, यहाँ इसके विस्तार में न जाकर हम संक्षेप में अन्य पहलुओं पर प्रकाश डालने की चेष्टा करेंगे।

पाठ्य-ग्रन्थों की कमी को ध्यान में रखते हुए लगभग आधे दर्जन विश्व-विद्यालयों ने अपनी पाठ्य-सामग्री तैयार की है। यों तो इस क्षेत्र में डॉ० होइंग्सवॉल्ड की 'स्पोकेन हिन्दुस्तानी' पुस्तक का प्रयोग प्रायः सभी विश्वविद्यालयों में प्रारम्भ में होता रहा है, पर उक्त पुस्तक में बहुत-सी कमियाँ हैं जिनके कारण कुछ नई पुस्तकों का प्रणयन किया गया। 'स्पोकेन हिन्दुस्तानी' की रचना द्वितीय महायुद्ध के समय की गई थी तथा इसका उद्देश्य अमरीकी सिपाहियों को 'कामचलाऊ हिन्दुस्तानी' का ज्ञान

कराना था। अब इस पुस्तक का प्रयोग प्रायः न के बराबर होता है, परन्तु प्रत्येक अध्यापक सन्दर्भ-ग्रन्थ के रूप में यदाकदा इसका प्रयोग अवश्य करता है। डॉ० गाडन फेयरबैंक्स तथा डॉ० जान गम्पर्ज और चौधरी ने भी एक पुस्तक तैयार की थी, जिसका भी प्रचलन अब प्रायः न के बराबर ही है। फ़ोरन सर्विसेज रिसर्च इंस्टीट्यूट ने जोसेफ़ हर्टर, बुधराज आदि के सहयोग से एक 'बैसिक कोर्स इन हिन्दी' पुस्तक १९६० में निकाली थी, पर यह पुस्तक सामान्य विद्यार्थी के लिए ज्यादा उपयोगी नहीं है, क्योंकि अधिकांश पाठ 'अमेरिकी दूतावास', 'सोडा हिस्की' आदि तक ही सीमित है। १९६२-६३ में डॉ० जान गम्पर्ज, कु० जून रमरी, डॉ० अमर बहादुर सिंह तथा श्री चौधरी मुहम्मद नईम के सम्मिलित प्रयास के फलस्वरूप 'कन्वर्सेशनल हिन्दी-उर्दू' नाम की पुस्तक दो खण्डों में प्रकाशित हुई। इसका प्रकाशन ए० एस० यू० सी० स्टोस बर्कले, कैलीफ़ोर्निया ने किया है। प्रथम खण्ड के दो भाग हैं तथा द्वितीय खण्ड में कोई भाग नहीं है। सम्प्रति इसी पुस्तक का सर्वाधिक प्रयोग हो रहा है। इसमें पाठों की रचना वास्तविक भारतीय स्थितियों के सन्दर्भ में की गई तथा समस्त पुस्तक के साथ भारत में ली गई तस्वीरों का प्रयोग विषय की सुधोघता के लिए कक्षा में किया जाता है। तस्वीरों को प्रोजेक्टर के सहारे पर्दे पर दिखाया जाता है तथा तत्सम्बद्ध वाक्य का उच्चारण किया जाता है। यह पुस्तक अभ्यास, व्याकरण तथा वातचीत की दृष्टि से अब तक की प्रकाशित पुस्तकों में सर्वोत्कृष्ट है। प्रत्येक पाठ का कक्षा में विधिवत् प्रयोग करके तथा उसकी वास्तविक कठिनाइयों को दृष्टि में रखकर अन्तिम रूप निर्धारित किया गया है। इन सामग्रियों के अतिरिक्त विस्कान्सिन में अपनी सामग्री का ही प्रयोग किया जाता है। अधिकांश विश्वविद्यालय इन्हीं का प्रयोग कुछ अपनी कमोवेश विशिष्टता के साथ करते हैं।

उच्चारण पर अधिकार प्राप्त करने के लिए प्रत्येक विद्यार्थी को काफ़ी समय लैंग्वेज लैबोरेटरी में देना पड़ता है, जहाँ वह पाठों को टेप पर सुनता है, उन्हें दुहराता है, रेकार्ड करता है तथा भूलें सुधारता है। इससे विद्यार्थी को भाषा के उच्चारण में काफ़ी सहजता का अनुभव होता है। इस पद्धति का प्रयोग प्रायः सभी विश्वविद्यालयों में किया जाता है।

द्वितीय वर्ष अथवा एडवान्सड कक्षा के लिए प्रत्येक विश्वविद्यालय ने अपना पाठ्य-क्रम बना रखा है, जिसमें प्रायः कुछ कहानियाँ तथा निबन्ध रखे गए हैं। तृतीय वर्ष के विद्यार्थियों को उनके मुख्य विषय और रुचि के अनुसार अलग-अलग सामग्री दी जाती है। तृतीय वर्ष के अध्यापन तथा पाठ्य-क्रम की प्रणाली में एकरूपता नहीं है। प्रत्येक विश्वविद्यालय, उपलब्ध अध्यापक की क्षमता तथा योजना के अनुरूप पाठ्य-क्रम निर्धारित करता है।

नीचे हम प्रत्येक विश्वविद्यालय, के विषय में संक्षिप्त परिचयात्मक टिप्पणी प्रस्तुत करेंगे—

• यूनिवर्सिटी ऑफ़ कैलीफ़ोर्निया बर्कले, कैलीफ़ोर्निया : नीयर ईस्टर्न लैंग्वेज के अन्तर्गत हिन्दी का अध्यापन होता है। डॉ० जान गम्पर्ज इसके इन्चार्ज

हैं। भारतीय सहायकों के अतिरिक्त यहाँ विजिटिंग अध्यापकों के रूप में डॉ० प्रभाकर माचवे (ग्रीष्म १९६०), श्री (डॉ०) विद्यानिवास मिश्र (१९६०-६१ दिसम्बर तक), श्री सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन (१९६१—१९६३-६४ वसन्त), डॉ० अमर वहादुरसिंह (१९६१ मई से १९६३ ग्रीष्म) रहे हैं। यहाँ तीन वर्षों के अध्यापन का कार्यक्रम है। १९६२ के शरदकालीन सत्र में यहाँ सभी स्तरों के हिन्दी विद्यार्थियों की संख्या ४४ थी। एक विद्यार्थी ने एम० ए० में 'मैजर सजेक्ट' के रूप में हिन्दी ली थी तथा दूसरा विद्यार्थी हिन्दी में पी-एच० डी० कर रहा है। डॉ० विद्यानिवास मिश्र के सम्पादकत्व में 'आधुनिक हिन्दी कविता' का एक अनुवाद मुद्रणाधीन है, जो उन्होंने अपने बर्कले प्रवास-काल में अंग्रेजी के विभिन्न तर्जुम कवियों के सहयोग से किया था। अजय के उपन्यास 'अपने-अपने अजनबी' का अंग्रेजी अनुवाद भी एक विद्यार्थी ने अपनी एम० ए० परीक्षा के लिए किया था। यहाँ भारतीय साहित्य और संस्कृति के अन्तर्गत हिन्दी साहित्य का भी अध्यापन किया जाता है।

शिकागो विश्वविद्यालय, शिकागो, इलीनॉय : भाषाशास्त्र विभाग के अन्तर्गत अध्यापन होता है। डॉ० नार्मन जाइड इसके इन्चार्ज हैं। दो वर्ष के स्तर तक भाषा का अध्यापन किया जाता है। डॉ० इयाममनोहर पाण्डेय (वसन्त १९६२ से) भारतीय भक्ति-काव्य पढ़ा रहे हैं। हिन्दी सहायकों में द्वारिकेश (सम्भवतः १९५६ शरद से) सबसे पुराने हैं। हिन्दी के कुछ भक्त कवियों—सूर और मीरा विशेषतया के कुछ पदों का अंग्रेजी अनुवाद तैयार किया जा रहा है। श्री कालीचरन बहल हिन्दी व्याकरण पर कुछ कार्य कर रहे हैं।

विस्कान्सिन विश्वविद्यालय, मंडिसन विस्कान्सिन : साउथ एशिया लैंग्वेज एण्ड एरिया सेण्टर के अन्तर्गत अध्यापन होता है। सम्भवतः दो वर्ष के कोर्स दिए जाते हैं। विजिटिंग अध्यापक के रूप में डॉ० प्रभाकर माचवे (१९५६-६१) यहाँ थे।

कानैल विश्वविद्यालय, इथाका, न्यूयार्क : भाषाशास्त्र विभाग के अन्तर्गत अध्यापन किया जाता है। डॉ० गार्डन फेयरबैंक्स इन्चार्ज हैं। श्री बालगोविन्द मिश्र (१९६६ शरद से) यहाँ सहायक हैं। सम्भवतः दो वर्ष का पाठ्यक्रम रखा गया है।

कोलम्बिया विश्वविद्यालय, न्यूयार्क : नीयर ईस्टर्न लैंग्वेज विभाग में हिन्दी पढ़ाई जाती है। यहाँ दो वर्ष का पाठ्यक्रम है। यहाँ कार्यक्रम को विस्तृत करने की योजना चल रही है।

यूनिवर्सिटी ऑफ़ टेक्सास, ऑस्टिन, टेक्सास : साउथ एशिया सेन्टर में डॉ० एडगर पालोमे के निदेशन में हिन्दी पढ़ाई जाती है। यहाँ तृतीय वर्ष के पाठ्यक्रम का प्रबन्ध भी शायद आगामी सत्र से हो जाए। श्री एच० एस० अन्तन्तारायण (१९५६-६२) तथा श्री रामप्रकाश दीक्षित (१९६० से) हिन्दी पढ़ाते रहे हैं।

सिराक्यूज विश्वविद्यालय, रॉचेस्टर, न्यूयार्क में श्री अगेहानन्द भारती के निदेशन में १९६३ से (सम्भवतः) हिन्दी का अध्यापन प्रारम्भ किया गया है।

इसके अतिरिक्त पेन्सिलवानिया विश्वविद्यालय फिलाडेल्फिया में, मिचिगन

विश्वविद्यालय ऐनअर्वर, अरीजोना विश्वविद्यालय तथा ड्यूक विश्वविद्यालय और हार्टफोर्ड सेमिनरी फ्राउडेशन में भी हिन्दी की पढ़ाई किन्हीं-न-किन्हीं रूपों में और स्तरों पर की जाती है।

संयुक्त राज्य में हिन्दी पढ़ने वाले प्रायः वे विद्यार्थी होते हैं जिन्हें भारतीय भाषाओं अथवा क्षेत्रीय अध्ययन (एरिया स्टडी) में रुचि होती है। इस प्रकार भाषा-शास्त्र, वृशास्त्र, समाजशास्त्र, राजनीतिशास्त्र तथा भारतीय इतिहास विषयों के विद्यार्थी सामान्यतया हिन्दी का अध्ययन करते हैं। कुछ विश्वविद्यालयों में क्षेत्रीय अध्ययन करने के लिए देश-विशेष की भाषा का ज्ञान आवश्यक माना जाता है। अधिकांश विद्यार्थियों को हिन्दी अध्ययन के लिए 'नेशनल डिफ्रेंस फ़ेलोशिप' भी मिलती है।

हवाई विश्वविद्यालय, होनोलुलू, में 'डिपार्टमेंट ऑफ़ एशियन ऐण्ड पैसिफ़िक लैंग्वेज' में हिन्दी अध्यापन की व्यवस्था १९६३ से होने वाली थी। इस सम्बन्ध में इससे अधिक नहीं ज्ञात है।

इटली

इटली में जब मैं रोम में 'इस्मिओ', प्रो० तुच्ची की संस्था में गया था, तब अन्तामारिया से हिन्दी सुनकर बहुत प्रभावित हुआ था। उन्होंने हिन्दी में एक दस मिनट का रोम-वर्णन मुझसे टेप-रेकार्ड भी करा लिया था। डॉ० रामसिंह तोमर और प्रो० मोहनलाल वाजपेयी, जो वहाँ बहुत वर्षों तक हिन्दी-प्रेम-प्रसार का कार्य कर रहे थे, भारत में शान्तिनिकेतन लौट आए थे; और कोई भारतीय स्टाफ़ पर नहीं थे। अब जो दो पत्र मुझे इटैलियन राजदूतावास, दिल्ली की कृपा से प्राप्त हुए हैं, उनका अविकल अनुवाद नीचे उद्धृत कर रहा हूँ :

'इन्स्टीट्यूटो इटैलिआनो—पेर इल मीडिओ एड एस्त्रीमो ओरिएण्टे, रोमा' से २१ नवम्बर को प्रो० आन्तोनियो गार्गानो लिखते हैं : "(१) विश्वविद्यालयों, स्कूलों/कॉलेजों में हिन्दी पढ़ाने की व्यवस्था : (अ) यूनीवर्सिटी ऑफ़ रोम, फ़ैकल्टी ऑफ़ लैटंस; इन्स्टिट्यूटो दि स्टुडि ओरिएन्ताली; (ब) 'इस्मिओ' की रोम में शालाएँ। तीन वर्ष का हिन्दी भाषा और संस्कृति में पाठ्यक्रम—दो वर्ष हिन्दी का उच्चतर अध्ययन; (स) मिलान और तुरिन में 'इस्मिओ' द्वारा चालित शाखाओं में शालाएँ—तुरिन की शाखा इस वर्ष बन्द हो रही है; (द) नेपल्स में 'इन्स्टिट्यूटो युनिवर्सिटैरिओ ओरिएण्टे'।

(२) विद्यार्थियों तथा अध्यापकों की संख्या : ५ से ६ अध्यापक कुल हैं। इनमें से कुछ भारतीय हैं, जोकि विश्वविद्यालय में पढ़ानेवाले लेक्चरर हैं और 'इस्मिओ' में अध्यापक हैं। इनके अलावा स्थानीय शिक्षकों को भी हम लेंते हैं। 'इस्मिओ' की सब शालाओं में मिलाकर ५० विद्यार्थी कुल हैं। विश्वविद्यालयों में इस पाठ्यक्रम को सीखनेवालों की संख्या निर्धारित नहीं की जा सकती, चूँकि वहाँ उपस्थिति ऐंजिक है। उनकी संख्या अदलती-बदलती रहती है।

(३) पाठ्य-पुस्तकें, इत्यादि : पढ़ाई 'इस्मिओ' के अध्यापक स्वयं जो

पाठादि तैयार करके बाँटते हैं, उसी के आधार पर होती है। इसमें व्याकरण, साहित्यिक खंड, संकलन आदि होते हैं। कुछ अध्यापक केलाग के 'हिन्दी ग्रामर' का उपयोग करते हैं।

(४) हिन्दी साहित्यिक कृतियों का इटली में अनुवाद : कुछ अनुवाद उपलब्ध हैं, प्राचीन लेखकों की कृतियों के अंश, और कुछ आधुनिक कथा-साहित्य भी। अब प्रेमचंद की चुनी हुई कहानियों का एक संग्रह प्रेस में है। समकालीन हिन्दी-कवियों का एक संग्रह तैयार हो रहा है। प्रो० ग्युसेप्पे तुच्ची के निर्देशन में हमारी संस्था से 'सिविल्ला देल्ला ओरिएन्ता' के दूसरे खण्ड में भारतीय साहित्य का एक सर्वेक्षण प्रकाशित हुआ है। प्रकाशन-संस्था है गेहरार्ड कासिनी, रोम, १९५७। पुस्तक का नाम है :

'स्टोरिया देल्ला लित्रात्यूरा मेदिवाली इ मादन देल सुवकांतिनेन्ते इन्दिआनो', लेखक सुनीतिकुमार चैटर्जी (इस ग्रन्थ में भारतीय प्रायद्वीप के मध्ययुगीन और आधुनिक साहित्य का इतिहास दिया गया है)।

(५) एक आधुनिक इटालियन-हिन्दी और हिन्दी-इटालियन कोश तैयार किया जा रहा है। सम्पादक : प्रो० एल० पी० मिश्र। वे भारत के आधुनिक साहित्य का एक इतिहास तैयार कर रहे हैं।

दूसरा पत्र इटली से नेपल्स से प्रो० ए० बीसानी, फ़ारसी के प्रोफ़ेसर से दिसम्बर ४ का लिखा हुआ प्राप्त हुआ है जिसका सारांश यों है :

"दो इटालियन यूनिवर्सिटियों में हिन्दी के 'लेटोरेटी' (विभाग) हैं। रोम में डॉ० मिश्रा और नेपल्स में डॉ० इक़तिदा हसन 'लेटोरे' (प्राध्यापक) हैं। 'लेटोरे' ब्रिटिश पद्धति की शिक्षा में नहीं होते। वे विदेशी अध्यापक होते हैं, जो भाषा विभाग से संलग्न रहते हैं और उनका कार्य है भाषा का व्यावहारिक रूप सिखाना, जिससे कि विद्यार्थी वह भाषा शुद्ध रूप से बोल और लिख सकें। आधुनिक भारतीय आर्य-भाषाओं के विभाग में ही हिन्दी पढ़ाई जाती है। नेपल्स में इसे 'हिन्दी-उर्दू' विभाग कहते हैं। वस्तुतः नेपल्स के 'लेटोरेटो' (विद्यार्थी) सम्प्रति उर्दू में अधिक रुचि रखते हैं। दोनों ही 'लेटोरेटी' वर्षों में व्यक्तियों के अन्तराल और भेद को छोड़ दें तो द्वितीय महायुद्ध के बाद शुरू हुए। नेपल्स में 'हिन्दुस्तानी' विभाग (यही उसका पहले नाम था) काफ़ी पुराना है : गत शताब्दी के अन्त में ताग्लियाव्यू नामक एक भूतपूर्व मिशनरी द्वारा शुरू किया गया था। वह भारत में बहुत समय तक रहा था। हिन्दुस्तानी से मतलब उर्दू और हिन्दी दोनों से था।

"इन दो यूनिवर्सिटियों के अलावा हिन्दी इस्मियो में हिन्दी एक दूसरे स्तर पर पढ़ाई जाती है, रोम और नेपल्स में, प्रो० तुच्ची के निर्देशन में। तीन वर्ष का कोर्स होता है जिसके बाद डिप्लोमा दिया जाता है। इस पदवी का महत्त्व दूतावासों की ओर अन्य वाणिज्य-सम्बन्धी सेवाओं से होता है। यह यूनिवर्सिटी डिग्री नहीं है। द्वितीय महायुद्ध से पहले रोम में हिन्दी अध्यापन शुरू हो गया था, मिलान शाखा में गद में।

"अध्यापक साधारणतया भारतीय होते हैं; श्रीमती दि एंजेलिए का अपवाद

१०२ : आलोचना

छोड़कर, जो रोम के 'इस्मिओ' में हिन्दी पढ़ाती हैं। दोनों उपरिलिखित यूनिवर्सिटी प्रोफेसर पदों पर इटैलियन व्यक्ति हैं (प्रो० गार्गानो रोम में, नेपल्स में मैं हिन्दी के बजाय उर्दू में अधिक दिलचस्पी रखता हूँ)।

“पाठ्य-पुस्तकों में बड़ी कठिनाइयाँ हैं। इतालवी भाषा में कोई अच्छे हिन्दी व्याकरण नहीं। सामान्यतः, विभिन्न अध्यापक अपने साइक्लोस्टाइल किये हुए व्याकरण चलाते हैं। पाठों के लिए, भारत की प्राथमिक शालाओं की पाठ्य-पुस्तकें चलाई जाती हैं (साथ ही समाचारपत्र या साहित्यिक पत्र-पत्रिकाएँ हिन्दी में चलाते हैं, उच्च-तर कक्षाओं के विद्यार्थियों के लिए)। विद्यार्थियों की संख्या कुछ विरल ही है (यह बात प्रायः सभी पूर्वी भाषाओं के बारे में, हमारे देश में, कही जा सकती है)। रोम और नेपल्स यूनिवर्सिटियों में दो-तीन व्यक्तियों से अधिक हिन्दी-उर्दू नहीं पढ़ते। यह मुख्यतः इस प्राचीन विद्यालयीन पूर्वाग्रह का परिणाम है कि शास्त्रीय अध्ययन के योग्य यदि कोई भाषा है तो केवल पवित्र संस्कृत वाणी ही है। इस्मिओ में विद्यार्थी बड़ी संख्या में हैं, (किसी-किसी वर्ष तो २०-३० से अधिक), परन्तु अधिकांश उनमें ऐसे होते हैं, जो तीसरे वर्ष तक नहीं टिकते।

‘सीधे हिन्दी से इतालवी में अनुवादित ग्रन्थ बहुत थोड़े हैं : डॉ० मिश्रा द्वारा तैयार किये गए इतालवी अनुवाद के रूप में प्रेमचन्द की कहानियों का एक संग्रह शीघ्र ही प्रकाशित होगा। एशियाई साहित्यों के विविध सामान्य इतिहासों में हिन्दी साहित्य के कई अंश अनुवादित किये जा चुके हैं (मेरे ‘पाकिस्तान के साहित्यों के इतिहास’ में प्रेमचन्द की ‘कफ़न’ का अनुवाद छपा है, पर वह उर्दू में है, हिन्दी में नहीं), साथ ही ‘पूर्व की संस्कृति’ (ल सिविल्टा देल्लोयेन्ते) में जो चार खण्डों में रोम में छपा है, इस्मिओ के निर्देशन में, प्रकाशक कासिनी ने १९५६ से १९६० में छपा है—उसमें हिन्दी के प्राचीन साहित्य से कई अंश दिये गए हैं हिन्दी विभाग में।

“जैसे कि आप देखेंगे, यह विशेष नहीं है। यदि मैं कुछ विवरण भूल रहा हूँ तो कृपया प्रो० ए० गार्गानो को भी लिखें।”

(प्रो० गार्गानो का पत्र आरम्भ में दिया गया है।)

चेकोस्लोवाकिया

डॉ० ओदोलेन स्मेकल, (विनोहराड्स्का २१, प्राग २, चेकोस्लोवाकिया) ने ‘फिलोसोफिका फैकुल्टा यूनिवर्सिटी कार्लोवी-कैतेद्रा वेद ओजेमिच एसीई ए अफ्रीकी’ के लेटर-पैड पर शुद्ध हिन्दी में १५ नवम्बर को मुझे जो पत्र भेजा है, उसके अंश इस प्रकार से हैं :

“पहले तो मेरे एक लेख का उल्लेख करने दें—वह ‘राष्ट्रभारती’ (जून, १९६४, २९६-२९८) में प्रकाशित हुआ है। उसे अवश्य देखिए। आपके प्रश्नों के उत्तर—

“(१) हिन्दी शिक्षा :

(अ) प्राग विश्वविद्यालय में इस वर्ष कुल मिलाकर ३ छात्र और ८

निर्वसिटी छात्राएँ हैं। प्राग विदेशी भाषाओं के विद्यालय में १३ छात्र और १७ छात्राएँ हैं।

(ब) विश्वविद्यालय में १९४८ से हिन्दी पढ़ाई जा रही है, विद्यालय में १९२५ से। विश्वविद्यालय में भाषा और साहित्य दोनों की पढ़ाई हो रही है, विद्यालय में केवल भाषा। विश्वविद्यालय में हिन्दी के पाठ्यक्रम में उर्दू और संस्कृत भी सम्मिलित हैं, पर केवल एक वर्ष तक।

(स) पाठ्य-क्रम पाँच वर्ष का है। व्यारेवार सूचना उपरोक्त लेख में। पाठ्य-क्रम के अन्तर्गत हिन्दी का व्याकरण, ऐतिहासिक व्याकरण, पुराना साहित्य, नया साहित्य, एक और भारतीय भाषा। एक वर्ष तक, प्रायः बंगला या मराठी होती है। भारत का इतिहास, आधुनिक सांस्कृतिक और धार्मिक जीवन के लक्षण, ऐतिहासिक यादगार, भारत का भूगोल और मुख्य भारतीय लेखकों से परिचय।

(द) पढ़ाने वालों में अब तक चेक ही रहे थे। कभी-न-कभी भारतीय विद्यार्थी लोग, जो चेकोस्लोविया में एक-दो वर्ष के लिए तकनीकी शिक्षा प्राप्त करने आया करते हैं, बोलचाल की हिन्दी सिखाते हैं। इन दोनों अरविन्दकुमार, श्री ओम-प्रकाश (राजकमल प्रकाशन) के सुपुत्र हमारे विभाग में हिन्दी पढ़ाते हैं। विदेशी शिक्षक हमारे यहाँ नहीं हैं।

(२) मैं हिन्दी भाषा १९५४ से पढ़ाता हूँ। डॉ० वि० पोरीज्का १९४५ से और प्राध्यापक पेटोल्द १९२५ से हिन्दी पढ़ाते हैं। विश्वविद्यालय के भारतीय विभाग में १९४८ से हिन्दी पढ़ाते हैं। इससे पहले हिन्दी उच्च व्यापार महाविद्यालय में या विशिष्ट स्कूलों में पढ़ाई जाती थी।

ग्रन्थालय में हिन्दी की शायद १५०० पुस्तकें होंगी। हो सके इसमें २००० के लगभग होंगी। मुझे ठीक मालूम नहीं। जो पुस्तकें मुझे भारत में दी गई थीं उन्हें मैंने भी विभाग में दे दिया था। पुस्तकों में से बहुत-सी उच्चकोटि की नहीं हैं। 'प्रसाद' की कामायनी आदि आधार मूलग्रन्थ हमारे पास नहीं हैं। कुछ हिन्दी पुस्तकें 'बोरिएण्टल इन्स्टिट्यूट' के पुस्तकालय में हैं, पर बहुत संख्या में नहीं।

(३) हिन्दी साहित्य के अनुवाद : (अ) प्रेमचन्द : गोदान, अनुवादक स्मेकल १९५७; अमृतराय : तिरंगे कफन; हर्षनाथ : शैतान नहीं आदमी, १९५३, अनु-स्मेकल; चन्द्रकिरण सोनरिक्सा : गृहस्थी का मुख, १९६१; पत्रिकाओं में मेरे अनेक अनुवाद : लेखक : वच्चन, 'अज्ञेय', गिरिजाकुमार माथुर, महेन्द्र भटनागर, दिनकर आदि। प्रेमचन्द : निर्मला, अनुवादिका पुत्सकोवा, १९६३; अयोध्याप्रसाद उपाध्याय : देवबाला, अनुवादक वेल्लेस्नी, १९११।

आगे का कार्यक्रम : जायसी : पटुमावती, हिन्दी कहानियों का संकलन, हिन्दी भाषा का व्याकरण चेक में है : वि० पोरीज्का, हिन्दी व्याकरण, १९५२; प्राइमर व पाठ्य-पुस्तकें (दो) : प्रो० पेटोल्द, १९३६, १९४७, वि० पोरीज्का, हिन्दी लैंग्वेज-बोर्स १९६३ स्मेकल हिन्दी साहित्य का संक्षिप्त इतिहास लिख रहे हैं।

डॉ० स्मेकल द्वारा उल्लिखित लेख के अंश इस प्रकार हैं :

"अपनी अनुभूति से मुझे पता चला है और भारत में रहते समय मुझे पग-

पग पूर इस बात का प्रमाण मिलता रहा था कि अधिकतर भारतवासी विदेशियों के सम्पर्क में अंग्रेजी में बातें करना मिथ्या गौरव समझते हैं। अतः संसार-भर में प्रचलित मत यह हो गया है कि भारतवासियों के सम्पर्क में किसी भारतीय भाषा की जानकारी विशेष आवश्यक नहीं है, क्योंकि स्वयं भारतीय अपनी भाषा का विदेशियों के सम्पर्क में प्रयोग नहीं करते हैं और अपनी भाषा बोलते समय संस्कृत में और उच्च विचारों के लिए अपने शब्दों का प्रयोग न करके अंग्रेजी शब्दों का प्रयोग करते हैं। सच्ची और एकदम स्वाभाविकता से सारे संसार में स्वीकृत मत है कि अपनी भाषा का आदर तथा गौरव सब भाषाओं की तुलना में अधिक होना चाहिये। भारतवासियों को विदेशी लोगों को इस बात का विश्वास दिलाना होगा कि वे भारतीय भाषाओं की जानकारी राष्ट्र की कार्रवाई के लिए उपयुक्त, लाभकारी और परम आवश्यक समझें।

प्राग विश्वविद्यालय के पूर्वी विभाग में कई उपविभाग हैं। एक विभाग में अरबी, फारसी, तुर्की आदि भाषाएँ सिखाई जा रही हैं, दूसरा भारत का विभाग है। अगले उपविभाग में चीनी, जापानी आदि भाषाओं का शिक्षण-प्रबन्ध है। चौथा विभाग अर्मेनी-युजीनी भाषाओं का है और इसके अतिरिक्त हिन्देशियायी, अफ्रीकी भाषाओं तथा प्राचीन लिपियों के अध्ययन के लिए भी अलग विभाग है। चेकवासियों को प्राच्य भाषाएँ सीखने में अभिरुचि बहुत कम है। जहाँ तक भारतीय भाषाओं का प्रश्न है, यह अभिरुचि अधिक उत्कट प्रतीत होती है। यह कहना उचित है कि हमारे छात्रों का अनुराग विशेष रूप से आधुनिक भाषाओं के प्रति प्रवृत्त हो गया है। नवीन पूर्वी भाषाओं के प्रति झुकाव—आधुनिक चेक प्राच्यविद्या का प्रधान लक्षण है। हम इसे एक आमूल परिवर्तन कह सकते हैं, क्योंकि पहले अध्ययन का ध्यान प्रायः प्राचीन भाषाओं और विद्याओं तक ही सीमित था। नवीन भाषाओं और साहित्यों की शिक्षा पिछले समय तक अवहेलित रही। यह परिस्थिति आज तक कई यूरोपीय देशों में विद्यमान है। यूरोप के प्रधान विश्वविद्यालयों में पुरानी भाषाओं का अच्छा गवेषणा-कार्य हो रहा है और पुस्तकालय अनेक दुर्लभ ग्रन्थों से सुसज्जित हैं, पर नवीन प्राच्य भाषाओं के केवल व्यावहारिक भाषा के पाठ्यक्रम हैं। हमें इस बात पर गौरव है कि चेकोस्लोवाकिया में हम प्राचीन प्राच्य भाषाओं के साथ ही आधुनिक पूर्वी भाषाएँ तथा साहित्यों का खोजपूर्ण अध्ययन करने लगे हैं और उनके विस्तारपूर्ण अध्यापन-कार्य पर विशेष ध्यान दे रहे हैं।

इस समय विश्वविद्यालय के भारतीय विभाग में हिन्दी और उर्दू के अतिरिक्त संस्कृत, बंगला और तमिल भाषाओं की शिक्षा दी जा रही है। हिन्दी का पाठ्यक्रम पाँच वर्ष का है। उसमें इस प्रकार के पाठ, भाषण और पाठ्यक्रम हैं : (१) व्यावहारिक हिन्दी अथवा बोलचाल का अभ्यास, (२) सरल हिन्दी व्याकरण, (३) हिन्दी व्याकरण का गहरा अध्ययन, (४) हिन्दी में अनुवाद करने का अभ्यास, (५) हिन्दी और उर्दू शैली, (६) संस्कृत भाषा और साहित्य, (७) अन्य भारतीय भाषा से परिचय (वैकल्पिक भाषा), (८) अन्य भारतीय साहित्यों से परिचय, (९) भारत का इतिहास, (१०) भारत के धर्म और दर्शनशास्त्र, और (११) आधुनिक भारतीय

जीवन के प्रधान लक्षण। विद्यार्थी को प्रत्येक विषय की परीक्षा देनी पड़ती है। पाँचवें शिक्षण वर्ष के अन्त में इन सब विषयों की फिर से एक संयुक्त परीक्षा देनी होती है। अन्तिम दो वर्षों में विद्यार्थी अपना उपाधि-निबन्ध तैयार करता है। अपना शोध-कार्य पेश करके उसे इस बात का प्रमाण देना आवश्यक होता है कि वह अपने विषय में पर्याप्त प्रवीण तथा हिन्दी में गवेषणा-कार्य करने योग्य है। इस समय तक हमारे विभाग में ११ विद्यार्थियों ने हिन्दी की शिक्षा समाप्त करके इसमें उपाधि प्राप्त की है। हिन्दी की शिक्षा चेकोस्लोवाकिया में विश्वविद्यालयीन स्तर पर सन् १९४८ में पहली बार दी जाने लगी।

प्राग विश्वविद्यालय के अतिरिक्त हमारे देश में प्राग में एक और विद्यालय है, जहाँ हिन्दी भाषा की पढ़ाई हो रही है। वह विदेशी भाषाओं का विद्यालय है। उसका उद्देश्य विश्वविद्यालय की तुलना में कुछ दूसरा है। विश्वविद्यालयीन शिक्षा का लक्ष्य, जैसे हम पहले देख चुके हैं, विद्यार्थियों को अधिक-से-अधिक गहरी बहुमुखी और व्यापक हिन्दी की जानकारी प्रदान करता है। विदेशी भाषाओं का विद्यालय ऐसी संस्था है जहाँ अपनी इच्छानुसार छोटे या बड़े सभी, जिनको प्राच्य भाषाओं में रुचि है, उपयुक्त जानकारी प्राप्त कर सकते हैं। इसके छात्र, कर्मचारी, वाणिज्य अधिकारी, श्रमिक, इंजीनियर लोग, युवक और युवतियाँ जो शिक्षा ज्ञानवर्धन और विनोद दोनों के लिए सप्ताह में दो बार शाम को हिन्दी भाषा दो घण्टों के पाठ्यकाल में सीख लेते हैं। पूरा पाठ्यक्रम ६ वर्ष तक होता है। सारी शिक्षा विशेषकर व्यावहारिक अथवा बोलचाल की हिन्दी पर केन्द्रित है। आजकल हिन्दी की तीन कक्षाएँ हैं। पढ़ने वालों की संख्या मिलाकर पन्द्रह है। प्रचलित वर्ष तक ६ शिक्षार्थियों ने हिन्दी का पूरा पाठ्यक्रम समाप्त किया है।

इन हिन्दी के चेक प्राध्यापकों में से, जो साथ ही हिन्दी पाठ्य-पुस्तकों तैयार करते हैं, तीन हैं : प्राध्यापक ओताकार पेटोल्द, जिनको हमारे देश में हिन्दी के प्रचार के लिए अधिक श्रेय प्राप्त है। उनके प्रयत्नों से चेकोस्लोवाकिया में हिन्दी सबसे पहले आई। डॉ० पेटोल्द ने सन् १९२५ में उच्च वाणिज्य महाविद्यालय में हिन्दी की शिक्षा देनी आरम्भ की। उन्होंने चेकोस्लोवाकिया में हिन्दी की पहली पाठ्य-पुस्तक सन् १९३० में प्रकाशित की थी। इस पुस्तक के अनुसार दो दशकों तक हिन्दी पढ़ाई गई। दूसरे प्राध्यापक का नाम डॉ० वि० पोरोज्का है। वे विशेषकर हिन्दी व्याकरण तथा ऐतिहासिक व्याकरण में खोज-कार्य कर रहे हैं। अब तक उन्होंने 'हिन्दी का व्याकरण' और पिछले वर्ष 'हिन्दी' नामक एक शोधपूर्ण पाठ्य-पुस्तक लिखकर प्रकाशित कर दी थी। तीसरा हिन्दी का एक प्राध्यापक प्रस्तुत लेख का लेखक है। दस वर्ष पूर्व मैंने हिन्दी-प्रेमियों के लिए पाठ्य-पुस्तक तैयार की थी। वह तो मेरा केवल प्राथमिक प्रयास था। इसके अनुसार हम अब भी पढ़ा रहे हैं। दस-वर्षीय हिन्दी अध्यापन-कार्य से अनुभव प्राप्त करके इससे अब पूर्णतया संतुष्ट नहीं हूँ और दूसरी एकदम नई पाठ्य-पुस्तक के कार्य में संलग्न हूँ।

पिछले सात वर्षों के प्रयत्न से मैंने हिन्दी के अध्ययन के विकास के लिए

१०६ : आलोचना

‘हिन्दी वातलाप’ नामक पाठ्य-पुस्तक को प्रकाशनार्थ तैयार किया है। वह मेरे विचार में न केवल चेक हिन्दी-प्रेमियों के लिए बल्कि सारे यूरोपवासी हिन्दी-हितैषियों के लिए सहायक होगी। यह इसलिए कि उसमें हिन्दी और चेक वाक्यों के साथ-साथ अंग्रेजी के भी वाक्य दिये गए हैं। भारत में रहते समय मैंने इस पुस्तक के लिए सामग्री का संचय किया था। ऊपर उल्लिखित पुस्तक में दैनिक जीवन के प्रत्येक आवश्यक विषय की चर्चा है। उसमें न केवल प्रचलित सुगम वातचीत के वाक्य, अधिक प्रयोग में होने वाले शब्द, बोलचाल के ढंग पर सामाजिक जीवन के सम्पर्क में प्रयुक्त होने वाले शिष्ट वाक्य और प्राविधिक तथा औद्योगिक क्षेत्र के लिए विशिष्ट वाक्यों की सामग्री भी मिलती है। ऐसी पाठ्य-पुस्तक की मेरे विचार में हमारे शिक्षार्थियों को प्रोत्साहन तथा हिन्दी बोलने में सिद्धहस्तता प्राप्त करने के लिए आवश्यकता है। पुस्तक अगले वर्ष के प्रारम्भ में ही प्रकाशित होने वाली है।”

(राष्ट्रभारती, जून, १९६४)

जर्मनी (पश्चिमी)

कुमारी मादालिन डकविज, जो भारत के जर्मन दूतावास में उप-सांस्कृतिक सलाहकार हैं, आठ वर्ष पूर्व हमसे हिन्दी सीखती थीं। आपने सूचना दी है अपने अक्टूबर ३०, १९६४ के पत्र में : “जब मैं यूनीवर्सिटी में हिन्दी पढ़ती थी, १०-१५ वर्षों पहले, स्पाइस-बैनर्ट की ‘हिन्दुस्तानी ग्रामर’ प्रयोग में लाई जाती थी। शोलवेर्ग की हिन्दुस्तानी व्याकरण का भी काफी व्यापक प्रयोग होता था। अब शायद भारत में प्रकाशित और उच्चतर प्रकाशन प्रयोग में लाये जाते होंगे, इसका मुझे विश्वास है। नवोन्तम हिन्दी व्याकरण, जो जर्मनी में प्रकाशित हुआ है वह है, डॉ० एच० जे० वेरमीर तथा डॉ० आर्येन्द्र शर्मा द्वारा रचित ‘आइन फ्युह्रुंग इन डाइ ग्रामाटिक डेर मॉडर्न हिन्दी’ (आधुनिक हिन्दी के व्याकरण की प्रवेशिका)। यह एक अत्यन्त सुन्दर व्याकरण है, परन्तु यह अधिक शास्त्रीय है; विद्वान भाषावैज्ञानिकों के ही काम की अधिक है। सर्वसाधारण भाषा के विद्यार्थियों के सरल उपयोग के लिए यह उतनी काम की नहीं। मैं आपको इस पुस्तक की एक प्रति, सन्दर्भ के लिए, भेज रही हूँ।

“जहाँ तक हिन्दी पुस्तकों के जर्मन अनुवाद का प्रश्न है, दुर्भाग्य से, सम्प्रति, मेरे पास कोई पुस्तक नहीं। आप मैक्समुल्लर भवन नामक जर्मन सांस्कृतिक केन्द्र के पुस्तकालय से पता लगाएँ (कर्जन रोड, नई दिल्ली में)। वहाँ के ग्रन्थालयाध्यक्ष आपकी सहायता करेंगे। ३, कर्जन रोड, नई दिल्ली-१ में डॉ० पी० एल० अनेजा जर्मन भाषा के लेक्चरर हैं, जो हमारे विश्वविद्यालयों में हिन्दी अध्यापन के सम्बन्ध में अधिक जानकारी रखते हैं।”

मेरे और पता लगाने पर यह सूचना मिली कि निम्न भारतीय सम्प्रति पश्चिम जर्मनी में हिन्दी के अध्यापक हैं; नाम और पते दे रहा हूँ :

१. जेड० ए० हनफ्री, ओरिएण्टलिशन सेमिनार डेर यूनीवर्सिटैट राडम, फ्राइबर्ग।

२. प्रो० ताराचंद राय, इंडोलौजिसेस सेमिनार डेर यूनीवर्सिटैट बोन, बोन ।
३. डॉ० एस० विश्वास, इंडोजर्मनिसेस सेमिनार, बर्लिन-डाइलेम ।
४. डॉ० सी० त्रिपाठी, इंडोलौजिसेस सेमिनार, गोइटिंगेन ।
५. श्री एस० ए० श्रीनिवासन, सेमिनार फूर कुल्दूर उण्ड गैशिशटे इण्डियेन्स, यूनीवर्सिटैट हैम्बुर्ग
६. प्रो० डॉ० डब्ल्यू० राऊ और मि० शर्मा, इण्डिश-ओस्टाशियाटियासेस सेमिनार, यूनीवर्सिटैट, मारबुर्ग ।
७. श्री योगेश यादव, सेमिनार फूर वेरग्लाइशेण्डे स्प्राख विस्सेन्सशाफ्ट डेर यूनीवर्सिटैट, बूजर्वेर्ग ।

जर्मनी संस्कृत अध्ययन की पुरानी भूमि रहा है। वीस जर्मन प्रोफेसरों के नाम-पते कुमारी डकवित्स ने भेजे हैं, जिससे पता चलता है कि १५ यूनिवर्सिटियों में संस्कृत पढ़ाने की व्यवस्था है। १९६१ में जब मैं 'डॉइशलैण्ड एक्डेमी' के अतिथि के तौर पर जर्मनी में गया था, तब फ्रांकफुर्ट में गोइटे यूनिवर्सिटी में 'कुमारसम्भव' की भाषा पर शोधकार्य करनेवाले विद्यार्थी मिले थे; हैम्बुर्ग और म्युनिखेन में भी कई संस्कृत-प्रेमियों से भेंट हुई थी।

हाइडेलबर्ग यूनिवर्सिटी के साउथ एशिया इंस्टिट्यूट का १९६४ का बुलेटिन मुझे मिला है। सुमुद्रित पुस्तिका के आरम्भ में विजया लक्ष्मी पंडित के साथ डॉ० फ्रिट्ज अर्नेस्ट का चित्र है। 'डिपार्टमेण्ट ऑफ़ माडर्न लैंग्वेजेज' में लिखा है : "प्राध्यापक : डॉ० एज० जे० वेरमीर, मि० इंदुप्रकाश पांडेय एम० ए०, श्रीमती हमीदा तैयब अली बी० ए०; विजिटिंग प्रोफेसर : डॉ० आर्येन्द्र शर्मा। इस विभाग में हिन्दी और उर्दू इस कार्यक्रम के आरम्भ में पढ़ाये जाते हैं, गुजराती और तमिल बाद में पढ़ाये जाएंगे—१९६४-६५ में। यहाँ से हिन्दी व्याकरण प्रकाशित हुआ है। हिन्दुस्तानी ध्वनिशास्त्र पर और जर्मन-हिन्दी, हिन्दी-जर्मन कोशों पर कार्य चल रहा है।

"डॉ० आर्येन्द्र शर्मा, उस्मानिया यूनिवर्सिटी हैदराबाद से १९६३-६४ में यहाँ आए। मि० इंदुप्रकाश पांडेय १९६३ के ग्रीष्म में थे। श्रीमती हमीदा तैयब अली १९६२-६३ के शिशिर से उर्दू और ध्वनिशास्त्र की अध्यापिका हैं। वे १९६४-६५ में गुजराती भी पढ़ाएंगी और मि० जेसिया तमिल के लेक्चरर बनकर १९६४-६५ में आएंगे।"

श्रीमती हमीदा तैयबजी के परिचय में पृ० २० पर लिखा है : 'भारत और पाकिस्तान की उर्दू साहित्य संस्था अंजुमन तरक्की-ए-उर्दू की उपाध्यक्षा, बम्बई में फरिन लैंग्वेज इंस्टीट्यूट में लेक्चरर थीं।

मेरी एक अन्य जर्मन विद्यार्थिनी (जो अमरीका में मेरी छात्रा थी; बाद में भारत में सुभाषचन्द्र बोस पर शोधकार्य करने गत वर्ष आई थी, और मेरे घर पर एक सप्ताह ठहरी) इनीस ब्यूर्न के एक-दो वर्ष पूर्व के पत्र के अनुसार—"हमारे कुछ अध्यापक कहते हैं : हिन्दी में कोई साहित्य विकसित नहीं है। क्या यह सच है?"

जर्मन में जहाँ तक मेरी जानकारी है, आधुनिक हिन्दी साहित्य से बहुत कम

१०८ : आलोचना

रचनाओं का अनुवाद हुआ है। डॉ० शार्लोट क्राडजे ने लाइप्सिग से लल्लूलालजी के 'प्रेमसागर' का अनुवाद प्रकाशित किया था; हाल में बिहारीलाल की 'सतसई' के कुछ दोहों का पद्यानुवाद जर्मन दूतावास के एक अधिकारी ने किया। पर आधुनिक हिन्दी से जैनेन्द्रकुमार के 'त्यागपत्र' और प्रेमचंद की कुछ कहानियों के अनुवाद के सिवा और किसी रचना की बात नहीं सुनी। कुछ नये कवियों की रचनाओं के अनुवाद कराने की योजना मैक्समुल्लर भवन ने बनाई थी। पर एक पुस्तिका से अधिक कुछ देखने में नहीं आया।

जर्मनी (पूर्व)

भारत में दो वर्ष रहकर हिन्दी व्याकरण पर अनुसन्धान करनेवाली कुमारी मार्गोत्त हेलसिग ने इस सम्बन्ध में लिखा है :

"जर्मन जनवादी गणतन्त्र में भारत-सम्बन्धी अनुसन्धान में हिन्दी का विशेष स्थान है। हिन्दी भारत की वह भाषा है जिसे सबसे अधिक लोग बोलते और समझते हैं। इसलिए हमारे देश में हिन्दी के अध्ययन-अध्यापन पर विशेष ध्यान दिया जाना स्वाभाविक ही है। हिन्दी की वैज्ञानिक शिक्षा प्रदान करने के मुख्य केन्द्र बर्लिन में हुम्बोल्ट विश्वविद्यालय और लाइप्सिग के कार्ल मार्क्स विश्वविद्यालय हैं। हाले के मार्तिनलूथर विश्वविद्यालय के भाषावैज्ञानिक संस्थान में भी हिन्दी पढ़ाई जाती है। बर्लिन के हुम्बोल्ट विश्वविद्यालय में कई वर्षों से भारतीय विद्वान डॉ० अनसारी अपनी चेक पत्नी दगमार अनसारी के साथ हिन्दी पढ़ाते हैं। इसी संस्थान में एक साल से कुमारी बारवारा वेस्तफ़ाल हिन्दी व्याकरण पढ़ाती हैं। मैं भी वहीं पढ़ाती हूँ।

"बोलचाल की हिन्दी जर्मनी आने वाले भारतीय छात्रों से सीखी जाती है। लाइप्सिग में उन जर्मन छात्रों को हिन्दी सिखाते हैं, जो हिन्दी के साथ-साथ अंग्रेजी भी सीखकर दुभाषिये का काम कर सकते हैं। लाइप्सिग के कार्ल मार्क्स विश्वविद्यालय में पंडित शास्त्री नामक भारतीय कई वर्षों तक पढ़ाते थे। वे ब्रज भाषा के विद्वान थे। उनकी एक शिष्या कुमारी एरिका मेकल हाले में हिन्दी पढ़ाती हैं। दूसरी छात्रा कुमारी इरेनेवित्रिग मास्को में हिन्दी साहित्य के इतिहास का विशेष अध्ययन कर रही है।

"पिछले दो वर्षों से जर्मन जनवादी गणतन्त्र और भारतीय गणराज्य के बीच विद्यार्थियों और विद्वानों का आदान-प्रदान बढ़ गया है। परन्तु हमारे सामने हिन्दी पढ़ने के कार्य में कई कठिनाइयाँ हैं : शिक्षकों की कमी और जर्मन भाषा में हिन्दी पाठ्य-सामग्री की न्यूनता है। अतः रूसी और अंग्रेजी पाठ्य-सामग्री को ही काम में लाया जाता है। कुमारी एरिका मेकल हिन्दी-जर्मन शब्दकोश तैयार करने का काम कर रही हैं। अनसारी दम्पति पाठ्य-पुस्तकें और व्याकरण तैयार कर रहा है। नेस्पतल व्याकरणांश लिख रहे हैं।

"भारतीय लेखकों की श्रेष्ठ कृतियों का जर्मन में अनुवाद एक कठिन किन्तु आवश्यक कार्य है। हाल ही में एक जर्मन अनुवाद 'पंजाब का देश' नाम से छपा है।

इसमें प्रेमचन्द, यशपाल और दूसरे हिन्दी लेखकों की कहानियाँ संकलित हैं। दूसरे अनुवादित संकलन में, जिसका नाम 'ठाकुर का कुआँ' है, प्रेमचन्द, यशपाल, अज्ञेय और कमला चौधरी की कहानियाँ छपी हैं। 'गोदान' का जर्मन अनुवाद छप रहा है। जर्मन जनवादी गणतन्त्र में बराबर कई हिन्दी अखबार और पुस्तकें मँगाई जाती हैं। फिर भी यह सारा काम अभी अपने प्राथमिक चरण में ही है। यह बहुत महत्वपूर्ण कार्य, हमें आशा है कि हमारी सरकार की सहायता से और आगे बढ़ेगा और हम अपने अभीष्ट ध्येय तक जल्दी ही पहुँच सकेंगे।"

जर्मन गणवादी जनतन्त्र में वाल्टर रुवेन आदि संस्कृतज्ञ भी बहुत-सा शोध-कार्य कर रहे हैं। उनकी कालिदास पर पुस्तक प्रसिद्ध है।

जापान

काका साहव कालेलकर के यहाँ ठहरे हुए हिन्दी छात्र श्री कोकिनागा को मैंने दो पत्र भेजे, पर कोई उत्तर नहीं मिला। पता चला है कि तोकियो यूनिवर्सिटी में इलाहाबाद विश्वविद्यालय में पढ़े हुए के० दोई सम्प्रति हिन्दी पढ़ाते हैं। किसी भारतीय अध्यापक को वहाँ भेजे जाने की भी योजना इण्डियन काउन्सिल फार कल्चरल रिलेशन्स (आज़ाद भवन) के सामने है। वैसे वहाँ कई वर्षों तक रहकर अच्छी जापानी बानने वाली एक भारतीय महिला ने मुझे बताया है कि हिन्दी और जापानी में बड़ा आकरणा-साम्य है—वाक्य-रचना में, क्रिया के स्थान आदि में। जापानीमें रवीन्द्रनाथ, गांधी, नेहरू की पुस्तकें अनुवादित हैं। प्रेमचन्द का 'गोदान' और कुछ कहानियाँ जापानी में हैं। बौद्ध-धर्म-सम्बन्धी साहित्य अनुवादित हुआ है। राहुलजी की जापान-यात्रा और भदन्त आनन्द कौसल्यायन के 'जापान' से भी कुछ जानकारी मिलती है।

पोलैंड

आग्नेशका कोवालस्का-सोनी से हमें पता लगा कि पोलैंड में बहुत वर्षों से संस्कृत की भाँति हिन्दी अध्ययन-अध्यापन की व्यवस्था है। आग्नेशका भारत में आधुनिक हिन्दी कविता पर शोध करने आई थीं, और शांतिनिकेतन और इलाहाबाद में उन्होंने यह कार्य किया। कई आधुनिक हिन्दी कवियों से वे मिलीं। स्वर्गीय गजानन माधव मुक्तिबोध से मिलने के लिए वह राजनांदगाँव गईं। उनकी मृत्यु के बाद उनसे प्राप्त सन्देश के अनुसार वह मुक्तिबोधजी की कविताओं के अनुवाद पोलिश भाषा में कर रही हैं।

पोलैंड या अन्य देशों के विषय में हमारी जानकारी बहुत सीमित है। यूगो-स्लाविया की सर्वो-क्रोएटन भाषा में जैनेन्द्रकुमार के 'त्यागपत्र' का अनुवाद हुआ है, ऐसी सूचना मिली है।

फ्रांस

मैं दिल्ली के फ्रेंच दूतावास का आभारी हूँ कि सांस्कृतिक सलाहकार बेनर्डि

क्लेजेंरी ने मुझे पेरिस के दो पते दिये और जिलेस फिलिवेर्त नामक आधुनिक भारतीय भाषाओं के प्राध्यापक का नवम्बर २५ का एक पत्र मुझे मिला। उसके अनुसार :

“इकोल नात्सियोनाल गु लांगे ओरिएन्ताल विद्यैन्ते’ में दो अध्यापक हिन्दी के हैं; एक फ्रेंच और दूसरे भारतीय। पहले वर्ष में हम व्याकरण के प्रारम्भिक तत्त्व पढ़ाते हैं और फिर आसान पाठ पढ़ते हैं; दूसरे और तीसरे वर्षों में हम उच्चतर पाठ्य-पुस्तकें पढ़ते हैं, और अनुवाद का अभ्यास कराते हैं। अनुवाद हिन्दी से फ्रेंच में और फ्रेंच से हिन्दी में सिखाया जाता है। भारतीय अध्यापक हिन्दी में विद्यार्थियों के साथ एक घंटा सम्भाषण भी करते हैं।

“इस वर्ष निम्न पाठ्य-पुस्तकें हम काम में ला रहे हैं (या लायेंगे) :

“पहले वर्ष के लिए, भारती रीडर नं० ३, हिन्दी प्रचार सोसायटी, मद्रास की।

“दूसरे वर्ष के लिए, कहानियाँ मनोरंजक कथाएँ (आनन्द कुमार) आरम्भ में और बहुत जल्दी ‘तोता मैना’ (पाकेट बुक संस्करण) से कहानियाँ।

“तीसरे वर्ष के लिए यशपाल की गीता।

“इसके अतिरिक्त, भारतीय संस्कृति तथा सभ्यता के प्रोफेसर मस्यू शांवार, सप्ताह में एक घंटा हिन्दी अखबारों को समझाने में बिताते हैं (यह उनके पाठ्यक्रम का अंश है)।

“जहाँ तक प्राइमरें, व्याकरण-पुस्तकें, कोश आदि का प्रश्न है, हमारे यहाँ फ्रेंच में कुछ भी नहीं है (एक पुरानी प्राइमर के सिवा जो अब हम काम में नहीं ला सकते) और इसलिए अन्य भाषाओं में पुस्तकों पर हमें अवलम्बित होना पड़ता है (अधिकतर अंग्रेजी में हैं, अर्थात्, और उच्चतर विद्यार्थियों के लिए हिन्दी में पुस्तकें चलती हैं)।

“आपके पत्र के तीसरे प्रश्न के उत्तर में निवेदन है कि फ्रेंच में हिन्दी से अनुवादित बहुत थोड़ी पुस्तकें हैं। जहाँ तक मैं जानता हूँ, अब तक एक ही प्रकाशित हुई है : कवीर की कविताओं का एक संकलन (कई किताबों से) माद्योजेल वादविल द्वारा अनुवादित और गैलियार द्वारा १९५९ में प्रकाशित। दो और पुस्तकें तैयार हो रही हैं : ‘गोदान’, स्वर्गीय पियरे मेल द्वारा अनुवादित; और युनेस्को की सीरीज में ‘कामायनी’। इनमें से प्रथम, अगले साल प्रकाशित हो जाएगी। प्रो० मेल ने ‘कर्म-भूमि’ (प्रेमचंद) का भी अंश अनुवादित किया था, पर वह अब तक अप्रकाशित है।”

वर्मा

चिकित्सक डॉ० ओम्प्रकाश वर्मा हिन्दी साहित्य सम्मेलन के प्राण हैं। उनके द्वारा दी गई जानकारी इस प्रकार है : “सन् १८८५ में बिहार के आरा जिले से करीब २००० परिवार जियावाडी और चौतगा ग्राण्ट के जमींदारों द्वारा लाये गए। उन्होंने वहाँ जंगल काटकर खेती शुरू की। उनके वंशज अब ४० हजार की संख्या में वहाँ बसे हुए हैं। सन् १९०६ में पं० हरिवदनजी शर्मा वर्मा में गये। वर्मा में हिन्दी-प्रचार का इतिहास शर्माजी का इतिहास है। १९२३ में हिन्दी प्रचार को सुगठित रूप

देने के लिए वर्मा हिन्दी साहित्य सम्मेलन की स्थापना की गई। १९२५ ई० में वर्मा सरकार द्वारा हिन्दी को मान्यता मिली और हाई स्कूल फ़ाइनल परीक्षा में द्वितीय भाषा का उसे स्थान मिला। तब देश में ३६० छोटे-बड़े ऐसे विद्यालय स्थापित हुए, जिनमें हिन्दी पढ़ाई जाती थी। जियावाडी में वर्तमान गांधी हिन्दी महाविद्यालय की स्थापना १९२१ में हुई। डी० ए० बी० स्कूल रंगून में एक ट्रेनिंग क्लास सन् १९३८ में प्रारम्भ किया गया। प्रतिवर्ष २० अध्यापक इसमें प्रशिक्षित किए गये। इसके प्राध्यापक गोपालदासजी बी० ए० 'विशारद' थे।

"सन् १९२५ से युद्धारम्भ तक १५ वर्षों में हिन्दी प्रसार ने विशेष प्रगति की। सन् १९४१ से '४६ तक महायुद्ध के कारण हिन्दी में प्रचार-प्रसार एवं शिक्षा-दीक्षा का कार्य अवरुद्ध-सा हो गया, फिर भी जियावाडी और रंगून में विश्वभारती एकेडेमी में यह कार्य चलता रहा। सन् १९४८ में वर्मा हिन्दी साहित्य सम्मेलन का पुनर्गठन हुआ। रंगून और जियावाडी के दोनों केन्द्रों से प्रयाग के हिन्दी साहित्य सम्मेलन की परीक्षाओं में ५०-६० के लगभग परीक्षार्थी प्रतिवर्ष परीक्षा में बैठने लगे। वर्मा में जाकर भारतीय हिन्दी और अहिन्दी-भाषी का भेद भूल जाते हैं और वहाँ अहिन्दी-भाषी भी खूब हिन्दी सीखते हैं।

"प्रतिवर्ष वर्मा हिन्दी साहित्य सम्मेलन का महाविवेशन होता है, जिसमें गण्यमाण्य भारतीय नेता और साहित्यकार आ चुके हैं : भिक्खु जगदीश कस्सप, आर० आर० दिवाकर, जयप्रकाश नारायण, लोहियाजी, 'राहुल' जी, दिनकर, भदन्त आनन्द कौसल्यायन, सेठ गोविन्ददास, विष्णु प्रभाकर, यशपाल जैन और श्यामनारायण पांडेय आ चुके हैं।

"रंगून में २२-५-१९३४ से दैनिक हिन्दी 'प्राची-प्रकाश' प्रकाशित होता आ रहा है। 'प्रवासी' भी दो वर्ष चला। 'ब्रह्म-भूमि' मासिक पत्रिका ४ वर्ष से चल रही है। पत्र-पत्रिकाओं की तरह से साहित्य-प्रकाशन भी कुछ हिन्दी में हुआ है। पं० हरिवदन शर्मा ने 'हिन्दी-वर्मी बोध', 'वर्मा का भूगोल' आदि छपाया। मास्टर पल्लू-सिंह ने वीर सावरकर की पुस्तक 'हिन्दू-पद-पादशाही' का सुन्दर हिन्दी अनुवाद प्रकाशित किया। श्री श्यामचरण मिश्र का 'वर्मा—कल और आज' छपा है। श्री रामप्रदेश यादव साहित्यरत्न ने 'गांधी-दर्शन' खंड-काव्य १९६१ में एवं 'क्रांति' उपन्यास सन् १९६३ में प्रकाशित किया। कुछ लेखकों ने हिन्दी पुस्तकों के वर्मा में अनुवाद किए : ऊ० पारमू और स्वर्गीय धर्मदूत ने राहुलजी के 'सिंह सेनापति' का वर्मा अनुवाद प्रकाशित किया। आर्य-समाज द्वारा 'सत्यार्थ-प्रकाश' का वर्मा अनुवाद सन् १९६० में प्रकाशित किया गया और वाल्मीकीय रामायण का भी एक अनुवाद हुआ है। श्री चन्द्रप्रकाश 'प्रभाकर' ने 'गोदान' का वर्मा अनुवाद किया है जो धारावाहिक रूप से 'ब्रह्म-भूमि' में छपा।

"सम्प्रति सरकारी स्कूलों में हिन्दी को कोई स्थान नहीं है। अगस्त, १९६३ से रंगून यूनिवर्सिटी में बी० ए० और बी० ए० (ऑनर्स) में हिन्दी को स्थान दिया गया है। प्रोफ़ेसर हैं ऊ थॉम्या। अब जबकि अनेक भारतीय व्यापारी वर्मा छोड़कर

११२ : आलोचना

भारत वापस आ रहे हैं, हिन्दी का भविष्य वहाँ अन्धकारमय नहीं तो बहुत उज्ज्वल भी नहीं है।

ब्रिटेन

ब्रिटेन में बी० बी० सी० के हिन्दी-उर्दू प्रोग्राम के माध्यम से गत महायुद्ध-काल से हिन्दी काफ़ी प्रचलित हुई। बलराज साहनी, आले हसन, हरिश्चन्द्र खन्ना, लुम्बा आदि कई व्यक्तियों ने वहाँ कार्य किया। हिन्दी नाटक ('अश्क' का छठा वेदा आदि) भी वहाँ स्टेज पर खेले गए। मुझे भी दो बार वहाँ बोलने का अवसर मिला।

दूसरा महत्त्वपूर्ण स्थान, जहाँ हिन्दी पठन-पाठन का कार्य अधिक शास्त्रीय ढंग से होता है, वह है लन्दन स्कूल ऑफ़ ओरिएण्टल एण्ड अफ़िकन स्टडीज़ (एस-ओ० ए-एस०)। वहाँ प्रो० जान बर्टन पेज (जो नेपाल में रह चुके हैं, उर्दू बड़ी अच्छी जानते हैं, और हिन्दी खूब बोल लेते हैं) की अध्यक्षता में एक हिन्दी विभाग कार्य करता है। उसमें प्रो० मैकग्रेगर, श्रीमती यमुना केसकर आदि हिन्दी पढ़ाते हैं और भाषा-सम्बन्धी शोध-कार्य भी करते हैं। वहीं अर्धमागधी-प्राकृत का विभाग है, जिसके अध्यक्ष हैं प्रो० पद्मनाभ जैनी। भारत-इतिहास विभाग के प्रो० बैरल बहुत अच्छी संस्कृत और हिन्दी जानते हैं। मिस लैम्बर्ट ने 'मराठी व्याकरण' पुस्तक लिखी है। कई भारतीय विद्यार्थी वहाँ पढ़ते और शोध करते हैं। अभी प्रो० ईश्वर बंसल, जो नेपाली विभाग के अध्यक्ष हैं, सप्रू हाउस की 'इंटरनैशनल स्टडीज़ इन्स्टिट्यूट' में, वे, उसी संस्था में दो वर्ष रहकर लौटे हैं। और प्रो० हरनामसिंह 'शान' वहाँ पंजाबी में कार्य कर रहे हैं। इस संस्था की शोध-पत्रिका में हिन्दी भाषा विज्ञान-विषयक बहु-मूल्य सामग्री प्रकाशित हुई है।

यद्यपि ब्रिटेनवासियों का हिन्दी के प्रति रुख कोई बहुत प्रेम या सम्मान का नहीं है, फिर भी हिन्दी-उर्दू के तुलनात्मक अध्ययन को उस संस्था में बहुत बढ़ावा दिया गया है और लन्दन के काउण्टी स्कूल में भी अब हिन्दी एक ऐच्छिक विषय के रूप में पढ़ाई जा रही है, ऐसी जानकारी ब्रिटिश काउन्सिल के के० सिंग देते हैं।

सिंहल

गत वर्ष १९६३ में सिंहल की चार यूनिवर्सिटियों में 'आधुनिक भारतीय साहित्य' पर व्याख्यान देने के लिए मुझे आमंत्रित किया गया था। वहाँ केलानामा में विद्यालंकार यूनिवर्सिटी में भदन्त आनन्द कौसल्यायन हिन्दी पढ़ाते हैं। विद्योदय यूनिवर्सिटी में भी उज्जैन के एक मेरे विद्यार्थी मिले, जिन्होंने बनारस में बौद्ध दर्शन में विशेष कार्य किया था और वे भी हिन्दी पढ़ा रहे थे।

भदन्तजी ने बताया कि सिंहली विद्यार्थियों को हिन्दी में काफ़ी रुचि है। संस्कृत, प्राग्लि के साथ-साथ वे आधुनिक हिन्दी से भी परिचित होना चाहते हैं। पर वहाँ भी उपयुक्त पाठ्य-सामग्री की कमी, जैसे और देशों में पाई जाती है। हिन्दी के प्रसार-प्रचार के लिए जैसे उत्तम स्वयंसेवक, मिशनरी उत्साह से हिन्दी पढ़ाने और

उसमें रुचि पैदा करने वाले अनेक अध्यापकों की आवश्यकता है, वैसे ही निम्न भौतिक साधनों की बहुत आवश्यकता है :

१. पाठ्य-पुस्तकें : प्राइमर और क्रमशः बढ़ते हुए उच्चतर संकलनादि ।
२. सामान्य वाचन के लिए सरल पुस्तकें, जो कि साहित्य में रुचि पैदा कर सकें ।
३. पत्र-पत्रिकाएँ ।
४. ध्वनि सीखने के लिए रेकार्ड (ध्वनि-मुद्रिकाएँ) ।
५. रेडियो से हिन्दी पाठ तत्तत्भाषा में प्रसारण की सुविधा ।
६. अच्छी हिन्दी फ़िल्में ।
७. अच्छे वक्ता, गायक कवि आदि विद्वानों, साहित्यिकों, मनीषियों का परस्पर आदान-प्रदान ।

इन सब दिशाओं में हिन्दी संस्थाओं, प्रकाशकों, सम्पादकों, अध्यापकों, भाषा-शास्त्रियों, विद्वान् समीक्षकों तथा सृजनशील लेखकों आदि को बढ़ना होगा । सरकार के सहयोग की तो अपेक्षा है ही ।

सोवियत रूस

लेनिनग्राद में स्वर्गीय राहुल सांकृत्यायन ने दो वर्ष सन् ४६-४७ में हिन्दी पढ़ाई । श्री प्यौत्र वारान्निनकोव अकादेमीशियन अलेक्सान्द्र वारान्निनकोव के पुत्र हैं । भारत में सोवियत दूतावास के सांस्कृतिक सचिव के नाते जब वे कार्य करते थे तब उनसे और उनकी पत्नी रोमा से काफ़ी परिचय हुआ था । वे सम्प्रति लेनिनग्राद में हिन्दी के अध्यापक हैं । उनसे प्राप्त जानकारी इस प्रकार है :

“लेनिनग्राद में विज्ञान अकादेमी की एशिया जनता अनुसन्धान संस्था की शाखा में कई हिन्दी-प्रेमी काम करते हैं । इसी संस्था में मेरे पूज्य पिताजी ने तुलसी-कृत ‘रामायण’ का रूसी पद्यानुवाद किया । इसी संस्था ने सोवियत संघ में प्रथम हिन्दी-रूसी शब्दकोश तैयार किया । हिन्दी-रूसी विशाल शब्दसागर की यहाँ तैयारी हो रही है । प्रसाद के ऐतिहासिक नाटकों का अनुशीलन, आधुनिक हिन्दी साहित्य का वर्णन, भारत की भाषा-विषयक समस्याएँ आदि विषयों पर इस संस्था में खोज हो रही है ।

“लेनिनग्राद विश्वविद्यालय की ओरिएण्टल फ़ैकल्टी में अनेक वर्षों से हिन्दी की शिक्षा दी जाती है । वहाँ से पढ़े हुए स्नातक मास्को और ताशकन्द में हिन्दी का प्रचार-कार्य कर रहे हैं । लेनिनग्राद विश्वविद्यालय के छात्र-छात्राओं की आयु अठारह-बीस वर्ष की होती है; पर लेनिनग्राद में ऐसे भी हिन्दी के शिक्षा-केन्द्र हैं जहाँ हिन्दी अध्यापन सात साल से शुरू होता है । इनमें बोडिंग स्कूल नंबर चार है, जिसमें तीन सौ लड़के और लड़कियाँ हिन्दी पढ़ते हैं । छोटे बच्चे हिन्दी में न केवल बोलना और लिखना सीखते हैं, बल्कि हिन्दी के गीत गाना भी पसन्द करते हैं । इन गीतों में ‘हम छोटी एक डाल के’ शामिल है । इस स्कूल का एक लड़का कोल्य निकनोव है, जो जानीवाकर के अनेक गाने सफलता से प्रस्तुत करता है ।

“बालकों के लिए एक और हिन्दी शिक्षा-केन्द्र नगर के ‘पायोनियर प्रासाद’ के अन्तर्गत है। भिन्न-भिन्न स्कूलों के छात्र यहाँ पर शाम के वक्त आ जाते हैं और हिन्दी पढ़ते हैं। लेनिनग्राद में सोवियत-भारत सांस्कृतिक संस्था की एक शाखा में हिन्दी के कई लेखक अतिथि बनकर पधारे। इनमें सर्वश्री सुमित्रानन्दन पन्त, दिनकर, जेनेन्द्रकुमार, बनारसीदास चतुर्वेदी, शंकर शैलेन्द्र, डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी आदि हैं। इस संस्था के अन्तर्गत हिन्दी-लेखकों की जयन्तियाँ मनाई जाती हैं, यथा प्रेमचन्द-जयन्ती, उपेन्द्रनाथ ‘अश्क’ जयन्ती, बनारसीदास चतुर्वेदी जयन्ती आदि। लेनिनग्राद के हिन्दी-प्रेमी आधुनिक हिन्दी-लेखकों की रचनाओं का रूसी अनुवाद करते जाते हैं। अनूदित कृतियों में यशपाल-कृत ‘दिव्या’ और ‘झूठा सच’, उपेन्द्रनाथ ‘अश्क’ कृत ‘गिरती दीवारें’, विष्णु प्रभाकर की कहानियाँ, वचन की कविताएँ आदि हैं।

“लेनिनग्राद में अनेक ऐसे पुस्तकालय हैं, जिनमें हिन्दी-पुस्तकें (हिन्दी भाषा में) संग्रहीत हैं। इनमें मुख्य हैं लेनिनग्राद पब्लिक लाइब्रेरी, विज्ञान अकादेमी का पुस्तकालय, एशियाई जनता के अनुसन्धान केन्द्र का पुस्तकालय और विश्वविद्यालय की ओरिएण्टल फ़ैकल्टी की लाइब्रेरी। इन सभी पुस्तकालयों में हजारों की संख्या में अनेक हिन्दी-पुस्तकें सम्मिलित हैं; ‘पृथ्वीराजरासो’ से ‘मैला आँचल’ तक। बहुत-सी पुस्तकें ‘राजपाल एण्ड सन्स’ और ‘हिन्दी प्रचारक’ से आ जाती हैं। जो लोग हिन्दी भाषा नहीं समझते, वे हिन्दी साहित्य के रूसी अनुवादों को पढ़ते हैं। लेनिनग्राद नगर में हजारों पुस्तकालय हैं, लाखों नागरिक इनसे लाभ उठाते हैं।

“हिन्दी व्याकरण, हिन्दी-रूसी शब्दकोश, रूसी-हिन्दी शब्दकोश, ‘हिन्दी-रूसी बातचीत’, हिन्दी साहित्य के रूसी अनुवाद, रूसी साहित्य के हिन्दी अनुवादों की किताबें दुकानों पर उपलब्ध हैं।”

मैंने कई लोगों को पत्र भेजे थे। श्री चेलिशेव और कुमारी स्वेत्लाना से हमारा परिचय था, पर उनसे पत्रोत्तर अभी तक नहीं मिले। भारत में सोवियत दूतावास के एल० ड्यूएनकोव ने लिखा है ११ नवम्बर के पत्र में कि—

“हिन्दी मास्को, लेनिनग्राद, कीव, ताशकन्द और थिलिस विश्वविद्यालयों में पढ़ाई जाती है। मास्को और लेनिनग्राद के कई बोर्डिंग स्कूलों में हिन्दी पढ़ाई जाती है।

“इस समय करीब ५०० विद्यार्थी हिन्दी पढ़ रहे हैं। अध्यापकों में भारतीय और रूसी दोनों ही हैं। पाठ्य-पुस्तकें सोवियत शिक्षाशास्त्रज्ञ तैयार कराते हैं।”

डॉ० भोलानाथ तिवारी ताशकन्द में हिन्दी पढ़ाने के लिए एक-दो वर्ष के लिए रहे। उनके २७ नवंबर के पत्र से यह जानकारी मिली—

“सोवियत संघ में हिन्दी का अध्यापन अकादेमीशियन श्री बारान्निनकोव के समय में आज से प्रायः २५ वर्ष पूर्व प्रारम्भ हुआ। आजकल हिन्दी पढ़ाई का प्रबन्ध मास्को, लेनिनग्राद एवं ताशकन्द में है। अब हिन्दी केवल विश्वविद्यालय स्तर पर ही नहीं पढ़ाई जाती, अपितु स्कूलों में भी है। ताशकन्द के एक स्कूल में ही, जहाँ मैं गया था, लगभग १५०० विद्यार्थी हिन्दी पढ़ रहे हैं। पूरे सोवियत संघ में स्कूलों में

बार-पाँच हजार विद्यार्थी हिन्दी पढ़ रहे हैं। विश्वविद्यालयों में ३०० के लगभग होंगे। वहाँ हिन्दी के अच्छे अध्यापकों में वारान्निकोफ़, दीमगिन, चेलिग्नोफ़, रहमान बोर्दी, आउलवा आदि प्रसिद्ध हैं। प्रारम्भिक पाठ्य-पुस्तकें तो वहीं की बनी हैं। ताशकन्द में, ताशकन्द के ही रहमान बोर्दी तथा कुछ और लोगों के सहयोग से तैयार पाठ्य-पुस्तक प्रारम्भिक कक्षाओं में पढ़ाई जाती है। उच्च कक्षाओं के लिए पाठ्य-पुस्तकें नहीं हैं। समाचारपत्रों एवं पत्रिकाओं के अतिरिक्त कहानी, उपन्यास, निबन्ध एवं कुछ आधुनिक कविता विभिन्न पुस्तकों से पढ़ाई जाती है। कोश, वहीं के बने हिन्दी-रूसी और रूसी-हिन्दी चलते हैं। व्याकरण वारान्निकोफ़ का चलता है। यों ताशकन्द में आउलवा नामक महिला ने एक व्याकरण लिखा है, उससे पढ़ाते हैं। कामताप्रसाद गुरु के व्याकरण का रूसी अनुवाद भी छप गया है, उससे भी लोग सहायता लते हैं। उनके पढ़ाने में सबसे बड़ी कठिनाई यह थी कि विदेशी लोगों को ध्यान में रखकर हिन्दी का कोई अच्छा व्याकरण लिखा नहीं गया है, जो व्यावहारिक दृष्टि से उसकी समस्याओं का समाधान कर सके। तुलसीदास, प्रेमचन्द, कामताप्रसाद गुरु, सुमित्रानन्दन पंत, कृष्णचन्द्र, शिवदानसिंह चौहान, हंसराज रहवर, विष्णु प्रभाकर, अश्वजी आदि की पुस्तकें अनूदित हो चुकी हैं। इस समय कोई भी भारतीय वहाँ हिन्दी पढ़ाने के लिए नहीं है।”

डॉ० कृष्णदेव उपाध्याय

भोजपुरी लोक-साहित्य

भोजपुरी भाषा उत्तर प्रदेश के पूर्वी जिलों तथा बिहार के पश्चिमी जिलों के अतिरिक्त राँची, पलामू, सरगुजा और वस्तर आदि जिलों में भी बोली जाती है। कलकत्ता और बम्बई की मिलों में काम करने वाले लाखों आदमी इसे मातृभाषा के रूप में व्यवहृत करते हैं। सब मिलाकर भोजपुरी भाषाभाषियों की संख्या तीन करोड़ से भी अधिक है। भोजपुरी प्रदेश भारतीय संघ का राजनीतिक भाग नहीं है बल्कि यह एक सांस्कृतिक इकाई है। इस प्रदेश के रहने वाले 'भोजपुरिया' कहे जाते हैं, जो अपनी वीरता और स्पष्टवादिता के लिए विख्यात हैं।

भोजपुरी साहित्य प्रधानतया तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है : (१) सन्त-साहित्य, (२) लोक-साहित्य तथा (३) आधुनिक साहित्य। भोजपुरी प्रदेश में निवास करने वाले अनेक सन्त कवियों ने अपने हृदय की धार्मिक भावनाओं को अभिव्यक्त करने के लिए इसी भाषा के माध्यम को ग्रहण किया है। महात्मा कबीर, धरमदास, शिवनारायण, धरनीदास और लक्ष्मी सखी आदि अनेक सन्तों ने इस भाषा में मधुर तथा सरस पदों की रचना की है।^१ इनके अतिरिक्त बिहार के चम्पारन जिले के सरभंग सम्प्रदाय के सन्तों की तो भोजपुरी काव्य की भाषा ही रही है, जिसमें उन्होंने हठयोग तथा अध्यात्मवाद के अनेक गूढ़ रहस्यों का उद्घाटन किया है।

भोजपुरी का लोक-साहित्य बड़ा समृद्ध है। इसमें लोग-गीतों, लोक-गाथाओं तथा लोग-कथाओं का अनन्त भण्डार भरा पड़ा है। इस विशाल राशि को संकलित करने के लिए अनेक लोक-साहित्य-सेवियों की आवश्यकता है। विषय के प्रतिपादन की सुविधा के लिए भोजपुरी के क्षेत्र में किये गए कार्य को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है—(१) संग्रह-कार्य और (२) शोध-कार्य।

भोजपुरी लोकगीतों के सर्वप्रथम संग्रह करने का श्रेय अंग्रेज सिविलियनों को प्राप्त है, जिनमें डॉ० ग्रियर्सन का नाम सर्वश्रेष्ठ है। गत शताब्दी के उत्तरार्ध में डॉ० ग्रियर्सन ने भोजपुरी के गीतों का संग्रह करना प्रारम्भ किया। इस सम्बन्ध में इनका एक लेख 'सम बिहारी फोक सांग्स' शीर्षक से प्रकाशित हुआ, जिसमें उन्होंने भोजपुरी के ही गीतों को प्रधान स्थान दिया।^२ इसके अनन्तर उन्होंने 'सम भोजपुरी

१. डॉ० कृष्णदेव उपाध्याय, भोजपुरी लोक-साहित्य का अध्ययन, पृ० ४८-५८।

२. जर्नल ऑफ़ दि रायल एशियाटिक सोसाइटी, लन्दन, भाग १६ (१८८४), पृ० १६६।

क्रोक सांग्स' शीर्षक एक बहुत बड़ा लेख लिखा, जो अनेक दृष्टियों से बहुत महत्वपूर्ण है।^१ इस लेख में जैतसार, सोहर, कजरी आदि अनेक प्रकार के गीत संकलित किये गए हैं, परन्तु अहीरों के राष्ट्रीय गान 'विरहा' की इसमें प्रधानता है। मूल गीतों के अतिरिक्त इनके अंग्रेजी अनुवाद के साथ ही भाषा-शास्त्र-सम्बन्धी अनेक बहुमूल्य टिप्पणियाँ दी गई हैं। गोपीचन्द की सुप्रसिद्ध लोक-गाथा के भोजपुरी तथा मगही में उपलब्ध पाठों की तुलनात्मक विवेचना भी आपने प्रस्तुत की है।^२ इसी प्रकार विजयमल नामक वीर की गाथा के उद्धार करने का श्रेय इन्हें प्राप्त है।^३ बुन्देलखण्ड के सुप्रसिद्ध वीर आल्हा और ऊदल की गाथा उत्तर भारत में बहुत प्रसिद्ध है। डॉ० ग्रियर्सन ने आल्हा के विवाह-सम्बन्धी गीतों का संग्रह किया है।^४ इसके अतिरिक्त इन्होंने 'दि ले ऑफ आल्हा' नामक ग्रन्थ का सम्पादन बड़ी योग्यता से कर लोक-साहित्य के प्रेमियों का बड़ा उपकार किया है।^५ 'बिहार पीजेण्ट लाइफ' में कृपक जीवन से सम्बन्धित पारिभाषिक पदावली का विशाल संग्रह प्रस्तुत है। इस ग्रन्थ में भोजपुरी की अनेक लोकोक्तियाँ और ऋतु-सम्बन्धी कहावतें संकलित की गई हैं।^६ ह्यूज फ्रेजर के द्वारा गोरखपुर जिले के पूर्वी भाग से कुछ लोक-गीतों का संग्रह किया गया था, जिसका सम्पादन डॉ० ग्रियर्सन ने किया है।^७ जे० बीम्स भोजपुरी भाषा के प्रकाण्ड विद्वान् थे। इन्होंने इस भाषा के सम्बन्ध में बहुमूल्य टिप्पणियाँ लिखी हैं, जिनमें उदाहरण के रूप में कुछ गीत भी उद्धृत हैं।^८ ए० जी० शिरेफ ने भोजपुरी के कुछ गीतों का मूल के साथ अंग्रेजी में अनुवाद प्रस्तुत किया है।^९

डॉ० उदयनारायण तिवारी, अध्यक्ष हिन्दी विभाग, जबलपुर विश्वविद्यालय ने भोजपुरी भाषा और साहित्य के शोध-कार्य में बड़ा योगदान दिया है। इन्होंने 'भोजपुरी भाषा की उत्पत्ति तथा विकास' नामक अपने अंग्रेजी के शोध-प्रबन्ध में इस भाषा के व्याकरण का वैज्ञानिक पद्धति से सांगोपांग विवेचन किया है।^{१०} इनका दूसरा ग्रन्थ 'भोजपुरी भाषा और साहित्य' है, जिसमें भाषा के साथ ही इसके साहित्य का भी परिचय प्राप्त होता है।^{११} डॉ० कृष्णदेव उपाध्याय ने भोजपुरी लोक-साहित्य के संकलन तथा इसके आलोचनात्मक विवेचन को बड़े परिश्रम के साथ प्रस्तुत किया है।

१. जे० आर० ए० एस०, भाग १८ (१८८६), पृ० २०७।
२. जे० ए० एस० बी०, भाग ५४ (१८८५), पार्ट १, पृ० ३५।
३. दि साँग ऑफ विजयमल (जे० ए० एस० बी०, भाग ५३ (१८८४) पार्ट ३, पृ० ६४)।
४. दि साँग ऑफ आल्हाज मैरिज, (इण्डियन एन्टीक्वेरी, भाग १४ (१८८५), पृ० २०६)।
५. ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, लन्दन।
६. बिहार सरकार द्वारा प्रकाशित, द्वितीय संस्करण, सन् १९२६।
७. फोकलोर फ्राम ईस्टर्न गोरखपुर (जे० ए० एस० बी०, भाग ५२ (१८८३), पृ० १-३२)।
८. नोट्स ऑन दि भोजपुरी डाइलेक्ट ऑफ हिन्दी (जे० ए० एस० बी०, भाग ३, एन० एस० (१८६८)।
९. हिन्दी मन्दिर, इलाहाबाद, पृ० ४८३।
१०. एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल, कलकत्ता।
११. राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना (बिहार)।

११८ : भोजपुरी

स्थाताभाव के कारण इनके ग्रन्थों के सम्बन्ध में विशेष विवरण न लिखकर केवल सूची-मात्र दी जाती है—

- (१) भोजपुरी लोक-गीत^१, भाग १
- (२) भोजपुरी ग्राम-गीत^२, भाग २
- (३) भोजपुरी और उसका^३ साहित्य
- (४) भोजपुरी लोक-साहित्य का अध्ययन^४
- (५) भोजपुरी लोक-संगीत^५
- (६) हिन्दी-साहित्य का वृहत् इतिहास^६

भाग १६ (हिन्दी का लोक साहित्य) में 'भोजपुरी लोक-साहित्य'-सम्बन्धी लेख ।

श्री दुर्गाशंकर प्रसाद सिंह ने 'भोजपुरी लोकगीतों में करुण रस' नामक पुस्तक में करुण रस-सम्बन्धी लोकगीतों का बड़ा ही सुन्दर संग्रह प्रस्तुत किया है ।^७ इन्होंने 'भोजपुरी के कवि और काव्य' में ऐसे अनेक कवियों की कृतियों को प्रकाशित किया है जो अतीत की गोद में सोये हुए थे ।^८ इधर श्रीसिंह का भोजपुरी लोक-कथाओं का विशाल संकलन तैयार है जो अभी प्रेस में है । श्री डब्ल्यू० जी० आर्चर के द्वारा श्री संकटाप्रसाद की सहायता से बिहार के आरा जिले से किये गए 'भोजपुरी ग्राम्य-गीतों' के संग्रह में संस्कार-सम्बन्धी गीतों की ही प्रधानता है ।^९ भोजपुरी लोक-कथाओं का कोई वैज्ञानिक संग्रह अभी प्रकाश में नहीं आया है । हाँ, हाल ही में 'खरवा पीपर कबहू ना डोले' नामक एक छोटा-सा संकलन वाराणसी से छपा है ।^{१०} भोजपुरी की लोकोक्तियों, पहेलियों और मुहावरों का संग्रह डॉ० उदयनारायण तिवारी ने वृहत् पहले किया था ।^{११}

भोजपुरी भाषा और इसके लोक-साहित्य के सम्बन्ध में जितना शोध-कार्य हुआ है, उतना हिन्दी की अन्य किसी बोली में नहीं पाया जाता । भोजपुरी भाषा का सांगोपांग वैज्ञानिक विवेचन डॉ० उदयनारायण तिवारी ने किया है, जिसकी चर्चा पहले की जा चुकी है । डॉ० सत्यव्रत सिन्हा ने अपने पी-एच० डी० के शोध-प्रबन्ध में

१. हिन्दी साहित्य सम्मेलन, इलाहाबाद, १९४३ ।
२. वही, १९४८ ।
३. राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, १९५७ ।
४. हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, वाराणसी, १९६१ ।
५. शर्मा एण्ड कम्पनी (प्रा०), इलाहाबाद ।
६. नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, १९६० ।
७. हिन्दी साहित्य सम्मेलन, इलाहाबाद, १९४४ ।
८. राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना (बिहार) ।
९. पुस्तक भण्डार, लहेरियासराय, दरभंगा ।
१०. भोजपुरी संसद, वाराणसी, १९६४ ।
११. हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद की 'हिन्दुस्तानी' पत्रिका में सन् १९३६, ४०, ४१ और ४२ के विभिन्न अंकों में प्रकाशित ।

‘भोजपुरी लोकगाथाओं’ की विशद मीमांसा की है।^१

डॉ० कृष्णदेव उपाध्याय की थीसिस ‘भोजपुरी लोक-साहित्य का अध्ययन’ में लोक-साहित्य के विभिन्न अंगों—लोक-गीत, लोक-गाथा और लोक-कथा आदि—का वैज्ञानिक विवेचन उपलब्ध होता है।^२ इन्होंने भोजपुरी जनता के जीवन, धर्म तथा संस्कृति पर भी प्रकाश डाला है। डॉ० सत्यदेव ओझा (जमदेशपुर, बिहार) के शोध-प्रबन्ध का विषय ‘भोजपुरी लोकोक्तियाँ’ हैं, जिसमें विद्वान् लेखक के द्वारा इन कहावतों में निहित भोजपुरी समाज की सांस्कृतिक अवस्था का चित्रण बड़ी सुन्दर भाषा में प्रस्तुत है। डॉ० श्रीधर मिश्र (खालसा कालेज, बम्बई) ने भोजपुरी लोकगीतों में चित्रित भोजपुरी जन-जीवन तथा लोक-संस्कृति का विशद विवेचन पाठकों के सामने रखा है। अभी तक भोजपुरी की लोक-कथाओं को किसी अधिकारी विद्वान ने अपने शोध-प्रबन्ध का विषय नहीं बनाया है।

आधुनिक काल में अनेक कवियों ने भोजपुरी में काव्य-रचना की है, जिनमें पं० दूधनाथ उपाध्याय, विसराम, तेग अली, बाबू रामकृष्ण वर्मा, बाबू अम्बिका शरण आदि के नाम प्रसिद्ध हैं। उपाध्यायजी ने सन् १९१४ ई० में ‘भरती के गीत’ नामक पुस्तक में बड़े ही जोरदार शब्दों में प्रथम महायुद्ध में भरती होने के लिए अपने देशवासियों से अपील की है। ‘विसराम’ के विरहों में विरही हृदय की कसक पाई जाती है जो बड़ी ही सरस तथा हृदयद्रावक है। तेग अली के ‘बदमाश दर्पण’ में बनारसी बोली का उदाहरण देते हुए बनारसी जीवन की बाँकी झाँकी प्रस्तुत की गई है।

रामकृष्ण वर्मा ने ‘विरहा नायिका भेद’ नामक ग्रन्थ लिखा है, जिसमें नायिकाओं के विभिन्न भेदों का वर्णन भोजपुरी की सरस पदावली में पाया जाता है। अम्बिकाशरणजी के ‘बटोहिया’ गीत भोजपुरी प्रदेश में अत्यन्त प्रचलित हैं, जिनमें अखण्ड-भारत का चित्रण मिलता है।

इन स्वर्गीय कवियों के अतिरिक्त अनेक जनकवि अपनी मधुर रचनाओं के द्वारा भोजपुरी के भण्डार को भर रहे हैं। इन वर्तमान कवियों में कुछ प्रसिद्ध व्यक्तियों के नाम निम्नांकित हैं : (१) पं० रामविचार पाण्डेय, (२) प्रिन्सिपल मनोरंजन प्रसाद सिन्हा, (३) पं० महेन्द्र शास्त्री, (४) श्री रामनाथ पाठक ‘प्रणयी’, (५) श्री प्रसिद्ध नारायण सिंह, (६) श्री मोती बी० ए०, (७) प्रो० रामेश्वरप्रसाद काश्यप, (८) चतुरी चाचा, (९) भिखारी ठाकुर, (१०) पं० चन्द्रशेखर मिश्र, (११) दुर्गाशंकर प्रसाद सिंह आदि। पं० रामविचार पाण्डेय की कविता के अनेक संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं, जिनमें ‘बिनिया बिछिया’ प्रसिद्ध है। पं० महेन्द्र शास्त्री के ‘चोखा’ नामक संकलन में व्यंग्य, हास्य और विनोद का पुट पाया जाता है। पं० रामनाथ पाठक ‘प्रणयी’ ने प्रणय के गीत गाए हैं, परन्तु ग्रामीण प्रकृति का चित्रण इनकी कविता में विशेष सुन्दर बन पड़ा है। इनकी कविता के अनेक संग्रह ‘सितार’, ‘कोइलिया’ आदि

१. हिन्दुस्तानी एकेडमी, इलाहाबाद।

२. इस पुस्तक का नवीन संस्करण ‘तेग अली और काशिका’ के नाम से रुद्रकाशिकेय के सन्पादकत्व में भोजपुरी संसद, वाराणसी से सन् १९६४ में प्रकाशित हुआ है।

१२० : आलोचना

के नाम से प्रकाश में आ चुके हैं। श्री प्रसिद्ध नारायणसिंह वीर रस की कविता लिखने में प्रसिद्ध हैं। 'बलिदानी बलिया' आपकी सुन्दर रचना है। श्री मोती वी० ए० की कविता सरस और पदशय्या चुनी हुई होती है। 'महुआ वारी' आपकी कविताओं का सुन्दर संकलन है। 'काश्यप' जी ने 'लोहासिंह' नाटक लिखने के अतिरिक्त वीररस की कविता भी लिखी है। भिखारी ठाकुर का विदेसिया नाटक प्रसिद्ध है, जिसमें विदेसिया नामक कविता हृदय-स्पर्शिनी है। चन्द्रशेखर मिश्र ने 'कुंवरसिंह' नामक वीर-रसपूर्ण महाकाव्य की रचना की है। दुर्गाशंकर प्रसाद सिंह ने 'साहित्य रामायण' लिखकर रामकथा को भोजपुरी में निबद्ध करने का सफल प्रयास किया है।

श्री० कृष्णनारायण प्रसाद मागध

मगही का स्वातंत्र्योत्तर साहित्य

भाषा-विज्ञान की दृष्टि से मागधी समुदाय की तीनों भाषाओं (बोलियों ?)—मगही, मैथिली और भोजपुरी का क्षेत्र मूलतः बिहार ही है। साहित्य (मुद्रित और अमुद्रित) की दृष्टि से इनमें मैथिली सबसे जेठी पड़ती है। भोजपुरी और मगही में 'को बड़ छोट कहत अपराधू' की स्थिति ही है। हाँ, इतना तो सत्य है कि भोजपुरी में साहित्य-सृजन की चेतना (केन्द्रीय हिन्दी से पृथक्करण की प्रवृत्ति ?) मगही से पहले ही लक्षित हुई थी।

मगही में प्राचीन साहित्य का सृजन विपुल रूप में हुआ था। यह इतिहास-सिद्ध है कि मगही कभी राजभाषा और साहित्य-सृजन की केन्द्रीय भाषा रही है। इसी से इसे 'सा मागधी मूलभाषा...' (कञ्चान) और 'सब्वेषां मूलभाषायां मागधाय निरुत्तिया' (चलवंश) से गौरवान्वित किया गया था। सरहपा को आदिकवि स्वीकारने वाली हिन्दी मगही से उद्भूत नहीं हो सकती। नालन्दा, ओदन्तपुरी, विक्रमशिला आदि के संग्रहालयों के नष्ट हो जाने से मगही का प्राचीन साहित्य तो नष्ट हुआ ही, राजनीतिक क्रियाशीलता को मगध से मिथिला, लखनावती, कान्यकुब्ज आदि में स्थानान्तरित हो जाने से मगही के कवियों को राजकीय संरक्षण का भी अभाव हो गया। मुस्लिम और अंग्रेजी शासनकाल में भी इसे पोषण न मिला। लोक-कंठ में यह साहित्य जो पलता रहा, उसके वास्तविक रूप को खोज निकालना आज दुष्कर-सा है। इससे इसका अखण्डित क्रम अप्राप्य है।

अद्यतन समय में मगही अपने विभिन्न क्षेत्रीय रूपों में मूलतः पटना, गया, हजारीबाग के अधिकांश हिस्से, पश्चिम-दक्षिणी मुंगेर, राँची की तलहटी, सिंहभूम और मानुभूम जिले में बोली जाती है। इसका परिनिष्ठित रूप राजगृह के चारों ओर से लेकर गया तक के क्षेत्र में ही प्रचलित है। इस युग में साहित्य-सृजन का कार्य पूर्वा-

कविता की मोती आपकी लेखने के नाटक मिश्र ने सिंह ने प्रयास किया था अधिक हुआ है। सन् १९४३ ई० का वर्ष मगही भाषा और साहित्य के लिए बड़े महत्त्व का माना जाना चाहिए, क्योंकि इसी वर्ष पटना विश्वविद्यालय ने मैट्रिकुलेशन परीक्षा पाठ्य-पुस्तक 'पद्य-संग्रह' में प्रथम बार 'जगदनी' और 'चाँद' (श्रीकृष्णदेव प्रसाद-लिखित) शीर्षक कविताओं को स्थान देकर मगही को स्वतंत्र रूप से साहित्यिक मान्यता दी थी।

स्वातंत्र्योत्तर-युग में मगही का जो साहित्य सामने आया है, उसे दो वर्गों में रखा जाएगा—लोक-साहित्य और उच्चतर साहित्य। लोक-साहित्य के सम्बन्ध में दो प्रकार के प्रयत्न किये गए हैं—मगही-मानस में प्रचलित लोक-गीतों, लोक-गाथाओं, लोक-कथाओं आदि का संकलन और उनका सर्वथा नवीन रूप में सृजन। संकलन-कार्य में जहाँ एक ओर कतिपय उत्साही जन स्वेच्छा से प्रेरित हो मुड़े हैं, वहाँ राजकीय स्तर पर बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् की ओर से भी काम कराए गए हैं। 'मगही लोकगीत' (सं० डॉ० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी और आनन्द), 'मगही संस्कार गीत' (सं० डॉ० विश्वनाथ प्रसाद), 'मगही लोकगीत' (सं० श्रीकान्त शास्त्री और प्रो० रामानन्दन), 'मगही कहानी संग्रह' (सं० श्रीकान्त शास्त्री और प्रो० रामानन्दन) आदि इसी उत्साह के परिणाम हैं। परिषद् द्वारा भी गीतों, गाथाओं आदि का एक अच्छा-खासा संग्रह तैयार कराया गया है। सर्वथा नवीन रूप में लोक-साहित्य के सृजन की ओर भी अनेक कलाकार दत्त-चित्त हैं, जिनमें सर्वाधिक चर्चित और प्रशंसित नाम है श्रीधर पाठक का। इन्होंने 'गिरिजा-गिरीश-चरित', 'उमा-शंकर-विवाह-कीर्तन', 'गांधी-विरह-लहरी', 'लंकादहन', 'राम-वन-गमन' आदि वीसियों पुस्तिकाओं की रचना की है। मगही मानस में इनके गीत आज सर्वाधिक लोकप्रिय हैं। भोजपुरी लोक-साहित्य में भिखारी ठाकुर द्वारा किये गए प्रयत्नों से इनके कार्यों की तुलना की जा सकती है।

मुद्रण, प्रकाशन आदि की दृष्टि से उच्चतर साहित्य मूलतः दो खातों में खति-गाए जाँएँ—हिन्दी के माध्यम से प्रकाशित साहित्य और मूल मगही के माध्यम से प्रकाशित साहित्य। हिन्दी के माध्यम से प्रकाशित महत्त्वपूर्ण कृतियों में 'मगही भाषा और साहित्य' (श्री कृष्णदेव प्रसाद), 'मगही' (श्री रमाशंकर शास्त्री) और 'हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास' (ना० प्र० सभा) के लोक-साहित्यवाले खंड में मगही का अंश विशेष महत्त्व का है। ज्ञात तथ्यों से विदित है कि इसी मास में 'मगही लोक-साहित्य' (डॉ० सम्पत्ति आर्याणी) नामक ग्रन्थ भी प्रकाशित हो जाएगा। इसी क्रम में कतिपय महत्त्वपूर्ण अप्रकाशित शोध-ग्रन्थ की चर्चा भी अनिवार्य है। मगही भाषा और साहित्य पर सर्वप्रथम वैज्ञानिक रीति से अनुसंधान करनेवालों में श्री युगेश्वर पाण्डेय का नाम आता है, जिन्होंने सन् १९६१ ई० में काशी हिन्दू विश्व-विद्यालय में एम० ए० परीक्षा के दो पत्रों के स्थान पर 'मगही भाषा और साहित्य' नामक शोध-प्रबन्ध प्रस्तुत किया था। पटना विश्वविद्यालय में भी अब तक तीन शोध-प्रबन्ध आ चुके हैं—'मगही भाषा और साहित्य' (सम्पत्ति आर्याणी, डी० लिट्० की उपाधि हेतु, १९६४ ई०), 'मगही लोकगीतों का शास्त्रीय अध्ययन' (कल्याणेश्वरी

वर्मा, पी-एच० डी० उपाधि हेतु, १९६५ ई०) और 'पटना और गया जिले में बोली जानेवाली मगही का ऐतिहासिक और विकासात्मक अध्ययन' (श्रीकांत शास्त्री, पी-एच० डी० उपाधि हेतु, १९६५ ई०)। निश्चय ही ये शोध-प्रबन्ध मगही भाषा और साहित्य के अध्ययन की दिशा में महत्वपूर्ण उपलब्धियाँ हैं। वहीं से मगही ध्वनि-विज्ञान, मगही कहावत और मगही लोकगाथा पर भी कार्य कराए जा रहे हैं।

अब विचारणीय है मगही का मूल साहित्य। मगही साहित्य की विकास-यात्रा मगही की पत्र-पत्रिकाओं के साथ जुड़ी हुई है। पत्र-पत्रिकाओं के संचालन और सम्पादन में श्रीकांत शास्त्री (अब डॉ० श्रीकांत शास्त्री) का नाम अग्रगण्य है। उनके सम्पादकत्व में 'मगही' कभी बढ़ती, कभी रुकती हुई सन् १९५८ ई० तक चलती रही है। श्री रामवृक्षसिंह 'दिव्य', ठाकुर रामबालकसिंह, शिवाराम योगी आदि ने भी सह-सम्पादकत्व द्वारा उसका काफी साज-सँवार किया था। 'मगही' का ऐतिहासिक और साहित्यिक महत्व सदा बना रहेगा। 'महान् मगध' नामक दूसरी मासिक पत्रिका का प्रकाशन श्री गोपाल मिश्र केशरी के सम्पादन में औरंगाबाद (गया) से सन् १९५५-५६ ई० में हुआ था। इसके कुछ ही अंक निकल सके थे। बिहार मगही मंडल की ओर से सन् १९५८ ई० में श्रीकांत शास्त्री और प्रो० रामनन्दन के सम्पादकत्व में 'विहान' नामक मासिक पत्रिका का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ। यह पत्रिका जनवरी '६४ ई० के पश्चात् बन्द हो गई थी, पर इस मास से उसका पुनर्प्रकाशन प्रारम्भ हो गया है। जनवरी '६४ ई० से 'मगही सनेस' नामक एक और मासिक पत्रिका का प्रकाशन नालन्दा से हो रहा है। यह साहित्यिक रचनाओं की अपेक्षा धार्मिक रचनाओं के प्रकाशन में ही योग देता है। मूल रूप में यह आनन्दमार्गी लोगों की पत्रिका है, जिसका उद्देश्य है धर्म-प्रचार। सब ले-देकर 'विहान' ही एकमात्र ऐसी पत्रिका है, जिसकी ओर साहित्यिकों की आँखें लगी रहती हैं। उपर्युक्त पत्रिकाओं के माध्यम से ही मगही ने अपने साहित्य का शाखामयी विस्तार किया है।

अद्यतन मगही साहित्य का विस्तार-प्रस्तार पद्य और गद्य दोनों रूपों में हुआ है। कविता के क्षेत्र में सर्वप्रथम श्रीकृष्णदेव प्रसादजी का नाम लिया जाएगा। मगही की आधुनिक कविता को लोक-मंच से साहित्यिक मंच पर सर्वथा शास्त्रीय रूप में उतारने का सफल प्रयास इन्होंने ही किया था। इनकी अधिकांश रचनाएँ आज भी अप्रकाशित ही हैं। प्रकृति के प्राकृत रूप को निखारने में ये काफी सफल हुए हैं। 'फागुन के अव-इआ' से यहाँ वसंत का यह रूप दर्शनीय है—

आइ गेल मास फगुनवाँ, निरमल स्वच्छ अकास।

सिमर के लाल-लाल लुलुआ सोहावन, महुआ के पसरे सुवास ॥

श्री रामप्रसाद 'पुंडरीक' जी पुराने खेवे के कवियों में हैं। इनकी कविता लोक-साहित्य और उच्चतर साहित्य की सम्मिलित रेखा पर खड़ी है। हाँ, लोक-रुचि की पहचान इन्हें सर्वाधिक है। सोहर, झूमर, चैता, कजरी आदि लोक-धुनों को इन्होंने मगही कविता के लिए चुन लिया है। 'पुण्डरीक रत्नावली' और 'पुण्डरीक रत्नमालिका' में

इनकी रचनाएँ संकलित भी हुई हैं।

नवीन काव्य-सर्जकों में कुछ ऐसे भी हैं जो मगही में हिन्दी से आए हैं। कुछ लोग निरन्तर रूप से मगही में ही लिखते रहे हैं। मगही कविता अभी तक मूलतः गीतात्मक ही है। कथात्मक काव्य नहीं के बराबर ही लिखे गए हैं। श्री जागेशदत्त पाठकजी का 'जरासंध' नामक खंडकाव्य भाव, भाषा, शिल्प आदि सभी दृष्टियों से उत्तम बन पड़ा है। प्रयोग की नवीनता, कल्पना की मार्मिकता, जड़ता में मानवी आरोप आदि की दृष्टि से श्री गोवर्द्धन प्रसाद सदय, श्री रामनरेश पाठक, श्री जगदीश नारायण चौबे, श्री रामगोपाल 'रुद्र', श्री सत्यदेव शांतिप्रिय की रचनाएँ उत्तम होती हैं। आनेवाले प्रकाश की तस्वीर दिखाने की पद्धति श्री सदयजी की अपनी है—

कोनो साथ न संगी साथी, बुझल हाथ के अपने बाती।

ई रतिया पर भो दिनवां के, छूट चुकल है तोर देखइओ ॥

आवउ कुछ तस्वीर देखइओ ॥

प्रकाश की इसी तस्वीर को श्री चौबेजी 'गाँव किरिंग के' में छायावादी कल्पना द्वारा इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं—

मिल-मिल जोत लहर पर बिछलल,

अगुआनों में आज कमलदल,

झाँक रहल घँघा उधार के,

होले-होले परे लगल अब, सगरो पाँव किरिंग के।

श्री सत्यदेव शांतिप्रियजी मुक्त छन्दों में सदा नवीन उपमान की टोह ही लगाते लिखते हैं—

गरम हवा,

रंगीन हो रहल—

जइसे,

प्रोषित पतिका के अँचरा,

हरा मेल हे,

मिलन घड़ी में।

शिल्प, तथ्य, विद्या, प्रवृत्ति आदि की दृष्टि से सर्वथा नवीन प्रयोगों को लेकर आगे बढ़ रहे हैं श्रीकांत शास्त्री। 'बरबरिका', 'जतकट्टी', 'जेठ के दुपहरिया' आदि उनकी उत्तम रचनाएँ हैं।

लोक-गीतों की धुन पर भी आज खूब लिखे जा रहे हैं। हरिश्चन्द्र प्रियदर्शी, श्री रामचन्द्र शर्मा 'किशोर', श्री सुरेश दुबे 'सरस' आदि की कविताएँ इसी कोटि की हैं। मगही मानस ही मानो इनकी कविता में कूक उठी है। प्रकृति-वर्णन के समय लवा-वृक्षों, खेत-खलिहानों, पशु-पक्षियों आदि के साथ 'मानव को भी प्राकृतिक लैण्ड-स्केप का एक आवश्यक अंग' मानकर ही इन लोगों ने कविताएँ लिखी हैं। तभी तो श्री रामनरेश पाठकजी 'अगहन के भोर' में 'अमवाँ महुइआ के डहुँगी से कमलकइ चिरई छुगुन्नी अनोर' गाते-गाते गा उठते हैं—

१२४ : आलोचना

‘सिसकइ उ डोली में बइठल कनइआ, आगे चलल जाइ कहार ।

छुटलइ लड़कइयाँ के सखिया सहेलर, छुटलइ जे बाबा दुआर ।

रूपवा में गुनवाँ में गइआ लोभयलइ, कइलकइ बिदइआ इ मोर ।

हो मइया, उतरलइ अगहन के मोर ॥

श्री कृशोरजी के गीतों में प्रेमी-प्रेमिकाओं की मनोदशाओं का सादा किन्तु सशक्त रूप व्यंजित मिलता है। इनके गीतों पर सिनेमा के गीतों की धुनों का पर्याप्त प्रभाव दिखता है। श्री राजेन्द्र यौधेय पर लगता है मानो छायावादी भावना हावी हो गई है। कुमारी राधा, धर्मशीला देवी आदि के गीत भी इसी प्रकार के हैं। लाल धुआँ की कविताओं में शोषण की करुण और उससे उत्पन्न घुमड़न अधिक पाई जाती है। श्री श्याम-नन्दन शास्त्री के गीतों में यत्र-तत्र रहस्यात्मक संकेत पाए जाते हैं। प्रो० रामनन्दन और योगेश्वर प्रसाद ‘योगेश’ जी के गीतों में सामाजिक, राजनीतिक आदि अतिचारों पर हास्य-व्यंग्य उभरकर सामने आया दिखता है। हास्य-व्यंग्य की दृष्टि से श्री योगेशजी का व्यक्तित्व अधिक गत्वर है। ‘अप्पन कि कहेऊँ कहानी हम’ से ये पंक्तियाँ देखी जा सकती हैं—

हम डगरा के बैंगन भेलूँ, पढ़-लिख के बुद्ध बन गेलूँ ।

वहतोनी देकरके भी तो, हाँकलूँ कोल्हू के घानी हम ॥

अप्पन कि कहेऊँ कहानी हम ॥

यहाँ समाज की बेकारी और सम-सामयिक शिक्षा-पद्धति पर करारा व्यंग्य किया गया है। इन्होंने पैरोडियाँ भी लिखी हैं। प्रसादजी के प्रसिद्ध गीत की पैरोडी यहाँ देखी जा सकती है—

बीती विभावरी जाग री ।

अँगना में कउआ बोल रहल,

कनमा कम बनिया तऊल रहल,

तू अब का सूतल हँउ पगली,

अइसन पसार ले टांग री ।

बीती विभावरी जाग री ॥

वस्तुतः चाहे गोष्ठी या सभा-सम्मेलन, श्री योगेशजी लोगों को हँसा-हँसाकर मारते ही नहीं, उनमें जान भी फूँकते हैं ।

शाखामयी विस्तार की दृष्टि से गद्य-साहित्य अधिक विकासोन्मुख है। कथा-साहित्य को रवीन्द्र कुमार, पं० तारकेश्वर भारती, सुरेश प्रसाद सिन्हा, लक्ष्मण प्रसाद ‘दीन’, शिवेश्वर प्रसाद अंबष्ट, जयेन्द्र, रामानन्दसिंह, श्री शालिग्रामसिंह, सूर्य नारायण शर्मा, प्रो० रामनन्दन, प्रो० रामनरेश मिश्र, राधाकांत आदि बना-बिगाड़ रहे हैं। ‘दुरवा’, ‘मून के पंछी’ (रवीन्द्र कुमार), ‘मैना काजर’ (तारकेश्वर भारती), ‘तीज के त्योहार’ (सुरेश प्र० सिन्हा), ‘ठार-कनकन’ (रामनरेश पाठक), ‘भद्दा या भला’, ‘उपसर्प मातरं भूमि’ (प्रो० रामनरेश मिश्र) आदि उत्तम उपलब्धियाँ हैं। लक्ष्मण प्रसाद ‘दीन’ कहानीकार की अपेक्षा सुन्दर शब्द-चित्रकार हैं। ‘वित्तन दादा’ इनकी अकेले

प्रकार की रचना है। इस अवधि में उपन्यास न के बराबर देखने को मिले हैं। सूर्य-नारायण शर्माजी का 'हलवाहा' मजदूर वर्ग का चित्रण करने में काफी सशक्त है। कई दृष्टियों से उत्तम रचना है। इन्हीं का 'सिद्धार्थ' अपेक्षाकृत कमजोर रचना है। प्रो० रामनन्दनजी का 'अदमी ओ देउता' का नाम भी सुनने को मिला है, पर अभी तक वह अप्रकाशित ही पड़ा है। हास्य-व्यंग्य के लेखकों की अपेक्षाकृत कमी है। श्री रामनरेश पाठक और प्रो० रामनन्दन इस दिशा में प्रयत्नशील दिखते हैं। 'लुट गेलियो' (प्रो० रामनन्दन) सुन्दर बन पड़ा है।

नाटकों में 'नया गाँव' (श्रीकांत शास्त्री), 'कौमुदी महोत्सव' (प्रो० रामनन्दन), 'मँगरू महतो' (प्रो० रामनरेश मिश्र) विशेष महत्त्व के हैं। प्रथम में ग्राम्य-जीवन को नवीन युगबोध के परिप्रेक्ष्य में देखने का प्रयत्न है, और द्वितीय संस्कृत नाटक के आवार पर लिखा गया है। तीसरा नाटक भोजपुरी के 'लोहा सिंह' के समान ही सीरीज रूप में लिखा गया है, जिसके कई सीरीज (मँगरू महतो ने पढ़ना सीखा, ...कोअंपरेटिव कायम किया, ...मुखियागिरी किया) अभिनीत हो चुके हैं। अभिनय की मुख्य भूमिका स्वयं मिश्रजी ने ही निवाही है। 'थारी परसाल हइ' (श्री विप्लव) और 'सेनुरादान' जैसे एकांकियों में दहेज प्रथा का मुँहफट रूप में विरोध किया गया है। मगध जनपद की अनेक समस्याओं को झकझोरकर उपस्थित करनेवाले एकांकियों में 'खइनी' और 'तिलक के कराह' (प्रो० रामनन्दन) अधिक सुन्दर हैं। इनका प्रसारण आकाशवाणी के पटना केन्द्र से भी हो चुका है। इनका 'अतिथि' भी उत्तम है। इसी प्रकार 'गुरु-दक्षिणा' (प्रो० शत्रुघ्न शर्मा), 'कुवेर के भंडार', 'ओकील के परवाना' (मुन्नी प्रसाद), 'चलनी दुसलक बढ़नी के' (शंभुनाथ जायसवाल) आदि प्रहसन भी उल्लेखनीय हैं।

इसी क्रम में मगही फ़िल्म 'भैया' की चर्चा भी अपेक्षित है। हिट की दृष्टि से यह फ़िल्म भले ही विफल हो, पर मगही साहित्य की उत्तरोत्तर विकसित स्थिति का यह ऐतिहासिक माप अवश्य बनेगा।

मगही साहित्य में निबन्ध, आलोचना आदि के क्षेत्र में अपेक्षाकृत कम प्रगति दीखती है। वैयक्तिक निबन्धकारों में डॉ० शिवनन्दन और प्रो० रामनन्दन के नाम ही लिये जा सकते हैं। आलोचनात्मक और गवेषणात्मक निबन्धों में 'मगही के पुरान कवि', 'पुरवी मगही', 'विचार के किरन' (राजेन्द्र योधेय), 'बौध धरम के सामाजिक महातम' (ठाकुर धरमदेव सिंह), 'मगही ककहरा' (प्रो० रामनन्दन), 'भारती काव्य में वसंत बरनन' (श्री अमरनाथ), 'मगध के मूर्तिकला' (डॉ० एस० ए० मजीद), 'मगही हिन्दी के विरोधी न' (श्री वियोगी) आदि उत्तम हैं। 'विहान' के जून '५६ वाले अंक में प्रकाशित 'मगही महोत्सव' पर रियोर्ताज का सिसमोग्राफ से कम महत्त्व तनिक भी नहीं कहा जाएगा। श्री प्रेमेश्वरजी ने इस लेख से मगही में एक नई विधा को जन्म दिया है। मगही व्याकरण की इधर दो महत्त्वपूर्ण पुस्तकें सामने आई हैं—'मगही के वेआकरण' (राजेन्द्र योधेय) और 'मगही व्याकरण कोश' (डॉ० सम्पत्ति आर्याणी)। दूसरा ग्रन्थ 'मगही की कौन कहें' समस्त रूप में हिन्दी के लिए विशेष महत्त्व का है।

१२६ : साहित्य

मौलिक साहित्य-सर्जन के साथ-साथ अनुवाद-कार्य भी आगे बढ़ रहा है। अनुवादकों में श्री पुण्डरीक और श्रीकांत शास्त्री के नाम अधिक उल्लेखनीय हैं। श्री पुण्डरीकजी ने 'गीता' और 'मेघदूत' का बड़े सरस और सटीक रूप में अनुवाद प्रस्तुत किया है।

इस चर्चा को यहीं समाप्त करते हुए यह कहना आवश्यक है कि इस अवधि में इसकी जितनी प्रगति अपेक्षित थी, उतनी नहीं हो सकी है। इसके कारण तो अनेक हैं, पर सर्वाधिक अखरनेवाली बात है संगठित प्रयास और प्रकाशकों का अभाव। बिहार का मगही मंडल भी इसके निमित्त कोई ठोस कदम उठाता नहीं देखता है। यदि लेखकों और पाठकों के प्रयास से कोई सहयोगी प्रकाशन-जैसी संस्था कायम हो सके, तो शायद कुछ अधिक आशाप्रद परिणाम मिल सकते हैं। फिर भी सब मिलकर प्रयास उत्तम ही कहा जाएगा।

डॉ० सावित्री शुक्ल

सन् सैंतालीस के बाद का छत्तीसगढ़ी साहित्य

छत्तीसगढ़ी प्रदेश अन्य हिन्दीभाषी प्रांतों या प्रदेशों की तुलना में अपेक्षाकृत पिछड़ा है। पिछड़ेपन का जो प्रभाव जन-जीवन और संस्कृति पर पड़ा वही प्रभाव भाषा पर भी। छत्तीसगढ़ी बोली या भाषा का स्वरूप आज भी उतना समुन्नत नहीं है, जितना अवधी या ब्रज भाषा का है। परन्तु छत्तीसगढ़ी विकासशील, प्रगतिशील और उन्नतिशील बोली है। जहाँ छत्तीसगढ़ी का अतीत अन्य बोलियों की तुलना में शून्य-वत् है, वहीं छत्तीसगढ़ी का वर्तमान रूप बहुत-सी बोलियों की तुलना में अधिक श्रेयस्कर और प्रगतिशील है। सन् १९४७ ई० के अनन्तर छत्तीसगढ़ी ने जो उन्नति की है, वह अवधी, ब्रज, मैथिली, राजस्थानी आदि की तुलना में महत्वपूर्ण और स्पृहणीय है। विगत १५-१७ वर्षों में छत्तीसगढ़ी ने समर्थ कवियों, कुशल गद्यकारों एवं सफल नाटककारों को जन्म दिया। इधर के साहित्यकारों में विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं : द्वारिकाप्रसाद तिवारी, प्यारेलाल गुप्त, नारायणलाल परमार, हरि ठाकुर, श्यामलाल चतुर्वेदी, बच्चू जाज गीरी, विमलकुमार पाठक, सरयूप्रसाद त्रिपाठी, चन्द्र किशोर दीवान, शशी तिवारी आदि। ये सभी प्रतिभासम्पन्न कवि हैं, जो काव्य-साधना में सत्त संलग्न हैं। नारायणलाल परमार-जैसे लेखक किसी भाषा या बोली के गौरव को सम्बन्धित करने में समर्थ हो सकते हैं। काव्य, नाटक, कहानी, सभी क्षेत्रों में प्रतिभा विकसित करने में संलग्न हैं।

यह प्रसन्नता का विषय है कि छत्तीसगढ़ी के लेखक और कवि साहित्य-जगत् में प्राचीन एवं नवीन दोनों ही विषयों का सर्जन कर रहे हैं। जहाँ एक ओर वे शांति रस, प्रकृति-वर्णन जैसे विषयों पर काव्य लिख रहे हैं; वहीं कृषक, दीन, ग्रामीण

सन् सैंतालीस के बाद का छत्तीसगढ़ी साहित्य : १२७

हा है ।
। श्री
प्रस्तुत
अवधि
अनेक
भाव ।
ता है ।
से के,
प्रयास

बालक, सामाजिक कुरीतियाँ तथा राष्ट्रीयता-सम्बन्धी कविता की रचना भी छत्तीसगढ़ी में हो रही है । इतना ही नहीं, छत्तीसगढ़ी के कवि जागरूक और सचेत साहित्यकार हैं । वे समय की प्रवृत्तियों एवं परिस्थितियों से अछूते नहीं हैं । उनका ध्यान राज-नीतिक वादों, चुनाव की घिसी-पिटी प्रथाओं, नेहरू, गांधी, सुभाष बोस, जैसे विषयों तथा महापुरुषों की ओर भी जाता है । देश की महत्त्वपूर्ण समस्याओं—अधिक अन्न उपजाओ योजना, साक्षरता-वृद्धि आदि विषयों में भी इनकी लेखनी सक्रिय और जागृत बनी रहती है । तात्पर्य यह है कि छत्तीसगढ़ी प्रदेश का कवि या लेखक किसी से पिछड़ा और हीन नहीं है । छत्तीसगढ़ी प्रदेश में 'सुवा गीत' बहुत लोकप्रिय और जन-प्रिय है । पारिवारिक और सामाजिक त्योहारों पर यह गीत बड़े चाव से गाया जाता है । 'सुवा गीत' में राष्ट्रीय भाव गूँथे गए हैं ।

चला दी दी देखे जाओ झंडा तिरंगा ला
सुवा भोर पाए है देस सुराज । सुवा भोर
अब तो सुतंत्र भये तें सुवा भोर—

तोरेच है अब राज ।

सुवा भोर पाये हैं देस सुराज । सुवा भोर०
पिंजरा के बाहिर बईठ के गावा रे सुवा भोर गांधी के जं जं कार ।
पर बश ले तोला जऊन छोड़ा इस सुवा भोर—तारे करिस छट्टार ।
सुवा भोर पाये हैं देस सुराज
आज सुतंत्र भये तंय सुवा भोर, पांखीला अपन पसार ।
कतेक जवर अब हैं तोर पिंजरा रेसुवा भोर देख ले ओखो उधार ।
पर के भरोसा मा का तय जाने रे सुवा तोर पिंजरा हिस संसार
गांधी बवा तोला बाहिर लानिस सुवा भोर तेकरेच कर परचार ।

सुवा भोर...

उत्तीसे बड़तो गांह खुसहूँ रे सुवा भोर चारों डदर तोर राज
उड़ि जारे सुवना तय दिल्ली द्वारी मां सुवा भोर छत्र धरे तोर ताज
सुवा भोर...

इन पंक्तियों में स्वराज्य-प्राप्ति के अनन्तर स्त्रियों में राष्ट्रीय ध्वज के प्रति श्रद्धा एवं प्रेरणा-भाव व्यक्त किया गया है । पाँचवीं पंक्ति विशेष ध्यान देने योग्य है । इसमें कहा गया है कि पिंजरे से उन्मुक्त होकर सुवा गांधीजी की जय-जयकार कर रहा है । गांधी वृद्ध मानव-समाज को परबसता से छुड़ाने वाले हैं । इन पंक्तियों में तिरंगे झंडे के प्रति सम्मान की भावना व्यक्त हुई है । यह सुवा-गीत द्वारिकाप्रसाद तिवारी विप्र द्वारा लिखा गया है ।

आज देश के सम्मुख अनेक समस्याएँ हैं जिनमें बेकारी की बहुत बड़ी समस्या है । इसी कारण नेता-वर्ग 'ग्राम वापस जाओ' का नारा लगा रहे हैं । 'छत्तीस-गढ़ी कवि भी जागरूक हैं । वह अपने देश के कृषक वर्ग को ऊपर उठाना चाहता है । वह समझाने की चेष्टा करता है कि खेती करना, नौकरी की अपेक्षा अधिक कल्याण-

१२८ : आलोचना

कारी है । प्रतिभासम्पन्न, उदीयमान, उदय होता हुआ कवि गा उठता है :

रे भैया, अब हम खेती करबो ।

हारगयेन नौकरी सरेखत

कहाँ-कहाँ अब सरबो

अब ये दिन है खेती करके

खेत ला सुधर कमाबो

देस ला पोढ करे खातिर हम

सब अन्न, उपजाओ

गांव अउ खेत तरत तारन अंच

ये मा हम सब तरबो

रे भैया अब हम खेती करबो ।

—श्री विमलकुमार

प्रस्तुत पंक्तियों में कवि जीवन की यथार्थता की ओर संकेत करता हुआ पथ-प्रदर्शन करता है कि जन-कल्याण व देश-कल्याण के लिए खेती ही श्रेयस्कर है । साथ ही उत्साहित भी करता है कि देस ला पोढ करै खातिर हम ।

छत्तीसगढ़ी कविता को वर्तमान रूप में ढालने का श्रेय स्वर्गीय कुञ्जविहारी चौबेजी को है । ग्रामीण समस्याओं को लेकर आपने कुछ कविताओं का सर्जन किया है जिनमें कृषक व कृषक स्त्री का चित्रण सजीव हो उठा है । कृषक की आत्मानुभूति का वास्तविक एवं सजीव चित्रण देखिए :

पहिरे बर दू बीता केपागी जी

पिये ला चोंगी धरे लाआगी जी

खाये ला बासी पीये ला पेज पसिया

करे बर दिन रात खेत मां तपसिया

साधू जो गीले बढ़के दरजा हमार ॥

प्रस्तुत उद्धरण से स्पष्ट हो जाता है कि कृषक का पद साधु व योगी से बढ़कर है । वह एक तपस्वी है, साधक है, जो दूसरे के लिए स्वयं बासी खाकर तपस्या में लीन रहता है ।

छत्तीसगढ़ी साहित्य में माननीय कृषक स्त्री का चित्रण भी चौबे की सशक्त भाषा में हुआ है । कृषक-पत्नी अपने पति से प्रेम-कलह करती है और स्वयं रूठकर अपना श्रृंगार उतारकर फेंक देती है । पति स्वयं रूठी पत्नी को मनाने नहीं जाता है वरन् एक सहेली भेजता है उसे मनाने के लिए । ग्रामीण स्त्री सहेली से कहती है :

बल ओ उठ ओ चरिहा घर के ,

हम गोबर बीने ला जातिन ओ,

बिन लेतन गोबर पातेन तो

और साँझ के घर चलि आतेन ओ ।

तें हर बोलत काबर नाहि ओ बहिनी

सन् सैंतालीस के बाद का छत्तीसगढ़ी-साहित्य :- १२६

तैं हर कावर आज रिसाये हवस

चुटकी सुंदरी सब के दिहे

अँगना माँ परे खिसियाये हवस ।

भारत स्वतन्त्र हुआ पर निर्धन वर्ग की समस्याएँ कम नहीं हुई । रोटी, मकान व वस्त्र की चिन्ता उन्हें सदैव घेरे रहती है । खाने के लिए अन्न नहीं, पहनने के लिए वस्त्र नहीं और रहने के लिए स्थान नहीं । श्री रामविलास साहू ने बनहार कविता में मजदूरों की दुर्दशा का मर्मस्पर्शी चित्र व्यक्त किया है ।

एक डहर से हाथ पसारे मनखे बने भिखारी

एक डहर तो रहसरचावन मगन महल और अटारी हवय

चियुरा कथरी फरिया ला ओढ़े कंगाली हाँ गोहार करय

कहँ करा दसरहा देवारी निहर-निहर के जोहार करय

कहूँ पेट के आगे में जर के तजत है पल-छिन में परान

अरे टांक-मसि बता, लिखन सकवे का बैसने सुघर तान ?

प्रस्तुत पंक्तियों में यथार्थ का सजीव चित्रण है जिनमें कोई आवरण नहीं है । सत्य, सत्य है चाहे वह कितना कुरूप हो । अनुभूति एक-एक पंक्ति में दृष्टिगत होती है ।

छत्तीसगढ़ी कवि को वहाँ के गाँव, कृषक व पुष्पों से भी अत्यधिक प्रेम है । वह ग्रामीण वातावरण से प्रभावित है । एक ओर समाज की समस्याएँ उसे व्यथित करती हैं तो दूसरी ओर सरस, सरल, सुन्दर वातावरण उसे मुग्ध कर लेता है ।

गाँव माँ फूलधलो गोढ़ियायें

जब सब किसान सो जाँएँ ।

झाँई झूँई लाल गुलाली

देख चाँद मुस्काये

खो खमां खिल-खिल हासे लगायें

कमल फूल सकुचायें ।

छत्तीसगढ़ी कवि जागरूक है कि उस पर नवीन भारत के निर्माण का भार है । प्रस्तुत पंक्तियों में ग्राम का सजीव यथार्थ चित्रण हुआ है ।

हमर कतका सुन्दर गाँव

जइस लक्ष्मीजी के पाँव

घर उज्जर लीपे-पोते

जेला देख हवेली रोये

सुघर चिकनाई मुइया

चाहे भात परस ला गुँइया

अँगना में तुलसी धरवाँ

कोठा माँ बैली गरवा

लकठा में कोला बारी

जहाँ बोथन साग तरकारी

१३० : आलोचना

चेहर अनपूरनाक ठाँव

हमर कतका सुन्दर गाँव

प्रस्तुत उद्धरण में अपने गाँव का सुन्दर चित्रण कवि ने किया है। साथ-ही-साथ कवि ने यह चेष्टा भी की है कि छत्तीसगढ़ी परिष्कृत व परिमार्जित हो। उसने ठेठ छत्तीसगढ़ी शब्दों का प्रयोग न करके सरल, स्वाभाविक व मधुर शब्दों का प्रयोग किया है।

छत्तीसगढ़ी कवियों में शृंगार रस के भी दर्शन होते हैं। परन्तु इतना अवश्य है कि शब्द-सौष्ठव व अभिव्यक्तियों में वे नये मार्ग पर चलने वाले हैं। श्री नारायण लाल परमार के शब्दों में विरही नायक का चित्रण देखिये—

तुहिच ला जानेव मैं

मति अपन मानेव मैं

जरे अस लागे भोला चन्दा के अंजीर

रहि-रहि के तोर सुरता भोला गुदगुदावे

हरर पावन चलै दुहूँ ला देखावे

आँसू ला विलमाव मैं

उहर चलत गामेव मैं

छत्तीसगढ़ी के गीतों में भी शृंगार रस विद्यमान है। विरहणी नायिका का चित्रण देखिए—

आधी रात चढ़नी मन जब

खेलत रहिन होरी

तैं हर अपन हाथ लमा के

भोर माँग लगाये रोरी।

ध्रुवराम जी

ग्राम-बन्धुओं के सौन्दर्य व शृंगार के साथ-ही-साथ प्राकृतिक सौन्दर्य भी छत्तीसगढ़ी कविता में कम नहीं है। छत्तीसगढ़ी कवि ने प्राकृतिक वर्णन में नवीन मान्यताओं एवं नवीन कल्पनाओं का प्रयोग किया है।

(१)

भरगै ताल तरैया, भैया भरगै ताल तरैया

झिमिर झिमिर जस पानी बरसै

महकै खेत रवार के माटी

धुडुर धुडुर जस बाहर गरजै

डोलै नदिया परबत घाटी

हरी ठाकुर

(२)

सुरुज के बिलती माँ सोना बरस थे

चन्दा हर चाँदी लुटा थे गा।

आमा के डारा सा मौँडर के पास माँ

करिया कोइलफाग गाथे गा ॥

सन् सैंतालीस के बाद का छत्तीसगढ़ी-साहित्य : १३१

खाले सें हास्यसान जिहाँ जाके
जिनगी के जिवरा जरे है ।

हनुमंतराव 'राजदीप'

(३)

चन्दा झाँकें संग चनेनी
लरजत लरजत रात माँ
धान के हरियर लगरा पहिरय
घरती हर चौमास माँ

विमलकुमार पाठक

छत्तीसगढ़ी कविता में हास्य-व्यंग्य-लेखक श्री ऊधोराम जो तथा ध्रुवराम जी
गणना हास्य-व्यंग्य के कवियों में आदर के साथ की जाती है ।

उदाहरणार्थ—

(१)

छइयाँ मारे न मरै, मरै न बाँधे धार
तिरिया भन के सजन बिना पुरुष होत नई पार
पुरुष होत नई पार, बिना सुग्घर तिरिया के
रख लो डडकी चार निधे दिन आवे जाके
कहै कवि झकमार बात मानो गौकी
कइसनो करके यार फटाफट लानो डौकी ।

ऊधोराम 'झकमार'

(२)

बाह्यन अउ बैरागी बंदव, दुनो हाथ ला जोरे,
अपन मेहरिया पुनि पुनि बंदव, बत्तीस दाँत निपोरे
नरक सरग के देवता बंदव माई-बाप के छोड़े
ससुर सास अउ सारी बंदव, सुछ्घर नाता जोड़े

ध्रुवराम जी

व्यंग्यात्मक काव्य-रचयिताओं में द्वारकाप्रसाद तिवारी अत्यधिक प्रसिद्ध हैं ।
वह वहरिया कविता में एक कर्कशा नववधू का बहुत ही विनोदपूर्ण चित्रण हुआ है ।

शृंगार एवं हास्य के अतिरिक्त शान्त रस भी छत्तीसगढ़ी काव्य में विद्यमान
है । उदाहरणार्थ कतिपय पंक्तियाँ देखिए—

चला भजन करी भगवान के,
ये संसार मलगे बजरिया, डेरा बने दूँ दिन के
उठगे बजरिया टूट गये डेरा, पंछी उड़िस जस बन के
बाग लगे हैं बगीचा लगे हैं, फूले हैं फूल सुधर के,
उजर ने बगिया, सुखगे फुलवा, भौरा उड़िस भन भन के
चला भजन करी भगवान के ।

आज का छत्तीसगढ़ी भाषा का साहित्यकार सजग है । वह कविता की भाँति
ही गद्य में, एकांकी लेखन, संवाद, कहानी आदि की भी रचना कर रहा है ।
इधर छत्तीसगढ़ी के साहित्यकारों ने सुन्दर रचनाओं द्वारा साहित्य में नवीन

रचनाओं का सर्जन किया है जिनमें विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं—श्री राधाकृष्ण विहार, श्री रायकेवट संवाद, श्री माता सेवा, श्री शिवरी अउ राम संवाद, श्री मृगी सत गाथा, श्री सुदामा अउ किसन चरित्र, श्री त्रिनाथ मेला माहात्म, मुखरा चिरई के विहर्वि, छत्तीसगढ़ी दहरिया अउ करगा गीत, प्रहलाद चरित्र, छत्तीसगढ़ी दान-लीला, भरत अउ राम के मिलाप, रामायन धुन आरती विसर्जन सहिता गीता सार, राजा भरथरी गीत, तड़वा सुजान के गीत, लक्ष्मी पुराण, अंगद-रावण संवाद, भक्त ध्रुव, परीक्षित मोक्ष, श्याम सन्देश आरती माला, शंकर पारवती विवाह, तुलसी के विरवा लगाये, पंडवानी गीत आदि ।

इस प्रकार हम यह विश्वास के साथ कह सकते हैं कि छत्तीसगढ़ी का कवि और छत्तीसगढ़ी का साहित्य बड़ा उन्नतिशील है । वह दिन दूर नहीं है कि जब छत्तीसगढ़ी में महाकाव्यों और उपन्यासों की रचना होने लगेगी, वह समय दूर नहीं है जब छत्तीसगढ़ी का कवि पूर्ण तन्मयता के साथ देश की गरीबी, बीमारी, अशिक्षा को दूर करने के लिए और जनता-जनार्दन को प्रबुद्ध करने के लिए अधिक शक्ति के साथ लेखन-कार्य में प्रवृत्त होगा ।

हिन्दी में भारतीय साहित्य

नवारुण

हिन्दी में असमिया साहित्य

असमिया भाषा सच्चे अर्थ में भारतवर्ष के पूर्वांचल की समन्वय-सूत्रधारिणी है। समाज-स्त्रीय तथा भाषा-शास्त्रीय दृष्टिकोण से भी यह अंचल बहुविचित्र और परम-विविध का है। इस भाषा-भाषी भू-खंड की सीमा एक ओर बंगाल को छूती है, दूसरी ओर से उन भाषायी अंचलों से परिवेष्टित है जिनका उद्गम तिब्बती-बर्मी-चीनी-तिब्बती भाषा-गोष्ठियों से हुआ है। इसीलिए मूल उद्गम आर्य भाषा-परिवार का होने पर भी इस भाषा में पूर्वी एशिया के मंगोल-भाषा गोष्ठी के शब्द, शैली आदि का पर्याप्त समन्वय हुआ है। कोच, कछारी आहोम, भोट आदि जातियाँ पूर्वीय जंगल-मार्गों से यहाँ आईं, जिनकी अपनी विशिष्ट बोलियाँ, संस्कृति आदि थीं। वे धीरे-धीरे असमिया भाषा की शक्ति से वे उसमें विलीन हो गईं और आम आदान-प्रदान की भाषा के रूप में इसी भाषा को सवने अपना लिया परन्तु उनके अवशेषों से असमिया भाषा आज भी मण्डित है। इसके अतिरिक्त असम-घाटी से होकर ही बौद्ध-मार्ग भारत से एशिया के पूर्वीय देशों में पहुँचा था यानी यह भूमि प्राचीन काल से ही चीन, बर्मा, तिब्बत आदि देशों के साथ भारतीय संस्कृति की सम्पर्क-साधिका रही है। आज भी पूर्वीय देशों का प्रभाव इस अंचल तथा भाषा पर भी पड़े बिना नहीं है।

गारो, भोट, खासी, मिरी, मिसमि, नागा, मिजो आदि भाषाओं के एक ऐसे समूह से यह समूचा अंचल घिरा हुआ है जिनका शेष भारत की आर्य-भाषाओं से कोई सम्पर्क नहीं है। और तो और इन भाषाओं में भी आपसी समानता नहीं के बराबर है। असमिया भाषा इनके बीच भी सम्पर्क-सूत्र का काम करती आई है।

इन सभी दृष्टियों से विचार करने पर असमिया-भाषा-साहित्य का महत्व स्वयं ही उभरता है तथा राष्ट्र-भाषा हिन्दी में इसके उच्च साहित्य का न होना एक बड़ा अभाव है जिसकी शीघ्र पूर्ति के लिए व्यापक कार्यक्रम अपनाने की अनिवार्य आवश्यकता है।

असमिया साहित्य पुराना है। प्राचीन असमिया साहित्य इतना समृद्ध है कि क्षेत्रों में इसकी समानता भारत की अन्य आधुनिक भाषाओं का प्राचीन साहित्य बन सकता है। उसी काल में जब बंगला आदि आधुनिक समृद्ध भाषाएँ भी पिछड़ी अविकसित अवस्था में थीं असमिया में कोयवंशी और कछारी राजाओं के पृष्ठ-पात्रों से रामायण, महाभारत, भागवत आदि ग्रन्थों का निर्माण हो चुका था। ये

प्राचीन ग्रन्थ यद्यपि संस्कृत ग्रन्थों के मूल-आधार पर ही रचित हैं तथापि इनमें असमिया जीवन की अपनी विशिष्टताएँ उभर उठी हैं तथा कवियों ने अपनी मौलिक उद्भावनाओं द्वारा नई-नई घटनाओं व चरित्रों का सर्जन किया है। राष्ट्रभाषा हिन्दी में कम-से-कम संक्षिप्त रूप से भी हो, इन ग्रन्थों का होना आवश्यक है।

असम के धार्मिक क्रान्ति-दूत श्री शंकरदेव ने तो प्राचीन असमिया साहित्य को वह वैभव प्रदान किया है जिसका सानी नहीं। शंकरदेव के बरगीत, कीर्तनघोषा आदि के पद सूर, तुलसी और कबीरदास के पदों के साथ एक ही पंक्ति में रखे जा सकते हैं। भाव, भाषा तथा आध्यात्मिकता की सामान्य भावभूमि पर भारतीय संतों की कितनी एकता थी, इनसे यही प्रमाणित होता है : शंकरदेव के अंकिया (एकांकी) नाटक तो आज भी विद्वानों को मुग्ध कर देते हैं। हाल ही में अध्यापक डॉ० लालजी शुक्ल ने शंकरदेव के अंकिया नाटकों पर एक शोध-प्रबन्ध लिखा है परन्तु अब तक उसका प्रकाशन नहीं हो पाया है। श्री शंकरदेव तथा उनके शिष्य माधवदेव के ग्रन्थों की भाषा हिन्दी से इतनी समानता रखती है कि केवल लिप्यन्तर से ही हिन्दी-पाठकों को उन्हें समझने में कोई दिक्कत नहीं होती। डॉ० दशरथ ओझा ने अपने शोध-प्रबन्ध 'हिन्दी नाटक : उद्भव और विकास' में अंकिया नाटकों के कुछ उद्धरण भर दिए हैं। हिन्दी में अंकिया नाटकों को प्रकाशित न करने से वस्तुतः उनकी छटा से राष्ट्रभाषा वंचित ही रहेगी।

इधर असम राष्ट्रभाषा प्रचार समिति ने माधवदेव का बहुप्रसिद्ध ग्रन्थ 'नाम-घोषा' का हिन्दी में लिप्यन्तरण-सहित अनुवाद प्रकाशित किया है। विनोबाजी ने अपनी असम पद-यात्रा में भी इस ग्रन्थ की आध्यात्मिकता से मुग्ध होकर प्रवचनों में इसके विभिन्न पदों पर भाष्य किया तथा एक संक्षिप्त 'नाम-घोषा-सार' का सम्पादन भी किया। परन्तु असम के इन दोनों धर्म-प्रतिष्ठापकों का विशाल ग्रन्थ-भण्डार अभी हिन्दी के लिये अछूता ही है।

यह बहुत कम लोगों को ज्ञात है कि असमिया में ही सर्वप्रथम गद्य का नमूना भट्टदेव की 'कथा-गीता' में मिलता है। यह ग्रन्थ गीता पर गद्यात्मक भाष्य होने पर भी वर्णन-शैली और दृष्टान्तों की दृष्टि से अनुपम है। हिन्दी में इस ग्रन्थ का भी रूपान्तर बांछनीय है।

प्राचीन असमिया साहित्य को छोड़ भी दिया जाय तो आधुनिक साहित्य में भी यह पर्याप्त समृद्ध है। असमिया साहित्य के कुछ विद्वान् शोधकों ने विदेशों में भी प्रसिद्धि अर्जित की है। स्व० डॉ० वाणीकांत काकति के भाषा-तत्त्व-सम्बन्धी शोध ने पूर्वांचल की भाषा-विषयक नवीन पृष्ठभूमि तैयार कर दी। आपका 'असमिया भाषा : उद्भव और विकास' एक बहुचर्चित कृति है। डॉ० सूर्यकुमार भूया ने विस्मृत असम इतिहास पर बहुत अधिक काम किया है, आपका 'असम बुरंजी' असम इतिहास-सम्बन्धी मनन से भरपूर है। स्व० डॉ० विरिची कुमार बरुवा भी एक बड़े गवेषक थे। आपकी 'असम लोक-संस्कृति' असम की जनकला और प्रगतिशील संस्कृति का प्राञ्जल विश्लेषण करने वाला ग्रन्थ है। इसे अकादेमी पुरस्कार भी प्राप्त हो चुका है।

हिन्दी में इन विद्वानों के ग्रन्थों का शीघ्र रूपान्तर आवश्यक है। स्व० बरुवा का उपन्यास 'जीवतर वाटत' असमिया उपन्यासों में सर्वश्रेष्ठ माना जाता है जिसमें असमिया ग्रामीण तथा नगर-जीवन को उभारा गया है।

जन-जातीय लोगों के सम्बन्ध में रचित साहित्य असमिया आधुनिक साहित्य का वैभव है। जन-जातीय जीवन की प्रांजल अभिव्यक्ति काव्य, नाटक, उपन्यास, कहानी आदि सभी साहित्य-विधाओं में हुई है। आजकल असमिया-भाषी साहित्यकारों के अलावा जन-जातीय साहित्यकार भी अपनी कृतियाँ असमिया में प्रकट करने लगे हैं, यह भी असमिया-साहित्य के लिए कम गौरव का विषय नहीं है।

असमिया साहित्य के सर्वश्रेष्ठ उपन्यासकार स्व० रजनीकांत वरदल ने सबसे पहले जन-जातीय जीवन को लेकर 'मिरि जीयरी' उपन्यास की रचना की थी। इसका हिन्दी-रूपान्तर युगजीत नवलपुरी ने किया है। स्व० वरदल के अन्य उपन्यास बर्मी-आक्रमण की पृष्ठभूमि पर रचित हैं। आपके 'मनोमती' उपन्यास का हिन्दी-अनुवाद लोकनाथ भराली और 'निर्मल-भवत' का अनुवाद श्रीचित्र महंत ने किया है।

श्री वीरेन्द्र कुमार भट्टाचार्य ने नागा जीवन और समस्याओं के बारे में कई कहानियाँ और उपन्यास लिखे हैं। आपके 'इया-रुङ्गम' उपन्यास को अकादेमी पुरस्कार प्राप्त है। इसका हिन्दी-रूपान्तर भी श्रीचित्र महंत ने किया है परन्तु वह प्रकाशित नहीं हो पाया है। श्री भट्टाचार्य का दूसरा उपन्यास 'माँ' का हिन्दी-रूपान्तर लोकनाथ भराली ने किया है जो हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय द्वारा प्रकाशित हुआ है।

श्री योगेश दास ने भी कई उत्तम उपन्यासों की रचना की है। दूसरे महायुद्ध पर आधारित 'डावर आरु नाइ' का अनुवाद भारतीय ज्ञानपीठ की ओर से करवाने की चर्चा सुनने में आई है।

हाल में ऐसे कई महत्वपूर्ण उपन्यास असमिया में निकले हैं जो यहाँ की अनेक-विध समस्याओं के यथार्थ रूप को उभारते हैं। इनमें तीन खण्डों में प्रकाशित हितेश डेका का 'एयेतो जीवन', रवीन काकति का वृहद् उपन्यास 'दिशहारा' युगान्तकारी कृतियाँ हैं। चाय बागान के जीवन को रास्ता बरुवा के 'सेउजी पातर काहिनी' उपन्यास में बड़े ही मार्मिक ढंग से चित्रित किया गया है।

जन-जातीय लेखक श्री लुम्मेर दाइ ने अपनी रचनाओं में जन-जातीय परंपराओं का विवर्तन प्रस्तुत किया है। आपकी कला-कृति 'पृथिवीर हांहि' असमिया साहित्य में नवीन दिशा की सूचक है, उत्तर-पूर्वी सीमान्त अंचल के जन-जातीय आवर समाज को इसमें उभारा गया है। इन सभी ग्रन्थों का हिन्दी में अनुवाद करने का प्रयत्न होना चाहिए।

हिन्दी में असमिया के कुछ प्रख्यात कवियों की काव्य-कृतियाँ आई हैं। श्री परेशचन्द्र देव शर्मा ने 'कविश्री माला' के अन्तर्गत नलिनी वाला देवी और रघुनाथ चौधरी की कविताओं का संकलन (हिन्दी-रूपान्तर सहित) किया है। साहित्य अकादेमी द्वारा प्रकाशित भारतीय कविता में भी कुछ असमिया कविताओं के रूपान्तर निकले हैं। प्रस्तुत निबन्ध के लेखक ने आकाशवाणी के लिये भी अनेक असमिया-कविताओं का हिन्दी-रूपान्तर किया है। श्री नवकान्त बरुवा की प्रतीक-शूलक काव्य-

कृति 'धृतराष्ट्र' का हिन्दी-रूपान्तर शीघ्र ही प्रकाशित होने वाला है। श्री चन्द्रभूषण शर्मा 'भूषण' ने नलिनी बाला देवी के कविता-संग्रह 'युग देवता' का हिन्दी-अनुवाद प्रस्तुत किया है।

हिन्दी में असम पर आधारित कुछ मौलिक ग्रन्थ भी इस बीच प्रकाशित हुए हैं, प्रस्तुत लेखक का 'लाचित बरफुकन' असम पर मुगल-आक्रमण की पृष्ठभूमि पर रचित खण्ड-काव्य है। श्री हरिहर प्रसाद द्विवेदी ने इसी पृष्ठभूमि पर 'शराई घाटी' काव्य की रचना की है। असम की सतीनारी 'जयमती' पर आधारित प्रस्तुत निबन्ध के लेखक का एक वृहद् काव्य प्रकाशन की प्रतीक्षा में है। इसी लेखक का 'युग देवता शंकर देव' काव्य भी अप्रकाशित है। श्री देवेन्द्र सत्यार्थी ने असम के नदी-द्वीप माझुली पर 'ब्रह्मपुत्र' नामक उपन्यास की रचना की है। श्री रजनीकान्त चक्रवर्ती ने शंकरदेव की जीवनी-मूलक एक पुस्तक की रचना की है। श्री शंकरलाल शर्मा ने 'जयमती' पर एक नाटक 'हुतात्मा जयमती' भी बहुत दिन पहले प्रकाशित किया था।

श्री सीता देवी ने असम के ख्यात उपन्यासकार प्रेमनारायण दत्त के बाल-उपन्यास 'पोहरर बाटट' का हिन्दी-रूपान्तर 'रोशनी की राह में' नाम से किया है। वाग्मी कवि नीलमणि फुकन की मौलिक रचनाओं का संग्रह श्री सुमति तालुकदार द्वारा अनूदित होकर प्रकाशित हुआ है। श्री दीननाथ शर्मा रचित उपन्यास 'नदाइ' का हिन्दी-रूपान्तर शीघ्र ही प्रकाशित होने को है।

असमिया साहित्य का विशाल भण्डार देखते हुए यह कहने को बाध्य होना पड़ता है कि इसका बहुत कम अंश अभी हिन्दी में आ पाया है। हालाँकि कुछ पत्र-पत्रिकाओं में कहानियों, निबन्धों और कविताओं के अनुवाद प्रकाशित होते हैं और असम का एकमात्र हिन्दी मासिक 'राष्ट्र सेवक' भी इसमें कुछ-कुछ हाथ बँटा रहा है फिर भी यह काम बहुत बड़ा है। हिन्दी के विद्वानों और प्रकाशकों को इस ओर अधिक ध्यान देने की आवश्यकता है।

असम में अच्छे अनुवादकों की बड़ी ही कमी है। साहित्यिक रुचि वाले निष्ठावान अनुवादक यहाँ इने-गिने हैं और उन्हें भी प्रकाशकों की ओर से कोई खास प्रोत्साहन नहीं मिलता। यहाँ ऐसी संस्था की भी कमी है जो असमिया साहित्य के अनुवाद-प्रकाशन को अपना ध्येय मानकर इस काम में हाथ बँटावे। सरकार की ओर से भी इस ओर कोई खास दिलचस्पी नहीं दिखाई जा रही है। इसीका नतीजा है कि असम तथा उसका साहित्य आज भी नजरों से ओझल और उपेक्षित है।

असम राष्ट्रभाषा प्रचार समिति एक सीमित परिधि में कुछ काम कर रही है। समिति की रजत-जयन्ती के अवसर पर प्रकाशित 'स्मृति ग्रन्थ' में असम की कला, संस्कृति और साहित्य-विषयक अनेक मननीय लेख छपे हैं। कई दृष्टियों से यह स्मृति-ग्रन्थ उपादेय तथा संग्रहणीय है। हाल ही में शंकरदेव व माधवदेव के 'बरगीतों' का एक लघु संग्रह भी समिति ने प्रकाशित किया है।

सभी ओर से विचार करने पर यही प्रतीत होता है कि हिन्दी में असमिया साहित्य का और अधिक तेजी से प्रकाशन आवश्यक है।

डॉ० महावीर सरन जैन

भाषा का प्रश्न और भारत की एकता :

कुछ प्रश्न एवं दिशाबोध

ज लेख के माध्यम से, मैं देश के प्रयुद्ध विद्वानों एवं चिन्तकों का ध्यान दिल्ली से काशित 'भालोचना' (जुलाई, १९६५) के सम्पादकीय की ओर दिलाना चाहता हूँ। इसके सम्पादक ने अपने इस सम्पादकीय में हिन्दी भाषा से सम्बन्धित जो विचार प्रस्तुत किए हैं, उनमें से कुछ विचार अनेक भ्रामक धारणाओं को जन्म दे सकते हैं। इस स्थान पर सम्पादक ने लिखा है :

“हिन्दी को मातृभाषा बताना चूँकि देशभक्ति का पर्याय बताया जाता है, इसलिए हमारे यहाँ हिन्दी से जीविका कमाने वाले या 'हिन्दी भक्त' के नाम से वोट मँगने वाले और बदले में हिन्दी को अपनी मातृभाषा घोषित करने वाले ऐसे देश-जनों की संख्या नित्य बढ़ती जाती है, यद्यपि उनकी मातृभाषा हिन्दी नहीं है—बावी, राजस्थानी, मैथिली, भोजपुरी, अवधी, ब्रज, छत्तीसगढ़ी, हरियाणी, कुमायूनी, गढ़वाली आदि, और चाहे कोई हो, पर हिन्दी (खड़ी बोली) नहीं है।”

अपने इस वक्तव्य द्वारा सम्पादक ने हिन्दी को खड़ी बोली की सीमाओं में आवद्ध कर, हिन्दी की अन्य समस्त बोलियों को हिन्दी भाषा से पृथक् करने का अद्भुत प्रयास किया है।

यदि ब्रज, अवधी, छत्तीसगढ़ी इत्यादि विभिन्न बोली-रूपों को कोई हिन्दी से मिलाकर देखता है, तो वह न केवल हिन्दी के प्रति अन्याय करता है, प्रत्युत भाषा-ज्ञान के बारे में अपने अज्ञान का स्वयं ही सहज परिचय भी दे देता है। अगर ब्रज एवं अवधी 'हिन्दी' नहीं है, तो इसका यह अर्थ होगा कि इंग्लैंड एवं अमेरिका में अंग्रेजी के जितने बहुसंख्यक-रूप बोले जाते हैं, वे समस्त रूप अंग्रेजी नहीं हैं तथा केवल लन्दन के राजवंश के सदस्यों द्वारा जो कुछ बोला जाता है, केवल एकमात्र वही रूप अंग्रेजी है। ऐसा प्रतीत होता है कि ब्रज, अवधी, इत्यादि को हिन्दी न मानने का जो प्रयत्न है, वह भाषा और बोलियों के सम्बन्ध को न समझने के कारण उद्भूत है। यह स्पष्ट है कि एक भाषा के रूप थोड़ी दूर पर निश्चय ही बदल जाते हैं। जैसे-जैसे सीमा की दूरी बढ़ती जाती है, वैसे-ही-वैसे एक क्षेत्र एवं दूसरे क्षेत्र की बोलियों का अन्तर भी अधिकाधिक बढ़ता जाता है। “चार कोस पर बदले पानी, आठ कोस पर पानी” कहावत प्रसिद्ध है, जो भाषा की क्षेत्रीय विभिन्नताओं की ओर संकेत करती है। केवल सीमागत दूरी के आधार पर ही बोलियाँ विकसित नहीं होतीं, अपितु एक

निश्चित क्षेत्रगत सीमा में (यहाँ तक कि एक नगर में भी) सामाजिक स्तर की विभिन्नताओं के कारण भाषा-वैभिन्न्य होते हैं, जिन्हें वर्गगत बोलियों के नाम से पुकारा जाता है ।

यदि इससे ज़रा और बारीक दृष्टि से देखें तो व्यक्तिगत बोली (Idiolect) के स्तर पर इस संसार में एक व्यक्ति जिस प्रकार बोलता है, ठीक उसी प्रकार संसार का कोई दूसरा व्यक्ति नहीं बोलता । प्रत्येक दो व्यक्तियों की व्यक्तिगत बोलियों (Idiolects) में कुछ-न-कुछ अन्तर होते हैं । यदि भिन्नताओं को ही देखने की बात है, तब तो स्वनिक (Phonic) स्तर पर यह भी कहा जा सकता है कि कोई भी व्यक्ति एक ध्वनि को ठीक उसी प्रकार दोबारा उच्चारित नहीं कर सकता । यदि एक व्यक्ति 'प' ध्वनि को सौ बार उच्चारित करता है, तो वे 'प' ध्वनि के सौ बार उच्चारण, १०० स्वन (Phones) हैं, जिनमें परस्पर यत्किंचित् भिन्नताएँ विद्यमान हैं । (यह बात दूसरी है कि हमारे कान इन समस्त भिन्नताओं का पता नहीं लगा पाते, किन्तु भौतिक ध्वनिविज्ञान (Acoustic Phonetics) के अन्तर्गत जब मशीनों पर कार्य किया जाता है तो इन सूक्ष्म अन्तरों को पहचाना जा सकता है) । इस प्रकार स्वनिक स्तर पर एक ध्वनि का प्रत्येक उच्चारण एक अलग स्वन (Phone) है । प्रश्न यह है कि कोई व्यक्ति किस धरातल से बातें करता है ? बोलियों के स्तर पर वांगरू, कन्नौजी खड़ी बोली, ब्रज, बुन्देलखण्डी, अवधी, भोजपुरी, छत्तीसगढ़ी इत्यादि सब अलग-अलग बोलियाँ हैं, किन्तु भाषा के स्तर पर ये समस्त बोलियाँ हिन्दी भाषा की क्षेत्रीय भिन्नताएँ हैं ।

भाषा और बोली का सम्बन्ध बोली विज्ञान (Dialectology) का विषय है, तथा इसे वैज्ञानिक दृष्टिकोण से अध्ययन करने पर ही समझा जा सकता है । संसार की किसी भी भाषा में अनेक बोलियाँ होती हैं । इन सब में परस्पर बहुत-सी बातों में भिन्नता हो सकती है । यह भिन्नता शब्दावली, पदरूपों एवं ध्वनिप्रक्रियात्मक पद्धति में देखी जा सकती है । मेरा विचार है कि शायद ऐसी ही भिन्नताओं के कारण, सम्पादक महोदय ने हिन्दी की बोलियों को अलग-अलग भाषा मान लिया है ।

एक भाषा के अन्दर जो विभिन्न बोलियाँ रखी जाती हैं, उनका कारण यह होता है कि उन समस्त बोलियों में विविध विभिन्नताओं के होते हुए भी गठन का एक समान ढाँचा (Common Core of Structure) होता है, इसके कारण 'भाषा' की एक बोली का बोलने वाला व्यक्ति उसी भाषा की किसी दूसरी बोली के बोलने वाले से परस्पर किसी-न-किसी मात्रा में (पूर्णतया तो प्रायः सम्भव ही नहीं है) विचारों का आदान-प्रदान करने में समर्थ हो जाता है । यह अवबोधन-शक्ति सापेक्षिक होती है, जो बोलियों की सीमाओं की दूरी एवं निकटता के आधार पर घटती-बढ़ती रहती है ।

इसी आधार पर ब्रज, अवधी, बुन्देली, छत्तीसगढ़ी इत्यादि समस्त रूप 'हिन्दी भाषा' की बोलियाँ हैं ।

इस तथ्य को इस दृष्टि से समझा जा सकता है कि जब तमिल-भाषी कोई

व्यक्ति हिन्दी-भाषी ऐसे व्यक्ति से जिसे तमिल का ज्ञान नहीं है, तमिल में बातें करता है, तो हिन्दी-भाषी तमिल भाषा को किसी भी मात्रा में नहीं समझ पाता (संकेतों के माध्यम से भले ही समझ जाए, भाषा के माध्यम से नहीं समझ पाता) इसके विपरीत यदि 'ब्रज' बोलने वाला व्यक्ति 'अवधी' बोलने वाले से बातें करता है, तो दोनों को परस्पर विचारों के आदान-प्रदान करने में कठिनाइयाँ चाहे कितनी ही हों, किन्तु वे दोनों किसी-न-किसी मात्रा में परस्पर विचारों का आदान-प्रदान करने में अवश्य समर्थ हो जाते हैं।

सम्पादक ने संविधान में हिन्दी के खड़ी बोली के संस्कृतनिष्ठ साहित्यिक रूप को (दे० पृ० ३) ही, केवल हिन्दी मान लिया है। इसका कारण यह लगता है कि सम्पादक ने 'भाषा' तथा भाषा के परिनिष्ठित या मानक रूप (Prestige or standard form of language) के अन्तर को स्पष्टतया समझने का प्रयास नहीं किया है। संविधान में हिन्दी का जो रूप स्वीकृत है, केवल वही 'हिन्दी भाषा' नहीं है, अपितु 'हिन्दी भाषा' का वह परिनिष्ठित रूप है जिसे अन्तःप्रान्तीय या सार्वदेशीय व्यवहार के लिए उपयुक्त समझा गया है।

'हिन्दी भाषा' का अर्थ तो सम्पूर्ण हिन्दी प्रदेश में बोले जाने वाले प्रत्येक भाषायी रूप से है, जो उत्तर प्रदेश, राजस्थान, विहार, मध्यप्रदेश, पंजाब के हरियाणा भाग, दिल्ली इत्यादि भागों में व्यवहृत होता है। इस तथ्य को केवल हिन्दी-भाषी क्षेत्रों के ही भाषा-वैज्ञानिकों ने स्वीकार नहीं किया है, देश तथा विदेश के प्रत्येक भाषा-शास्त्री ने (जिसने वैज्ञानिक दृष्टि से तत्सम्बन्धित कार्य किया है) एक स्वर से यह स्वीकार किया है। उदाहरणार्थ, इस दृष्टि से हिन्दी-भाषी विद्वानों में डाक्टर धीरेन्द्र वर्मा के 'हिन्दी भाषा का इतिहास' एवं डाक्टर उदयनारायण तिवारी के 'हिन्दी भाषा : उद्गम और विकास' ग्रन्थों की ओर संकेत किया जा सकता है। अहिन्दी-भाषी विद्वानों में, विश्वप्रख्यात डाक्टर सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या रचित 'भारतीय आर्यभाषा और हिन्दी' ग्रन्थ को देखा जा सकता है। यदि अंग्रेजी ग्रन्थों के प्रति किसी का अधिक मोह हो, तथा किसी की मान्यता यह हो कि जो बात अंग्रेजी के माध्यम से कही जाती है वही चरम सत्य है, तो अभी हाल में प्रकाशित अमेरिका के जान गम्पर्स एवं जून रूमरी कृत 'Conversational Hindi-Urdu' ग्रन्थ को पढ़ा जा सकता है, जिसकी कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार हैं :

"It is spoken in the greater part of North India, in the states of Delhi, Uttar Pradesh, Rajasthan, Madhya Pradesh, Bihar and parts of East Punjab, as well as in large North and Central Indian cities."

अगर किसी व्यक्ति को भाषा-वैज्ञानिकों के मतों से चिढ़ हो, तो वह आलोचक डॉ० रामविलास शर्मा की 'भाषा और समाज' के पृ० २०७ को पढ़ सकता है। इससे कम-से-कम भाषा और बोली का अन्तर तो स्पष्ट हो ही जाएगा।

जैसा पहले कहा जा चुका है प्रत्येक भाषा का एक परिनिष्ठित स्वरूप होता

१४० : भाषा

है। (यह परिनिष्ठित रूप अंग्रेजी, रूसी, जर्मन, फ्रेंच, आदि प्रत्येक भाषा का है तथा प्रत्येक भाषा में इस परिनिष्ठित भाषा-रूप के अतिरिक्त अनेक क्षेत्रीय एवं वांगत बोलियाँ भी हैं) संस्कृत के भी अनेक रूप थे, पाणिनी ने संस्कृत के मानक रूप का ही विश्लेषण किया था। भाषा के परिनिष्ठित या मानक-रूप का व्यवहार प्रायः उस भाषा के गण्यमान्य एवं शिक्षित व्यक्ति करते हैं। भाषा का यह रूप कलात्मक, सांस्कृतिक एवं शैक्षणिक अभिव्यक्ति के लिए उपयुक्त समझा जाता है। इसी अर्थ में हिन्दी का एक परिनिष्ठित रूप है (यह सत्य है कि सामान्य व्यक्ति रूढ़ि के कारण इस परिनिष्ठित-हिन्दी-रूप को केवल 'हिन्दी' के नाम से पुकारते हैं, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं हो जाता कि परिनिष्ठित हिन्दी ही 'केवल हिन्दी' है)। यह परिनिष्ठित हिन्दी आधुनिक साहित्यिक हिन्दी का आधार है तथा इस परिनिष्ठित हिन्दी का आधार हिन्दी की खड़ीबोली है। शब्दों पर ज़रा ध्यान देने की आवश्यकता है। खड़ीबोली परिनिष्ठित हिन्दी का आधार है, खड़ीबोली ही परिनिष्ठित हिन्दी नहीं है। इसी प्रकार परिनिष्ठित हिन्दी साहित्यिक हिन्दी का आधार है, परिनिष्ठित हिन्दी ही साहित्यिक हिन्दी नहीं है।

प्रत्येक बहुभाषी राज्य में अन्तःप्रान्तीय व्यवहार के रूप में किसी एक सावदेशीय या 'सम्पर्क भाषा' की आवश्यकता होती है। 'सम्पर्क भाषा' प्रायः एक ही होती है, अनेक नहीं होती। इसका कारण यह है कि अनेकों में ऐक्य की शृंखला जोड़ने के लिए ही 'सम्पर्क' भाषा की आवश्यकता होती है। यह स्थिति प्रत्येक बहुभाषी एवं बड़े राष्ट्र में होती है। सम्पादकीय में रूस से कई उदाहरण प्रस्तुत किये गए हैं तथा वहाँ के प्रति अतिशय मोह प्रदर्शित किया गया है। मैं, सम्पादक की मनोवैज्ञानिक सन्तुष्टि के लिए अपने मन्तव्य को रूस का उदाहरण देकर स्पष्ट कर रहा हूँ। रूस में लगभग ६० राष्ट्रीय भाषाएँ व्यवहृत होती हैं। १९५५-५६ में प्रकाशित रूसी सरकार के आँकड़ों के अनुसार, वहाँ उस समय दो-तिहाई प्राथमिक एवं माध्यमिक पाठशालाओं में छात्रों को सभी विषयों की शिक्षा केवल रूसी भाषा के माध्यम से दी जाती थी। केवल एक-तिहाई पाठशालाओं में शिक्षा का आरम्भ रूसी भाषा से इतर वहाँ की अन्य प्रमुख भाषाओं द्वारा कराया जाता था। इन पाठशालाओं में भी दूसरी अथवा तीसरी कक्षा से ही रूसी भाषा पढ़ाई जाने लगती थी। रूस में सदैव विशेष सम्मेलन एवं गोष्ठियाँ होती रही हैं जिनमें विवेच्य विषय यह रहा है कि जिन क्षेत्रों की भाषा रूसी नहीं है, उनमें रूसी भाषा का प्रशिक्षण द्रुत एवं प्रभावशाली ढंग से किस प्रकार कराया जाए? इसी उद्देश्य को पूरा करने के अनेक प्रयासों में एक प्रयास 'Russkig jazyak V ne-russkog vkole' पत्रिका का प्रकाशन भी है।

इस दृष्टि से हिन्दी-भाषी क्षेत्र के स्कूलों एवं विश्वविद्यालयों में छात्रों को यदि परिनिष्ठित हिन्दी के माध्यम से शिक्षा दी जाती है, तो यह तो अत्यन्त स्वाभाविक एवं करणीय है, (कोई अपराध नहीं है, न यह मातृघात है) हमारा प्रयास तो यह होना चाहिए कि अहिन्दी-भाषी क्षेत्रों में हिन्दी-भाषा का प्रशिक्षण कम-से-कम समय

में अधिकाधिक प्रभावशाली एवं वैज्ञानिक ढंग से किस प्रकार सम्पन्न कराया जा सकता है।

अपने इसी सम्पादकीय में सम्पादक का बल इस बात पर रहा है कि हिन्दी एवं उर्दू अलग-अलग भाषाएँ हैं तथा हिन्दी जन-जीवन से दूर तथा उर्दू जन-जीवन के अधिक निकट है।

हिन्दी एवं उर्दू को भिन्न भाषाएँ मानना भी ऊपरी सतह से ही संगत लग सकता है। पूर्वाग्रहों एवं 'अमूर्त मिथिक परिकल्पना' को दूर करने पर यह सहज ही बोधगम्य हो सकता है कि उर्दू हिन्दी भाषा की एक बोली मात्र है। उर्दू एवं हिन्दी में जो भिन्नता दिखाई देती है, वह अत्यन्त ऊपरी सतह पर है और इस दृष्टि से देखने पर निश्चय ही उर्दू हिन्दी से भिन्न भाषा प्रतीत होगी। इसका कारण लिपिगत अन्तर एवं शब्दावली के प्रयोग की भिन्नता में निहित है। किन्तु प्रश्न यह है कि लिपि एवं शब्दावली का भाषा की दृष्टि से क्या महत्त्व है ?

जहाँ तक लिपि का प्रश्न है, सभी विद्वान् एकमत हैं कि लिपि एवं भाषा का कोई तार्किक एवं गहरा सम्बन्ध नहीं है। इसका सबसे प्रमुख कारण यह है कि लिखना भाषा नहीं है, अपितु भाषा को दृश्य वर्णों के माध्यम से लेखबद्ध करने का एक प्रयत्न-मात्र है। जिस प्रकार एक मनुष्य के अनेक प्रकार के चित्र लेने पर भी 'मनुष्य' वही रहता है, उसी तरह एक भाषा को अनेक लिपियों में लेखबद्ध करने पर भी 'भाषा' वही रहेगी। अत्यन्त ऊपरी एवं बाहरी सतह से ही देखने पर लगेगा कि ये विविध भाषाएँ हैं, जबकि 'भाषा' वही होगी, उसको लेखबद्ध करने वाली लिपियों में अन्तर होगा। उदाहरण के रूप में जापान में लिखने की तीन प्रणालियाँ हैं तथा वहाँ चौथी का विकास हो रहा है। एक ही भाषा को चारों लिपियों में लिखा जाता है, अन्तर भाषा में नहीं आता, लिपियों के स्तर पर होता है।

इसी प्रकार शब्दावली का भी किसी भाषा में उतना महत्त्व नहीं होता, जितना उसके गठन का होता है। उसका सबसे अधिक स्थिर एवं प्राण-तत्त्व उसका व्याकरणात्मक गठन होता है। किसी भाषा में नई शब्दावली बड़ी सरलता से प्रविष्ट होती रहती है और भाषा से वह लुप्त भी होती रहती है। किसी भाषा के गठन में दूसरी भाषा के शब्दों के प्रयोग से, वह उच्चार या वाक्य दूसरी भाषा का नहीं हो जाता है। यथा—“मैं मार्कीट जाऊँगा” वाक्य हिन्दी का ही कहलाएगा, यद्यपि इसमें 'मार्कीट' शब्द अंग्रेजी का है। इस प्रकार शब्दावली भाषा के मूल संघटकों में सबसे कम महत्वपूर्ण तथा सबसे कम स्थायी होती है। (हालाँकि जनसाधारण को भाषा के नाम पर उसका सबसे महत्वपूर्ण अंग उसकी शब्दावली ही लगती है।)

इस प्रकार अत्यन्त बाह्य दृष्टि से देखने पर उर्दू हिन्दी से भले ही भिन्न प्रतीत होती हो, किन्तु संघटना एवं गठन की समानता होने के कारण भाषा के घरातल पर उर्दू हिन्दी की एक बोली है तथा साहित्यिक दृष्टि से यह हिन्दी की विशिष्ट शैली है। सम्पादकीय में 'शैली' के आगे आश्चर्यबोधक चिह्न (!) का प्रयोग किया गया है (दे० पृ० ३)। इस प्रकार के आश्चर्य को, भाषा और शैली के अन्तर को बोधगम्य

१४२ : भाषा-पूना

करके दूर किया जा सकता है।

हिन्दी-क्षेत्र के मूर्द्धन्य भाषा-शास्त्रियों ने आज से कई वर्ष पहले यह वैज्ञानिक मत प्रतिपादित कर दिया था कि उर्दू हिन्दी से भिन्न भाषा नहीं है, वह एक बोली मात्र है।

यदि किसी को हिन्दी-भाषी क्षेत्र के भाषा-वैज्ञानिकों के मतों में संकीर्ण राष्ट्रवादी (Chauvinist) दृष्टिकोण के दर्शन होते हों, तो उसके लिए बंगाली-भाषी डॉ० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या का यह मत द्रष्टव्य है—

“...‘हिन्दुस्थानी’ एक बहुत पीछे का बना हुआ तथा विलुप्त शब्द है। एक विशुद्ध फ़ारसी शब्द के रूप में उसका मतलब धीरे-धीरे हिन्दी के मुसलमानी रूप उर्दू के सदृश ऐसी भाषा में लिया जाने लगा, जो फ़ारसी-अरबी शब्दावली से लदी हो तथा जिसमें हिन्दी एवं संस्कृत उपादानों को स्थान यथासम्भव नहीं दिया गया।”

यदि भाषा-वैज्ञानिकों के मतों की अपेक्षा किसी को प्रगतिशील आलोचक की बात ही भाती हो, तो वह डॉ० रामविलास शर्मा की ‘भाषा और समाज’ के पृ० ३०४ को पढ़ सकता है।

अन्त में हिन्दी के लेखक और आन्दोलनकारी नेताओं के अन्तःमन में क्या है, यह तो बताने का मैं दावा नहीं कर करता (हो सकता है कि मेरी अपेक्षा सम्पादक का उनसे अधिक घनिष्ठ परिचय एवं सम्पर्क हो); किन्तु इस सम्पादकीय के लेखक से यह अवश्य चाहूँगा कि वे अपने अन्तःमन को टटोलकर अवश्य देख लें। मैं ऐसा परामर्श, सम्पादकीय में अभिव्यक्त कई आपत्तिजनक अंशों को पढ़ने के बाद दे रहा हूँ। उनमें से उदाहरणार्थ एक अंश को यहाँ उद्धृत किया जा सकता है—

“देश के औद्योगीकरण के साथ-साथ विभिन्न प्रदेशों की अल्पसंख्यक जातियाँ शनैः-शनैः अपने राष्ट्रीय अस्तित्व के प्रति जागरूक होती जायँगी..... जिसका राज उसकी भाषा में विश्वास रखने वाले प्रभुतासम्पन्न हिन्दीवादी उन्हें दबाएँगे और हर बार सड़कों पर खून बहेगा.....” (पृ० ५)

डॉ० विश्वम्भरनाथ उपाध्याय

“शतरंज के मोहरे” : “बूँद और समुद्र”

‘शतरंज के मोहरे’ और ‘बूँद और समुद्र’ श्री अमृतलाल नागर की कला के उत्तमांश को प्रस्तुत करते हैं अतः उनके पुनः मूल्यांकन का कार्य महत्त्वपूर्ण है। पिछले दशक की औपन्यासिक रचनाओं में ‘बूँद और समुद्र’ चर्चा और प्रशंसा का विषय रहा है, एशिया के एक प्रमुख देश के एक प्रतिनिधि ने उसे पुरस्कृत भी किया है।

१. शतरंज के मोहरे— श्री अमृतलाल नागर, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, १९५६ ई०।

२. बूँद और समुद्र— “ ” किताब महल, इलाहाबाद, १९५६ ई०।

प्रथम उपन्यास में १८२० ई० के कुछ पूर्व-काल से १८३७ ई० तक का लखनऊ का नक्शा खींचा गया है और लखनऊ के नवाबी-युग के चित्रण के माध्यम से शतरंज की सत्तावन की राजक्रान्ति के पूर्व के भारतवर्ष का एक प्रतिनिधि चित्र भी प्रस्तुत किया गया है। द्वितीय उपन्यास में लखनऊ के समसामयिक सामाजिक जीवन की झाँकी सजाई गई है। इस रचना में भारतवर्ष के वास्तविक स्वरूप के उद्घाटन की प्रवृत्ति प्रमुख है अर्थात् यहाँ भी लखनऊ का यथावत् चित्रण होने पर भी वह माध्यम ही है अतः आंचलिकता के पूर्ण स्पर्श के होने पर भी लेखक के सम्मुख प्रयुक्त व्यापक प्रयोजनों और समस्याओं का समूह है, यही कारण है कि इन उपन्यासों की एकप्रदेशीयता दृष्टि को संकुचित न कर, उसे इस देश की ओर इसलिए एक सीमा तक सर्वदेशों की अनेक मूलभूत उलझनों और समाधानों से आविष्ट कर लेती है।

नागरजी हिन्दी के एक प्रमुख उपन्यासकार हैं, उनका अपना एक विशिष्ट स्थान है, वह हिन्दी की प्रेमचन्द्रीय परम्परा को अग्रसर करके उसे बहुआयामी और समृद्ध करने वाले कलाकार हैं। साधारण जनता के विभिन्न वर्गों से प्रतिनिधि चरित्र चुनकर उनकी चेष्टाओं, हावभावों, बोल-चाल, मानसिक संघर्षों, उल्लासों और विशिष्टताओं को यथावत् प्रस्तुत करने में वे अद्वितीय कथाकार हैं। यह उपलब्धि ही वस्तुतः उन्हें दूसरे कलाकारों से अलग करती है, यही तत्त्व भेदक-तत्त्व है, जिससे पाठक अन्य रचनाकारों में उन्हें सरलता के साथ पहचान लेता है।

नागरजी की यह विशिष्टता उनके उक्त दोनों उपन्यासों में सर्वाधिक रूप से व्यक्त हुई है, विशेषकर ‘बूंद और समुद्र’ में। ‘शतरंज के मोहरे’ में नन्दा, रस्तम और वसीटे की बातचीत; शिवबरन महाराज और फतेह अली की अम्मा का रोचक संवाद और चेष्टाएँ, मुनियाँ की अदाएँ और उसका दूतीत्व; सुलखिया और बादशाह गाजी-उद्दीन के वात्सलाप; भूरे खाँ, टुण्डे; वेनीकवि; ठाकुर दिग्विजय; कुलसुम, नईमखाँ, गत्यू खाँ, शिवनन्दन सिंह, घनियाँ, गफूरिन, दुलारी, डी-रसेट, राजा गालिव जंग और बादशाह नसीरुद्दीन के क्रियाकलाप और संलाप उन्नीसवीं सताब्दी के नवाबी जमाने का एक ऐसा सवाक् चित्र प्रस्तुत करते हैं, कि उस युग के आचार-विचार, भाषा के लहजे, आशा, आकांक्षाएँ, संघर्ष-सहयोग, उन्नति-पतन—गरज कि तात्कालिक सारा जीवन हमारी आँखों के सम्मुख एक पूरा रंगमंच ही उपस्थित कर देता है।

इसी प्रकार ‘बूंद और समुद्र’ में आज के नेता-वर्ग के सालिगराम, जानकी-शरण, राजा साहब, परम्पराग्रस्त समाज के रूपदर्शन के लिए ताई, नन्दो, हिन्दू समाज में गुप्त व्यभिचार के पर्दाफाश करने के लिए ‘बड़ी’ और ‘बोरेश’ कवि; जगदम्बा और उनकी ‘बहू’; प्रगतिशील नवयुवकों के चित्रण के लिए सज्जन; कर्नल (नगीन चन्द्र जैन); और वनकन्या; बुद्धिवादियों के अन्तर्विरोध दिखाने के लिए महिपाल और सज्जन; भारतीय सन्तों की ‘पहुँच’ और सेवाभाव प्रस्तुत करने के लिए बाबू रामजी-दास; पुजारियों के प्रतिनिधि ‘भितरिया जी’; ‘सेठ-नेताओं’ के प्रतिनिधि रूपरतन; गृहिणी-वर्ग की प्रतिनिधि कल्याणी, और लखनऊ के आज के लेखकों में यशपाल,

भगवतीचरण वर्मा और स्वयं नागरजी भी अंकित किये गए हैं। लखनऊ के प्रभाव-शाली वर्तते-बिगड़ते उच्च वर्ग और सामान्य जनता के अनेक व्यवसायों से 'टिपिकल' चरित्रों को चुनकर उनकी बोली-वाणी और चेष्टाओं का पूरा महासागर ही सामने लाकर लेखक ने व्यक्ति—बूंदों के सपनों और यथार्थ का; उनके परस्पर सम्बन्ध और विरोध का एक—विराट् चलचित्र ही निर्मित किया है, जिसका एक महत् उद्देश्य यह भी है कि हम अपने समाज और देश की वास्तविक छवि और कुत्सा देख लें और उससे सबक लें।

नागरजी की दूसरी उपलब्धि है; आकर्षक चरित्रों की सृष्टि। नागरजी प्रेमचन्द जी की तरह जिन्दगी की गहरी छानबीन करते हैं और बनावटी पात्रों की सृष्टि से बचते हैं। किसी पूर्वधारणा या विचार को वह पात्ररचना का मूलधार नहीं बनाते जैसा कि अस्तित्ववादी लेखकों में प्रायः पाया जाता है। ज्यों पॉल सार्त्र के पात्र अजीबोगरीब पात्र हैं, उनका 'एज आफ रीजन' का 'मैथ्यू' लेखक की विचारधारा को मूर्त रूप देने के लिए निर्मित किया गया है, 'इंटीमेसी' की नायिका का भी यही हाल है। किसी दर्शन का यह पात्रीकरण नागरजी को नहीं रुचता। वस्तुतः यह प्रवृत्ति हिन्दी में भी अपने ढंग से प्रचलित है; अज्ञेय, जैनेन्द्र, इलाचन्द जोशी के मनोवैज्ञानिक और दार्शनिक उपन्यासों (नदी के द्वीप, अपने-अपने अजनबी, संन्यासी, सुनीता आदि) में विचार प्रमुख है, जीवन्त और वास्तविक पात्र-रचना गौण; इधर की कहानियों और उपन्यासों ('खाली कुर्सी की आत्मा') में भी यही प्रवृत्ति है किन्तु नागरजी क्लासिकल यथार्थवादी परम्परा के लेखक हैं, उनके लिए जीवन प्रमुख है, परिस्थितियाँ प्रधान हैं और उनमें जन्म लेने और विकसित होने वाले पात्र अपनी अपनी परिधि के अनुकूल अपने विचारों, भावों और कल्पनाओं का विकास करते हैं, अतः नागरजी के उपन्यासों में समाजशास्त्र का उपन्यासीकरण मिलता है जबकि 'नवीन' कहे जाने वाले उपन्यासों में उपन्यास का दार्शनिकीकरण ही प्रमुख होता जा रहा है।

पात्र के आन्तरिक जीवन में उतरकर उसकी चेतनधारा के तमाम चढ़ाव-उतारों का अंकन प्रेमचन्द और प्रसाद-युग से ही प्रारम्भ हो गया था, नागरजी में इस प्रवृत्ति का एक विशिष्ट रूप मिलता है। नागरजी पात्रों की संकटकालीन स्थितियों के कुशल चित्रकार हैं। ऐसी स्थितियों में एक वह स्थिति होती है, जब पात्र अपनी और जमाने की उलझनों में ऐसा ग्रस्त हो जाता है, कि उससे बाहर निकलने का कोई उपाय ही नज़र नहीं आता। ऐसी स्थिति में पात्रों की टूटन, घुटन, और छटपटाहट को लेखक बड़ी सावधानी और अंतर्दृष्टि के साथ चित्रित करता है। 'शतरंज के मोहरे' में गाज़ीउद्दीन हैदर और सुलखिया की बातचीत के प्रसंग में पराजित और भीतर से टूटे हुए बादशाह हैदर की अवसादग्रस्त स्थिति बड़ी पहुँची हुई नज़र से देखी गई है :—

“सुलखिया की सहज दर्द में डूबी हुई मिठास-भरी सुरीली आवाज़ में गाज़ी-उद्दीन के प्राणों में सिहरन और गूँज भर गई। बाज़ के पीछा करने पर असीम आकाश को अपने निहं परों से नापते हुए एक छोटा पंछी जब घायल और चूर-चूर होकर हर

तब से लाचार ओर बेसहारा हो गया और तब मानो अचानक उसे किसी के दामा की ज़ाँव मिल गईः...सहारा अजब चीज है...गहरे पाताल तक गहरे खड्डों में नुकीली वृष्टानों से टकराता इनसान का मन जब बेपनाह गिरता ही चला जाता है, तब कभी-कभी, उसे यह सोचकर भी चैन मिल जाता है कि “अरे अभी पाताल पुष्पसे बहुत नीचे है...मैं हवा में ठहरा हूँ, सूनेपन ने मुझे थाम लिया है” (पृष्ठ ६८) ।

यह टूटन और अवसाद दर्शनजन्य नहीं है, परिस्थितिजन्य है अतः लेखक विचार को पात्र पर आरोपित नहीं करता, किस दशा में मन में किस तरह के विचार और भाव पैदा होते हैं, इस बिन्दु पर उसका ध्यान रहता है । अंग्रेजों के छलकपट-भरे राजनीतिक पाश के क्रमशः कड़े पड़ते जाने वाले युग में नवाबों की इस ‘टूटन’ को गाजीउद्दीन और नसीरुद्दीन की टूटन के माध्यम से दिखाकर लेखक उस युग की स्थिति को पाठक के मन में उतारने में सफल हो जाता है ।

विषम परिस्थिति में पड़ने पर मन के अन्तर्द्वन्द्वों की यह अंकनविधि नागरजी ने ‘बूंद और समुद्र’ में भी प्रयुक्त की है । सज्जन और महिपाल के अन्तर्दाहात्मक प्रसंग इस उपन्यास में अनेक हैं और यहाँ नागरजी की अन्तरवलोकन सामर्थ्य प्रमाणित होती है किन्तु सर्वाधिक गहराई वहीं है, जहाँ वातावरण वैषम्य के कारण कोई मानसिक संकट है, नैतिक-अनैतिक, कर्तव्य-अकर्तव्य आदि की टकराहट है । ऐसी ‘क्राइसिस’ के समय ही नागरजी मानवीय मूल्यों का शोधन करते हैं । ‘शतरंज के मोहरे’ में तो एक असफल युग के पात्र हैं अतः वहाँ एकाकीपन और घुटन के क्षणों से नायक निकल नहीं पाते किन्तु ‘बूंद और समुद्र’ में ‘सज्जन’ जैसे पात्र अपनी ‘क्राइसिस’ से बड़ी ही सावधानी और सहज गति से बचा लिए गए हैं, ‘महिपाल’ की आत्म-हत्या के बावजूद वह अपने अन्तिम पत्र में अपराध-स्वीकृति के नैतिक साहस द्वारा अपने युगसंकट को परिभाषित करता हुआ मरता है :—

‘जो समाज-व्यवस्था मेरे-जैसे जागरूक व्यक्ति को अभावग्रस्त बनाकर यों जीते-जी मार सकती है, वह अधिकतर अचेतावस्था में, जड़ संस्कारों में पलने वाले समाज को क्यों न पतन के उस गर्त में गिरा दे, जिसकी भयानकता से भरे विविध समाचार आप अपने पत्रों में छापते हैं ।’

इस यथार्थ को सामने लाने के लिए ही महिपाल के चरित्र की सृष्टि की गई है, तभी यह उक्त वक्तव्य आरोपित नहीं लगता न प्रचारात्मक लगता है, लगता है कि उक्त निर्णय के लिए लेखक ने धीरज के साथ परिस्थिति और मन के विविध आयामों को, विविध उत्थान-पतनों को परखा है और तब एक वैज्ञानिक की तरह अंत में उक्त निष्कर्ष को प्राप्त किया है । अतः पात्रों का अन्तःसंघर्ष भी बनावटी नहीं लगता ।

नागरजी इस ‘क्राइसिस’ के ही सफल द्रष्टा नहीं हैं, वह साथ ही ऐसे कर्मठ पात्रों के भी स्रष्टा हैं जो उलझनों में न पड़कर स्वभाव से ही कर्मवादी हैं; ऐसे पात्रों को कोई मानसिक व्याधि नहीं दिखाई जाती, वे सर्वदा शुभ पक्ष के लिए संघर्ष करते हैं । मनोवैज्ञानिक शब्दों में हम इन्हें अपेक्षाकृत अधिक ‘नामल’ पात्र कह सकते हैं,

जैसे 'शतरंज के मोहरे' में दिग्विजयसिंह और 'बूंद और समुद्र' में कर्नल। इनमें प्रथम में प्रश्नाकुलता है साधकों-जैसी पर वह शीघ्र निर्णय में बाधक नहीं बनती और कर्नल तो इस प्रश्नाकुलता से भी मुक्त हैं, वह जैसे बुद्धिवादियों के अनिर्णय और 'मूडी' स्वभाव के विपरीत एक स्वस्थ नागरिकों का प्रतिनिधि पात्र है और विशेषतः यह है कि कर्नल के सहारे ही सज्जन, कन्या, महिपाल आदि अपने को और समाज को पहचान पाते हैं। अपने को पहचानने की यह विधि नागरजी ने सफलता के साथ अंकित की है और बल इस बात पर है कि प्रत्यभिज्ञा के लिए कर्म अनिवार्य है, तभी बाबा रामजीदास सभी पर छाए लगते हैं। इस प्रकार आदर्शवाद (अध्यात्मवाद) और यथार्थवाद दोनों का श्रेष्ठांश निचोड़कर बाबा रामजीदास और कन्या-जैसे पात्र रचने में लेखक की सफलता मिली है।

तीसरी कोटि में सामान्य पात्रों को कभी सौन्दर्यबोधवात्मक दृष्टि से देखकर और कभी समाजशास्त्रीय दृष्टि से देखकर चित्रित किया गया है, गली-कूचों के पात्र, हलवाई, बजाज, नौकर-चाकर, दलाल, बनियाँ-बक्काल, पुरोहित-पण्डित, आदि पात्र इसी कोटि में आते हैं। ऐसे स्थलों में दो बातों पर बल दिया गया है; प्रथम यह कि यह जनता इस प्रकार की इसलिए है कि वह परिस्थितियों की उपज है और परिस्थितियाँ बदलने के लिए ऐतिहासिक शक्तियों की पहचान आवश्यक है। दूसरी बात यह है कि सामान्य जनता में कुछ बातें ऐसी हैं जो बुद्धिजीवियों में नहीं मिलती—अगोपनीय व्यवहार; एक विशेष प्रकार का भोलापन, सहज उल्लास और ग्रन्थिहीनता। प्रमुख पात्रों की क्रियाओं के प्रति प्रतिक्रिया व्यक्त करने के लिए साधारण पात्रों की बोलचाल का उपयोग किया गया है, साथ ही स्थानीय रंग भरने का अवसर भी लेखक ने हाथ से नहीं जाने दिया और यह प्रसिद्ध तथ्य है कि साधारण व्यक्तियों को उनके स्थानीय सन्दर्भ में अंकित करने का गुण नागरजी में सबसे अधिक है।

नागरजी अपने पात्रों तक इतिहास के सहारे से भी पहुँचते हैं, 'शतरंज के मोहरे' को तो ऐतिहासिक उपन्यास भी कहा जा सकता है किन्तु 'बूंद और समुद्र' में भी प्रत्येक पग पर उनकी इतिहास और समाज-चेतना व्यक्त हुई है, यह दो प्रकार से सम्भव हुआ है। नागरजी के मन में भारतीय इतिहास को प्रगतिवादी इतिहास-दर्शन के आलोक में समझने की प्रबल आकांक्षा है अतः उनके सम्मुख सामन्तवादी भारत (शतरंज के मोहरे) और महाजनी जनतन्त्र (बूंद और समुद्र) को रूपायित करने का कार्य अति महत्वपूर्ण रहा है। अतः 'वर्ग दर्शन' के आधार पर उन्होंने पात्र रचे हैं, तभी पात्र विचारों के पुतलें न बनकर विभिन्न समूहों के प्रतिनिधि बन गए हैं। दूसरे वह पात्रों के अध्ययन के माध्यम से इस देश के स्वरूप को समझना-समझाना चाहते हैं तभी महिपाल का प्रायः प्रत्येक चिन्तन मोहनजोदड़ो-हड़प्पा से प्रारम्भ होकर आज के युग तक समाप्त होता है। महिपाल की चिन्तनविधि में नागरजी की चिन्तनविधि को स्पष्ट देखा जा सकता है, यद्यपि अन्त में बुद्धिजीवियों के अन्तर्विरोध का प्रतिनिधि बनाने के लिए उसे वह दुःखद अन्त की ओर ले गए हैं यों महिपाल बिना चोरी किए हुए भी रूपरतन के साथ अवसरवादी समझौता करके 'शकुन्तला' (भांजी) के

विवाह में अपनी शान दिखा सकता था। भारतवर्ष के अन्तर्विरोधग्रस्त रूप को धोखे के लिए ‘ताई’ को ‘भारत माता’ और महिपाल को ‘भारतवर्ष’ कहा गया है और ज्ञान-अज्ञान, दया-निर्दयता, हिंसा-अहिंसा आदि द्वन्द्वों से ग्रस्त भारतीय चेतना का रूप ‘ताई’ और ‘महिपाल’ के माध्यम से प्रस्तुत करने में लेखक को प्रशंसनीय सफलता मिली है। ‘ताई’ यदि भारतीय परम्परा की पहेलीनुमा महिला है तो महिपाल आज के बुद्धिजीवी की उलझी चेतना का संघर्षकारी और सक्रिय प्रतिबिम्ब है।

कुछ चरित्र सार्वभौमिक और अत्यधिक संवेदनशीलता से ओतप्रोत हैं, जैसे शतरंज के मोहरे की कुदसिया बेगम जो वफापरस्ती की अवतार-सी लगती है। चारों ओर फैले हुए दलदल में पड़े, निकलने के प्रयत्न में डूबते, उतराते, छटपटाते युग में कुदसिया बेगम-जैसे पात्र केवल अपनी मानवीय संवेदना के बल पर ही त्याग और दोस्ती की अमर भूमिका अदा करते हैं, वस्तुतः हज़रत कौड़ीशाह और बाबा रामजी-दास इसी मानवीय सहानुभूति पर ही दिव्यदृष्टि पाने के अधिकारी बनाए गए हैं। अत्यधिक ‘संकुल’ चरित्रों के बीच सहज दृष्टि से जीवन के तत्त्व को पा जाने वाले ये पात्र विविधता के साथ हमें संकुलता के भार से मुक्ति दिलाते चलते हैं।

नागरजी के ‘बादशाह’ (दोनों), दुलारी, ठाकुर दिग्विजय कुलमुम; शीला, महिपाल, ताई, बोरेश, सज्जन और कन्या ही नहीं, साधारण पात्र भी पाठक के चित्त में अपनी जगह बना लेते हैं, महिपाल और ताई—विशेषकर ताई तो पिछले दशक का एक बहुत ही आकर्षक चरित्र है, अविस्मरणीय और अनुपम।

नागरजी जनबोलों के उस्ताद हैं किन्तु यह स्मरणीय है कि उक्त दोनों उपन्यासों में—विशेषकर ‘बूंद और समुद्र’ में लेखक इस तरह लिखता है कि जैसे वह अपनी गम्भीर चिन्तना को साधारण और सहज भाषा में व्यक्त करने का प्रयत्न कर रहा हो। पात्रों के संवादों को पढ़ते हुए ‘एकपात्री अभिनय’ जैसा वातावरण बनता है किन्तु विचार करते ही लेखक का यह गूढ़ प्रयोजन भी व्यक्त होता चलता है कि संवाद किसी विशेष सामाजिक मनोदशा के वाचक हैं और यह भी कि उस मनोदशा के क्या कारण हैं, उसमें परिवर्तन के क्या उपाय हैं और उसकी प्रयत्नविधि क्या है। ‘बूंद और समुद्र’ की आयोजना चूँकि विराट् है अतः उसमें लेखक कभी पात्रों की चिन्तन-विधि के रूप में और कभी स्वयं अपनी ओर से स्थिति की सीधी व्याख्या भी करने लगता है किन्तु यदि वह ऐसी व्याख्या नहीं भी करता (और वस्तुतः उपन्यासकला की दृष्टि से ऐसे प्रसंग ऊपर से लादे गए प्रतीत होते हैं, यों वे शिक्षाप्रद हैं) तो भी यह उपन्यास अपना मन्तव्य जागरूक पाठक पर प्रकट कर देता है। वस्तुतः नागरजी जैसा सामूहिक जनमानस का कुशल शिल्पी जब गली-महल्लों की बोली के लहजे में बात करता है तब वह सर्वदा सोद्देश्य होता है, इसे न समझने के कारण ही प्रायः नागरजी के परिहासों को केवल मज़ाक समझ लेने का भ्रम हो जाता है, बहुतों को हुआ है।

उक्त दोनों उपन्यासों को पढ़ते समय मुझे यह महसूस हुआ है कि नागरजी प्रेमप्रसंगों का गहराई के साथ वर्णन नहीं करना चाहते अथवा यह कि वह कर नहीं पाते। त्यागमय प्रेम के प्रसंग में कुदसिया बेगम की तसवीर सफल है पर उसमें

शीघ्रता है। 'बूंद और समुद्र' में सज्जन और कन्या के संयोगवर्णन में जल्द-जल्द बहस का प्रसंग आ जाता है; यद्यपि वनकन्या एक असाधारण साम्यवादी-तेज से ओज-मयी युवती है परन्तु फिर भी सज्जन से प्रथम दर्शन के प्रसंग में सतही घटनाओं के सन्दर्भ में सतह से नीचे उतरकर अधिक कोमलता के साथ प्रेम-प्रसंग चित्रित होना चाहिए था — इसी प्रकार महिपाल और शीला के परकीया-परकीय प्रेम के चित्रण में तभी स्वाभाविकता आती जब उनकी मृदुल भावनाओं को अधिक महत्व मिलता। कन्या और सज्जन के प्रेम में ऊँचाई तब भी है, किन्तु महिपाल और शीला के प्रेम को पढ़कर तो ऐसा लगता है, कि किसी 'नाजायज ताल्लुक' का विवरणमात्र है, यह शायद लेखक के अत्यधिक नैतिक आग्रह के कारण है।

उपन्यास के उपकरणविन्यास की दृष्टि से देखने पर 'शतरंज के मोहरे' में अधिक गठनशीलता है 'बूंद और समुद्र' में वह गठाव नहीं है, बिखराव है किन्तु लेखक के सम्मुख पूरे भारतीय समाज के समुद्र को चित्रित करने का महा आयोजन है, इसलिए बिखराव से वचना यदि असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है। इसके सिवा इधर के उपन्यासों में बिखराव को गुण माना जाने लगा है। टामस मन के 'मैजिक माउन्टेन' को पढ़कर लगता है जैसे अस्पताल की रिपोर्ट हो लेकिन फिर भी सारे अनावश्यक-से लगने वाले विवरण साभिप्राय हैं, क्योंकि आधुनिक सभ्यता विशेषकर पश्चिमी योरोप की पतनशील महाजनी सभ्यता क्या एक अस्पताल-जैसी ही नहीं है? दो-दो युद्धों के रोग से विकृत यूरोपीय चेतना के लिए अस्पताल का प्रतीक सचमुच सार्थक है। 'बूंद और समुद्र' में ऐसी प्रतीकात्मकता नहीं है किन्तु इस कृति के पात्र क्या सचमुच भारतीय जीवन की कुण्ठा, कुत्सा, दरिद्रता और अज्ञान के प्रतीक नहीं हैं? यदि हैं तो बिखराव के बिना इतने अधिक पात्रों, आन्दोलनों, पार्टियों, आपाधापियों और सवाल-जवाबों को कैसे चित्रित किया जा सकता था? विराट् और व्यापक रचनाओं में बिखराव से वचना वस्तुतः एक समस्या है इसका उचित समाधान नहीं मिल पाता। दास्तावस्की के 'ब्रदर्स कारमाजोव' में, ज्यॉपाल सार्त्र की 'त्रयी' (एज आफ रीजन, रिप्रिंव आदि), में ही नहीं, प्राचीन महाकाव्यों तक में बिखराव से वचना कठिन हो गया है। वाल्मीकि रामायण अधिक सुगठित रचना है किन्तु महाभारत अधिक महान् रचना है और महाभारत के बिखराव के लिए प्रसिद्ध है। फिर भी आदरणीय नागरजी से यह शिकायत की जा सकती है कि वह चाहते तो अनेक वक्तव्यों से बच सकते थे और उन्हें इस तरह खपा सकते थे कि वह लेखक की घोषणाएँ जैसी न लग पातीं (उपन्यास के अन्त तक में एक भाषण प्रस्तुत कर दिया गया है और अन्त में कहा गया है कि दोनों पति पत्नी (सज्जन : कन्या) अपनी 'आस्था' पर डटे रहेंगे)।

नागरजी स्वयं अपने शब्दों में इतिहास के 'फुटकल सौदागर' हैं, 'होलसेल विक्रेता' नहीं, पर मुझे लगता है कि उनकी तीव्र निरीक्षण-शक्ति ने भारतीय जनमानस के अध्ययन में अनेक तत्व ऐसे जोड़े हैं कि 'बूंद और समुद्र' का उपन्यास ही नहीं, भारतीय समाजशास्त्र और इतिहास की दृष्टि से भी बड़ा महत्व है। इतिहासकारों को यह उपन्यासकार नूतन दृष्टि दे सकता है, यह इस उपन्यास से प्रमाणित है; जैसे लेखक

“शतरंज के मोहरे” : “बूंद और समुद्र” : १४६

का यह निरीक्षण कि भारतवर्ष में विकास के प्रत्येक स्तर की अच्छी-बुरी रीति-रिवाजों, मान्यताओं आदि को छोड़ा नहीं गया, इसलिए सतह पर जहाँ हवाई जहाज और बाल-गाड़ी एक साथ मिलते हैं, उसी तरह यहाँ उच्चतम कोटि का दर्शन और निम्नतम कोटि का अंधविश्वास एक साथ मिलता है। नागरिक संस्कृति की निर्माण-विधि पर भी ‘बूंद और समुद्र’ नवीन आलोक बिखेरता है, और साथ ही हलुआ अरबी भोजन है और यह कि हनुमान आर्य पूर्व-सभ्यता का पूजा-प्रतीक है—इस प्रकार के निरीक्षण भी इस उपन्यास में भरे पड़े हैं, लोक संस्कृति की अतृप्ति व्याख्या भी यहाँ है, वृद्ध-भारतवर्ष में जो भी ग्रहणीय है, वह भी यहाँ है, और वह भी जो त्याज्य है। इस तरह उच्चतम नैतिक बोध की दृष्टि से भी यह उपन्यास पठनीय है। कुछ दार्शनिक सवाल भी उठाये गए हैं, नागरजी ईश्वर, देवता और भारतीय आचारों की बुद्धिसंगत व्याख्या के लिए सर्वत्र प्रस्तुत दिखाई पड़ते हैं, इनसे प्रेरणा किस प्रकार ली जा सकती है, यह भी बताया गया है। एक भी ऐसा पात्र नहीं है जो आत्मविश्वास और अन्तः-प्रेरणा के लिए इन रहस्यमय शक्तियों के बिना उच्चकोटि की नैतिकता का विकास कर सका हो किन्तु वनकन्या अवश्य दिव्य सत्ताओं के बिना ही अपनी निष्ठा पर उठी रहती है, अतः नागरजी इस तथ्य से भी परिचित हैं कि रहस्यमय तत्व सामाजिक चेतना को यथार्थता की भूमि पर नहीं रहने देते। अतः उनके बिना यदि मनुष्य महान् बन सके तो अच्छा है अन्यथा मानव-विकास बुद्धि का पथ छोड़कर स्वयं प्रकाश्यज्ञान पर अधिकाधिक निर्भर होता जाएगा। कभी-कभी लगता है कि नागरजी इस प्रकार की चर्चाओं के द्वारा बोल-बोलकर सोच रहे हैं और अभी किसी निष्कर्ष पर नहीं पहुँचे हैं, ऐसे सवालों के जवाब बहुत सीधे और सफल हो भी नहीं सकते।

यदि नागरजी अट्टारह सौ सत्तावन की राजक्रान्ति के सिलसिले में ‘शतरंज के मोहरे’-जैसे उपन्यास लिखकर आधुनिक युग की पृष्ठभूमि प्रस्तुत न करते तो वह भारतीय जनता की प्रगतिशील चेतना को उभारकर सम्मुख न रख पाते, उदाहरणतः ठाकुर दिग्विजयसिंह जैसे पात्र ही ‘सज्जन’ और ‘कर्नल’ का रूप धारण करते हैं और कौड़ी-शाह बाबा रामजीदास बना दिए जाते हैं। कौड़ीशाह में मानवीय चेतना है, सामाजिक चेतना कम है जब कि बाबा रामजीदास सामाजिक चेतना के माध्यम से ही अपने को पहचानते और सूक्ष्म शक्तियों (टैलीपैथी) को प्राप्त करते हैं। ठाकुर दिग्विजयसिंह कोरे कर्मवादी हैं जब कि सज्जन, कन्या, कर्नल-जैसे पात्र अधिक जागरूक हैं और आज के युग की नाड़ी को समझते हैं। इस प्रकार नागरजी के उक्त दोनों उपन्यासों में सामन्तवाद से लेकर महाजनी जनतन्त्र तक की विकास-भूमि स्पष्ट होकर सम्मुख आ जाती है। महाजनी जनतन्त्र की असंगतियों को सम्मुख लाकर नागरजी एक ऐसी

१. “पाप और पुण्य शब्दों के साथ सोचने वाला व्यक्ति अपनी विचार-शक्ति को सदा के लिए मोथरा बना देता है—इन दोनों ही शब्दों के अर्थ जनसाधारण में कुछ बड़े आउट-ऑफ-डेट चित्रों के साथ रूढ़ हो चुके हैं—पुण्य करनेवाला यानी एवज में आसमानी शक्ति से कुछ पाने के लिए सौदा करने वाला कभी भी सही रिप्ट में परोपकार नहीं कर सकता—यह बड़ा संकीर्ण व्यक्तिवादी दृष्टिकोण है”—(पृष्ठ ५७२)।

१५० आलोचना

सामाजिक व्यवस्था का रचना सम्भव मानते हैं जिसे हम 'स्वदेशी—सूमाजवाद' कह सकते हैं, जिसमें महिपाल के शब्दों में 'साम्यवाद और गांधीवाद' का समन्वय हो, इस पर मतभेद हो सकता है परन्तु लेखक ने आज की फैली हुई निराशा और दम-घोंट क्लिप्तव्यविमूढता के वातावरण में एक रास्ता सुझाया है; उसे संशोधित कर उस प्रार चलना तो पाठकों का काम है; तभी 'बूंद' इस विराट 'समुद्र' में अपने अस्तित्व को सार्थक कर सकती है और 'समुद्र' 'बूंद' की पूर्णता से महापूर्ण बनकर 'समूह' से 'समाज' की संज्ञा पा सकता है !!

लक्ष्मीकान्त शर्मा

'सागर, लहरें और मनुष्य' : एक पुनर्मूल्यांकन

समसामयिक कथा-साहित्य में दो प्रवृत्तियाँ स्पष्टतः परिलक्षित हो रही हैं : एक ओर तो व्यक्तिमूलक मनोविश्लेषणात्मक उपन्यास लिखे जा रहे हैं, तो दूसरी ओर आंचलिक उपन्यासों की भी बाढ़ आ रही है। इसका तात्पर्य यही है कि समसामयिक कथाकार सत्य के दोनों पहलुओं को स्पर्श करके चलना चाहता है। वह मनोविज्ञान से प्रेरित होकर मानव-जीवन की गुत्थियों को सुलझाता है, तो दूसरी ओर लोक-जीवन का भी इस प्रकार का चित्रण करता है कि किसी अंचल-विशेष का जीवन पूर्णतः मुखरित हो सके। आंचलिक उपन्यासों में कुछ नाम, विशेष रूप से लोकप्रिय हुए हैं, 'रेणु' से लगाकर बलभद्र ठाकुर तक यह धारा नये-नये कूलों को स्पर्श करती हुई आगे बढ़ी है। अंग्रेजी साहित्य में जिस प्रकार बैसेक्स के उपन्यासों के रूप में टॉमस हार्डी का नाम प्रख्यात है, उसी प्रकार बिहार के कुछ जिलों के बड़े सजीव चित्र हमें नागार्जुन, फणीश्वरनाथ 'रेणु' और बलभद्र ठाकुर में मिलते हैं। 'सागर, लहरें और मनुष्य' लिखकर श्री उदयशंकर भट्ट ने भी आंचलिक उपन्यास की धारा को समृद्ध किया है।

भट्टजी बहुमुखी प्रतिभा के साहित्यकार हैं; नाटक, कविता और उपन्यास इन दिशाओं में भट्टजी ने विशेष ख्याति अर्जित की है। 'वह जो मैंने देखा', 'नये मोड़', 'शेष-अशेष', 'सागर, लहरें और मनुष्य' उनकी औपन्यासिक-यात्रा के विशिष्ट स्मारक हैं। प्रस्तुत उपन्यास में उन्होंने बम्बई के मच्छीमारों के गाँव 'बरसोवा' के जीवन को विशेष रूप से चित्रित किया है। बरसोवा के आंचलिक जीवन की झाँकी उस रूप में तो नहीं मिलती, जिस रूप में 'रेणु' के 'मैला आंचल' में या नागार्जुन के 'बलचनमा' में किन्तु इस कृति में हम आंचलिक प्रवृत्ति की पृष्ठभूमि में व्यक्तिमूलक जीवन-दर्शन के चित्रण की प्रवृत्ति भी पाते हैं। वस्तुतः 'सागर, लहरें और मनुष्य' की कहानी रत्ना, माणिक, यशवन्त और पांडुरंग की कहानी है।

कथा-शिल्प की दृष्टि से भट्टजी ने इस उपन्यास को कुछ प्रयोगात्मक रूप भी देने की चेष्टा की है। पहले वे रत्ना के जीवन का दिग्दर्शन कराते हैं, उसके बाद

“सागर, लहरें और मनुष्य” : एक पुनर्मूल्यांकन : १५१

माणिक के जीवन का। इससे यही सिद्ध होता है कि वे विभिन्न पात्रों के जीवन पर अनेक कोणों से प्रकाश डालना चाहते हैं। रत्ना के प्रकरण में आया हुआ माणिक कुछ और है और उससे असंपृक्त रहकर अपने स्वतन्त्र जीवन का ताना-बाना बुनता हुआ माणिक कुछ और है। कथा-सौष्ठव की दृष्टि से परम्परागत उपन्यासों की जो प्रवृत्तियाँ होती हैं, उससे यह उपन्यास कुछ भिन्न है। इसे वर्तमान प्रयोगशील प्रवृत्ति का प्रतिबिम्ब हम कह सकते हैं। कथावस्तु पर्याप्त रोचक एवं वैविध्यपूर्ण है। जीवन के अनेक तटों को स्पर्श करती हुई यह कथा अपनी अंतिम परिणति में पाठक को विस्मय-विभुग्ध कर लेती है। बरसोवा में मच्छीमारों का जीवन अनेक प्रकार की विचित्रताएँ लेकर उभरता है। बंशी और बिट्टल के परिवार में एक ऐसी लड़की उत्पन्न हुई है, जिसे आधुनिक शिक्षा प्राप्त करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। वह एफ़० ए० तक शिक्षा प्राप्त करते हुए पहुँच जाती है, पर बी० ए० करने का उसका स्वप्न, स्वप्न ही बना रहता है, क्योंकि बम्बई के जीवन की चमक-दमक, ऊपरी ठाठ-बाट और विलक्षणतापूर्ण जीवन, रत्ना को इस बुरी तरह अपनी ओर खींच लेते हैं कि वह माणिक को पति-रूप में स्वीकार करने के लिये विवश होती है, क्योंकि इसी सेतु के माध्यम से वह अपने जीवन के आकांक्ष्य को प्राप्त कर सकेगी। यशवन्त, जो कि एक मच्छीमार युवक है, और शारीरिक दृष्टि से हृष्ट-पुष्ट है, वह रत्ना के आकर्षण का केन्द्र-बिन्दु नहीं बन पाता। माणिक के द्वारा ठगी जाने पर रत्ना का विद्रोही व्यक्तित्व विक्षोभ से आप्ला-वित होता है और वह उसका परित्याग करके नई दिशाओं की ओर उन्मुख होती है। अपनी सखी सारिका के यहाँ उसे एक ऐसे व्यक्ति की झलक मिलती है, जो सम्भवतः रत्ना को उसके स्वप्न के संसार में पहुँचा सके। यह व्यक्ति है धीरूवाला, किन्तु यह भी रत्ना के साथ छल करता है और अन्त में प्रताड़िता एवं घषिता रत्ना को डाक्टर पांडुरंग के कर्तव्य-परायण एवं मानवीय व्यक्तित्व में अन्तिम आश्रय मिलता है, जैसे एक विक्षिप्त एवं उन्मादग्रस्त सरिता, अन्त में महासमुद्र को पा गई हो और तब हम देखते हैं कि ‘मोहग्रस्त रत्ना डाक्टर के उड़ते हुए वालों से अपने सपने बुनने लगती है।’

आँचलिक उपन्यास होते हुए भी ‘सागर, लहरें और मनुष्य’ मूलतः रत्ना के संघर्षों एवं आपदाओं की कहानी है। यह ठीक है कि प्रस्तुत उपन्यास में यत्र-तत्र-सर्वत्र आँचलिक जीवन भी झाँकता है, पर उसके आकर्षण का शीर्ष-आलोक है रत्ना का व्यक्तित्व। ऐसा प्रतीत होता है कि लेखक ने अपने युग की दो विरोधी औपन्यासिक प्रवृत्तियों में जैसे सामंजस्य ढूँढ़ने की चेष्टा की है और किसी हद तक वह अपने प्रयत्न में सफल भी हुआ है। किन्तु उभयमुखी प्रवृत्ति होने के कारण वह न तो बरसोवा के आँचलिक जीवन के प्रति ही न्याय कर पाया है और न रत्ना के मन में लरजते हुए तूफानी जीवन को ही पूर्णतः व्यक्त कर पाया है। लेखक की औपन्यासिक कला की यही इयत्ता है। उपन्यास का आरम्भ सामुद्रिक वातावरण की गहनता से परिपूर्ण है। तूफान का बड़ा मार्मिक वर्णन लेखक ने प्रस्तुत किया है। गरजता हुआ, समुद्र और उसके किनारे लाशों से पटे होना, बरसोवा में मछलियों का सुखाया जाना, इकट्ठा

१५२ : आलोचना

किया जाना और फिर उन्हें बेचने के लिए जाना—यही प्रधान व्यवसाय है बरसोवा के निवासियों का। इन लोगों के लिए समुद्र कोई भयानक वस्तु नहीं है, जैसे कोई स्वाभाविक रूप में पृथ्वी पर विचरण करता है, वैसे ही ये लोग भी समुद्र में आते-जाते हैं। रत्ना जब समुद्री-जीवन की विचित्रताओं को अपनी सखी सारिका पर प्रकट करती है, तो वह यही कहती है, 'बड़ा जोखिम का काम है ! क्या तू भी कभी समुद्र में गई है ?' वास्तव में इसी प्रकार की जिज्ञासा और कौतूहल का निर्वाह उपन्यास के अन्त तक बना रहता है। माणिक के प्रकरण में हम दुर्गा नाम की एक ऐसी नारी से परिचित होते हैं, जो भारतीय पातिव्रत्य का उज्ज्वल उदाहरण कही जा सकती है। उसकी पीड़ा, आत्मबलिदान पाठक के मन को काफी हद तक प्रभावित करते हैं और जब हम दुर्गा के मुख पर यौवन, गम्भीरता, आत्मनिर्भरता और विश्वास से परिपूर्ण एक नवीन कान्ति, नई आभा देखते हैं, तो सहज ही रत्ना से उसकी तुलना करने को जी चाहता है। रत्ना यदि बरसोवा के विद्रोही जीवन का प्रतिनिधित्व करती है, तो दुर्गा आत्मबलिदान-पूर्ण जीवन की आभा से अनुरजित है। रत्ना, दुर्गा और सारिका—यह एक ऐसी त्रिवेणी है, जिससे हम नारी-जीवन के विभिन्न पहलुओं को समझ सकते हैं। बंशी और इट्टा का जीवन-चित्रण भी कम कौतूहल-पूर्ण नहीं है। इसी प्रकार बिट्टल, जागला और यशवन्त भी बरसोवा के मच्छीमार पुरुषों का पूर्ण प्रतिनिधित्व करते हैं। इनके चित्रण को देखकर ऐसा लगता है जैसे वे वैयक्तिक पात्र न हों, बल्कि बरसोवा के आंचलिक जीवन के 'टाईप' हों। 'रेणु' के आंचलिक उपन्यासों की तरह इसमें व्यक्तियों की भीड़ तो नहीं, पर आंचलिक उपन्यास होने के कारण पात्रों की संख्या पर्याप्त है और वे विभिन्न जीवन-रूपों का प्रतिनिधित्व करते हैं। यथार्थ के पुतलों के साथ-साथ हम आदर्श के पुतलों को भी अपनी दृष्टि में समाविष्ट करते हैं। उपन्यास के अन्त में डाक्टर पांडुरंग अपने मोहक व्यक्तित्व से हमारा ध्यान रत्ना की ही तरह खींच लेते हैं और इससे पूर्व कि उनके व्यक्तित्व की विभिन्न पतें खुलें, उपन्यास समाप्त हो जाता है। पाठक के मन में कुछ इस प्रकार की प्रतिक्रिया होती है कि पांडुरंग और रत्ना को लेकर कुछ और लिखा जाना चाहिए था, पर पाठक की इसी अतृप्ति में ही उपन्यास का कलात्मक लाघव निहित है, क्योंकि इससे पाठक की कल्पना को पर्याप्त उत्तेजना मिलती है।

आंचलिक उपन्यास होने के कारण भट्टजी ने विभिन्न पात्रों से बम्बईया हिन्दी में ही बात करवाई है, जो कि बड़ी मामूली और पुरानसर है। इस प्रकार के सम्वादों में वक्ता का मानसिक व्यक्तित्व पूर्ण रूप से झलकता है। ऐसा प्रतीत होता है कि वे बरसोवा के निवासियों के निकट सम्पर्क में रहे हैं और उन्होंने उनकी बात-चीत के ढंग को बड़ी बारीकी से सुना है। अनेक स्थानों पर उपन्यास के पात्र ऐसी शब्दावली का प्रयोग करते हैं, जो कि बरसोवा के स्थानीय रंग की दृष्टि से बड़ी उपयुक्त है। उपर्युक्त तथ्य की पुष्टि के लिए निम्नलिखित उदाहरण पर्याप्त होंगे :—

१. "हम तेरा क्या किया दुर्गा ? घर का सारा काम छोड़कर तेरी सेवा करता

“सागर, लहरें और मनुष्य” : एक पुनर्मूल्यांकन : १५३

है। ऊपर से तू नाराज होताय। मत बोल, हम नई आयेगा।” थोड़ी देर बाद फिर बोली, “समजा, जैसे हमने इसका मालिक कू हर लियाया। आखीं दिन काम करता-करता कमर टूट जाताय तो रात कू खिलाता-पिलाता जरा नींद आ गया तो इसने समजा हम बदमाश हो गयाय। दुनियाँ कितना खराब है? हमारा छोकरी ई हमरा अपरशक करता है।” इतना कहकर गूगी फफक-फफक कर रोने लगी। (पृष्ठ-१५६)

२. पुलिस का नाम सुनकर इट्टा डर से काँपने लगी। उसने निहोरा करते हुए कहा, “तुमने मुझ कू रोग से भूखा मरने कू क्यों बचाया वंशी बाय। क्या करेगा, मग काम नई मिलताय।”

“काय जागला हे न !”

“हा, जागला एक रात कू दो रूपया दे गया था। पर उससे कितीक दिवस चलने का? आज तीन दिवस से माँ-बेटी दोनों बूकाय।” (पृष्ठ-६०)

इनसे भिन्न उन पात्रों के सम्वाद हैं, जो मध्यवर्गीय हैं और जिनकी नैतिकता की भावना एक आदर्श सोपान पर चढ़ी हुई है। ऐसे उदाहरणों में सारिका का निम्न कथन द्रष्टव्य है :—

सारिका पास आकर कहने लगी, “बुरा मत मानना, रत्ता ! जैसे नदी की मर्यादा उसके दोनों किनारे होते हैं, उसी तरह जो औरत अपने समाज की मर्यादाओं से एक बार निकल जाती है, उसका अन्त नदी की बाढ़ की तरह होता है।”

“पर तू क्या समझती है, बाढ़ से कोई फायदा नहीं होता? इनमें एक भी अच्छा आदमी नहीं हैं, एक भी अच्छी औरत नहीं है?”

“सौ में शायद कोई एक ! शायद वह भी नहीं ! फिर प्रयोग के लिए तो रास्ता खुला है।” (पृष्ठ-२६१)

उपर्युक्त उद्धरणों से यह बात स्पष्ट है कि लेखक का संवाद-कौशल यथार्थ-मूलक है। बम्बईया हिन्दी के प्रयोग में लेखक उतना ही पटु है, जितना कि ‘रेणु’ या तगार्जुन बिहारी के। उपर्युक्त संवाद पात्र की मानसिक स्थिति के शुचि दर्पण हैं।

‘सागर, लहरें और मनुष्य’ को हम वातावरण-प्रधान उपन्यास कह सकते हैं। प्रारम्भ में ही लेखक ने समुद्र के ज्वार-भाटे का सजीव वर्णन प्रस्तुत किया है। माणिक के सामुद्रिक अभियान-विवरण में भी काफ़ी रोमांच, कौतूहल-निर्वाह और रोचकता है। इसे पढ़कर हमें अर्नेस्ट हेमिंग्वे के ‘सागर और मनुष्य’ के नायक की याद हो आई, पर माणिक और उसमें जमीन-आसमान का अन्तर है। बूढ़े का जीवट और माणिक का छल-छद्ममय व्यक्तित्व एक पासंग पर नहीं बैठ सकते। सामुद्रिक-वर्णन की दृष्टि से मट्टजी ने एक नये क्षितिज का ही उद्घाटन किया है।

“हवा आँधी बन गई थी आँधी झंझा। आकाश के एक किनारे से दूसरे किनारे तक गड़गड़ाहट के साथ बिजली काँध जाती, उससे लगता था जैसे समुद्र और आसमान एक हो गए हैं।” (पृष्ठ—१०-११)

“समुद्र में खलबली-सी मच गई। जैसे सारे समुद्र को आँधी की विशाल मथानी से कोई मये डाल रहा हो। आकाश को घने बादलों ने ढक लिया लगता था, जैसे

हमारे ऊपर एक नया सागर उमड़ रहा हो। लहरें उछल-उछलकर 'मचवे' की पट्टियों से टकरातीं अपने क्रोधी मुख से झाग फेंकने लगीं। लहरों को देखकर मालूम होता था जैसे पहाड़ दूर से उड़कर चले आ रहे हों। उस समय हवा की रफतार कम-से-कम डेढ़ सौ मील प्रति घण्टा होगी।" (पृष्ठ—४६)

इस प्रकार के वर्णनों से उपन्यास भरा पड़ा है। जब मच्छीमारों के जीवन को अभिव्यक्ति देनी थी, तो यह स्वाभाविक ही था कि समुद्र अपने दोनों रूपों में—सौम्य और रौद्र—प्रकट हो और पाठक के कौतूहल को एक नये चित्रफलक का आधार दे। इसी दृष्टि से 'कथा के तत्व' के एक निबन्ध में डॉ० देवराज उपाध्याय आलोच्य उपन्यास की प्रथम उपलब्धि मानते हैं : (१) हिन्दी कथा-साहित्य की सामुद्रिक यात्रा, जो आगे चलकर अनेक यात्राओं, हवाई यात्रा इत्यादि का मार्ग प्रशस्त कर सकती है।" (कथा के तत्व : पृष्ठ २०६)

मच्छीमारों की बस्ती बरसोवा के भी अनेक सचित्र-सटीक वर्णन उपन्यास में बिखरे पड़े हैं। मछलियों का वर्गीकरण, उनका सुखाया जाना, उनके काँटे निकालना आदि कितनी ही बातें हैं, जो स्थानीय रंग (लोकल कलर) की दृष्टि से बड़ी मार्क की सिद्ध हुई हैं। इसके अतिरिक्त क्वारंटीन, जहाँ दुर्गा को इलाज के लिये भर्ती किया गया था, का भी बड़ा सजीव वर्णन प्रस्तुत उपन्यास में मिलता है। मृत्यु की विभीषिका, शवों का सफ़ेद कपड़ों में लिपटा होना, सम्बन्धियों की आतुरता-भरी प्रतीक्षा के संश्लिष्ट चित्र निश्चय ही बड़े प्रभावकारी हैं। अन्त में डॉ० पांडुरंग के नेत्र-क्लीनिक का भी, जहाँ उपन्यास की नायिका रत्ना, अन्तिम आश्रय पाती है, बड़ा सजीव एवं हृदयस्पर्शी वर्णन है। क्रिया-रत (मैन-इन-एक्शन) मानवों एवं नारियों के आधिक्य के कारण अनुचित-रत (मैन-इन-कन्टेम्प्लेशन) व्यक्तियों के दर्शन प्रस्तुत उपन्यास में दुर्लभ हैं, फिर भी रत्ना, दुर्गा, बंशी और सारिका, जो कि नारी-जीवन के विभिन्न पक्षों का प्रतिनिधित्व करती हैं, अधिक विचारशील रूप में चित्रित की गई हैं। इनमें नारी-मनोविज्ञान का नितान्त अभाव भी नहीं कहा जा सकता, जैसा कि डॉ० देवराज उपाध्याय प्रस्तुत उपन्यास के सन्दर्भ में सोचते हैं। मेरे विचार में इस प्रकार के उपन्यासों से हमें इस प्रकार की अपेक्षा नहीं करनी चाहिए।

आलोच्य उपन्यास की भाषा-शैली के सम्बन्ध में यही कहा जा सकता है कि भाँचलिकता की आड़ में स्थानीय बोली खुलकर खेली है। यही कारण है कि अनेक बार लेखक को अपनी बात स्पष्ट करने के लिए कोष्ठकों में हिन्दी पर्याय देने पड़े हैं। इन कोष्ठक-पर्यायों से जहाँ कुछ स्थलों पर पाठक को उद्बुद्ध संकेत मिलते हैं, वहाँ कई स्थानों पर इस प्रकार के शब्द-बाहुल्य से वह थोड़ा उकता भी सकता है। कहीं-कहीं इससे कथा की प्रशान्त धारा में अवरोध की सृष्टि हुई है। मुहावरों के जीवन्त प्रयोग ने भट्टजी की लेखन-शैली में चार चाँद लगा दिये हैं। जहाँ लेखक अपनी ओर से कुछ कहता है, वहाँ साहित्यिकता और कहीं-कहीं सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक विश्लेषण के भी दर्शन होते हैं। अपने कथन की पुष्टि में, मैं निम्न उदाहरण देना चाहूँगा :—

१—उसे लगा उसने दुर्गा के साथ अब तक बड़ा अन्याय किया है। क्या

“सागर, लहरें और मनुष्य” : एक पुनर्मूल्यांकन : १५५

इतना सुख और कहीं होटल में उसे मिल सकता है ? इस खाने के साथ कितना स्नेह, प्रेम मिला है ! कितनी हमदर्दी छिपी है । माणिक की जान और विवेचना की जितनी आँखें खुलती जा रही थीं, वैसे ही भीतर की तृप्ति से बाहर की आँखें बन्द हो रही थीं । (पृष्ठ १४४)

२—माणिक मानता था दुर्गा की मौत में उसका ज़रा भी हाथ नहीं था, फिर भी गूगी ने यह सब उसके सिर थोपा तो वह चुप रहा । लेकिन अब भी यह चुड़ैल डंक मारने से बाज़ नहीं आई । उसके भोले मन में दुर्गा के प्रति जो स्नेह का बीज था, वह सब अब रत्ना के ऊपर उँडेल देने को उसका मन उत्सुक हो उठा । (पृष्ठ १७८)

आलोच्य उपन्यास का उद्देश्य संघर्षशील रत्ना के जीवन का चित्रण करना है और अवान्तर प्रसंग के रूप में मच्छीमारों के जीवन-वैविध्य और समस्याओं को भी लेखक ने सफलतापूर्वक स्पर्श किया है । रत्ना की महत्वाकांक्षाएँ, जिन पर उसकी शिक्षा ने परवान चढ़ा दिया है, उसके संघर्ष को मुखरित करती हैं । वह असन्तुष्ट युवती का प्रतीक भी कही जा सकती है । वरसोबा का राजकुमार यशवन्त उसकी आँखों में नहीं चढ़ता, माणिक और धीरूवाला से वह छली जाती है, अन्ततः डॉ० पांडुरंग के सान्निध्य में उसकी महत्वाकांक्षाओं की परिपूर्ति होती है, जो कि उसके ‘कलुष’ को आच्छन्न कर पत्नीत्व का गौरव प्रदान करता है । अन्तिम चित्र के रूप में निम्न-लिखित पंक्ति बड़ी मार्मिक एवं व्यंजनाशील बन पड़ी है :

“मोहग्रस्त रत्ना डॉक्टर के उड़ते हुए वालों से अपने सपने बुनने लगी ।”

(पृष्ठ—३१६)

डॉक्टर का उसके प्रति औदार्य विस्मयकारी है, सम्भवतः वह स्वयं भुक्तभोगी होने के कारण रत्ना की पीड़ा को पहचान सका है । घषिता, अपमानिता एवं अदम्य आत्मविश्वास से छलकती हुई रत्ना डॉक्टर के स्नेहांचल में अपना ‘चिरकाम्य’ पाती है । जहाँ लेखक ने रत्ना के घनीभूत संघर्षों को मुखर वाणी प्रदान की है, वहीं उसके शिक्षा-जीवन की ओर केवल अस्फुट संकेत किये हैं । यह प्रकरण केवल सूच्य ही रहा है, इसे लेखक पुनर्निर्मित नहीं कर सका । रत्ना के द्वैत के माध्यम से लेखक निम्न-मध्यवर्गीय नारी के अन्तःसंघर्ष को अभिव्यक्त करने में जहाँ सफल हुआ है, वहीं वह धीरूवाला जैसे मगरमच्छों, सेठ और सेठानी-जैसे निहित स्वार्थों को भी हल्के हाथ से स्पर्श कर सका है । ये प्रकरण कुछ अधिक विस्तार की अपेक्षा रखते थे, पर लेखक ने इन्हें चलताऊ रूप में ही छोड़ा है । उपन्यास के विस्तृत चित्रफलक में इनका विद्रूप आनुपातिक रूप से उभर नहीं सका है, भट्टजी की औपन्यासिक प्रतिभा की यही इयत्ता है । फिर भी स्वातन्त्र्योत्तर उपन्यासों में आलोच्य कृति का एक विशिष्ट स्थान है, यह निर्विवाद रूप में कहा जा सकता है ।

डॉ० मन्मथनलाल शर्मा

शहर में घूमता आईना

आज उपन्यासलेखक की दृष्टि पाठक को सामने रखकर चलती है। 'अश्क' पर भी यह मान्यता लागू है। उन्होंने उपन्यास के समर्पण में इसे स्वीकार किया है—

“जो लोग सब-कुछ लेकर पैदा हुए हैं, अथवा कुछ भी नहीं ले सकते, उनके लिए इस उपन्यास में बहुत-कुछ नहीं है। यह केवल बीच के लोगों के लिए है, (जिनमें कि लेखक अपने-आपको भी मानता है।) और उसने पाया है कि अधिकांश पाठक उसी कोटि में आते हैं।”

इन पंक्तियों से दो बातें सामने आती हैं। पहली बात तो यह कि मध्यवर्गीय लेखक ने अपने वर्ग की अनुभूतियों का वर्णन अपने ही वर्ग के पाठकों के लिए किया है और दूसरी यह कि यथार्थवादी होने के साथ-ही-साथ यह सोद्देश्य रचना है। किन्तु यह दूसरी विशेषता ही इस उपन्यास की कमजोरी भी बन गई है। लेखक ने दावा तो यह किया है कि अच्छी कलाकृति सीधे-सीधे नहीं सिखाती (अर्थात् यह अच्छी कलाकृति है, इसमें सीख परोक्ष है और कथा ही प्रमुख है।) जो ठीक भी है, किन्तु यह बात इस उपन्यास के प्रसंग में अधिक संगत नहीं है। उद्देश्य परोक्ष न रहकर प्रत्यक्ष आ-आकर पाठकों के सामने अड़ता रहा है। उसने अनेक बार काशी की तंग गलियों में अड़े साँड़ों के समान नवलकथा का प्रवाह अवरुद्ध किया है। संभवतः उपन्यासकार को विश्वास नहीं है अपने पाठकों पर; इसीलिए बार-बार उसे अपनी बात खुलकर कहने को मजबूर होना पड़ा है। संभवतः इसके मूल में एक अन्तर्विरोध आर्थिक-सामाजिक तथा मनोवैज्ञानिक स्थितियों का संघर्ष है। लेखक दिखाना तो यह चाहता रहा है कि समाज के भीतर और बाहर चलने वाले अर्थ-सम्बन्धाधारित चेतना-प्रवाहों को विभिन्न स्थितियों तथा पात्रों की सीमाओं में इस उपन्यास द्वारा देखा जा सकता है, किन्तु उन्हें सजीवता प्रदान करने के लिए जिस व्यक्ति-निष्ठा तथा वैयक्तिक विशेषताओं की गहरी सूझ की आवश्यकता होती है, उसका काम यौन-कुण्ठाओं, विकृत अहं, हीन ग्रन्थियों तथा असाधारण मनोदशाओं वाले पात्रों के चित्रण से लिया गया है। इसका परिणाम यह हुआ है कि आर्थिक-सामाजिक तत्त्व निष्क्रिय और आरोपित बन गए हैं तथा व्यक्ति-चेतना उनसे असम्बन्धित बनकर मनोवैज्ञानिक ग्रन्थियों का परिणाम सिद्ध हो गई है। संभवतः उपन्यासकार को स्वयं भी बीच-बीच में इसका अहसास होता रहा है और वह अपने घोषित उद्देश्य का औचित्य सिद्ध करने के लिए ही प्रयत्नपूर्वक बार-बार सामने आकर जो चेष्टाएँ करता है, उन्होंने इस उपन्यास की शक्ति और कम की है।

प्रतिवेश को सामाजिकता की पृष्ठभूमि तो दी गई है, किन्तु यह विशेषता केवल आरोपित है, वर्णित है, सप्रयास है और वायवी है। पात्रों की रूप-रचना में इसका जो योग होना चाहिए, नहीं है। 'चेतन' वह आईना है जिसके द्वारा हमें

जालन्धर का प्रतिबिम्ब दिखाया गया है। यह प्रतिबिम्ब ही उपन्यास का मुख्य धारातल है, किन्तु धारातल का महत्त्व आईने की सापेक्षता में है। आईना 'चेतन' की मनोदशा के रंग में रंगा हुआ तथा घूमनेवाला है। जो दृश्य सामने आते गए हैं, वे चाहे यथार्थवादी हों, अर्थ-सम्बन्धों की विषमता और वर्ग-संघर्ष के परिणाम हों, सामाजिक विकृतियों के उभार पर टिके हों, अथवा शुद्ध फोटोग्राफिक प्रतीत होते हैं; किन्तु, उन सबको देखने से पहले यह ध्यान रखना अनिवार्य है कि आईना हीनता तथा काम-ग्रन्थियों से ग्रथित एक ऐसा पात्र है, जो इन दृश्यों को एक असाधारण मनोदशा के क्षणों में ग्रहण करता जा रहा है। जो कुछ उसे ग्रहणशील तथा संवेदनीय लगता है, वह वहीं टिकता है, अन्यत्र नहीं। परिणाम वही होता है जो पहले कहा गया, कि परिवेश की प्रधानता न रहकर आईने की मनोवैज्ञानिकता ही प्रमुख बन जाती है। चित्र की वस्तुनिष्ठता का महत्त्व न होकर, यहाँ तो आईने की विशेषता ही मुख्य है। यह भी कोई बुराई न होती, यदि आईने की मनोवैज्ञानिकता नैष्ठिक अनुभूति से युक्त रही होती। चेतन की वेदना (नीला के प्रसंग में) और हीनताग्रन्थि (कैरियर निर्माण में अमीचन्द आदि की तुलना में) दोनों ही उसे पलायनवादी बनाती हैं। वह आज का 'मध्यवर्गीय शुतुरमुर्ग' होकर जीता है, जबकि पाठक की आकांक्षा उसे कम-से-कम 'जटायु' के रूप में देखने की होती है, जिसका आश्वासन उपन्यास तथा उपन्यासकार दोनों ने दिया है।

चेतन, जो इस आईने का प्रतीक है, दोहरा प्रतिबिम्ब प्रस्तुत करता है। दोनों बिम्ब एक-दूसरे से धुल-मिलकर एक रूप धारण करने लगते हैं, किन्तु उनकी व्यंजना गहरी न होने के कारण अभीष्ट-सिद्धि में समर्थ नहीं बन पाती। इतना होने पर भी स्थान-स्थान पर कुछ चित्र अत्यन्त सारवान तथा अपनी सम्पूर्ण मार्मिकता में उभरे हैं। 'बढ़ा' के रूप में हमें चेतन की असफलता और असफलता को छिपाकर अपने को सन्तुष्ट कर लेने की वृत्ति ही नहीं दिखाई देती है वरन् समाज का एक वृहद् अंश 'बढ़े' में अपना प्रतिनिधित्व पा जाने के कारण उसके चरित्र पर हँसता हुआ भी उससे सहानुभूति रखने को मजबूर होता है। आज सभी कहीं-न-कहीं 'बढ़े' हैं। यदि 'बढ़ा'-जैसे चरित्रों को समझें तो कहना पड़ता है कि आज के युग को इन्हीं पात्रों के माध्यम से उसकी सापेक्षिक समग्रता में प्रस्तुत किया जा सकता है। यह चित्र यद्यपि यथार्थवादी है तथा विशेष परिस्थितियों वाले विशेष पात्र को समुपस्थित करता है, किन्तु, चित्र एकांगिता की सीमा पर स्थित है। चित्र का बाह्य रूप ही सामने आता है, उसका आन्तरिक ऊहापोह अदृश्य रहता है।

इस उपन्यास में कोई भी Positive पात्र नहीं है। 'अनन्त' की प्रशंसा डॉ॰ वच्चनसिंह ने इसलिए की है कि वह व्यंग्य कर सकता है, तथा समाज के पाखंड की पोल खोल देता है, किन्तु वह भी निषेधात्मक दृष्टिकोण की सीमा में আবদ্ধ है। उसमें भी हमें यथार्थ को जीते समय किसी उच्च आदर्श की आकांक्षा से उत्पन्न प्रतिक्रिया के दर्शन नहीं होते हैं। यथार्थवाद में केवल वर्तमान का अंकन नहीं होता। वर्तमान क्षण अपने भूतक्षण की अगली कड़ी है जो उसकी स्थिति को निर्धारित करता

है तथा वर्तमान के गर्भ में ही भविष्य के क्षण का बीज निहित है, जो आगे चलकर पल्लवित होगा। अतः वर्तमान का अंकन कभी भी केवल वर्तमान न होकर भूत और भविष्य भी होता है। उपन्यासकार को इसका ध्यान रखकर चलना होता है। खेद है इस उपन्यास के पात्रों का अंकन यह आभास नहीं दे पाता है। यथार्थ का व्यंग्यात्मक अंकन इस उपन्यास की विशेषता मानी जा सकती है। 'अनन्त' ही व्यंग्यात्मक शैली-प्रयोग द्वारा पात्र और स्थितियों की असंगतियों को दिग्दर्शित नहीं कराता, वरन् उपन्यासकार भी जब पाठकों के सामने आकर महल्लों, गलियों, घरों और उनके निवासियों का चित्र देता है तो समाज-व्यवस्था पर व्यंग्य करता चलता है। निम्न पंक्तियाँ इसे सिद्ध कर सकती हैं:—

“गली खोसलियाँ के बाद वाई ओर को एक मकान था, जिसमें दो परिवार रहते थे। एक विधवा थी, जिसके पाँच लड़के थे। चूँकि विधवा बड़ी लड़ाकी थी, इसलिए महल्ले वाले उसे 'गौदड़ी' और उसके बच्चों को 'गौदड़ी के बच्चे' कहते थे। दूसरी विधवा सधवा थी। बहुत बड़े घर की थी, पुनर्विवाह के बाद इस महल्ले में आ गई थी; पढ़ी-लिखी थी; गला बड़ा सुरीला पाया था; काला रंग था, इसलिए 'कोयल' कहलाती थी।”

इस भूगोल को फोटोग्राफिक मात्र नहीं कहा जा सकता। इसमें समाजदशा, व्यक्तियों की मान्यताएँ एवं प्रतिक्रियाएँ तथा कल के बनने वाले समाज के तत्त्वों की ओर स्पष्ट इंगित है, किन्तु व्यंजना उतनी तीव्र तथा मार्मिक नहीं है जो इस चित्रण को गोर्की की 'माँ' की कोटि को पहुँचा दे।

१९६३ का भारतवर्ष (इसी साल यह उपन्यास प्रकाशित हुआ है।) अपने निकट अतीत से बहुत बदल गया है और समकालीन विश्व के बहुत निकट आया है। अपने निकट अतीत (स्वातंत्र्य-आन्दोलन-काल) के गौरव को ही उसने खोया होता, उस काल का त्याग, बलिदान, उत्साह, देशभक्ति, चरित्रनिष्ठा तथा समाजसेवा आदि की भावनाएँ ही त्यागी होतीं, तो विशेष हानि नहीं थी, किन्तु आज की सर्वाधिक हानि यह है कि हमने पाश्चात्य (विशेषतः अमेरिकी) जीवन की हीनताओं तथा त्याज्य दुर्बलताओं का अन्धानुकरण प्रारम्भ कर दिया है। इससे जो दुर्बलता आई है उससे न केवल इतना कि हमारे हाथों से बदबू आने लगी है, वरन् हमें बदबू का अहसास होना बन्द हो गया है। हम जिस विपन्नता में फँसे हैं, वह कोई बहुत निराशाजनक नहीं है। (उससे यदि हम सही प्रेरणा लें तो उसको कल्याणकारी तत्त्व के रूप में भी ग्रहण कर सकते हैं।) निराशाजनक तो यह है कि हमें अपनी यह स्थिति अश्र्वेयस्कर नहीं प्रतीत होती है। आज की नयी कविता, नयी कहानी तथा उपन्यास और उनकी पिछलगू समीक्षा (उसे वे नयी समीक्षा कहते हैं।) इस दृष्टिकोण की गरिमा का स्तुतिगान भर है। इस मनोदशा को हम 'बढ़े' के चरित्र में रूपायित होते देखते हैं। 'बढ़े' की कमजोरी यह है कि जब चेतन उसे बधाई देता है, तो वह उसमें छिपे व्यंग्य को पहचानना नहीं चाहता। वह अपने में ही जीवित है और निरन्तर प्रयासशील है कि दूसरे भी उसी 'खोल' में समाते चले जायें। 'बढ़ा' के समान 'चेतन'

भी मिथ्या प्रतिष्ठा को ओढ़े हुए है, इसीलिए 'अनन्त' के समान उसका पर्दाफाश करने का साहस उसमें नहीं है। 'बदे' के समान 'चेतन' भी प्रतिद्वन्द्वितापूर्ण समाज के ताने-बाने में उलझा हुआ है। वह किसी भी प्रकार प्रतिद्वन्द्विता में टिका रहकर सफल होने के प्रयास में मिथ्या पद्धतियाँ अपनाता चला जाता है।

विशिष्ट मध्यवर्गीय शिक्षित के समान चेतन संवेदनशील बनना जानता है और कुछ समीक्षकों को ऐसा होने का धोखा भी दे देता है; किन्तु, वह केवल लेना जानता है, देने के नाम पर दर्शन देने में भी उसे संकोच है। नीला के शगुन देने से भी कतराता है। 'शेखर' के समान वह क्लीब तो है, किन्तु बौद्धिक नहीं। समाज की परम्पराओं को तोड़ने की बात उसके मस्तिष्क में आती है—अथवा बौद्धिक बनने के लिए उसका चेतन मस्तिष्क उसे ऐसा सोचने को मजबूर करता है, किन्तु कायरता उसे निष्क्रिय बनाती है। सामाजिक प्रतिष्ठा का मोह ही उसे संचालित रखता है। पत्नी के प्रति, नीला के प्रति, परिवार के साथ सभी जगह उसकी सक्रियता (जो अत्यन्त सीमित है) इसी मोह का परिणाम कही जा सकती है।

चेतन, मध्यवर्ग, जालन्धर, पंजाब, भारत तथा एक विचित्र स्थिति वाले आज के विश्व का आईना है, जो देख और दिखा रहा है; क्योंकि इसके बिना वह रह नहीं सकता है। यदि उसके सामने यह मजबूरी न होती, तो वह निश्चित ही आँधा मुँह करके अपने में सिमटा पड़ा रहता। 'रामदत्ता' के साथ मिलाकर देखें तो प्रश्न अधिक सुलझे रूप में हमारे सामने आ जाता है। 'बदे' के साथ-साथ 'रामदत्ता' भी अतृप्त यौन-कुण्ठाओं तथा बौद्धिक दृष्टि से अपने को श्रेष्ठ सिद्ध करने की प्रतियोगात्मक भावनाओं का प्रतीक है। इनके माध्यम से हम 'चेतन' के इन रूपों का दर्शन पाते हैं। आज का 'चेतन' इस 'चेतन' के समान यौन और अर्थ की विकृतियों का शिकार है। उसकी मुख्य समस्या अपने से संघर्ष करने की है। एक ओर उसका अहं है और दूसरी ओर उसकी प्राकृतिक माँगें हैं। प्राकृतिक माँगों को वह झुठलाने का प्रयास करता चला जाता है, किन्तु उसका वैयक्तिक अहं इतना विस्तृत नहीं है कि वह इस विष को पचा सके; और इसका कारण यह है कि उसे अपने अहं को सामाजिक अहं के साथ जोड़ने में सफलता नहीं मिल रही है। उसकी वृत्ति समस्याओं के बाह्य-रूप से परिचित होकर रह जाने की है। वह अपने मित्र के रूप में उन पर हँस सकता है (यद्यपि यह भी है उसके लिए बहुत कठिन), किन्तु, उनके भीतर के सत्य तक पहुँचने की जिज्ञासा उसमें नहीं है।

पागलों और विपत्तियों की अनेक कथाएँ एक-दूसरे से जोड़कर प्रस्तुत करने का जो प्रयास इस उपन्यास में हुआ है, वह सिद्ध करता है कि उपन्यासकार मनोवैज्ञानिक यथार्थ को समाजवादी यथार्थ से अधिक महत्वपूर्ण ही नहीं मानता है, वरन् इलाचन्द्र जोशी के समान सामाजिकता का आधार भी अतृप्त यौन-भावना को स्वीकार करता है। इस प्रसंग में उपन्यासकार की एक टिप्पणी प्रस्तुत करना अनुचित न होगा—

“इस अभावग्रस्त महल्ले में जहाँ अशिक्षा, मस्कुति, भूख और प्यास का राज्य था; जहाँ कई घरों में उमर-भर के भूखे प्यासे कँवारे भरे पड़े थे; अनाचारी, जुआरी,

व्यभिचारी और पागलान हों तो और क्या हों ? क्यों बीमारियाँ पीढ़ी-दर-पीढ़ी यहाँ घर न करें और नरकों को खोखली न बनाती चली जायँ ? कई बार जन कोई कुंवारा काफ़ी उमर गुज़र जाने पर शादी करता था तो वह पहले ही यौन-व्याधियों का शिकार हो चुका होता और कई बार जब किसी युवा रंडुवे की दोबारा शादी न होती तो वह बाद में उन रोगोंका ग्रास बन जाता या विक्षिप्त होकर गली-गली मारा-मारा फिरता।”

जगह-जगह उपन्यासकार ने यह उभारने का प्रयास किया है कि मध्यवर्गीय व्यक्तित्व यौन-तृप्ति तथा महत्त्वपूर्ण बनने की आकांक्षा से परिचालित रहता है। उसकी समग्र क्रियाओं की संचालिका शक्ति उसके अन्तर्मन की यही वृत्तियाँ हैं, फल-स्वरूप पात्र-योजना एवं घटना-संयोजन इसी बात के सामने रखकर हुए हैं। आगे बढ़ने वाले व्यक्ति चाहे असफल हकीम दीनानाथ हों, अथवा सदैव ‘फ़ेल’ हो जाने वाला ‘बद्दा’, सबकी असफलता का दायित्व उनके अपने भीतर ही दिखाया गया है, जैसे समाज में अथ से इति तक न्याय, समान अवसर आदि का ही बोलवाला है और शोषण तथा सामाजिक विसंगतियाँ उन्हें उद्देश्य-भ्रष्ट नहीं करती हैं—ऐसा सिद्ध किया गया लगता है।

आज़ादी से पहले महात्मा गांधी की धारणा थी कि बिना राजनीतिक स्वतन्त्रता प्राप्त किए हम सच्चे अर्थ में स्वराज्य की स्थापना नहीं कर सकते हैं, इसलिए राजनीतिक संघर्ष ही हमारे सामने प्रमुख प्रश्न है। उसी प्रकार आज का समाजशास्त्री यदि आँख खोलकर सामाजिक दशा का अध्ययन करे और सोचे कि समाज-परिवर्तन की दशा में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तथा मूल प्रश्न क्या है ? तो वह इसी निर्णय पर पहुँचेगा कि जब तक देश में आर्थिक शोषण और सामाजिक अन्याय है, तब तक हम उस लोकतांत्रिक समाजवाद के घोषित उद्देश्य में सफल नहीं हो सकते हैं जो हमारे देश के सर्वोत्तम विचारकों तक का आकर्षण-केन्द्र बना हुआ है। इस सामाजिक अन्याय और शोषण को ही हम व्यक्ति और समाज की समस्त बुराइयों तथा कठिनाइयों के मूल स्रोत के रूप में देखते हैं।

‘अस्कजी’ सम्भवतः उपर्युक्त बातों से तो असहमत नहीं हैं, किन्तु, अपने उपन्यास की रूप-रचना में इस दृष्टिकोण को रखकर नहीं चल पाए हैं। उनका ‘चेतन’ अपनी साली को खोकर एक विशेष मनोदशा में सारी घटनाओं को देखता है—यह विचार ही मूलतः व्यक्तिवादी है—सामाजिक समस्याओं को व्यक्तिवाद के भीतर से देखने का प्रयास है।

इस उपन्यास के सारे पात्रों की रूप-रचना में दो बातें समान रूप से देखी जा सकती हैं—प्रथम तो यह है कि सभी पात्रों की संचालिका शक्ति उनके अपने भीतर है, वे अपने को समझने के लिए ही प्रयत्नशील हैं। दूसरी यह है कि उनके समक्ष कोई सामाजिक प्रश्न अपनी सम्पूर्ण भयंकरता में नहीं उभरता है। जो छुटपुट सामाजिक समस्याएँ उभरी भी हैं तो वे व्यक्तित्व की असंगतियाँ दिखाने भर को; न कि सामाजिक असंगतियों को उनके सम्पूर्ण परिवेशात्मक यथार्थ में प्रस्तुत करने के लिए। फलस्वरूप

किसी सामाजिक आदर्श की कल्पना तथा उसके लिए पात्रों का संघर्ष आदि बातें भी उपस्थित नहीं होती हैं।

इस उपन्यास की व्यंग्यात्मक शैली अत्यन्त प्रभावशाली कही जा सकती है। भाषा, पात्र-योजना (यथेष्ट सीमा तक), विवरण, स्थिति-विश्लेषण, कथोपकथन, वातावरण-अंकन, घटना-संयोजन आदि तत्त्वों में इस व्यंग्य-शक्ति को खोजा जा सकता है। इन व्यंग्य-चित्रों में से कतिपय उदाहरण निम्न अवतरणों में हैं —

“चेतन ने देखा, चिराग रंगरेज और मोघड़ फटफेरा खेल रहे थे—यानी उस समय खेलते हुए झगड़ रहे थे—और शेष उनके गिर्द दायरा बनाए बैठे अथवा खड़े थे। इन्हीं में उसने ज्योतिषी दौलतराम को अपनी लम्बी चोटी में गाँठ दिए, नंगे शरीर पर रामनामी ओढ़े और पैरों में खड़ाऊँ पहने बैठे देखा—चन्दा की बड़ी-बड़ी आँखें मुँदी थीं; रुखे वाल मस्तक पर बिखरे थे, होंठों पर सूखी पपड़ियाँ जमी थीं; गोल-गोल गोथने गाल बन्नों से मुरझाए थे और होंठों के बाएँ कोने पर हलकी-सी लार जमी थी—उसकी आँखों में आँगन की नाली पर अपनी पतली गोरी बाँह बढ़ाए हुए नीला आ जाती है, जिसकी कलाई पर लगी हुई जोंकों ने उसका रक्त चूस लिया है—पहले से दुबली-पतली किंचित् पीली—कुएँ के पास ही चौधरियों का दीसा (जगदीश) बड़ी मूर्खता से मुँह चयारे आते मिल गया—चेतन के सामने शिमले के स्केण्डलप्वाइंट पर अमीचन्द से भेंट का दृश्य घूम गया, जब उसके व्यवहार से लगा था कि रिजल्ट निकलने से पहले ही वह डिप्टी हो गया है—रंडी का पूत सौदागर का घोड़ा, खाएगा बहुत चलेगा थोड़ा—इन आठ वर्षों में उसके (हकीम दीनानाथ के) पाँच बच्चे हो चुके थे और न केवल उसका पहलवानों का-सा शरीर दुबला हो गया था, बल्कि उसकी बड़ी-बड़ी मूँछें भी छँटते-छँटते मक्खी-जैसी रह गई थीं। अनन्त कहा करता था कि उसके घर एक बच्चा और हुआ तो उसकी मूँछें सफाचट हो जाएँगी और फिर तो कटाने के लिए सिर्फ कान ही रह जाएँगे—दीनानाथ के पिता ठल्लूराम और चाचा दालचन्द बाकायदा अखाड़े जाते थे। उनके नामों से जिस ढीले-ढालेपन का आभास मिलता था, उसे कम-से-कम शारीरिक रूप से उन्होंने दूर कर दिया था। मँझोला कद, गोरा-गठा वदन, बड़ी-बड़ी आँखें और नीबू टिकाऊ मूँछें—हाँ, मस्तिष्क की बात दूसरी है, पर सुनारों से बुद्धिजीवियों के मस्तिष्क की अपेक्षा भी तो नहीं की जा सकती। दीनानाथ भी कसरत करता था, लेकिन बुद्धि उसने पिता अथवा चाचा की अपेक्षा कुशाग्र पाई थी।—अब वह चाहता है फ़ाँड से पैसा कमाना। अनन्त बोला, फ़ाँड से प्रेक्टिस तो क्या चलेगी? एक दिन जेल में चला जाय तो बड़ी बात नहीं।—”^१ इस प्रकार की शैली ही इस उपन्यास का आधार है।

दीनानाथ के माध्यम से अश्व ने यह दिखाने की चेष्टा की है कि मिथ्या प्रतिष्ठा के पीछे दीनानाथ दौड़ता रहा और उसे उसमें अन्त तक सफलता न मिली। समाज में प्रत्येक व्यक्ति जब तक शारीरिक परिश्रम से बचकर केवल बौद्धिक प्रयास की ओर अग्रसर रहेगा, तब तक वह ईमानदारी, शोषण-मुक्ति और समान अवसर

१. वही, पृष्ठ १३७-३८।

वाली बराबरी की ओर नहीं बढ़ पाएगा। चेतन हो या दीनानाथ, यदि वह सामाजिक मूल्यों को बदलने के लिए आगे आता तो उसका चरित्र इससे बिल्कुल भिन्न होता। जिस समाज का यहाँ चित्र दिया है, वह यौन-भुक्खड़ी, दंभियों, बौनों, कायरों, मिथ्या-भिमानियों, पलायनवादियों, शोषकों, अनुतरदायियों, जनखों, पागलों, दिमागी ऐयाशों, घोखेबाजों, जादूगरों तथा अवसरवादियों आदि का है। उनमें कोई भी तो ऐसी नहीं है जो परिस्थिति को उसकी यथार्थ स्थिति में स्वीकार करके आगे बढ़े और संघर्ष का जोखिम उठाए। यदि इसे समाज का एकांगी चित्र कहें तो आशा है, अनुचित न होगा। यदि हम गोर्की के पात्रों से इन पात्रों की तुलना करें तो इनकी ह्रासशीलता आसानी से सिद्ध हो जाती है।

सारे उपन्यास की घटनाएँ जिस धुरी पर घूमती हैं वह निम्न पंक्तियों से स्पष्ट है—

“वह (चेतन) तो चाहता था कहीं ऐसी जगह जाए, जहाँ उसका मन नीला के विरह, अपनी पीड़ा, अमीचन्द की डिण्टी-कलवटरी और उसके सन्दर्भ में अपनी हीनता के अहसास को एकदम भूल जाय।”

उपन्यासकार अथ से इति तक इसी धुरी पर घटनाचक्र तथा पात्रों को घुमाता रहा है। इस अंकन को सजीव बनाने तथा ‘मिथ्या का भ्रम’ उत्पन्न करने के लिए आवश्यक था कि परिवेश का यथार्थवादी चित्र दिया जाता। कुछ पात्र जो इस उद्देश्य से प्रेरित होकर अपना क्षणिक परिचय देकर अदृश्य हो जाते हैं, अधिक विश्वसनीय तथा व्यावहारिक हैं। वे जीवन को अधिक व्यावहारिक रूप में ग्रहण करके सन्तुलित दृष्टिकोण अपनाते-से लगते हैं। उनसे यह सम्भावना हो सकती है कि यदि उन्हें अधिक अवसर मिलता तो वे सत्य को उसकी अधिकाधिक समग्रता में पकड़ सकते थे।

यदि इसे दुःसाहस न माना जाए तो एक बार यशपाल के ‘झूठा सच’ को सामने रखकर इस उपन्यास पर विचार करना आवश्यक लगता है। नारी के सम्बन्ध में अश्व की धारणा है—

“जाने नियति ने उसके भाल पर नीला का भाग्य लिखा है, या चन्दा का ?

...क्योंकि इससे अलग भाग्य निम्न-मध्यवर्ग की लड़कियों का नहीं है। जाने कब होगा ? शायद तब, जब वे सचमुच आजाद होंगी और भेड़-बकरियों की अपेक्षा उनकी स्थिति भिन्न होगी। एक झटका—एक पुरजोर झटका और निम्न-मध्यवर्ग को इस तंग घेरे में बाँध रखनेवाली दीवारें ढह जायँगी।”

नारी पात्र-रचना में अश्व का दृष्टिकोण इस सीमा के भीतर घूमता रहा है, अतः उनके समस्त नारी पात्र इस सीमा के उदाहरण बनकर पीछे हट जाते हैं। प्रत्येक नारी उपन्यासकार द्वारा उसके चारों ओर खींची हुई लक्ष्मण-रेखा से घिरी रहने के कारण परवश होकर जीती है। उसकी यह सीमारेखा एक हद तक स्वीकार भी की जा सकती है, किन्तु उसे कोई भी पाठक नहीं हजम कर पाता कि उसके मन में इस स्थिति से कोई असन्तोष उत्पन्न नहीं होता है। वह परिस्थितियों से जूझने की बात भी नहीं सोच पाती है। यह आश्चर्यजनक है कि इस समस्त परिवेश में एक भी नारी तो ऐसी नहीं है, जो खलकर सामने आने का साहस दिखा सके (और यदि कोई ऐसी

रही होती तो उपन्यासकार का ध्यान उसकी ओर अवश्य गया होता)। असाधारण मनोवृत्ति वाली नारियाँ कुछ भिन्न दिखाई देती हैं, जिन्हें देखकर और निराशा होती है।

यशपाल के 'झूठा-सच' की नारी इससे भिन्न है। वह चरित्रहीन पति से संघर्ष करती है। चली आती हुई मान्यताओं से जब उसे कार्य चलता दिखाई नहीं देता तो वह बदलते हुए समाज के नए कानूनों की सहायता लेती है। विभाजन की मारी मर नहीं जाती, जूझती हुई अपना भाग्य बनाती है। साहस के साथ आगे बढ़ती हुई बीभत्स वर्तमान को बदलने में समर्थ सिद्ध होती है। यह महत्त्वपूर्ण नहीं है कि वह भविष्य को अपने अनुकूल बना लेती है; महत्त्वपूर्ण तो यह है कि वह आस्थावान है और आस्था रखकर संघर्षरत होती है। क्या ही अच्छा होता, अदक ने ऐसे एक भी पात्र का दर्शन जालंधर के सारे समाज में किया होता। यह हो नहीं सकता कि वहाँ कोई उचित साधनों का उपयोग करके संघर्ष न कर रहा हो।

यह सब न दिखा पाने का कारण है चेतन के माध्यम से उपन्यासकार का यह सोचना कि "लोग अपने गम से सन्तुष्ट हैं। दुःख को अनिवार्य जान, हथियार डालकर वे अपनी नियति को निर्विकार रूप से स्वीकार कर लेना ही श्रेयष्कर समझते हैं।" १

अन्त में, शैली-शिल्प के सम्बन्ध में एक बात कहनी है। कुछ समीक्षकों ने इसे उपन्यास नहीं माना है, कहानियों का संकलन मात्र कहा है। उनका आरोप है कि इसमें उस प्रभावान्विति का अभाव है जो किसी कृति को उपन्यास की संज्ञा दिलाती है। इस सम्बन्ध में यह विचारणीय है कि प्रत्येक श्रेष्ठ उपन्यास परम्परा से जुड़ा रहकर भी उससे भिन्न होता है। यह भिन्नता सामान्य समीक्षक को चौंकाती है। सम्भवतः यही भिन्नता उसकी श्रेष्ठता का प्रतिपादन है। विवेच्य उपन्यास की शैली नवीन है और यही उसकी विशेषता तथा शक्तिमत्ता है। अनेक पात्र, अनेक स्थितियाँ, अनेक घटनाएँ, अनेक गलियाँ तथा मुहल्ले, अतीत और वर्तमान इसी शिल्प से जुड़ सकते थे और जुड़े हुए हैं। उपन्यास के क्षेत्र में इसे एक नवीन प्रयोग—सफल प्रयोग कहा जाना चाहिए। यदि उपन्यास मानव-जीवन का चित्र देता है तो उस शिल्प की खोज को, जो उसे उसकी अधिकाधिक पूर्णता तथा वैविध्य में प्रस्तुत करने का प्रयास करे स्तुत्य ही कहा जायगा। इतने अल्पकाल में इतना देखना और दिखाना इस 'आईने' की सफलता है। इसमें ऐतिहासिक, आत्मकथात्मक, विवरणात्मक आदि परम्परा-प्राप्त पद्धतियों का ही नहीं, वरन् रिपोर्टाज, संस्मरण, रेखाचित्र, डॉकुमेण्ट्री, दिवास्वप्न, पूर्वस्मृति, फ्लैश बैक, प्रतीकात्मक आदि अनेक नव्यतम शैलियों का भी आवश्यकतानुसार प्रयोग है। इससे उपन्यास का क्षितिज तो विकसित हुआ है और सम्भावनाएँ बढ़ी हैं, किन्तु पाठक को सत्यशोधन की दिशा में अधिक प्रेरणा नहीं मिलती है। सब मिलाकर उपन्यासकार को बधाई देना उचित होगा।

१. वही, पृष्ठ १२१।

.. गोविंद रजनीश

‘कब तक पुकारूँ’

‘मुर्दों का टीला’ के उपरान्त रांगेय राघव का सर्वाधिक चर्चित और लोकप्रिय उपन्यास ‘कब तक पुकारूँ’ है। रांगेय राघव के समूचे कृतित्व के खौफनाक हादसे ने इस कृति पर सत्यापेक्षित समीक्षा-मुलम्मा चढ़ने से कुण्ठित कर दिया। आज यह अपेक्षित है कि नये आयामों में इस कृति का पुनर्मूल्यांकन किया जाए।

: १ :

‘कब तक पुकारूँ’ की आंचलिकता पर हास्यास्पद निष्कर्ष, विभिन्न शोध-ग्रन्थों एवं इतर समीक्षात्मक निबन्धों में दिये गए हैं। आंचलिकता, जिसकी संज्ञा किसी एक अंचल अथवा क्षेत्र, उसके भाग या किसी गाँव के प्रतिपाद्य या विवेच्य सामग्री से दी जा सकती है, उस प्रदेश या अंचल के रीति-रिवाजों, लोकाचारों, परिवेश-सज्जा, प्राकृतिक परिपार्श्व, नैतिक-सामाजिक मान्यताएँ आदि तत्त्वों से समन्वित होती है।

राजस्थान और ब्रज प्रदेश के सीमान्त पर बसा हुआ वैर नामक ग्राम और उसके परिवेश में खानाबदोश जीवनयापन करने वाले जरायमपेशा नट ही ‘कब तक पुकारूँ’ की कथा के उपजीव्य रहे हैं। आज झील भी वहीं है, अधूरा किला भी, करनटों के डेरे भी। यहाँ तक कि आज से चार वर्ष पूर्व कथानायक सुखराम भी जीवित था। इन करनटों के लोक-जीवन, लोकगीतों, आचार-विचार, जनपदीय संस्कृति, उनके मध्यकालीन अन्धविश्वास, भाषा, सामाजिक भीरुता और शोषण, अनैतिकता आदि का वर्णन आंचलिकता का अंश है। इन जरायमपेशा करनटों में यौन स्वच्छन्दता है। उनकी स्त्रियाँ परायों के साथ रात काटती हैं। ‘सेक्स’ के आधार पर उनके यहाँ कोई बुराई नहीं। पुलिस और उच्चवर्ग द्वारा भोग्या होने पर उनका कथन होता है ‘औरत का काम तो औरत को ही करना पड़ता है।’ इन्हीं करनटों के समाज का प्रतिबिम्ब ‘कब तक पुकारूँ’ में है।

रांगेय राघव की आंचलिकता बिछलती है, जबकि मृतत्व-शास्त्र का ज्ञान उस पर हावी हो जाता है। सुखराम ने उस कथा को ‘भय्याजी’ (रांगेय राघव) को जड़ी-बूटी के साथ ही नहीं पिलाया, अपितु रांगेय राघव ने न जाने कितनी शामें उनके रीति-रिवाज, व्यवहार और संस्कृति के अध्ययनार्थ फुलवाड़ी में पड़े उनके तम्बुओं के पास व्यतीत की थीं। यही कारण है कि ‘कब तक पुकारूँ’ का वह सशक्त माहौल प्रत्यक्ष-नुभूति की गहरी पतों पर उतरता चला गया है।

भाषा, उस आंचलिकता की सबल अभिव्यक्ति रही है। उस भाषा में जहाँ एक ओर प्रेमचन्द की भाषा की तरह स्वाभाविकता है, दूसरी ओर करनटों की समीपी भाषा का गहन-बोध। लेखक के स्वयं के उद्बोधन को छोड़कर, शेष भाषा खड़ी बोली की ओर किंचित् कोण बनाती हुई विकृत ब्रज भाषा है, जिसमें ब्रज की ओकारान्त संज्ञाएँ भी हैं। ण के स्थान न और प तथा श के स्थान पर स का प्रयोग भी, जिसमें

रजनीश
उपन्यास
कृति पर
है कि नये

बुआरा, ढाँढीनों, गचक, जापा, छेंड, सिलिया, पारसा, दारी, धुकाए, लुगाई, बैय्यर, दोच, मुड्ड, दासा, किच्चा, कण्टान, गाँस, मलूक, मट्ट, साँसत जैसे देशज हैं तो परजा, सुपना, जोवन कोसिस, आसिक, नैक, दगरा, वामन, साँक, मसामूँद, परार्थना, मनी, जगार, सूका, न्याव, चामड, औतार, डोर, डांगर, वनैनी, हुवाई, सरग जैसे विकृत और तद्भव शब्द हैं। विदेशी शब्दों में अंग्रेजी और उर्दू के प्रचलित एवं ग्राह्य शब्दों का प्रयोग हुआ है। अपशब्दों में दारी, चमको, चौदिस, साला, भंगी, परमेसुरी, रंछी, नासपीटे, दईमारी, कड़ीखाया, चुड़ैल, छिनाल, उल्लू का पट्टा आदि ऐसे शब्द हैं जो ब्रज प्रदेश में प्रचलित हैं। इस भाषा में स्थानीय कहावत और मुहावरों का इतना अधिक प्रयोग हुआ है कि एक कोश तैयार किया जा सकता है।

गोध-ग्रन्थों
किसी एक
मग्री से दो
श-सज्जा,
ती है।
ग्राम और
'कब तक
भी, कर-
जीवित
संस्कृति,
नैतिकता
वच्छन्दता
उनके यहाँ
होता है
ममाज का

नाद-व्यंजना के साथ-साथ भाषा में सहज-प्रवाह और एकान्विति का अपूर्व सामंजस्य है। इस भाषा में 'मैला आँचल' की भाँति अनगढ़, नुकीली टोरियों की चुभन नहीं है, यही कारण है कि विवेच्य उपन्यास में भाषा-सम्बन्धी सम्प्रेषणीयता और आंचलिकता अधिक है, यहाँ तक कि इसके प्रतीक और दृष्टान्त भी आंचलिक हैं— 'मेरा मन घुमड़ आया था। आज बहुत दिन में वह फिर मेरे पास आ गई थी। आज हम दोनों खेतों के बीच की डीर ढह गई थी और खेतों में ढाने से ढेर-ढेर पानी बह-कर झकड़ा हो रहा था। आज मेरा और उसका प्यार उस नेह की तरह से निकल आया था, जो वेलों के छुरों से दाँय में चिर-चिरकर ऊपर की जाली फाड़कर निकल आता है। अभी तक मैं बाँस पर नाच रहा था और जान के खतरे में झूल रहा था, पर अब मैं उसके पास घरती पर उतर आया था, जहाँ कोई साँसत और जोखम नहीं दिखाई देती थी। आज के बूकरा के बरसाने पर तूरा अलग गेहूँ अलग हो गया था।'

रांगेय राघव शिल्पगत प्रयोगों में अपनी विशिष्टता रखते थे। 'काका' को स्थानीय वातावरण (local colour) में रंगकर, उन्होंने नये प्रयोग को 'कब तक पुकारूँ' में रूपायित किया। अतः यह समझना निःसर्ल है कि 'कब तक पुकारूँ' 'मैला आँचल' की लोकप्रियता से अभिभूत होकर लिखा गया था। सम्भवतया ऐसा कहने वालों को यह ज्ञात नहीं है कि 'कब तक पुकारूँ', 'मैला आँचल' से पूर्व लिखा गया था, छपा बाद में था।

ज्ञान उस
को जड़ी-
के रीति-
में के पास
प्रत्यक्षा-

इत दोनों उपन्यासों की आंचलिकता में बहुत बड़ा अन्तर कथा-तत्त्व का है। 'मैला आँचल' में जहाँ खण्ड-चित्रों से प्रभाव-ऐक्य और पात्रीय संवेदना उरेहती नहीं है, वहाँ 'कब तक पुकारूँ' की एकान्विति और पात्रीय संवेदना अधिक उजागर है। यह बात दूसरी है कि रांगेय राघव का कथा-गुम्फन उस अहसास को एक झटका देकर विघटित कर देता है।

ता में जहाँ
भी समीपी
गड़ी बोली
गोकारान्त
में, जिसमें

विवेच्य उपन्यास की आंचलिकता इतिहास, पुरातत्त्व और नृतत्वशास्त्र के ज्ञान से परिपुष्ट तथा कल्पना, अनुभूति और चिन्तन से समन्वित है। एक ओर जहाँ लेखक ने 'कब तक पुकारूँ' में स्वतन्त्रता-पूर्व के सामाजिक, आर्थिक, नैतिक, और राजनीतिक परिवेश में नट-जीवन का चित्रण किया है, दूसरी ओर स्वातन्त्र्योत्तर भारत के बदलते मूल्यों में उनके जीवन को आँकने का भी प्रयास किया है।

‘कब तक पुकारूँ’ को किसी भी आयाम में परखने से पूर्व लेखक के स्वयं के परिवेश और उसकी स्थापनाओं को ध्यान में रखना आवश्यक है। इस उपन्यास पर ‘गोरखनाथ’ के परिप्रेक्ष्य में किये गए मध्यकालीन चिन्तन का प्रभाव है। इसी कारण मध्यकालीन अन्धविश्वास और मान्यताएँ बीच-बीच में मुखर हुई हैं। वह समस्त माहील पितृसत्तात्मक परिवार का है, जहाँ चन्दन भंगी पाँच बीवियाँ रखता है। वह दिन-भर बैठा रहता है। औरतें मैला साफ़ करती हैं। काम न करने पर वह उन्हें अपशब्द भी कहता है। जहाँ सुखराम दरोगा से बदला लेने के लिए हाँडी चलवाता है। मरघट जगाने के लिए गुह्य साधना, मद्यपान, बलि आदि प्रकरणों को जुटाने का उपक्रम करता है। जहाँ यह विश्वास किया जाता है कि चुड़ैल नंगी होकर अमावस की रात को अँधियारी में जरख पर बैठकर मरघट जाया करती है। जहाँ करनटी अकाल पड़ने पर अपने पति और बच्चे के लिए गाँव में जाकर परायों के संग रातों काटकर कमाकर लाती थी। जहाँ प्यारी कहती है कि कड़्यों के साथ सोने पर मेरा क्या बिगड़ गया है। जहाँ नट राजा को बाप और भगवान् का ‘औतार’ मानते हैं। जहाँ माली मन्त्रों से सर्प के विष को थाली पर उतार देता है। ठकुरानी के पुनर्जन्म की कल्पना भी उस मध्यकालीन अन्धविश्वास का ही एक रूप है। ये समस्त विश्वास मध्यकालीन आर्थिक व्यवस्था से नियन्त्रित हैं, जिन पर मध्यकालीन सामन्ती प्रभाव भी है। उस माहील में चमार, करनट को अपने घर घुसने नहीं देते, परन्तु करनट मेहतर का हुक्का नहीं पीते हैं। मेहतर भी करनटों की पत्तल नहीं उठाते हैं। लेकिन ठाकुर करनटनियों के साथ एक ही प्याले में शराब पीते हैं। उनका उत्तर होता है— हम उनमें लीन हो जाते हैं। भला-बुरा काम करते हैं। लेकिन यौन-परिकल्पनाएँ निस्सन्देह आदिम समाज की हैं।

रांगेय राघव पर दूसरा प्रभाव बाबू देवकीनन्दन खत्री के तिलिस्मी उपन्यासों और ‘ऐयाश मुर्दे’ में संकलित रहस्य और रोमांच से परिपूर्ण उन कहानियों का जो रांगेय राघव द्वारा अनूदित हुई हैं। अधूरे किले के परिवेश की भयानकता में उपन्यास का प्रारम्भ भय, रोमांच और वीभत्स के साथ होता है। जैसा कि तिलिस्मी उपन्यासों में औत्सुक्यता का तत्त्व पाया जाता है, वह ‘कब तक पुकारूँ’ के प्रारम्भ में है। झील के माध्यम से जो राह अधूरे किले तक बताई और चित्रित की गई है, वह निश्चित ही ‘भूतनाथ’ और ‘चन्द्रकान्ता’ के किसी भी तिलिस्मी मार्ग से कम नहीं है।^१ फिर हड्डियों की ठठरी ‘ऐयाश मुर्दे’ की कहानियों में वर्णित मुर्दों की ठठरी से भिन्न नहीं है। औत्सुक्यता के प्रशंसक रांगेय राघव अपने उपन्यास में भी उसे अनिवार्य तत्त्व समझ बैठे हैं।

१. वस्तुतः इस प्रकार के मार्ग का अस्तित्व उस झील और बावड़ी में होकर कहीं नहीं है। रांगेय राघव का अवचेतन मन बाबू देवकीनन्दन खत्री से अवश्य ही अभिभूत रहा होगा, क्योंकि डॉ० रांगेय राघव लेखन की थकान इन्हीं उपन्यासों को पढ़कर मिटाते थे। उनका कथन था कि कल्पना-वैभव में खत्री से बढ़कर कोई उपन्यासकार नहीं है। ‘कब तक पुकारूँ’ के पृ० ३१६ पर ‘भूतनाथ’ उपन्यास का उल्लेख इस कथन का साक्ष्य है।

प्रगतिशील विचारधारा का प्रच्छन्न रूप भी कथानक पर छाया हुआ है। एक ओर सामंती व्यवस्था का भूत पुकार रहा है। लहू से जिसकी नींवें तक रंगी हुई हैं। दूसरी ओर करनेटों का खानाबदोश समाज है, जो घोर उत्पीड़ित है, जिनकी स्त्रियों को पुलिस की वासना का शिकार होना पड़ता है, जिन्हें अकारण ही बन्दी बना लिया जाता है। बड़ी जाति के लोग जिनसे नाजायज ताल्लुक रखते हैं।

वर्ग-संघर्ष का केवल आर्थिक पहलू प्रस्तुत करना रांगेय राघव का कभी अभिप्राय नहीं रहा। उस प्रगतिवाद में मानवतावाद के वे स्वर हैं जो किसी कृतिकार को संकुचित सीमाओं की परिधि से मुक्त कर वृहत् लक्ष्य की ओर उन्मुख कर देते हैं। रांगेय राघव का यह प्रगतिवादी दृष्टिकोण ध्वंसात्मक न होकर सृजनात्मक है। शोषण के प्रति आक्रोश होते हुए उसकी चरम परिणति मानवतावाद में है—“शोषण की घुटन सदैव नहीं रहेगी। वह मिट जायेगी। सत्य सूर्य है। वह सदैव मेघों से घिरा नहीं रहेगा। मानवता पर से यह बरसात एक दिन अवश्य दूर होगी और तब नई शरद में नये फूल खिलेंगे, नया आनन्द व्याप्त हो जाएगा।”

रांगेय राघव के स्वयं के परिवेश का एक विचारणीय पक्ष उनका कवित्व भी है। प्रकृति-परिवेश और ग्रामीण अंचल के परिवेश में नयनगोचर, भव्य, संश्लिष्ट चित्र कविजन्य कल्पना से अनुप्रेरित हैं। रांगेय राघव मूलतः कवि थे। उदर-भरण के लिए अन्य विधाओं में रचित साहित्य ने उनकी सजग और स्फुरणशील चेतना को कुण्ठित कर डाला। इसमें कोई सन्देह नहीं कि रांगेय राघव को वर्णन-शक्ति की अद्भुत क्षमता प्राप्त थी। अनेक स्थलों पर लेखक की अतिशय भावुकता और रूमानी प्रकृति इसकी साक्षी है। यही कारण है कि वह स्थल चाहे चमरखोर का हो, चाहे सुखराम के घायल होने पर कजरी का करुण क्रन्दन हो, चाहे रस्तमखाँ की सुजाक-वेदना का हो, चाहे कजरी और प्यारी का व्यंग्य-विलास हो, सर्वत्र वर्णन-चमत्कार और लेखनी की प्रखरता परिलक्षित होती है। बाँके द्वारा धूपो के साथ किये गए बलात्कार का माहौल और उसके विलाप का जो संवेदनशील वर्णन हुआ है, वह वस्तुतः श्लाघनीय होने के साथ-साथ उपन्यास का श्रेष्ठ अंश है। परन्तु वर्णन करते-करते रांगेयराघव इतने भावुक हो उठते हैं कि अचेतन में परिव्याप्त नाटकीयता से अपने को असम्पृक्त नहीं कर पाते। यही कारण है कि धूपो के विलाप और भीड़-प्रतिक्रिया में अबूझी, अवाचित नाटकीयता है। कहीं-कहीं संवेदना को इतना गहरा रंग दिया है कि प्रकृति भी संवेदित हो उठती है। धूपो को बलात्कार के लिए विवश कर दिया गया है, उस समय का वर्णन है :—

“अधियारा और घना हो गया और कोई भी तारा जैसे उसकी पतों को हटाने और काटने में असमर्थ हो गया। खेतों में हवा सनसनाने लगी और दूर-दूर तक आकाश में भागती फिरती यातना-सी कर उठती। और फिर जैसे आत्मीयता का चीत्कार करती हुई रोने लगती। उनकी अपनी सत्ता आप लज्जा से डूब रही। कुएँ की उदासी निकलकर अब उसकी जगत पर पड़े चरस में भर गई।”

रस्तमखाँ के घर में हुए अन्निकांड के वर्णन से पाठकों को पुनः चमत्कृत होना

पड़ती है—“अगर अब कभी भालों की दीवार की तरह सीधी खड़ी हो जाती, और फिर हवा के विरुद्ध अपने हजारों हाथों में तलवारें लेकर दाएँ-बाएँ चलाती और कभी-कभी जब हवा कहीं हटने का उपक्रम करती तो तीरों की बौछार की तरह उस जगह टूटती और फिर वहाँ सिंह की भाँति शिकार को फाड़कर उसके लाल-लाल रक्त को बहा देती ।”

• ऐसे स्थलों पर रांगेय राघव की भाषा प्रसंगानुकूल ओज, माधुर्य और प्रसाद में पैगें भरने लगती है ।”

: ३ :

कथा-संरचना की दृष्टि से रांगेय राघव ने चार पीढ़ियों की कथा को एक साथ समाहित करने का प्रयास किया है । इससे कथानक इतना बोज़िल हो गया है कि कथा-सूत्रों में बिखराव आ गया है । जहाँ एक ओर संवेदनात्मक, हृदयग्राही और मार्मिक स्थल हैं, दूसरी ओर अनावश्यक विस्तार से लेखक अपने को बचा नहीं सका है ।^१ ६२८ पृष्ठों के इस उपन्यास को यदि ३४७ पृष्ठों में ही समाप्त कर दिया जाता तो कथानक का कसाव मोहक बन जाता । ‘चन्दा’ के आविर्भाव की ३०० पृष्ठों की जो कथा गढ़ी गई है,^२ वह उपन्यास के ठहराव और शैथिल्य की द्योतक है । लेखक ने जिस क्षिप्रता और विस्फोट के साथ कथा का प्रारम्भ किया है, अन्त तक उसका निर्वाह नहीं कर पाया है ।

: ४ :

विवेच्य उपन्यास में त्रिकोणात्मक प्रमुख पात्र-विधान किया गया है । सुखराम, प्यारी और कजरी के चारों ओर कथा घूमती है । सुखराम अपने को अभिजात्य वर्ग का समझता हुआ, अभिजात्य के संस्कारों के अस्तित्व को बनाये रखने का प्रयास करता है । परन्तु परिवेश और संस्कारों के संघर्ष में परिवेश विजयी होता है । कजरी द्वारा भ्रष्ट प्यारी से उसका विवाह हो जाता है । अपने को ठाकुर कहने पर (यह उसकी मानसिक विकृति समझी जाती है) उसे ‘नटी का जाया’ आदि व्यंग्य-वाणों को सहन करना पड़ता है । परिवेश-जन्य वैषम्य होने पर भी उसकी इच्छा-शक्ति कुण्ठित नहीं होती है । वह लौ उसके हृदय में निरन्तर जलती रहती है । अधूरा किला, मानो उसके कुण्ठित और टूटे हृदय में अभिजात्य गौरव पाने का प्रतीक है । पुलिस, समाज (उच्चवर्ग) और उसके स्वयं का परिवेश वे अवरोध हैं, जिनके प्रति सुखराम के हृदय में तीव्र विद्रोह है, अनास्था है । विद्रोही हृदय की विफलता उसे और भी विकल

१. कजरी-सुखराम, कजरी-प्यारी की चुहल और निस्सार बतियाने में, दीना द्वारा कही गई दीर्घ कथा में और डाकू प्रसंग में यह अनावश्यक विस्तार है ।
२. अ—इसके परिपार्श्व में, सम्भवतया, बदलते मूल्यों में करनटीय जीवन को दिखाने का उद्देश्य रहा है । यह भी सम्भव है कि मानवतावादी दृष्टिकोण की व्यंजना को इस कथा-सूत्र को पकड़ना पड़ा हो ।

आ—पूरवर्त्ती कथा के शैथिल्य होने के दो कारण रहे हैं :

(१) एक ही बैठक में उपन्यास की परिसमाप्ति का संकल्प ।

(२) अपनी लिखी हुई कृति को दुबारा पढ़ने और चिन्ता न करने की प्रवृत्ति का अभाव ।

कर देती है। उसके हृदय की सम्पूर्ण अनिच्छाओं के बावजूद भी जब समाज के प्रति-
 शोध की प्यासी प्यारी रस्तमखाँ सिपाही की रखैल बन जाती है तो मुखराम का हृदय
 टूट जाता है। मुखराम उस टूटने के बाद भी पत्नी का गुलाम नहीं बनना चाहता है।
 उसके अभिजात्य होने का दंभ बिकर पड़ता है। लाचारी, विवशता और कुण्ठा भी
 उसके अहं को कुचल नहीं पाते हैं। प्यारी जब उससे कहती है तू नहीं जा सकता,
 तो मुखराम क्रोध से कहता है—‘तो क्या मैं तेरी चाकरी करूँगा हरामजादी।’ लेकिन
 परिवेश से कुचला हुआ निरीह मुखराम, प्यारी के सामने हथियार डाल देता है। वह
 रस्तमखाँ से कहता है—‘सरकार ! आप मुझे दो दिन को थाने भेज दो। फिर रहम
 करके मेरी बोली लगवा दो। रोज हाजिरी दे जाया करूँगा। आपकी भी रह जायगी,
 प्यारी की भी रह जायगी। सरकार ! मुझ पर से भी बोझ उतर जाएगा।’

बधेर से निहत्था लड़नेवाला, डाकुओं को अपनी शक्ति से आक्रान्त करनेवाला,
 बाँके और उसके बीसों गुण्डों के छक्के छुड़ाने वाला, वीर और निडर मुखराम, समाज,
 सामन्तवर्ग और पुलिस के सामने भीगी-विल्ली बन जाता है। अपनी समस्त कमजोरियों
 के बावजूद भी वह मानवतावादी भावनाओं से ओत-प्रोत है। अपने प्रतिद्वन्द्वी रस्तमखाँ
 के सूजाक की चिकित्सा, समस्त दुर्भावनाओं के बाद भी प्यारी की चिकित्सा, पशुत्व
 के उन्नयन के क्षीने पर्व को हटाकर प्यारी में देवीत्व के दर्शन, धूपा की रक्षा, कजरी
 को आश्रय और सूसन की प्राण-रक्षा के मूल में वही भावना निहित है। प्यारी की
 मृत्यु पर उसका मानसिक आघात उसके तीव्रतम प्रेम का परिचायक है।

प्यारी जिस परिवेश में जन्म लेती है, उसकी समस्त विसंगतियाँ उसके चरित्र
 का अंग बन जाती हैं। मुखराम से विवाह होने पर भी वह कंजरी के यहाँ पड़ी रहती
 है, शराब पीती है। दरोगा की भोग्या होने पर वह मुखराम से कहती है—मेरा क्या
 बिगड़ गया है ? उन ठाकुरों से बदला लेने के लिए, जिन्होंने अपना काम साधकर उसे
 दुःखी के स्थान पर इकन्नी प्रदान की थी, उस निरोत्ती ब्राह्मण से प्रतिशोध लेने के
 लिए, जो अपना काम निकालकर पूरी गुड़ की भेली देने को कहकर मुकर गया था,
 और हुक्मत करने की उद्दाम लालसा लेकर, वह रस्तमखाँ की रखैल बन जाती है।
 उसकी नैतिकता का मापदण्ड है—‘नाता जोड़ना और बात है, मन की होकर रहना
 और बात है।’ वह दूसरों से नाता जोड़ती हुई भी मुखराम के मन की होकर रहना
 चाहती है। उसकी आँखें खुलती हैं, जबकि रस्तमखाँ को सूजाक का रोग हो जाता
 है और उसका वास्तविक रूप उसके सामने आ जाता है। कजरी का बढ़ता हुआ
 अबाध अधिकार भी उसकी आँखों में खटक जाता है। अन्त में कजरी से इतना स्नेह
 हो जाता है कि उसके लिए पेट में लात खाती है, रस्तमखाँ से, और इहलीला समाप्त
 कर देती है।

कजरी भोगायित होते हुए भी, मुखराम से विवाह करने के उपरान्त, पति-
 निष्ठ बनने में पूर्ण सफल होती है, यहाँ तक कि बाँके द्वारा मुखराम के घायल होने
 पर, उसका करुण-क्रन्दन अत्यन्त संवेदनशील हो उठता है। वह बाँके से प्रतिशोध
 लेने की प्रतिज्ञा करती है, जिसे अन्त में पूर्ण कर लेती है। उसमें नारीसुलभ ईर्ष्या,

पति पर अधिकार की अबाध लालसा, ममता और मोह भी है। सूसन की रक्षा को, गर्भवती होते हुए भी, लारेंस की लात सहती है।

विवेच्य उपन्यास में मानवीय संवेदनाओं को उभारने में रांगेय राघव को पूर्ण सफलता प्राप्त हुई है। यथार्थवादी दृष्टिकोण के साथ पैनी सूझ, चिन्तन की गरिमा और लौकिकानुभूति की गरिमा अपने सम्यक् रूप में निखरकर इस उपन्यास में आई हैं। कथा-संरचनाओं के शैथिल्य होने और नाटकीयता से युक्त होने के बाद भी यह उपन्यास ग्रामीण अंचल की अभिव्यक्ति में अपने ढंग का सशक्त और अनूठा उपन्यास है।

डॉ० लक्ष्मीधर मालवीय

यह पथ बंधु था

इस देश के पिछले पचास वर्षों का इतिहास अत्यन्त घटनासंकुल रहा है, हालाँकि इनमें से अधिकतर घटनाएँ राजनीतिक थीं। भले ही यह सम्भव है कि आने वाली पीढ़ियों की दृष्टि में यह काल-खण्ड केवल रोचक घटनाओं का पुंज मात्र माना जाए। हमें इन पचास वर्षों का लेखा-जोखा प्रामाणिक इतिहास-ग्रन्थों में और कदाचित् उससे भी अधिक, राजनेताओं की प्रसिद्ध आत्म-कथाओं में अवश्य मिल सकता है, लेकिन ये कोई भी या सभी दृष्टियाँ एक सामान्य व्यक्ति की दृष्टि से इस समय के सामाजिक इतिहास को रिकार्ड नहीं कर पातीं। अतः श्री नरेश मेहता का लक्ष्य 'यह पथ बंधु था' में 'उस काल के मानव को प्रतीक रूप में प्रस्तुत करना' रहा है। यह कृति, मोटे तौर पर कहें तो, छायावाद-काल के राजनीतिक-सामाजिक परिप्रेक्ष्य में व्यक्ति-मन का आकलन करती है।

भारतीय स्वभाव के निकट सबसे बड़ा गुण माना गया है—मौन सहनशीलता : चुपचाप झेलते जाना। शायद यह विशेषता इस सीमा तक किसी भी अन्य देश में नहीं पाई जाएगी। क्रमशः यह मौन और सहनशीलता हमारे न केवल स्वभाव और हमारी जीवन-पद्धति का हिस्सा हो गया है बल्कि हमने इसे विराग के रूप में एक दार्शनिक ऊँचाई भी दे दी है। (इस सम्बन्ध में उल्लेख्य श्री अज्ञेय की २६-७-६५ को आकाश-वाणी दिल्ली से प्रसारित वार्ता।) पिछले कुछ दशकों का राजनीतिक इतिहास इसी मौन सहनशीलता की बाह्य अभिव्यक्ति है—और भारतीय विभिन्न साहित्यिक क्षेत्रों में छायावादी दृष्टिकोण (कविता नहीं, दृष्टिकोण) उसकी साहित्यिक परिणति या निष्पत्ति ! इस मौन सहनशीलता का सबसे अधिक सशक्त रूप में, और विस्तार से, वर्णन किया है श्री नरेश मेहताने अपने इस उपन्यास 'यह पथ बंधु था' में। उपन्यास को पढ़ते-हुए बहुधा तो यह सन्देह होता है कि क्या पात्रों की अपेक्षा इस व्यापक मौन के पङ्क्ति-का चित्रण करना ही उपन्यासकार का प्रमुख लक्ष्य तो नहीं ? लेकिन नहीं, उपन्यासकार की दृष्टि में वह प्रासंगिक ही है।

वस्तुतः यह मौन सहते जाने की दारुण यन्त्रणा एक प्रकार से काल का पड्यन्त्र ही है, हालाँकि इस बीच के युग की पीढ़ियों का निर्माण इस मौन सहनशीलता के बारीक तारों से हुआ था और (यदि कोई कह सके कि वे पीढ़ियाँ असफल थीं तो) उसकी असफलता का कारण भी इन्हीं तत्त्वों में निहित था । 'यह पथ बंधु था' में श्रीधर ठाकुर का प्रतीकरूप चरित्र इसका सबसे अच्छा उदाहरण है ।

श्रीधर का व्यक्तित्व सदा दूसरों के हाथों आकार पाता है । बाल्यावस्था में श्रीधर का अधिकतर समय अभिजात्य गुणसम्पन्ना इंदु दीदी के पास बीतता है—एक तरह से श्रीधर की मानसिक संरचना में उन्हीं का सबसे प्रमुख हाथ था । श्रीधर सचमुच 'दीदी के आँचल में बँधा बोलता खरगोश' (पृ० १३०) था । शायद उसे जीवन के लिए इतना थोड़ा-सा पाथेय देकर इंदु दीदी व्याहृत हो अपनी समुराल चली जाती हैं । इसके बाद श्रीधर को पूरा जीवन निःसंग भाव से समय को झेलते जाना है । 'दीदी के जाने के बाद वह चुप्पा ही होता चला गया ।' (पृ० १४६) 'अब श्रीधर के लिए दीदी भी क्रमशः दूरागत ध्वनि होती जा रही थी । दीदी ही उसके लिए घटना थी और अब वह निश्चय ही घटनाहीन था ।' (पृ० १५५) 'सबमें जैसे कोई अज्ञात प्रतीक्षा थी जिसे वे अज्ञात रूप से जिये जा रहे थे ।' (पृ० १५६) उसके आसपास अनेक घटनाएँ घटित हुईं, लेकिन जैसे वे घटनाएँ उसके लिए नहीं थीं—इन्दु दीदी विधवा हो गई, श्रीधर विवाहित हुए, मिडिल पास होकर उसी स्कूल में अध्यापक हो गए और तीन सन्तानों के पिता भी बन गए । लेकिन रहे वे वैसे ही अनिर्णीत—राज्य के इतिहास में श्रीमन्तों को आदरसूचक सम्बोधन देने की अपेक्षा 'कल जब वे त्यागपत्र दे देंगे उसके बाद क्या होगा ? कौन जाने ?' (पृ० १६१) वह इसी मनःस्थिति में एक दिन मुँह-अँधेरे नियति-चालित-से, सिद्धार्थ की तरह पत्नी-बच्चों, माता-पिता, घर-परिवार और अपनी जन्म-भूमि छोड़ देते हैं—वह स्वयं नहीं जानते, जाने कब तक के लिए ! उज्जैन पहुँचते हैं, लेकिन वहाँ भी उन्हें लगता है कि 'यहाँ से भी आगे, कहीं दूर जाना होगा । लेकिन कहाँ ?' (पृ० १८१) जाड़े की उस रात को वह स्टेशन की बेंच पर काटते हैं, लेकिन अगली सुबह होते ही गाँव से खोजने के लिए आए किसी व्यक्ति द्वारा देख न लिए जाएँ, इसलिए सामने खड़ी इन्दौर वाली ट्रेन पर चढ़ जाते हैं । इन्दौर में जिस सराय में वह ठहरते हैं उसके सामने से नारे लगाता एक जुलूस गुजरता है । यह जानकर कि यह स्वराजियों का जुलूस है, श्रीधर बावू अनायास ही साथ हो लेते हैं । वह विशन बाबू के सम्पर्क में आते हैं, जो सर्वहारा कोटि के राजनीतिक कार्यकर्ता हैं । वह मजदूरों के जीवन से भी निकट से परिचित होते हैं—सायंकाल के समय वह मजदूर बस्ती की पाठशाला में पढ़ाने जाते हैं ।

ये घटनाएँ श्रीधर के ऊपर से बिना उस पर कोई छाप छोड़े गुजरती जाती हैं । श्रीधर अभी से ही बहुत-कुछ निरीह-से व्यक्ति हो गए हैं । विशन इसका कारण समझता है; वह श्रीधर के साथ घूमते हुए इन्दु के लिए कहता है—'दीदियाँ अपने भाइयों को ऐसा ही बना जाती हैं... अपने जैसा निरीह । जैसा कि श्रीधर है !' (पृ० २३४)

इन्दौर आने के पश्चात् विशन से भेंट, उसके जीवन में थोड़ा अपने को शामिल

करने के अलावा श्रीधर के यायावरी जीवन की उल्लेख्य-उपलब्धि (!) है मालिनी—दूसरी दीदी !’ इससे आगे उपन्यास का बड़ा भाग विशन, मालिनी और ‘दीदीत्व’ (पृ० २७८) को अर्पित है । दीदी श्रीधर के ही पास नहीं है, विशन के पास भी एक है । विशन आगरा से भागकर इन्दौर आये थे और श्रीधर की ही भाँति लक्ष्यहीन, समय व्यतीत करने के लिए पीपल्या टैंक पर बैठे थे । तभी वहाँ एक स्त्री आई और अँधेरा होने के बाद आत्महत्या करने के लिये ताल में कूद पड़ी । विशन ने उसकी प्राणरक्षा की । वह वेश्या थी और अपना घृणित जीवन समाप्त करना चाहती थी । बेहोशी टूटने के बाद वह कहती है—‘विशन बाबू, कभी वेश्या का भाई बनने की कामना हो तो यह मालिनी, दीदी बनने को उत्सुक रहेगी ।’ क्यों नहीं—और वह दीदी बना ली जाती है । कुछ दिनों बाद जब सराफ़ा-बाज़ार से होकर जाते हुए विशन को मालिनी का नौकर घर बुला ले आता है तो मालिनी उसे भोजन कराती है; ‘वेश्या के यहाँ का नहीं खिलाऊँगी । दीदी होकर छोटे भाई का ब्राह्मणत्व नहीं लूँगी ।’ (पृ० २४८) इस प्रकार हम देखते हैं कि दोनों की एक-एक दीदियाँ हैं, हालाँकि दोनों दीदियों में अन्तर है, जिसमें ‘सबसे बड़ी बात तो यह कि इन्दु श्रीधर की दीदी थी जबकि मालिनी विशन की दीदी है ।’ (पृ० २७८) इससे बड़ी बात दूसरी हो भी सकती है । हालाँकि ‘सबसे बड़ी बात तो यह’ है कि लेखक इस ‘दीदीत्व’ की संगति, सार्थकता या मात्र-उपयोगिता ही सही, पात्रों के जीवन में कहीं भी स्थापित करने में सफल नहीं हो पाता—यह विशेषकर विशन-मालिनी के सम्बन्ध में अधिक सही है : यदि मालिनी को कथा से बिल्कुल हटा लें तो भी कोई विशेष अन्तर नहीं पड़ता ।

यह दीदीवाद पिछली पीढ़ी के लिए एक अनिवार्य-सी मानसिक आवश्यकता बन गई मालूम देती है । वही दीदीवाद इस उपन्यास का एक महत्वपूर्ण अंग है । यह दीदीवाद अन्यत्र भी है । दीदी ‘वाणभट्ट की आत्मकथा’ में भी है, लेकिन दृष्टि को मुक्त रखने के कारण खटकती नहीं । दीदीवाद शरत में भी खूब है, लेकिन उसे शरत के पात्रों और बंगाल की मिट्टी की बास का हिस्सा होने के कारण नज़रंदाज़ कर दिया जाता है । लेकिन आधुनिक भावबोध के साथ दीदीवाद की संगति बिठाना कठिन लगता है, इसी कारण समसामयिक भावबोध वाले पाठक को सबसे बड़ी कठिनाई है इस दीदीवादी दर्शन की कोई, कौसी भी व्याख्या करने की ! मनोविज्ञान की आधुनिक व्याख्याओं के आधार पर इसे किसी एक खाने में डालकर भी चलता नहीं किया जा सकता । जो भी हो, यह तो निश्चित है कि उपन्यासकार द्वारा इच्छित प्रभाव पाठकों तक नहीं पहुँचता है—‘क्या यहाँ ऐसे ही हमेशा-हमेशा के लिए हम-तुम नहीं बैठे रह सकते ?’ उत्तर में हँसती हुई इन्दु किंचित् जोर से उसके कान उमेठ देती है ।’ (पृ० १२७) थोड़ी देर बाद—‘आज उसे दीदी जैसे बहुत बड़ी लग रही थी । सम्भवतः पूर्ण युवती । दीदी ने उसे अपने से चिपटाते हुए कहा—क्यों, तेरी दीदी को कहीं किसी के यहाँ जाना नहीं है क्या ?’ (पृ० १२८) इसकी मनोवैज्ञानिक व्याख्या में उलझने की आवश्यकता नहीं—क्योंकि आज भी अनेक व्यक्तियों के लिए यह बड़ा ‘डेलीकेट’ विषय है—परन्तु है यह अवश्य ही एक मनोग्रन्थि—ठीक वैसे ही जैसे एक युवती का अपने युवक प्रेमी को पाँच

वर्ष का बालक मानकर उसका माथा चूम लेने का अस्वाभाविक आवेश ! इस दीदीवाद की परिणति, स्वाभाविक है, सहज नारी को माँ-पद पर लाकर ही होती है—‘विशन रे, किसी जन्म में तुझे अपने पेट से उत्पन्न देखना चाहती हूँ...’ (पृ० २७५) रतना कहती है, ‘दीदी ! ‘माँ’ कहने को मन करता है ।’ (पृ० ३०२)

विशन वास्तव में आतंकवादी दल का सदस्य है, यह श्रीधर को बाद में ज्ञात होता है। विशन ही वह छद्मनामधारी षड्यन्त्रकारी शक्तीकुल्ला है जिसकी खोज में पुलिस बड़ी सरगर्मी से लगी है। श्रीधर इन्दौर से बाहर जा रहा है, तभी स्टेशन पर अत्यन्त रहस्य-रोमांचक स्थिति में एक लँगड़े भिखारी के छद्मवेश में विशन से भेंट होती है और वे दोनों लौटते हैं। इन्दौर में विशन और मालती का विवाह मालती के पिता पुस्तके साहब की इच्छा के विरुद्ध चुपचाप हो जाता है। पुस्तके साहब विशन पर अपहरण का मुकदमा दायर करते हैं और उसकी गिरफ्तारी का वारंट निकलवाते हैं। अतः विशन को और उसके साथ श्रीधर को भी इन्दौर छोड़कर बनारस भागने का निर्णय लेना पड़ता है। बनारस आकर विशन श्रीधर का परिचय अपने दल की एक युवती रतना से कराकर गायब हो जाता है। बाद में रतना से ही श्रीधर को सूचना मिलती है कि विशन इन्दौर में मालवा हाउस में एक अंग्रेज अधिकारी की हत्या करने के प्रयत्न में मारा गया।

विशन हमें ‘पथेरदावी’ के सव्यसाची का स्मरण दिलाता है। परन्तु सव्यसाची के लिए क्रान्ति मन-मस्तिष्क में गहरे पँठकर चेतना में ही समाहित हो गया जीवन का एकमात्र लक्ष्य है, लेकिन विशन के निकट क्रान्ति महज एक वक्ती चीज है। सभी देशों में आतंकवादियों की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता समान देखी गई है : उनका ‘फ़नेटेसिज़्म’, यही उनके जीवन में, यही उनके व्यवहार में—लेकिन यह गुण न विशन में मिलता है और न रतना में। इसी कारण विशन क्रान्तिकारियों की मुद्रा धारण करते हुए भी उनकी एनिमिक प्रतिच्छवि ही मालूम देता है। यही कारण है कि मालवा हाउस पर आक्रमण करते हुए पुलिस की गोली खाकर उसका प्राण देना बहुत प्रभावित नहीं करता। रतना का क्रान्तिकारी आन्दोलन से सम्पर्क भी संयोग से हो गया था—अपने एक निकटस्थ सम्बन्धी शुभदा द्वारा वह आतंकवादियों के सम्पर्क में आई ‘और आज तक क्रान्तिकारी है, निश्चैई’ (पृ० ४४२) इसी कारण जब वह आतंकवादी कार्यों से सम्बन्धित होने के कारण फाँसी पाती है तो लगता है कि बेचारी ने व्यर्थ ही जान गँवाई !

श्रीधर के लिए उपलब्ध करने को कुछ नहीं है—प्रभावित तक होने को भी नहीं ! बनारस में वह सात रुपये माहवार पर पूफ़रीडरी का काम पाते हैं। फिर एक पत्रिका के अवैतनिक सम्पादक होकर सारे बनारस का पैदल चक्कर काटते फिरते हैं। ‘उन्हें न दुख होता है न अपमान होता है, न परिताप होता है—बस वे केवल उन सबको एकान्त में भोगते हैं।’ (पृ० ४२७) कांग्रेस आन्दोलन में भाग लेने के कारण उन्हें तीन वर्ष की सजा होती है। जेल से निकलकर वह एक राष्ट्रवादी साप्ताहिक निकालने की योजना तैयार करते हैं और अब उसके लिए पूरे नगर का चक्कर काटते हैं। अब

उन्हें प्रत्यक्ष अनुभव होता है कि तथाकथित उच्चवर्ग वास्तव में कितनी अधम वृत्ति का है। 'रतना' का एक थला, जिसमें बम रखा है, रामनगर पहुँचाने की 'चेष्टा' में वह पकड़े जाते हैं और इस बार दस वर्ष जेल के सीखचों के पीछे काटते हैं। जेल से छूटते हैं तो फिर पहिले की तरह अजनबी और उखड़े हुए। राष्ट्रीय साप्ताहिक की योजना उन्होंने त्यागी नहीं है। उन्हें एक प्रकाशक मिल जाता है और 'शंखनाद' का प्रवेशांक निकलता है। उसकी प्रतियाँ वह अपने देश, अपने पिता के नाम, नारायणबाबू और गाडगिल हेडमास्टर के नाम भेजते हैं—घर से दूटा सम्पर्क यों पचीसों वर्षों के बाद जुड़ता है। घटनाएँ और तेजी से गुजरती हैं—सन् सैंतीस, महायुद्ध और बयालीस का आन्दोलन। पुराने क्रान्तिकारियों से सम्बद्ध होने कारण कहीं काम नहीं मिलता। घोर आर्थिक संकट और उपेक्षा। वह निर्णय करते हैं, 'घंटों शहतीरे ताकने के बाद...' कि घर लौट जाएँगे। यह एक ऐसा निर्णय था जैसे कि आत्महत्या का निर्णय किया हो। लेकिन कई बार आत्महत्या का निर्णय भी तो मनुष्य करता ही है।' (पृ० ५६४) वह घर लौटते हैं। 'इसी कल को हीले से निःशब्द बन्द करके एक दिन किननी सवेरे चुपचाप गये थे और आज अपनी समस्त आयु, उत्साह सब-कुछ बाहर को सौंपकर दूटे पराजित व्यक्तित्व के साथ घर लौटकर फिर उसी घर का दरवाजा...' (पृ० ५७३)। माता-पिता कभी के दिवंगत हो गए, पुत्री गुणी समुराल में मिली यन्त्रणाओं से अपाहिज हो घर लौटकर घिसट रही है, पत्नी सरो यक्ष्मा से तिल-तिल घुल रही है। यहाँ भी वह पाते हैं कि राजनीति के लिए वह अनुपयुक्त हैं; वह अपने को सारी सामाजिकताओं से काट लेते हैं। सरो का देहान्त होता है—जो 'बस्ती के इस एकमात्र पथ को साक्षी बना पालकी में बैठकर आई थी...' अपनी देह से उत्पन्न प्रजा के बीच उसी पथ से सबको बन्धु बनाकर लौट गई।' (पृ० ५९१) तेरहवीं के बाद छोटी लड़की सुशीला अपनी समुराल लौट जाती है, सरो के माता-पिता अपाहिज गुणी को अपने साथ ले जाते हैं, पुत्र देवव्रत भी अपनी पढ़ाई पूरी करने उन्हीं के साथ वापस लौट जाता है। अकेले घर में साँझ, कहीं कोई शब्द नहीं। तेज बरखा हो रही है। छत टपक रही है। श्रीधर बाबू हाथ में लालटेन लिये पूरे घर में दो हाथ सूखी जमीन खोज रहे हैं। वह निर्णय करते हैं कि इस बार वे मनुष्य का इतिहास लिखेंगे। अकेली लालटेन का पीला मद्धिम आलोक और मूसलाधार वृष्टि। वह मनुष्य का इतिहास लिखते हैं।

श्रीधर ही नहीं उपन्यास के अन्य पात्र भी जीवन को आदि से लेकर अन्त तक इसी प्रकार मौन होकर झेलते जाते हैं। पिता श्रीनाथ ठाकुर—इस पीढ़ी से भी पिछली पीढ़ी के व्यक्ति, 'जिनके सम्पूर्ण व्यक्तित्व, सभी में आवेशहीन शान्ति या असंग भाव ही रहता है' (पृ० ३४६) श्रीधर ने किसी राज्य का इतिहास लिखा श्रीमन्तों को विशेष सम्मानसूचक सम्बोधन अधिकारियों और मित्रों की प्रेरणा पर भी नहीं दिये। वह झुकने के बजाय नौकरी से त्यागपत्र देने का निर्णय करते हैं। पिता श्रीनाथ ठाकुर झूले पर लेंटे हुए 'विष्णुसहस्रनाम' का पाठ करते रहते हैं: श्रीधर का निर्णय सुनकर 'पिता एक क्षण को हतप्रभ अवश्य हुए, लेकिन वे पुनः पाठ में लग गए।' (पृ० ३४) श्रीधर के गायब होने पर उनके मित्र नारायण बाबू और पेमेन उन्हें ढूँढ़ने वैजनाथ

जाते हैं; उसे वहाँ न पाकर आधी रात में पिता को खबर करने आते हैं। खोज का परिणाम जानने की 'पता नहीं क्यों पिता ने उत्सुकता नहीं दिखाई।' (पृ० ३१२) यह निर्वेद या उदासीनता नहीं है; यह स्थिति का यथावत मौन-स्वीकार है। सरो के सामने भी मौन-स्वीकार के अतिरिक्त वरण करने को दूसरा मार्ग नहीं—'न खाना, न पीना, न रोना, न धोना—वस जैसे घिघी बँध गई हो।' (पृ० ३२०) वह तो एक प्रकार से पति को समर्पिता, उनके साथ तदाकार हो गई है—'वह त्यागपत्र दे रहा हूँ... तुम्हें कुछ नहीं कहना ?— मैं क्या आपसे अलग हूँ ? आप अपने को एकाकी मानते हैं मानें...' (पृ० १७३) 'मेरा तो स्वत्व, व्यक्तित्व, लोक-परलोक सब उसी दिन आपमें लीन हो गया।' (पृ० ३६) गुणी कहती है, 'असल में मुझे बोलना आता ही नहीं। रोज जाने कितना, कैसा-कैसा देखते-देखते वस, देखने की आदत पड़ गई है।' (पृ० ३६६) यह कथन न केवल उपन्यास के अन्य पात्रों के लिए सही है बल्कि फैलकर आज के अवश, निर्णय के भागीदार होने में असमर्थ असंख्य 'अंधेरे से अंधेरे तक यात्रा करने वालों हज़ारों-लाखों साधारण कमजोरों' (पृ० ५१३) पर भी चरितार्थ होता है। गुणी समुराल से अपाहिज बनाकर लौटा दी गई है, 'उसे दिनों नहीं महीनों हो जाते हैं बोले। सारी बातों का उत्तर वह फटी-फटी आँखों के अबोलपन से दिया करती थी।' (पृ० ४७१) एक प्रकार से यह स्थिति पूर्णतया अस्तित्ववादी है—जहाँ व्यक्ति जीवित है, जीवित रहने की चेतना से रहित और इसी चेतना को पकड़ पाना उसके लिए सबसे कठिन चेष्टा है। लेकिन इस चेतना को पकड़ पाने में आड़े आ जाती है उपन्यासकार की आस्था।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, श्रीधर तथा उपन्यास के अन्य सभी प्रमुख पात्र त्रिशंकु की तरह आस्था और अनास्था के बीच झूलती पिछली पीढ़ी के जीवन को जीते हैं। अपना आकार पाने में वे सर्वथा असमर्थ हैं। उनके जीवन को एक लक्ष्य की खोज है—हालाँकि इस खोज में भी वे दिशाहीन आगे बढ़ते जा रहे हैं। जीवन की खोज रोम्ब्याँ रोलाँ के 'ज्याँ क्रिस्तोव' में भी मिलती है। श्रीधर की ही समकालीन पीढ़ी का ज्याँ क्रिस्तोव अपने पूरे जीवन-भर उस स्थान को पाने की कोशिश करता है जहाँ वह अपने पैर टिका सके—श्रीधर की ही भाँति बार-बार उसे वह आधार मिलता है और प्रत्येक बार उसके पैर बिछल जाते हैं। रोलाँ उसे धर्म और भविष्य के प्रति आस्था का आधार देते हैं—अन्त में उसे यह आधार मिलता है—या शायद यह भी मृगमरीचिका ही है—विराट के महदाकार में अपने पृथक् अस्तित्व के विलय का परमानन्द : महाप्रयाण के समय ज्वर की अर्धचेतनावस्था में बजती हुई घिःः, 'द्वार खुल गया है।' 'तुम कौन हो ?' 'मैं आने वाला कल हूँ।' ज्याँ क्रिस्तोव का पूरा जीवन-विस्तार जैसे धुन्ध में लिपटी समुद्र की पारे-सी झिलमिलती क्षितिज-रेखा है। श्री नरेश मेहता अन्त में इतना ही देख पाते हैं कि 'युद्ध ही मानव-जाति का इतिहास रहा है।' (पृ० ५६४) (कितना अच्छा होता कि उपन्यासकार '...वह आया जल प्रतिश्रुत था—वे लिख रहे थे...' के आगे केवल 'इति' लिख देता !) अज्ञेय के पात्र भी जीवन में सत्य के खोजी हैं, लेकिन वे इस खोज में मिशनरियों के लम्बे चोगे पहनकर नहीं

चलती—उनके सुष्ठु होने का यह कारण और परिणाम दोनों हैं। 'यह पथ बन्धु था' में घटझाएँ श्रीधर तथा अन्य सभी पात्रों को धकेलती हुई चलती हैं। श्रीधर अनुभव करता है कि 'कैसा सम्बन्धहीन सम्बन्ध इस पूरे व्यापार में है।' (पृ० १६६)—लेकिन यही सम्बन्ध होनला उसकी पूरी जीवन-दृष्टि में भी मिलती है। आश्चर्य है कि स्थितियाँ पूरी तोर से अस्तित्ववादी हैं, लेकिन न तो श्रीधर, न ही उपन्यासकार किसी भी स्थिति में जीवन के प्रति उपयुक्त रवैया अपना पाते हैं। इसी कारण श्रीधर या अन्य पात्रों का मौन विराग उनकी उदासीनता या असमर्थता का परिणाम मालूम होता है। (तुलना के लिए, 'अजनबी' में म्योर सॉल का मुकुदमे में अपने को बचाने की चेष्टा न करना जीवन के प्रति उसके अपने दृष्टिकोण के कारण घनात्मक है।) विचारणीय है कि श्रीधर यह जानकर भी कि 'वे केवल एकान्त में भोगते हैं', कि 'वे न जाने किस प्रतीक्षा को जिये जा रहे हैं', या कि जीवन को अपाहिज की तरह 'वे बस देखते रहते हैं', एक बार भी आत्महत्या की बात मन में क्यों नहीं सोच पाते—जैसे कि, ऐसी ही मनःस्थिति में आकर 'द सेटिंग सन' का नाओजी निर्णय करता है 'इससे कोई लाभ नहीं। मैं जा रहा हूँ। मैं ऐसा कोई कारण नहीं सोच पाता जिसके लिए मुझे जीवित रहना चाहिए।' शायद इसलिए कि श्रीधर की आस्था अभी निराकार-निराधार होने पर भी खण्डित नहीं हुई है। काश, कि वह घटनाओं के इधर से गुज़र सकता, लेकिन यह माँग करना शायद उसे पीड़ा पहुँचाना है।

श्रीधर द्वारा साक्षात्कृत जीवन के इस विशाल विस्तार को—उसके बड़े अंश को भी—लगभग छः सौ पृष्ठों में भी पूरी तरह से भरना असम्भव था, इसलिए उपन्यासकार ने इन्हें चित्र-खण्डों के रूप में दिखलाया है। इनके अन्तराल पाठक की 'कैलिडास्कोपिक' कल्पना द्वारा भरे जाने के लिए छोड़ दिये गए हैं। सांकेतिकता पर आधारित यह वर्णन-शैली निःस्सन्देह कथाशिल्प का उत्कृष्टतर प्रमाण मानी जा सकती है। इसका एक दूसरा अच्छा उदाहरण श्री विनोदचन्द्र पांडे का १३६ पृष्ठों का उपन्यास 'रैत, शून्य, हवा' है—'मैंने सिगरेट केस निकाला तो ड्राइवर ने जीप रोक दी। ऐसी तत्पर 'कर्टसी' राजस्थानी कर्मचारियों की विशेषता है—हालाँकि उनमें एक गम्भीर गर्व होता है—हुकुम दुहराने के बावजूद...' (पृ० ८२) 'यह पथ बन्धु था' में, अपने भाषा-वैभव के साथ, यदि उपन्यासकार ने ऐसी संक्षिप्ति की ओर ध्यान रखा होता तो निस्सन्देह यह उपन्यास हिन्दी-कथा-साहित्य की अन्यतम कृति कही जा सकती थी। लगता है कि कहीं-कहीं खण्ड-दृश्यों का आनयन केवल एक अन्तिम कथोपकथन का लोभ संवरण न कर पाने के कारण किया गया है। उदाहरण के लिए (पृ० १३३-३४) श्रीधर और इन्दु घूमने जाते हैं, श्रीधर तार के खम्भे पर कान रखकर तारों में बजने वाली हवा सुनता है और इन्दु को भी सुनाता है—केवल इतने के लिए यह दृश्य। व्यापक रूप में यही आपत्ति उपन्यास के मध्य भाग 'उत्तर पथ' में विशन और मालती आदि से सम्बन्धित अंश पर भी की जा सकती है। मालती दीदी से भेंट होने के बाद का अंश अधिक विस्तृत हो जाने के कारण बिखर गया है। दृश्य से एक केन्द्रीय व्यक्तित्व के गायब हो जाने के कारण यह बिखराव असंगत लगता है। संयोग से,

दीदी, विशन आदि पात्र ऐसे प्रबल हो जाते हैं कि वे रोशनी अपने इधर कर लेंते हैं और श्रीधर धुँधलके में खोया खड़ा रह जाता है। इसे दोष के रूप में इसलिए लिया जाएगा, क्योंकि इन मुख्यतर पात्रों का जमघट, उनका अपनी कहानी कहने लगना, श्रीधर चरित्र के विकास में—प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में भी—सहायक नहीं होता। वे श्रीधर के साथ घटनाओं के साथी हैं, सहभोवता नहीं। इसी कारण जब पृष्ठ ३०६ पर यह सूचना मिलती है कि नारायण बाबू श्रीधर को खोजने गाँव से आए थे, तब जैसे कथा का टूटा हुआ सूत्र पुनः जुड़ता है, जैसे कथा-प्रवाह घूमते हुए पाठक को हिलाकर जग जाता है। यह शायद इसलिए कि पाठक की जैसी संपृक्ति वाल्यकाल के खण्ड-चित्रों की प्रभावात्मकता के कारण 'पूर्वपथ' के साथ थी वैसे 'उत्तरपथ' में विशन आदि से नहीं।

खण्डों को जोड़ते हुए कथा कहने का प्रयास करते हुए कुछ सुन्दर चित्रों का अंकन भी हुआ है—एसे दृश्य जो सहज ही विस्मृत नहीं किए जा सकते। 'उन्होंने अपने कपड़े निकाले और तालाब में कूद पड़े। पानी एकदम ठंडा था। वाँहों से लहरें काटते एक अजीब तुष्टि मिल रही थी। तट पीछे छूटता जा रहा था। छतरी दूर से जितनी छोटी लगती थी उतनी छोटी वह थी नहीं। उन्होंने एक बार तट की ओर देखा। तट पर लोग रेंगते हुए दीख रहे थे। लोगों के बोलने की, डाकने की आवाज़ पानी पर उड़ती हुई आ रही थी। सूखती हुई धोतियाँ, कागज़ की पट्टियाँ लग रही थीं। बाला साहब की कोठी, खिड़कियाँ और गुम्बद...' (पृ० ५६) 'दौड़ती हुई ट्राली के साथ जैसे वर्षा भी भाग रही थी, पेड़ भाग रहे थे और पहली बार इन्के के पास सटे बैठकर श्रीधर का मन भी न जाने कहाँ भाग रहा था, जैसे एकाकी सारस सहसा खुले आकाश में वर्षा से घिर जाए और तब वह अपने पंखों को अनजान दिशा में चपेटें सहता हुआ चलाने लगे। चारों ओर भीगती दिशाएँ...कोसों कोई गाछ न हो...उस नील वर्षा के झरते रहस्य को चीरकर कोई गाता हो।' 'वे वैसे ही भीगते हुए स्टेशन पहुँचे थे।' (पृ० ६२) श्रीधर के गृह-त्याग की भोर में घर से बाहर गली का दृश्य अप्रतिम—किसी निर्जन ऊँची पहाड़ी पर स्थित जाड़े में ठिठुरती एक ग्रीक गाँव की सूनी गली का स्मरण दिलाता है... 'सेरी में घर की अपेक्षा अधिक खुला आलोक था। फिर भी अँधेरा घरों के बारजों, बन्द दरवाजों पर पोस्टरों-सा चिपका था। खपरैलों पर अँधेरा आलोक फैला था। पतली-पतली बासी गलियों में आधार-आलोक का मटमैला जल भरा हुआ था। गोबर लिये चबूतरे ठाँपे हुए ऊँच रहे थे। इतने सवेरे अपना ही महल्ला अनजान लग रहा था। सड़कें...श्रीधर बाबू की इस एकान्त-यात्रा का स्वागत करने कुत्ते तक न तो जागे और न भौंके ही, क्योंकि वे जानते हैं कि इस वेला का एकांत यात्री और कुछ हो सकता है, चोर तो नहीं ही।' (पृ० १७४-७५)।

श्री नरेश मेहता की भाषा-नीति पर कुछ कहना पिष्ट-पेषण करना होगा। 'प्रवेशते' (पृ० ६०); 'विश्रामने लगी' (पृ० १४४); 'प्रवेशा' (पृ० ३००)—हालाँकि पृष्ठ ३११ पर 'प्रवेश किया' जैसे प्रयोग 'यह पथ बन्धु था' में भी कम नहीं। ऐसा लगता

१७८ : आलोचना

है कि लेखक ने पांडुलिपि दोहराते समय भी कहीं-कहीं समुचित ध्यान नहीं दिया है— 'श्रीधर बाबू से कोई दस वर्ष आयु में बड़ी इन्दु को वे दीदी कहते थे' (पृ० ५६) । वे, अर्थात् श्रीधर ही तो ! 'बारों मास गंगा नहाने वाली धार्मिक बुढ़ियाएँ' (पृ० ६३)— लेकिन मालवा में कैसे ! 'वेश्या, भयंकर व्याधियों से ग्रस्त रमणी के प्रति लोभ हो ही क्या सकता है' (पृ० २६७) । यदि इसे बाल की खाल निकालना न माना जाए तो कहूँ कि यहाँ 'रमणी' शब्द अच्छा-खासा जुगुप्साजनक है । श्री नरेश मेहता के भाषा-सम्बन्धी दृष्टिकोण पर दो बातें विशेषतः कथनीय हैं । पहली तो यह कि उनका दृष्टिकोण काफ़ी स्वप्निल और छायावादी है । इसका एक कारण बंगला भाषा—अथवा बंगला शब्दों की ध्वनि का उनकी भाषा पर प्रभाव माना जा सकता है । कुछ उदाहरण हैं 'श्रीधर हल्के-से हँसासित हो उठा ।' (पृ० १११) 'चरवाहै की फूहड़ बांशी-स्वर' (पृ० १२७)—भक्त कवि चंडीदास का पद तुलनीय है । 'जैसे बरज रही हो, बिना काजल हमें न देखो' (पृ० ११७) । या पृष्ठ २०७ पर 'रोज़ी सफ़ेद बुराक सुन्दर-सी साड़ी पहने थी । बालों की एक लट उसके कपोलों पर हल्की झूल आई थी । गेहूँए वण की रोज़ी भली चमक रही थी । लगान की हरी पृष्ठभूमि में रोज़ी की उड़ती हुई साड़ी टाँगों के पास पंखिल लग रही थी ।' इसके साथ तुलनीय है 'कामायनी' में श्रद्धा का रूप-वर्णन 'घिर रहे थे घुंघराले बाल, अंस अवलम्बित मुख के पास !' दूसरी कि श्री नरेश मेहता ने पदों को समासित करके शब्दों में संक्षिप्ति लाने का प्रयास तो किया है, किन्तु कदाचित् वह भूल गए हैं कि यह संक्षिप्ति इने-गिने शब्दों में न होकर जब शैली का आन्तरिक गुण होती है तभी वह कारगर होती है । श्री निर्मल वर्मा का गद्य इसका प्रमाण है ।

समय के विस्तृत फैलाव में रेंगते हुए एक अन्धे कीड़े की तरह ठहर गया— वह है वर्तमान । शायद कभी, अर्द्धशताब्दी बाद, तीसरी-चौथी पीढ़ी जब समय की गर्द के नीचे दबे हुए अतीत को खोजने में संलग्न होगी, तब नई पौध की मिट्टी के नीचे तार-तार कोमल जड़-तन्तुओं की तरह अवश्य पहुँचेगी इस कृति तक ! क्योंकि इस उपन्यास में चित्रित वह जीवन, जो अभी भी 'स्मृति अधिक है, इतिहास कम', तब अधिक दूरगत अतीत का इतिहास ही होगा । दास्तोएवस्की या ज़ोला को पढ़कर हम उस पूरे युग के जीवन को ही तो प्रत्यक्ष करते हैं । इसी प्रकार आने वाले समयों में, 'यह पथ बन्धु था' प्रत्यवलोकन का एक सशक्त माध्यम हो सकेगा, यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है ।

आषाढ़ का एक दिन

श्री मोहन राकेश-विरचित 'आषाढ़ का एक दिन' स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी-नाट्य-साहित्य की एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है। जहाँ तक नाटक के बाह्य कलेवर का सम्बन्ध है, उसमें लगभग समान विस्तार के तीन अंक हैं तथा पात्रों की संख्या कुल बारह है, जिनमें प्रमुख पात्र मात्र तीन हैं। अंकों का विभाजन दृश्यों में नहीं किया गया है, जो उत्कृष्ट कला-कृति के अनुरूप ही है। नाटक का शिल्प आधुनिक है। रंगमंच-विधान जटिल नहीं है और न उसमें अनावश्यक रंगमंचीय साज-सज्जा ही है। रंगमंचीय प्रत्येक वस्तु की अपनी सार्थकता है, जहाँ छोटी-से-छोटी वस्तु तक अपनी विशिष्ट अर्थवत्ता रखती है। समय के अन्तराल की दृष्टि से सम्पूर्ण नाटक यद्यपि पर्याप्त काल घेरे हुए है, पर इतना नहीं कि प्रथम अंक से लेकर अंतिम अंक तक पहुँचते-पहुँचते पात्रों की शारीरिक अवस्था में अन्तर आ जाय। नाटककार ने 'कुछ वर्षों के अनन्तर' तथा 'कुछ और वर्षों के अनन्तर' लिखकर ही काम चला लिया है। नाटक रंगमंच पर अधिक सफलतापूर्वक खेला जा सकता है। मेघ-गर्जन तथा वर्षा के शब्दों का प्रभाव देने में भले ही किञ्चित् कठिनाई अनुभव हो। आकाशवाणी पर भी प्रस्तुत नाटक सफलतापूर्वक प्रसारित हो चुका है।

'आषाढ़ का एक दिन' का कथानक कालिदास के अन्तरंग जीवन से सम्बद्ध है। अपने उदात्त कलात्मक परिधान में प्रस्तुत नाटक कालिदास-विषयक अनेक ऐतिहासिक विवादों को भी स्पर्श करता है। ये विवाद यद्यपि नाटक में कहीं भी मुखरित नहीं हुए हैं, तथापि नाटककार ने प्रचलित अनेक प्रवादों का उचित समन्वय किया है; उन्हें संगति प्रदान की है। इस प्रकार साहित्याचार्यों के लिए भी प्रस्तुत नाटक में पर्याप्त सामग्री विचारार्थ है। इसमें सन्देह नहीं, एक रचनाकार के हृदय की विशालता का बोध ही नाटककार के निष्कर्षों में निहित है। उसमें एक मानवीय उदार-दृष्टि सर्वत्र लक्षित होती है, जो कालिदास के साथ न्याय करती है एवं प्रेक्षक अथवा पाठक के हृदय में विश्वस्त-भाव को स्थिर करती है। कालिदास के विषय में राजशेखर कवि ने लिखा है, "एकोऽपि जीयन्ते हन्त ! कालिदासो न केनचित् ! शृंगारे ललितोद्गारे कालिदास-त्रयी किमु ?" अर्थात् जहाँ शृंगार में एक कालिदास ही अपराजेय है, वहाँ ललित भावों की अभिव्यक्ति करने वाले तीन कालिदास उत्पन्न हो जायें तो कहना ही क्या ? कहने का अभिप्राय यह है कि कालिदास नाम के तीन कवियों की चर्चा प्रायः की जाती है। कुछ विद्वान् कवि कालिदास को नाटककार कालिदास से भिन्न मानते हैं। 'रघुवंश', 'मेघदूत' और 'कुमारसम्भव' नामक काव्यों का रचयिता कालिदास 'अभिज्ञान शाकुन्तल', 'विक्रमोर्वशीय' और 'मालविकाग्निमित्र' नामक नाटकों के लेखक कालिदास से भिन्न है। मुक्तक काव्य 'ऋतु-संहार' का रचयिता किस कालिदास को माना जाय, यह भी अंतिम रूप से नहीं कहा जा सकता। 'ज्योतिर्विदाभरणम्'

आदि ग्रन्थों का लेखक तो निश्चय ही कोई तीसरा कालिदास है। प्रस्तुत नाटक में 'ऋतु-संहार' तथा अन्य काव्यों और नाटकों का लेखक एक ही व्यक्ति माना गया है। नाटक के प्रारम्भ में कालिदास मात्र 'ऋतु-संहार' के लेखक के रूप में आते हैं। उज्जयिनी का राजपुरुष दन्तुल कालिदास के सम्बन्ध में, कालिदास की प्रेयसी मल्लिका से कहता है, "उज्जयिनी राज्य-सभा से सम्बद्ध प्रत्येक व्यक्ति 'ऋतु-संहार' के लेखक कवि कालिदास को जानता है।...सम्राट् ने स्वयं 'ऋतु-संहार' पढ़ा और उसकी प्रशंसा की है। इसलिए आज उज्जयिनी का राज्य 'ऋतु-संहार' के लेखक का सम्मान करना और उन्हें राजकवि का आसन देना चाहता है। आचार्य वररुचि आज इसी उद्देश्य से उज्जयिनी से यहाँ आये हैं।" नाटककार के अनुसार इसी कालिदास ने उज्जयिनी पहुँचकर 'मेघदूत', 'कुमारसम्भव', 'रघुवंश', 'शाकुन्तलम्' एवं कुछ अन्य नाटक लिखे। इसी कालिदास का दूसरा नाम मातृगुप्त है। मातृगुप्त नाम से कालिदास ने कश्मीर का शासन किया। अन्त में, लोगों का यह विश्वास दिलाया गया है कि उसने संन्यास ले लिया और काशी चला गया; जबकि नाटक में वस्तुस्थिति ऐसी नहीं बताई गई है। पर, यह सब लिखकर नाटककार ने तीन-तीन कालिदासों, कालिदास और मातृगुप्त, एवं कालिदास के कश्मीर, उज्जयिनी और काशी से सम्बद्ध होने के अनेक परस्पर-विरोधी एवं विवादास्पद तत्त्वों का समन्वय कर दिया।

'आषाढ़ का एक दिन' का कालिदास ख्याति-प्राप्त कालिदास के समान असाधारण व्यक्तित्व-सम्पन्न है। नाटक में सर्वप्रथम वह एक आहत हरिण-शावक की प्राण-रक्षा करता बताया गया है। पशुओं तक के प्रति उसके हृदय में ममता का भाव उसकी अत्यधिक भावुकता का परिचायक है। वह राजकीय सम्मान का भूखा नहीं है, अतः उज्जयिनी का राज्याश्रय स्वीकार करना नहीं चाहता। मल्लिका से उसका यह कथन—"मैं अनुभव करता हूँ कि यह ग्राम-प्रान्तर मेरी वास्तविक भूमि है। मैं कई सूत्रों से इस भूमि से जुड़ा हूँ।...यहाँ से जाकर मैं अपनी भूमि से उखड़ जाऊँगा।" उसके कश्मीर-भूमि के प्रति प्रगाढ़ मोह को प्रकट करता है, तभी तो उसकी कृतियों में कश्मीर-प्रदेश का स्वर्गिक सौन्दर्य रूपायित हुआ है। अपनी प्रेयसी मल्लिका के आग्रह पर वह उज्जयिनी जाना स्वीकार कर लेता है। वहाँ पहुँचकर, कुछ समय बाद, उसका विवाह गुप्तवंश-दुहिता परमविदुषी देवी प्रियगुमंजरी से हो जाता है एवं कश्मीर का शासक बनकर वह पुनः अपनी मातृभूमि लौट आता है। पर, मल्लिका से उसका मिलन तभी होता है जब कश्मीर में विद्रोही शक्तियाँ सिर उठाने लगती हैं। कालिदास भागकर मल्लिका के पास चला आता है। वह कहता है, "कश्मीर में लोग समझते हैं कि मैंने संन्यास ले लिया, परन्तु मैंने संन्यास नहीं लिया। मैं केवल मातृगुप्त के कलेवर से मुक्त हुआ हूँ, जिससे पुनः कालिदास के कलेवर में जी सकूँ।" राज्याश्रय में रहकर कालिदास ने जो-कुछ लिखा उसके बारे में उसका मल्लिका से कथन है, "लोग सोचते हैं, मैंने उस जीवन और वातावरण में रहकर बहुत-कुछ लिखा है। परन्तु मैं जानता हूँ कि मैंने वहाँ रहकर कुछ नहीं लिखा। जो कुछ लिखा है वह यहाँ के जीवन का ही संचय था। 'कुमारसम्भव' की पृष्ठभूमि यह हिमालय है और

तपस्विनी उमा तुम हो। मेघदूत के यक्ष की पीड़ा मेरी पीड़ा है और विरह-विप्रदिता यक्षिणी तुम हों, यद्यपि मैंने स्वयं यहाँ होने और तुम्हें उज्जयिनी में देखने की कल्पना की। 'अभिज्ञान शाकुन्तल' में शकुन्तला के रूप में तुम्हीं मेरे सामने थीं। मैंने जब-जब लिखने का प्रयत्न किया, तुम्हारे और अपने जीवन के इतिहास को फिर-फिर से दोहराया। 'रघुवंश' में अज का विलाप भी मेरी ही वेदना की अभिव्यक्ति थी। पर, अपनी प्रेयसी मल्लिका का वर्तमान देखकर उसे अपने जीवन की व्यर्थता का बोध होता है और वर्षा की उस रात में ही, मल्लिका के कक्ष से, बिना कुछ कहे, वह बाहर निकल जाता है। अपने प्रेम की स्थूल असफलता अथवा वितृष्टि देखकर, जीवन के प्रति उसका दृष्टिकोण इन शब्दों में आकार पाता है—“...समय अधिक शक्तिशाली है क्योंकि... वह प्रतीक्षा नहीं करता।”

यही सूत्र मल्लिका की माँ अम्बिका के यथार्थवादी दृष्टिकोण की सार्थकता घोषित करता है। कालिदास अन्त में अम्बिका के दृष्टिकोण को सही बताता हुआ कहता है, “मैंने बहुत बार अपने सम्बन्ध में सोचा है मल्लिका, और बहुधा इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि अम्बिका ठीक कहती थी।” अम्बिका कालिदास को सन्देह और वितृष्णा की दृष्टि से देखती है, घृणा करती है। उसे यह पसन्द नहीं कि वह उसकी पुत्री मल्लिका से मात्र प्रेम करे। उनके प्रेम-सम्बन्धों को देखकर उसे अपवाद की चिन्ता होने लगती है। वह मल्लिका को वैवाहिक-सूत्र में बँधा देखना चाहती है। उसका स्पष्ट कथन है, “...यदि वास्तव में उसका तुमसे भावना का सम्बन्ध है तो वह क्यों तुमसे विवाह नहीं करना चाहता?” मल्लिका की भावनाओं को वह मात्र छलना और आत्म-प्रवचना समझती है तथा जीवन की आवश्यकताओं को ही सर्वोच्च प्राथमिकता देती है। उसका जीवन, भावना नहीं, कर्म है। वह जीवन के यथार्थ से आँख मूँदकर नहीं जीती।

कालिदास की प्रेयसी मल्लिका, ठीक इसके विपरीत, भावना-लोक में विचरण करने वाली नारी है। वह एक आदर्श प्रेमिका है। कालिदास के सम्बन्ध में वह कोई भी अनुचित बात सुनना नहीं चाहती। कालिदास को कालिदास बनाने में उसी का प्रमुख हाथ है। कालिदास के कवि-हृदय में कोमल भावनाओं को जगाने वाली तथा अत्यधिक सुसंस्कृत और उदात्त भावना-सम्पन्न मल्लिका प्रस्तुत नाटक की नायिका है—जो अद्वितीय है, अविस्मरणीय है। उसका व्यक्तित्व सर्वाधिक आकर्षक है और वही प्रेक्षकों की समूची सहानुभूति का एकमात्र आलम्बन बनती है। वस्तुतः ‘आषाढ़ का एक दिन’ नारी-प्रधान रचना है। मल्लिका के माध्यम से नाटककार ने मानव-जीवन-सम्बन्धी अनेक मौलिक प्रश्न उठाये हैं। आदि से अन्त तक मल्लिका कालिदास के प्रति प्रेम-विभोर रहती है। वह कालिदास की कविता और उसके यश से परिचित है। तभी तो वह कालिदास को व्यक्तिगत स्वार्थ-वश अपने प्रेम-पाश में न बाँधकर उसे उज्जयिनी जाने के लिए राजी करती है। कालिदास की, अन्धों की तरह, वह सामान्य की कसौटी पर परीक्षा नहीं करती। आगे चलकर परिस्थितियों ने उसे भले ही वीरांगना बना दिया हो, पर वह कहीं भी उच्चतर भाव-भूमि से नीचे नहीं उतरती।

कालिदास की कल्पना और भावना के विपरीत जब वह वारांगना और एक पुत्री की माँ के रूप में सामने आती है तब कालिदास उसे छोड़कर चला जाता है; पर मल्लिका के जीवन का विश्लेषण करने वाला प्रेक्षक उसे एक प्रेमिका के रूप में सर्वथा उज्ज्वल और पवित्र अनुभव करता है। नाटक के प्रारम्भ में उसका यह कथन, “... फिर भी मुझे अपराध का अनुभव नहीं होता। मैंने भावना में एक भावना का वरण किया है। मेरे लिए वह सम्बन्ध और सब सम्बन्धों से बड़ा है। मैं वास्तव में अपनी भावना से ही प्रेम करती हूँ जो पवित्र है, कोमल है, अनश्वर है...” नाटक के अन्त में भी उतना ही सत्य है। उसने अपने जीवन की सार्थकता इसी में समझी, “मैं यद्यपि तुम्हारे जीवन में नहीं रही, परन्तु तुम मेरे जीवन में सदा विद्यमान रहे हो। मैंने कभी तुम्हें अपने पास से हटने नहीं दिया। तुम रचना करते रहे और मैं समझती रही कि मैं सार्थक हूँ, मेरे जीवन की भी कुछ उपलब्धि है।”

अन्य पात्रों में प्रतिनायक की भूमिका में विलोम नायक एक ग्राम-पुरुष है जो मल्लिका को तो उतना नहीं चाहता, जितना कि यह चाहता है कि मल्लिका कालिदास से प्रेम न करे। कालिदास की अव्यावहारिकता एवं अन्य बदलती परिस्थितियों के कारण विलोम कालान्तर में मल्लिका से शरीर-सम्बन्ध स्थापित करने में सफल जरूर होता है; पर उस समय तक मल्लिका वारांगना बन चुकी होती है। सबसे बड़ी विडम्बना यह है कि प्राप्त धन से वह उज्जयिनी से आने वाले व्यापारियों से बड़ा अनुनय-विनय करके कालिदास-रचित नये-नये काव्य-ग्रन्थ मँगवाती है। कालिदास और उसके काव्य के प्रति प्रेम की यह पराकाष्ठा है। पर स्थूल जीवन को चलाने के लिए, शारीरिक अस्तित्व बनाये रखने के लिए, अम्बिका के निधन के पश्चात्, उसे वारांगना का जीवन मानो विवश होकर वरण करना पड़ा। कवि-पत्नी प्रियगुमंजरी भी मल्लिका के जीवन के व्यंग्य को बेतहाशा प्रकट करती है। उसका प्रत्येक सहयोग मल्लिका की जीवन-विडम्बना को गहराता चलता है, जिसमें अनुस्वार और अनुनासिक-जैसे मूर्ख अधिकारियों से विवाह का प्रस्ताव तो सर्वाधिक कटु है। प्रस्तुत नाटक में रंगिणी और संगिनी नामक उज्जयिनी की दो शोधकर्त्री भी आई हैं, पर उनका कोई औचित्य सिद्ध नहीं होता। यही नहीं, उनकी अतिसाधारण बुद्धि का प्रदर्शन कालिदास के व्यक्तित्व को आघात तक पहुँचाता है। यदि उज्जयिनी के ऐसे लोगों ने कालिदास का सम्मान किया तो उससे कालिदास की महत्ता का बोध कठिनाई से ही होगा। मात्र ‘ऋतु-संहार’ ही उज्जयिनी के विद्वानों का उसके प्रति प्रथम आकर्षण का विषय रहा; तदुपरान्त उसने ‘ऋतु-संहार’ की तुलना में कहीं श्रेष्ठ ग्रन्थों का प्रणयन किया। पर उनके पढ़ने और समझने वालों की इतनी स्थूल दृष्टि, रंगिणी और संगिनी के माध्यम से जो बताई गई है, वह कालिदास के महत्त्व पर प्रश्न-चिह्न तक लगा देती है। हास्य-रस की आयोजना के लिए निक्षेप-मातुल तथा अनुस्वार-अनुनासिक के वार्तालाप ही पर्याप्त थे। वैसे मातुल का वार्तालाप एवं व्यवहार अपना मनोवैज्ञानिक पहलू भी रखता है, तथापि उसके द्वारा हास्य की भी सृष्टि होती है। वस्तुतः नाटक कहण-रस से परिपूर्ण है। शृंगार और हास्य नितान्त गौण। सम्पूर्ण नाटक आषाढ़

की वर्षा की तरह आँसुओं से सिक्त है। यह वातावरण एवं भाव-साम्य नाटक को अत्यधिक प्रभावशाली बना देता है। बादलों से घिरे हुए दिन और मूल देवता से भरा हुआ मल्लिका का जीवन ! सभी प्रधान पात्रों का अन्तर्द्वन्द्व उत्कृष्ट कला-सौष्ठव एवं मनोवैज्ञानिक दक्षता के साथ रूपायित हुआ है। भावाभिव्यक्ति का यह सौन्दर्य 'आषाढ़ का एक दिन' को अप्रतिम बना देता है। कालिदास के काव्य के अनुत्तरीय श्रृंगार, विशेषकर उसमें निहित तीव्र विरह-व्यंजना का आधार 'आषाढ़ का एक दिन' देखने-पढ़ने से स्पष्ट विदित होता है। कोई भी व्यक्ति किसी विशिष्ट क्षेत्र में इतना महान् कर््यों बन जाता है—इस तथ्य का समाधान प्रस्तुत नाटक में द्रष्टव्य है। कालिदास को महान् बनाने में किन-किन जीवन-स्थितियों ने योग दिया—उनको तथा उस मूल प्रेरणा को, जिसने कालिदास के हृदय का वशीकरण किया एवं उसे सुसंस्कृत जीवन-दृष्टि दी तथा जिससे इतिहास आज तक अपरिचित है—प्रकाश में लाया गया है; जो वास्तविक न होते हुए भी ऐतिहासिक सम्भावनाओं की परिधि में है। और, वस्तुतः यही साहित्यकार का मुख्य लक्ष्य होता है। श्री मोहन राकेश अपने उद्देश्य में सफल हुए हैं। जिस नाजुक और महान् विषय-वस्तु का उन्होंने स्पर्श किया, उसका कलात्मक निर्वाह भी उतनी ही सरसता, गहराई, तीव्रता एवं उदात्तता के साथ हुआ है।

(पृष्ठ ८ का शेष)

दायरे से बहिष्कृत करके उन्हें बराबरी का दर्जा देने से इन्कार कर दिया था।

सात : पाकिस्तान के शासकों ने पागलपन में भरकर भारत पर आक्रमण करने का साहस न किया होता, अगर अमरीकी साम्राज्यवाद ने 'साम्यवाद से रक्षा करने' के नाम पर किन्तु दरअसल भारत की विश्व-शान्ति और गुटों से निरपेक्ष रहने की नीतियों और हमारी स्वतन्त्रता की ही जड़ें खोदने के लिए पाकिस्तान को अरबों डालर के अस्त्र-शस्त्रों से लैस न किया होता, और अगर ब्रिटिश साम्राज्यवाद ने भारत का विभाजन करने के बाद से लगातार पाकिस्तान को कश्मीर के बहाने भारत

पर आक्रमण करने के लिए न उकसाया होता और अन्त में, अगर चीन के वाम-पक्षी नेताओं ने भारत-विरोध की अन्ध-भावना से प्रेरित होकर पाकिस्तानी शासकों को शीघ्र-विजय के सब्र बाग न दिखाये होते।

ये सब तथ्य सर्व-विदित हैं, लेकिन उनको दोहराने की ज़रूरत इसलिए पड़ी कि साम्प्रदायिक प्रचारवादी उनको अपने रंग में पेश करके जनता को गुमराह करते हैं। इस प्रचार के प्रभाव से या सामयिक उत्तेजना में पड़कर लेखक यदि इन सन्दर्भों में से किसी एक को भी भूल जाय तो निश्चय ही वह वर्तमान हिन्द-पाकिस्तान युद्ध के बारे में सही दृष्टिकोण का विकास

नहीं कर सकता ।

निरसन्देह, लेखक एक स्वतन्त्र अभि-
कर्ता है । किसी को यह अधिकार नहीं
है कि वह युद्ध-कथानकों पर लिखने या
युद्ध में भाग लेने के लिए आदेश दे । यदि
लेखक वर्तमान युद्ध से उत्पन्न जटिल
मानवीय स्थितियों पर लिखने का चुनाव
करता है, तो किसी को भी उसे सेन्सर
करने का अधिकार नहीं है कि वह क्यों
युद्ध का प्रशस्ति-गान न करके केवल युद्ध
की ट्रेजेडी को, उसकी यातना को, उसकी
अग्नि-परीक्षा को ही जो अनगिनत लोगों
को भोगनी और झेलनी पड़ती है, चित्रित
करता है । वर्तमान युद्ध में शायद लेखक
और कुछ कर भी नहीं सकता ।

यह लेखक का जन्म-सिद्ध अधिकार
है, यह मानकर भी मैं इस बात पर जोर
देना चाहूँगा कि लेखक के पास एक प्रति-
बद्धता भी जो है समान रूप से उसके लेखन-
कर्म का अभिन्न अंग है । यह प्रतिबद्धता
सत्य और मानवीय मूल्यों के प्रति है ।
फलतः न तो वह सिनिकल तौर से सही
को गलत, अच्छे को बुरा, शान्ति को युद्ध

और मानवीय को पाशविक के साथ एक
ही तराजू पर रख सकता है न अपनी
आँखों को वास्तविकता से मूँदकर या
इतिहास को तोड़-मरोड़ कर सस्ते गौरव
के लिए अपनी कला को विकृत कर
सकता है ।

इन दोनों प्रकार के भ्रामक दृष्टि-
कोणों का परित्याग करके हर लेखक को
स्वयं ही निर्णय करना चाहिए कि उसे
दो भाइयों के इस पीड़ाजनक और
निरर्थक युद्ध में एक लेखक की हैसियत से
क्या करना है । बिना अपने साहित्यिक
स्तर को नीचे गिराये उसे न्यायोचित और
जनतान्त्रिक उद्देश्यों की विजय में सहायक
बनना चाहिए । और चूँकि वर्तमान युद्ध
में भारत का पक्ष न्यायोचित और जन-
तान्त्रिक है, लेखक की प्रतिबद्धता यह है
कि वह शान्ति की खातिर इन उद्देश्यों
को अपना समर्थन दे, उन पर 'थूके' नहीं
बावजूद इसके कि इस संघर्ष की स्थायी
शान्ति में परिणति के लिए भी तत्काल
कुर्बानियाँ देनी पड़ेंगी और यातनाएँ झेलनी
पड़ेंगी ।

पुस्तकालय

079581

विश्वविद्यालय

पुस्तकालय

१९६५ के मुख्य प्रकाशन

कलम का सन्तदूर : प्रेमचन्द	मदनगोपाल	११.००
योग-वियोग	शंकर	६.००
यही सच है	मधुकर गंगाधर	३.००
चौरंगी (पुन०)	शंकर	११.००
चार-चन्द्रलेख (पुन०)	डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी	१२.००
घोरे बहे दोन रे (प्रथम भाग)	शोलोखोव	८.००
मीरा की प्रेम-साधना	डॉ० भुवनेश्वरनाथ मिश्र 'माधव'	१०.००
युग-वाणी (पुन०)	श्री सुमित्रानन्दन पन्त	३.५०
स्वर्ण-धूलि (पुन०)	" " "	५.००
सामर्थ्य और सीमा (पुन०)	भगवती चरण वर्मा	७.५०
वह फिर नहीं आई (पुन०)	" "	२.५०
सम्पर्क भाषा हिन्दी	डॉ० लक्ष्मीनारायण 'सुधांशु'	२.५०
विषैला अमृत	नानकसिंह	४.५०
पहला प्यार	मिन्दारोविच	२.५०
हिरोशिमा के फूल	एदिता मॉरिस	३.५०
भग्न सीमाएँ	बालशौरि रेड्डी	४.००
कोहबर की शर्त	केशवप्रसाद मिश्र	५.००
एक पंखड़ी की तेज धार	शमशेरसिंह नरुला	५.००
मुझे टिकट दो	डॉ० सत्यप्रकाश संगर	५.००
कल्प वृक्ष	रवीन्द्र नाथ त्यागी	४.००
कृष्ण पक्ष	विनोदचन्द्र पाण्डे	४.००
अंग्रेजी हिन्दी पर्यायवाची कोश	डॉ० बद्रीनाथ कपूर	६.००
भारतीय दर्शन : सरल परिचय	देवीप्रसाद चट्टोपाध्याय	६.००
भारतीय दर्शन की रूपरेखा	एम० हिरियन्ता	१२.००
आपेक्षिकता की मूल संकल्पनाएँ	बर्टेण्ड रसेल	६.००
आदिवासी भारत	योगेल अटल	३.००
भारत परिचय नवशों में	आदर्श	०.७५
महान वैज्ञानिक	गुणाकर मुले	३.००



राजकमल प्रकाशन

दिल्ली-६

पटना-६

चार-खण्डीय
स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी-साहित्य-
विशेषांक

के लिए विशेष रियायत
१८ रुपये की जगह केवल
१४ रुपये में प्राप्य

आलोचना

शिवदानसिंह चौहान

इन खण्डों का फुटकर मूल्य इस प्रकार होगा

स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी साहित्य विशेषांक-१	: जून	'६५ का अंक : ६ रुपये
"	" २ : जुलाई	'६५ का अंक : ४ रुपये
"	" ३ : जनवरी	'६६ का अंक : ४ रुपये
"	" ४ : मार्च	'६६ का अंक : ४ रुपये

स्वातन्त्र्योत्तर-हिन्दी-साहित्य-विशेषांक

में लगभग १२० निबन्ध होंगे

हिन्दी आलोचना पर
हिन्दी कविता पर
हिन्दी उपन्यास पर
हिन्दी नाटक, एकांकी, रेडियो
तथा रंगमंच पर
हिन्दी कहानी पर
हिन्दी निबन्ध पर
हिन्दी में बाल-साहित्य, समाज-
शास्त्रीय साहित्य तथा वैज्ञानिक
साहित्य पर
हिन्दी में हिन्दीतर भारतीय तथा
विदेशी साहित्य पर, एवं विदेशों
में हिन्दी साहित्य पर

हिन्दी में शोधकार्य पर
साहित्य के नये मानमूल्यों, आधु-
निकता और सामयिकता, पर-
म्परा और प्रयोग, लेखक और
व्यक्ति-स्वातन्त्र्य, लेखक और
मानववाद, लेखक और युग के
केन्द्रीय प्रश्न, सौन्दर्यशास्त्र के
नये आधार, इत्यादि सामयिक
प्रश्नों पर
साहित्यिकों के रेखाचित्र
श्रेष्ठतम कृतियों के पुनर्मूल्यांकन
जनपदीय भाषाओं का नया
साहित्य

प्रत्येक अंक को रजिस्टरी से पाने के लिए
१४ रुपये का मनीऑर्डर आज ही भेजिए !



राजकमल प्रकाशन

दिल्ली-६

पटना-६

श्रीमती शीला संधू, मैनेजिंग डाइरेक्टर, राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लि०,

८ फ्रेंच बाजार, दिल्ली के लिए सर्वोच्च अंश, दिल्ली में मुद्रित।

Comped
1999-2000

का पुस्तक विनिर्दिष्ट न का लय
NOT TO BE KEPT

REMARKS BOOK
का पुस्तक

